THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
63



SANSKRIT-SUKAVI-SAMĪKSHĀ

[A Comprehensive Criticism of the major Poets of Sanskrit Literature]

With Appendix

[Critical verses about Sanskrit Poets with their historical accounts.]

BY

BALDEVA UPADHYAYA,
Head of the Puran-Itihasa Deptt,
Sanskrit University, Varanasi.
Ex-Reader, Sanskrit Deptt Benares Hindu University.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1963

परम भागवत

पूज्यपाद पितृचरण

पण्डित राम सुचित उपाध्याय जी

की

परम पावन पुण्यस्मृति में

सादर

समर्पित



बलदेव उपाध्याय

प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य के रसिक पाठकों के सामने संस्कृत-सुकवि-समीक्षा नामक यह ग्रन्थ प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। हिन्दी में ऐसे आलोचनात्मक ग्रन्थ की बडी कमी थी जिसमें संस्कृत के मान्य कवियों की आलोचना—उनका समय-निरूपण, जीवन की मुख्य घटनाओं, ग्रन्थ का परिचय तथा उदाहरण-पुरःसर उनके काव्यों की समीक्षा—की गई हो। इसी अभाव की यत्किंचित् पूर्ति के लिये इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है।

कवियों का संकलन अक्षर क्रम से न होकर समय-क्रम से है। इसका एक ही अपवाद है—शंकराचार्य का सबसे अन्त में वर्णन। कालक्रम के अनुसार शंकराचार्य का निरूपण सप्तम शतक के लेखकों के अन्तर्गत होना चाहिये था। परन्तु वर्णन के विस्तार के कारण इस अंश को सब के अन्त में देना पडा है। यह एक स्वयं समग्र तथा संक्षिप्त विवरण है जो अपने में स्वतः पूर्ण है। शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापरक एक प्रौढ़ दार्शनिक ही न थे, प्रत्युत कमनीय स्तोत्रों की रचना करने वाले एक प्रतिभाशाली कवि भी थे। फलतः उनका इस कवि-समीक्षा में वर्णन कथमपि अनुचित नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थ के अन्त में एक विशिष्ट परिशिष्ट जोडा गया है जो अनेक दृष्टियों से अपना अलग ही महत्त्व रखता है। कवियों के द्वारा प्राचीन कवियों की पद्यबद्ध अनेक प्रशस्तियाँ, जो आलोचना तथा इतिहास की दृष्टि से नितान्त गौरवशालिनी हैं, सूक्ति-संग्रहों तथा काव्य-ग्रन्थों में यत्रतत्र बिखरी हुई मिलती हैं। उन सबका यथा-क्रम से एकत्र संकलन यहाँ मेरी जानकारी में पहली बार किया जा रहा है। यह संकलन पूर्ण होने का दावा नहीं रखता; परन्तु संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों की प्रशस्तियाँ यहाँ समग्र रूप से आ गई हैं, ऐसा लेखक का विश्वास है। जिन ग्रन्थों से यह संकलन किया गया है उनका परिचय भी अन्यत्र दिया गया है। प्रशस्ति के कवियों का भी ऐतिहासिक परिचय जोडकर इस अंश को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। विश्वास है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास के जिज्ञासु पाठकों का इससे विशेष ज्ञानवर्धन होगा।

अन्तमें मैं अपने सहायकों के प्रति आभार प्रदर्शन करना चाहता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रूफ देखने तथा अनुक्रमणी तैयार करने में मेरे सुयोग्य छात्र डाक्टर श्री गंगासागर राय, एम.ए., पी.एच.डी. (पुराण विभाग, अखिल-

भारतीय काशिराज ट्रस्ट, रामनगर) ने मुझे विशेष सहायता दी है तथा इस पुस्तक को लिखवाने एवं प्रकाशित करने का श्रेय 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' एवं 'चौखम्बा विद्याभवन' के उदीयमान संचालक श्री मोहनदास गुप्त तथा श्री विट्ठलदास गुप्त बन्धुद्वय को है जिन्होंने इसे शीघ्र प्रकाशित कर ग्रन्थ को जिज्ञासु जनों के लिए सुलभ बनाया है। इसके लिये ये सज्जन आशीर्वाद के भाजन हैं।

इस ग्रन्थ के प्रणयन द्वारा पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की यह इच्छा आज चरितार्थ हो रही है जिसकी चर्चा उन्होंने मेरे (आजकल अप्राप्य) ग्रन्थ 'संस्कृत कविचर्चा' के ऊपर अपनी सम्मति देते हुए आज से ३१ साल पहिले इस पत्र में की थी। २६ जून १९३२ को लिखे गये पत्र का कुछ अंश इस प्रकार है —

"कृपा पत्र मिला। 'चर्चा' की कापी भी मिली। कृतार्थं कृतोऽस्मि।

जब मैंने नैषधचरित चर्चा और विक्रमाङ्कदेव चरित चर्चा लिखी थी, तब बारबार यह विचार उत्पन्न होता था कि सभी प्राचीन कवियों का परिचय हिंदी में प्रकाशित हो जाय तो अच्छा हो। उसकी पूर्ति करके आज आपने मेरी कामना पूरी कर दी। आप धन्य हैं। बड़े काव्य मर्मज्ञ हैं। उत्तम पुस्तक लिखी। इस तरह की पुस्तक की बड़ी आवश्यकता थी। चिरञ्जीवी भूयाः। कुछ कुछ कालिदास के शब्दों में मेरी प्रार्थना परमात्मा से है—

उदन्वदाकाशमहीतलेषु विकाशमासाद्य यशस्त्वदीयम्।'

पूर्व ग्रन्थ की अपेक्षा यह आकार-प्रकार में ही बड़ा नहीं है, प्रत्युत इसमें अधिक कवियों का विशिष्ट परिचय तथा समीक्षण दिया गया है। गुरुवर महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा की हार्दिक अभिलाषा थी कि प्राचीन कवियों की विस्तृत प्रशस्तियाँ एकत्र प्रकाशित की जायं। उन्होंने संग्रह का आरम्भ भी किया था। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट का 'कवि प्रशंसा' वर्ण्य कवियों की दृष्टि से विशेष व्यापक, उपादेय तथा सामयिक है। फलतः इस ग्रन्थ के प्रणयन से मेरे हितैषी इन दोनों गुरुजनों की चिरसञ्चित कामना आज फलीभूत हो रहा है, इस बात का मुझे आज विशेष हर्ष है।

मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ मेरे अन्य ग्रन्थों के समान ही विद्वानों का विशेष हितकारक तथा ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा।

दीपावली २०२० |
१५-११-६३ |

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

कविप्रशस्ति के कवियों के नाम तथा परिचय

संस्कृत

सु

क

वि

समीक्षा

(१)

आदिकवि वाल्मीकि

तामस हारिणी तमसा कलकल करती हुई बह रही थी, उसका पावन तट वृक्षों की स्निग्ध छाया से शीतल था। तीर्थ में न तो पङ्क कलङ्क की तरह चिपका था और न शैवाल दुष्टजनों की चित्तवृत्ति के समान उसे कलङ्कित कर रहा था। मनोऽभिराम जल सज्जनों के चित्त की भाँति नितान्त प्रसन्न था। महर्षि वाल्मीकि के हृदय को इस दृश्य ने लुभा लिया। उन्होंने स्नान कर, वल्कल पहन इस प्रकार के शान्त वन में भ्रमण करना शुरू किया। इसी समय क्रौंची के करुण स्वर ने उनकी दयादृष्टि को अपनी ओर खींचा। उनके सामने क्रौंच का मृत कलेवर खून में लथपथ हो रहा था। इस दृश्य को देखकर ऋषि के कोमल चित्त में नैसर्गिकी करुणा का स्रोत प्रवाहित होने लगा—यह करुणा इस हृदय से बलात् जाग पड़ी। अकस्मात् उनके मुंह से यह श्लोकात्मक वाग्वैखरी प्रस्फुटित हुई—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

सम अक्षरयुक्त चार पादों से मण्डित 'श्लोक' का जन्म हो गया। संस्कृत काव्य-कुमार का यही उदय है। महाकाव्य की भाविनी परम्परा का यही मूलस्रोत है।

× × ×

महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं तथा वाल्मीकीय रामायण आदि महाकाव्य है। कवि के सच्चे रूप की कल्पना हमने वाल्मीकि से सीखी है और महाकाव्य के महत्त्व को हमने रामायण से ग्रहण किया है। यदि वाल्मीकि न होते तो हम कवि के वास्तविक स्वरूप तथा अभिराम आदर्श को कहाँ से सीखते? और यदि उनकी प्रसन्न-गम्भीर रामायण हमें नहीं मिलती तो हम महाकाव्य के माहात्म्य तथा गौरव को कैसे पहचानते? कवि और काव्य के विशुद्ध रूप की कसौटी है—आदिकवि का परम पावन नाम तथा अनुपम आदिकाव्य रामायण। कवि का पद ऋषि के समान है। ऋषि का भी अर्थ है—द्रष्टा। वस्तुओं के विविध भाव, धर्म तथा तत्त्व को भली भाँति अवगत करनेवाला व्यक्ति ही 'ऋषि' के महनीय पद का वाच्य है। कवि का भी अर्थ है क्रान्तदर्शी—

'स्वय का तदर्शन'—अर्थात् नेत्रों के व्यापार से दूर रहनेवाले अतीत एव भविष्य के पदार्थों को यथार्थ रूप से देखनेवाला पुण्यात्मा पुरुष। परन्तु दोनों में थोडा अन्तर है। वस्तु तत्त्व के दर्शन होने से ऋषित्व की प्राप्ति हो जाती है परन्तु जब तक वह अपने अनुभूत वस्तु तत्त्व को शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं करता, तब तक वह कवि' नहीं कहला सकता। 'कवि' की कल्पना में 'दर्शन' के साथ वर्णना का भी मनोरम सामञ्जस्य है और इस कल्पना के जनक स्वय महर्षि बाल्मीकि ही हैं। उन्हें वस्तुओं का निर्मल दर्शन नित्यरूप से था परन्तु जब तक 'वर्णना' का उदय नहीं हुआ तब तक उनकी 'कविता' का प्राकट्य नहीं हुआ। 'मा निषाद' पद्य के उच्चारण करते ही ब्रह्मा स्वय ऋषि के सामने उपस्थित हुए और कहने लगे—महर्षे! तुम्हारे आर्ष चक्षु या प्रातिभ चक्षु का अब उन्मेष हो गया है। तुम आद्यकवि हो। भवभूति के स्मरणीय शब्दों में—

ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्।
अव्याहतज्योतिरार्ष ते चक्षु प्रतिभाति। आद्य कविरसि।

कवि के यथार्थ रूप को बाल्मीकि के दृष्टान्त के द्वारा प्रसिद्ध समालोचक-शिरोमणि भट्ट तौत ने इस पद्य में कितनी सुन्दरता से समझाया है—

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुति।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुने।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

संस्कृत काव्य धारा की दिशा तो उसी अवसर पर निर्दिष्ट हो गयी जब प्रेम परायण सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पडा था। काव्य का जीवन रस है काव्य का आत्मा रस है—इसे साहित्य ससार ने तभी सीख लिया जब आदिकवि की आदि कविता के रसामृत का उसने पान किया बारम्बार प्रीयमाण तथा नितान्त विस्मित शिष्यों ने आश्चर्यभरे शब्दों में इस रहस्यभूत तत्त्व को पहचाना—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्य पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूय शोक श्लोकत्वमागत॥

(१।२।४०)

महाकवि कालिदास ने इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कवि कुशेध्माहरणाय यात।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक॥

(रघुवश १४।७०)

इन्हीं सूत्रों को पकड़कर आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में 'प्रतीयमान' अर्थ के सामान्यरूपेण काव्य में मुख्य होने पर भी रस को ही काव्य का आत्मा स्वीकार किया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(ध्वन्यालोक १।५)

आदिकवि का यह समग्र काव्य ही कविता के सच्चे रूप को प्रकट कर रहा है। वाल्मीकीय-रामायण मनोरम उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं का एक विराट् भव्य प्रासाद है; परन्तु उसके बाह्य आवरणों में उसका विशुद्ध रसमय हृदय भली भांति झलक रहा है। इतने स्पष्ट रूप में कि उसकी सत्ता का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। रामायण का हृदय है—रस-पेशल वर्णन और इस वर्णन में सर्वत्र विद्यमान है—समग्र-काव्यगत व्यापक औचित्य। महाकाव्य का प्रथम तथा भव्य निदर्शन है—यही वाल्मीकीय रामायण। रामायण का ही विश्लेषण कर आलङ्कारिकों ने 'महाकाव्य' का लक्षण प्रस्तुत किया है। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' लक्षण का प्रथम तथा सबसे सुन्दर लक्ष्य है—रामायण। दण्डी का यह प्रसिद्ध लक्षण 'रामायण' को ही आदर्श मानकर लिखा गया है—

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति॥

आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः 'करुण' को ही रामायण का मुख्य रस कहा है। *रामायण का आरम्भ 'करुण' से होता है तथा राम के सामने सीता के पृथ्वी के* भीतर अन्तर्धान होने के दृश्य से रामायण का अन्त भी 'करुण' से ही होता है—

रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता। (ध्वन्यालोक पृ० ३३७)

वाल्मीकि समग्र कविसमाज के उपजीव्य हैं–विशेषतः कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ़ अनुशीलन किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है, उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रही है। कालिदास का शृंगार-रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका 'करुण' रस कम प्रभावशाली नहीं है। कालिदास ने उभयविध 'करुण' को उपस्थित कर उसे साङ्गोपाङ्ग रूप से दिखलाया है। पत्नी के लिये पति की करुणा का रूप हम रघुवंश के 'अज-विलाप' में पाते हैं और पति के निमित्त पत्नी की

करुण परिदेवना 'रतिविलाप' के रूप में हमें रुलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमलहृदय मानव चित्त सन्ताप से मृदु बन जाय—क्या इस विषय में सन्देह के लिये स्थान है? 'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु।'—कालिदास के इन करुण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है, परन्तु भवभूति के उत्तरचरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रुलाया है और वज्र के हृदय को भी विदीर्ण होते दिखलाया है—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'

इन करुण उक्तियों की चोट से क्षुब्ध होकर गोवर्धनाचार्य ने भवभूति की भारती को 'भूधर की कन्या' बतलाया है। तभी तो इसके करुण क्रन्दन को सुन कर पत्थर का हृदय पिघल गया था। प्यारी पुत्री का रुदन सुनकर किस पिता का हृदय द्रवित होकर आँसुओं के रूप में नहीं बह निकलेगा?

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

भवभूति ने करुण को 'एको रस'—मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उसकी विकृति माना है। 'एको रस करुण एव निमित्तभेदात्'—इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये।

वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगनेवाले उस विराट् वट-वृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाए हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर रस-प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभि का गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति को उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का माहात्म्य वीर रस के प्रदर्शन में नहीं है। किसी देवचरित्र के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा, तब नारदजी ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया—'तैर्युक्त श्रूयता नर।' यह नर चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य-सा प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदिकवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है, वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं। इतना ही क्यों, राम-रावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य

नहीं है। वह तो राम जानकी—पति पत्नी की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण मात्र है। और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा है—गृहस्थ आश्रम। अतः यदि इस गार्हस्थ्य-धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमें आश्चर्य क्या है। रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक-भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

आदिकवि ने अपने काव्य-मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है—मर्यादा-पुरुषोत्तम महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विरुद्ध परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है, यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदिकवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता तो हमें मञ्जुल गुणों के सामञ्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता। भारतवासी मानव के आदर्श चरित्र को सुनने के लिये लालायित थे, वाल्मीकि ने उसी चरित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि इस काव्य की मोहकता कभी कम नहीं होती, इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव के कान और मन इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठते हैं। रामायण को मैं जितनी बार पढ़ता हूँ उतनी ही बार उसमें नयी-नयी बातें सूझती हैं। इन सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढ़नेवाले का चित्त आनन्द से गद्गद हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढ़कर शताब्दियों से भारत का हृत्पिण्ड स्पन्दित हो रहा है और सदैव होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अङ्कन में यह लेखनी प्रवृत्त हो? उनकी कृतज्ञता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? वे तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं, और अपकार चाहे कोई सैकड़ों हो करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो—

> कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
> न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥
>
> (२।१।११)

उनका क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही अमोघ हैं। अपने पापों के कारण हनन योग्य व्यक्तियों को बिना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण उनकी आँखें भी लाल नहीं होतीं—

नास्य क्रोध प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन ।
हन्त्येव नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति ॥

(२ । २ । ४६ ।)

राम का शील कितना मधुर है । वे सदा दान करते हैं, कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते । वे अप्रिय कभी नहीं बोलते । साधारण स्थिति की बात नहीं, प्राण सङ्कट उपस्थित होने की विषम दशा में भी राम इन नियमों का उल्लङ्घन नहीं करते ।

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किञ्चिदप्रियम् ।
अपि जीवितहेतोर्वा राम सत्यपराक्रम ॥

(५ । ३३ । २६)

अपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूतिपूर्ण है । सीता के प्रति राम के प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मानस तत्त्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है । राम सीता के वियोग में चार कारणों से सन्तप्त हो रहे हैं—सीता के प्रति उनके परिताप का कारण चतुर्मुखी है । धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश देता है परन्तु राम से यह न हो सका, अत वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकने के कारण कारुण्य से सन्तप्त हैं । वन में सीता राम की आश्रिता थीं, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की, अत आनृशंस्य—आश्रित जनों के संरक्षण स्वभाव से सन्तप्त हैं । सीता उनकी पत्नी—सहधर्मिणी ठहरीं । उनके नष्ट होने पर उनके (श्रीराम के) धर्म का पालन क्योंकर हो सकेगा, अत शोक से । वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरीं । परम सुख की साधिका ठहरीं । उस परम लावण्यमयी के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है—इस कारण प्रेम से । इन नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं—

इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भि परितप्यते ।
कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च ॥
स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यत ।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥

(५ । १५ । ४८ ८९)

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने भ्रातृप्रेम के विषय में जो उद्गार निकाले हैं, उनकी [illegible] देश के साहित्य में भी कभी [illegible] के बाद दूसरे देश में उसे [illegible] न भी मिल सकते

हैं; परन्तु मैं उस देश को नहीं देखता, जहाँ सहोदर भ्राता मिल सके।' धन्य हैं भगवान् रामचन्द्र ! केवल इस उक्ति के अनुशीलन पर समस्त साहित्य को न्योछावर कर देने का मन होता है। यह सूक्ति हृदय पर कितना चोट कर रही है—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

रामचन्द्र की शरणागत-वत्सलता का चरम दृष्टान्त है—अपने मायावी शत्रु के भाई को उसी की नगरी में आश्रय प्रदान करना। उनके औदार्य की झलक रावणवध होने के बाद रावण के दाह संस्कार के समय मिलती है। राम का कहना है कि रावण जिस प्रकार विभीषण का सगा सम्बन्धी है, उसी प्रकार उनका भी है। रावण की मृत्यु के साथ साथ उनका उसके प्रति वैर भी शान्त हो गया है। अब वैर लेने की क्या आवश्यकता रह गई ?

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

भगवती जनकनन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्श का प्रतीक है। रावण के बारंबार प्रार्थना करने पर सीता ने जो अवहेलना-सूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्-घोषित करता रहेगा। इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रहो, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं नहीं, बायें पैर—से भी नहीं छू सकती—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥

(५।२६।१०)

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि को सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटु वचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गद्गद हो जाता है।

मेरे चरित्र पर लाञ्छन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है—उसका स्त्रीत्व, और उसका सबल अंश है—उसका पतिव्रत्व तथा पातिव्रत। नर शार्दूल ! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं; परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात

पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है, आप जैसे नर शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है–

त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे सादे निष्कपट शब्दों में! अतएव भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-भेदक है। सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों में समानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

राम और सीता का निर्मल चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य प्रतिभा का मनोरम निदर्शन है। रामायण हमारा जातीय महाकाव्य है। यह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है। वाल्मीकि हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। रामायण का जितना पठन किया जायगा, रामचरित्र का जितना चिन्तन किया जायगा, वह उतना ही मङ्गलप्रद होगा, क्योंकि सचमुच यह मानव जीवन राम दर्शन के बिना निरर्थक है—'रामदर्शन' उभय अर्थ में, रामकर्तृक दर्शन (राम के द्वारा दर्शन) तथा रामकर्मक दर्शन (राम को देखना)। तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति को राम नहीं देखता और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, दोनों लोक में निन्दा पाते हैं। उनका अन्तःकरण उनकी स्वयं निन्दा करता है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते॥

ऐसे मर्यादापुरुषोत्तम राम तथा जनकनन्दिनी जानकी का अलोकसामान्य आदर्श जीवन चित्रित करने के कारण महर्षि वाल्मीकि की यह रस तरंगिणी प्रेम तथा शान्ति को बहाती हुई विश्व का मंगल करती है। आलोचकों की दृष्टि में कवितारूपी वन में सञ्चरण करनेवाले वाल्मीकि मुनियों में सिंह के समान हैं जिनके रामकथारूपी नाद को सुनकर कौन मनुष्य परम गति को प्राप्त नहीं करता—

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कविताविनचारिणः।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम्॥

× × ×

वाल्मीकि ने बाह्य प्रकृति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। उनके प्राकृतिक वर्णनों में सर्वत्र बिम्बग्रहण का प्राधान्य है। बिम्बग्रहण वहीं होता है

जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन देता है। यह तभी संभव है जब कवि के हृदय में प्रकृति के लिए सच्चा अनुराग रहता है। वाल्मीकि का यह हेमन्त-वर्णन अनुपम है—

> अवश्यायनिपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
> वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
> स्पृशस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
> अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥

वन की भूमि जिसकी हरी हरी घास ओस गिरने से कुछ गीली सी बन गई है तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जङ्गली हाथी अधिक शीतल जल के स्पर्श मात्र से ही अपनी सूंड को सिकोड़ लेता है।

वाल्मीकि की काव्य शैली को हम 'रसमय पद्धति' कह सकते हैं। रस ही उसका जीवन है। स्वाभाविकता उसका भूषण है। कालिदास ने इसी शैली को अपनाकर इतना यश अर्जन किया है। इस पद्धति के दो श्रेष्ठ कवि हैं—वाल्मीकि और कालिदास।

कालिदास में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। कालिदास ने अपने आपको वाल्मीकि की कविता में सिक्त कर दिया था। उनसे बढ़कर रामायण का भक्त शायद ही कोई दूसरा कवि मिले। इसीलिए उनके काव्य में वाल्मीकि की मनोरम पदावली तथा मञ्जुल भाव पूर्णतया भरे पड़े हैं। वाल्मीकि को बिना समझे कालिदास का अध्ययन पूरा नहीं हो सकता। रघुवंश (१।४) में कालिदास ने 'पूर्वसूरिभिः' के द्वारा वाल्मीकि की ओर संकेत किया है। रघु० (१५।३३) में रामायण को 'कविप्रथमपद्धति' कहा गया है। वाल्मीकि के सरस हृदय का परिचय कालिदास ने सुन्दर शब्दों में इस प्रकार दिया है—

> तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी
> मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
> निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
> श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

कालिदास को अपनी काव्यकला को पुष्ट करने में वाल्मीकि से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली है, यह सिद्धान्त सन्देहहीन है। कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी दृष्टि में प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध विश्व में विराजनेवाली भगवद्विभूति की एक विस्पष्ट अभिव्यक्ति है। प्रकृति मानव पर प्रभाव डालती है—वह मनुष्य के दुःख में दुःखी होती है और सुख में सुखी। मानव

भी प्रकृति को अपनी चिरसंगिनी समझता है। शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क की सुषमा इसी उभयपक्षीय सम्बन्ध की अभिराम अभिव्यक्ति [redacted] है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कवि की विशेषता है। वह प्रकृति के नानारूपों में रमता है तथा अपनी पैनी दृष्टि से उन सूक्ष्म अंशों को भी देखता है जिन्हें अन्य कवियों की आँखें देखकर भी नहीं देखतीं। कुमारसम्भव में कालिदास सूर्य की किरणों के झरनों के जलकणों पर पड़ने में इन्द्रधनुष का दृश्य देखते हैं—एक नहीं दो नहीं, प्रत्युत हजारों इन्द्रधनुष रविरश्मिरञ्जित जलकणों में अपना सतरंगी रूप सदा दिखलाया करते हैं, परन्तु कालिदास की दृष्टि इन रंगों को पहचानता है और सन्ध्याकाल में सूर्य के लटकने के कारण इन्द्रधनुष का अभाव उन्हें बरबस खटकता है।

सीकरव्यतिकरं मरीचिभि-
दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां
निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥

(कुमार० ८।३१)

यह उक्ति रूढ़ि का अनुसरण करनेवाले किसी कवि की नहीं है, वरन उस कवि की है जो मुग्ध दृष्टि से प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर अपने आपको भूल जाता है।

इस निसर्ग भावना के समान ही कालिदास की कविता की कमनीयता है। वह सरस, मधुर तथा प्रसादमयी पदावली [redacted] मनोरम शृङ्गार है। अलङ्कारों की झङ्कार का वह युग न था। रसमय शैली पर ही रसिक समाज अपने को निछावर करता था। कालिदास की कविता में अलङ्कारों का भव्य विन्यास है—परन्तु वह विन्यास इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का मन वर्ण्य वस्तु को छोड़कर अलंकारों की छटा की ओर आकृष्ट हो जाय। उस अलङ्कार से वस्तु का सौन्दर्य निखरता है उसका चमत्कारपन अधिक बढ़ता है, वह रसिकों के हृदय में बरबस घर कर लेती है।

कालिदास की शैली को परवर्ती कवियों ने बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। अश्वघोष के ऊपर कालिदास की स्पष्ट छाप है। गुप्तकाल के प्रशस्ति लेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उन्हीं के आदर्श पर अपनी कवितायें लिखी थीं। इतना ही नहीं, कालिदास के काव्यों की ख्याति भारतवर्ष के बाहर भी कम्बोज देश (आजकल का इण्डोचीन) तक फैली थी। भारतीय विद्वान् जिन जिन उपनिवेशों में धर्म और सभ्यता के प्रचार के लिये गये वहाँ उन्होंने कालिदास के काव्यों का प्रचार

किया इसीलिये सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) और कम्बोज, जावा, आदि देशों में उपलब्ध संस्कृत शिलालेखों में कालिदास की कविता का पर्याप्त अनुकरण पाया जाता है। उदाहरण के लिये राजा भववर्मा के ६०० ई० के शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ तथा कालिदास के श्लोक साथ ही दिये जाते हैं जिससे इस महाकवि का विपुल प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है —

(१) शरत्कालाभियातस्य परानावृततेजसः।
द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि॥ (शिलालेख-६)
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ (रघुवंश ४।४९)

(२) यस्य सेनारजोधूतमुज्झितालंकृतिष्वपि।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावमुपागतम्॥ (शिलालेख-७)
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधिः कृतः॥ (रघुवंश ४।५४।)

(ख)

पाली रामायण

(दशरथ जातक)

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की गुण गरिमा की मनोहर कहानी किसे नहीं भाती ? कौन ऐसा भारतीय है जो रामचन्द्र के अनुपम आदर्श पर लट्टू नहीं हो जाता ? जिसके मनोहर चरित को गाकर आदि कवि वाल्मीकि की सुधामयी वाणी पवित्र हो गई जिसके कीर्ति कलाप की मनोहर आभा दश दिशाओं में फैलाकर कवि कुल गुरु कालिदास की रघुवंशी कविताकामिनी अपनी मनोहरता को धन्य समझती है जिसके आदर्श चरित्र आदर्श मनुष्यत्व आदर्श वात्सल्य और आदर्श पितृ भक्ति की छाप सर्व साधारण के हृदय पटल पर डालने के अभिप्राय से भवभूति की करुणामयी वाणी रामचरित को नाटक के रूप में चित्रण कर अपने को कृतकार्य समझती है भला कौन ऐसी जाति होगी कौन ऐसा धर्म होगा जो रामचन्द्र के गुणानुवाद करने में अपनी प्रतिष्ठा न समझता हो। हिन्दुओं ने राम के आदर्श चरित्र के विमल सात्विक भाव से मुग्ध होकर इन्हें जगदीश का एक अनुपम अवतार माना है। इनके चरित्र को सर्वसाधारण के लिए सुलभ करने के लिए महर्षि वाल्मीकि के समय से लेकर आजतक रामायण विषयक हजारों ग्रन्थों का निर्माण हो चुका है और भविष्य में भी ऐसा ही होता रहेगा। रामलीला के द्वारा हिन्दू समाज अशिक्षितों के भी श्रद्धालु हृदय पर असीम प्रभाव डालता है। कौन ऐसा भारतीय प्रान्त होगा कौन-सी प्रान्तीय भाषा होगी जिसमें राम की विमल कीर्ति न गाई जाती हो ? सुदूर मेक्सिको के तथा पेरु के आदिम निवासी आज के अधार्मिक युग में भी दशहरे के अवसर पर उत्सव मनाकर जब सीताराम के पावन नाम की याद दिलाते हैं तब भला आर्य भूमि राम की जन्मभूमि इस भारतभूमि में राम का गुणानुवाद किया जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? बुद्धधर्म तथा जैन मत के आचार्यों ने भी पवित्र रामचरित को अपनाने में तनिक भी उदासीनता नहीं दिखाई। बौद्ध मतावलम्बियों ने दशरथ जातक में रामचन्द्र के जीवनवृत्त को परिवर्तित करके तथा राम को बुद्ध भगवान का ही एक मनोहर अवतार मान कर उनके आदर्श सिद्धान्त को अपनाने में जरा भी सङ्कोच नहीं किया। यहाँ संक्षेप में इसी दशरथ जातक के अनुवाद तथा तद्विषयक ऐतिहासिक आलोचना की चर्चा की जा रही है।

(१) जातक का काल

जातकों के विषय में इस स्थान पर कुछ लिखना अनुचित न होगा। जातक बौद्ध त्रिपिटक के एक भाग खुद्दनिकाय में दिये गए हैं। इनकी सख्या ५४७ तक पहुँची हुई है। इनमें बुद्ध भगवान् के पूर्व जन्म में किये गये शुभ कार्यों का विशेष रूप से वर्णन है। प्रारम्भ में प्राय प्रत्येक जातक का कथानक एक ही सा है। वह भगवान बुद्ध के वर्तमान जीवन की किसी घटना से सम्बन्ध रखता है। भगवान अपने शिष्यों को धर्म के विषय में दया, ससार की अनित्यता, दान आदि का उपदेश देते हैं और इसे हृदयङ्गम कराने के लिए कोई प्राचीन कथा कहते हैं। अपने ही पूर्व जन्म में (जब वे बोधिसत्व थे) अनुभूत की गई घटना का वर्णन करते हैं। इन कथाओं का अभिप्राय धार्मिक सिद्धान्त को सुखपूर्वक हृदयङ्गम कराना है। अतएव इनमें किसी धार्मिक व्यक्ति का प्रधान वर्णन है। अन्त में बुद्ध भगवान समझाते हैं कि वह धार्मिक व्यक्ति मैं ही था। इस प्रकार जातकों में बुद्ध के पूर्व जीवन के सत्कार्य उल्लिखित हैं।

जर्मन विद्वान् डा० बेनफी ने पञ्चतन्त्र की भूमिका में लिखा है कि समस्त भारतीय आख्यान-साहित्य बौद्धों से ही प्रारम्भ हुआ। पञ्चतन्त्र में बौद्ध सिद्धान्तों की इतनी झलक मिलती है कि इन्हीं के आधार पर बेनफी ने लिखा था कि वास्तव में पञ्चतन्त्र बौद्ध साहित्य का ही एक अश था। पीछे ब्राह्मणों ने इसे अपनाकर उसमें हिन्दू धर्म के सिद्धान्त भर दिये। परन्तु आज इस सिद्धान्त-वृक्ष की जड में स्वय ही दीमक लग गया है। आख्यान साहित्य के अपूर्व ज्ञाता जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्टेल ने अपनी खोजों से दिखलाया है कि पञ्चतन्त्र का मूलभूत ग्रन्थ 'तन्त्राख्यायिका' था जिसमें बौद्ध सिद्धान्तों की छाया तक भी नहीं दिख पडती। पीछे बौद्धों ने 'तन्त्राख्यायिका' के नए सस्करण किये जिसमें अपने धर्म के अनेक सिद्धान्तों को स्थान दिया।

जैनों ने भी ऐसे सस्करण निकाले। विद्वानों की यह सम्मति है कि जातकों का आधार तत्कालीन ब्राह्मण आख्यान है। बौद्धों ने उसे अपने ढङ्ग पर ढाल लिया परन्तु नए रूप से ढाले जाने से मूल आख्यान में विषमता आ गई है। इससे उनके मूल आधार का पता स्वय लग जाता है। डाक्टर हर्टेल की यह सम्मति कई वर्षों की खोज का फल है। पाठक इसी से समझ सकते हैं कि ससार के आख्यान साहित्य पर इन जातकों का क्या प्रभाव पडा है? खास कर उस समय जब उन्हें यह सूचना दी जाय कि इसी पञ्चतन्त्र के अनुवाद पहले पहल नौशरवाँ (५३१ ई०) ने पहलवी भाषा में कराया, जिनका अनुवाद सिरिक, अरबिक, लैटिन तथा यूरोप की समस्त भाषाओं में हुआ और जिसके द्वारा पञ्चतन्त्र की कहानियाँ 'बिपई की कथाओं' के नाम से यूरोप में आज भी विख्यात हैं।

जातकों का समय लिख कर यह आवश्यक प्रस्तावना समाप्त की जायगी। ऊपर कहा जा चुका है कि जातक 'खुद्दनिकाय' में दिये गये हैं। इस निकाय का समय अधिकतर ई० पूर्व चौथी शताब्दी समझा जाता है। समय वास्तव में सत्य है। इसका पता भरहुत के स्तूप से लगता है। भरहुत के स्तूप पर अनेक जातकों के विषय चित्रित किये गये हैं। इन स्तूपों का समय तत्कालीन लेख-सामग्री के आधार पर २५० ईसा पूर्व से लेकर २०० तक नियत किया गया है। अतएव निश्चित है कि इस समय के बहुत पहले जातकों की रचना हो चुकी होगी। उस समय तीसरी सदी में ये तो ऐसे प्रसिद्ध थे कि एक कारीगर भी उन्हें पत्थरों पर खींच सकता था। अतएव चौथी अथवा पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व जातकों का समय हो सकता है।

दशरथ जातक भी इन्हीं जातकों में अत्यन्त प्रसिद्ध जातक है। इसके विषय में पश्चिमी तथा पूर्वी विद्वानों में बड़ा वाद विवाद हुआ था। रामायणीय कथा के विषय में इससे बड़ी सहायता मिलती है अतएव अब इसकी चर्चा प्रारम्भ की जाती है।

(२) पाली से अनुवाद

बहुत दिन हुए वाराणसी नगरी में दशरथ नामक राजा कुमार्ग को छोड़ कर धर्म से राज्य करता था। उसकी सोलह हजार रानियों में पटरानी ने दो पुत्र और एक कन्या को पैदा किया। ज्येष्ठ पुत्र का नाम रामपण्डित था, छोटे का लक्ष्मण कुमार और लड़की का नाम सीता था। कुछ दिनों के अनन्तर पटरानी मर गई। उसकी मृत्यु से राजा बहुत दिनों तक शोक सागर में डूबा रहा, परन्तु मन्त्रियों के समझाने पर उसने उसकी चिन्ता छोड़कर दूसरी रानी को अग्रमहिषी के उन्नत पद पर नियुक्त किया। यह राजा की हृदयहारिणी थी। कुछ दिनों के बाद उस ने गर्भ धारण कर पुत्र पैदा किया। उसका नाम 'भरत' रखा गया। राजा ने उससे कहा—'हे भद्रे, मैं वर देता हूँ, इसे स्वीकार करो'। उसने राजप्रतिज्ञा करा के लड़के के छठे वर्ष में राजा से यही कहा—'देव! तुमने मेरे पुत्र को जो वर दिया था, इस समय उसे हमें दो।' राजा ने कहा, 'लो, मैं तैयार हूँ।' रानी ने कहा—'मेरे पुत्र को राज्य दीजिये।' राजा ने प्रतिज्ञा भूल कर रानी को डरवाया—'हे प्यारी, ऐसा न होगा, मेरे दो पुत्र अग्निस्कन्ध की तरह जलते हैं (चमकते हैं), उन्हें मरवा कर तुम अपने पुत्र के लिए राज्य माँग रही हो।' रानी डर कर महलों में चली गई परन्तु दूसरे दिन राजा से बारम्बार राज्य ही माँगा। राजा ने उसे वर न देकर सोचा—'कृतघ्न तथा मित्र द्रोह करनेवाला पुरुष स्त्रियों की तरह है। सम्भव है कि यह मेरी ओर से कूटपत्र लिखवा कर या छिपे छिपे घूस देकर मेरे पुत्रों को मरवा डाले'।

अत उसने पुत्रों को बुलवा कर यह बात कही 'हे तात, यदि तुम यहाँ रहोगे तो विघ्न की सम्भावना है। अतएव सामन्त राज्य या अरण्य में जाकर मेरी मृत्यु के मौके पर आना और सम्पूर्ण राज्य लेना।' इतना कह राजा ने ज्योतिषियों को बुलवा कर अपनी मृत्यु के विषय में पूछा। उन्होंने कहा कि आप बारह वर्ष और जीयेंगे। यह सुन कर राजा ने कहा 'हे वत्स, बारह वर्ष के बीतने पर यहाँ आ जाना और राज्य भोग करना"। पिता के कथन को स्वीकार कर वे दोनों लड़के रोते हुए महल से नीचे उतरे। सीतादेवी—'मैं भी भाइयों के साथ जङ्गल में जाऊँगी' ऐसा कहती हुई पिता को प्रणाम कर रोती हुई घर से निकली। वे तीनों बहुत नौकरों के साथ निकले परन्तु नौकरों को लौटा कर पूर्व की ओर हिमालय में गये। वहाँ पर फल फूल सुलभता से मिल सकता था और जल भी खूब था, ऐसे स्थान पर आश्रम बना कर विविध फलों से समय बिताते हुए ठहरे। लक्ष्मण पण्डित और सीता ने राम से यह प्रार्थना की कि आप हमारे पितृस्थानीय हैं, अतएव आप आश्रम में ही ठहरिये, हम जङ्गली फल लाकर आप को देंगे। उन्हें भेजकर राम पण्डित उसी जगह रहते थे और दोनों फल लाकर उन्हें देते थे। इस तरह जब वे फलों को खाकर समय बिताते थे तभी नौवें वर्ष में महाराज दशरथ पुत्र शोक से मर गये। उनके शरीर कृत्य को समाप्त कर देवी ने अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठने के लिए कहा।

परन्तु मन्त्रियों ने 'राज्य के स्वामी तो जङ्गल में हैं' ऐसा कह कर भरत को गद्दी नहीं दी। अपने भाई राम पण्डित को जङ्गल से लाकर मैं सिंहासन दूँगा, ऐसा विचार कर भरत चतुरङ्गिनी सेना के साथ उनके निवासस्थान के नजदीक पड़ाव डाल कर और कुछ मन्त्रियों को साथ लेकर आश्रम में गये। उस समय लक्ष्मण और सीता जङ्गल में फल लाने के लिए गये थे। आश्रम के द्वार पर सुन्दर सुवर्ण कान्ति वाले निडर राम को सुख से बैठे देख कर भरत ने उन्हें प्रणाम किया। शीघ्र ही राजा के दुःखद समाचार सुनाकर मन्त्रियों के साथ उनके पैरों पर गिर पड़े। राम पण्डित ने न तो शोक मनाया और न वे रोये ही। उनकी इन्द्रियों में कुछ भी विकार नहीं उत्पन्न हुआ। जब सन्ध्या हुई तब लक्ष्मण और सीता फल लेकर जंगल से लौटे। राम ने सोचा कि ये अभी नौजवान हैं, मेरी तरह इन्हें समझने की शक्ति नहीं है। अतएव यदि पिता के मरने की खबर सहसा सुना दी जायगी तो सम्भव है कि शोक के मारे इनका हृदय फट जाय। अतएव किसी उपाय से इन्हें जल में उतरवा कर यह खबर दूँगा। उनके सामने एक जलाशय दिखला कर कहा कि तुम आज बड़ी देर करके आये हो। मैं तुम्हें दण्ड दूँगा। इस जल में घुस कर तुम देर तक ठहरो। यह कह कर उन्हें यह आधी गाथा सुनाई "हे लक्ष्मण और सीता, आओ इस

जल में पैठो"। वे वचन सुनते ही जल में घुसे, तब राम ने उन्हें खबर सुनाकर गाथा के शेष अंश को समाप्त किया, 'भरत ने कहा है कि राजा दशरथ मर गये'।

वे पिता के मरने की खबर सुन कर अचेत हो गये। फिर राम ने खबर दी जिससे वे फिर भी अचेत हो गये। इस तरह बारम्बार मूर्छित होने वाले इन दोनों को मन्त्रियों ने जल के बाहर निकाला। जब इनकी साँस चलने लगी तब आपस में शोक मनाने लगे। तब कुमार भरत ने सोचा कि मेरा भाई लक्ष्मण और बहन सीता तो पिता की मृत्यु सुन कर ही शोक के सहने में असमर्थ हुए। परन्तु राम पण्डित न तो शोक करते हैं, न सोचते हैं, उनकी उदासीनता का कारण क्या हो सकता है, मैं इनसे पूछूँगा। यह सोच भरत ने यह गाथा कही,—"हे राम, किस प्रभाव से तुम इस शोचनीय घटना से शोकयुक्त नहीं होते? पिता की मृत्यु सुनकर भी क्यों तुम्हें दुःख नहीं होता?"

तब राम पण्डित ने कतिपय गाथाओं से संसार की अनित्यता सिद्ध की। उन्होंने कहा—

"जिसे हम किसी भी उपाय से बचाने में असमर्थ हैं उसके लिए मेधावी पुरुष अपनी आत्मा को व्यर्थ में सन्ताप क्यों पहुँचावे?

'जवान हों या बुड्ढे बालक हों या पण्डित धनी हों या गरीब सब पुरुष मौत के मुख में जाने वाले हैं। जिस प्रकार पके हुए फलों को गिरने से सदा भय बना रहता है, उसी भाँति उत्पन्न हुए मनुष्य को मृत्यु से हमेशा भय विद्यमान रहता है।

'अनेक लोग जो सबेरे दिखाई पड़ते हैं, सायंकाल से नहीं दीखते। बहुत लोग जो सायंकाल देखे गये प्रातःकाल नष्ट हो जाते हैं।

'यदि शोक करने से कुछ भी मतलब सिद्ध होता हो, तो विद्वान् अपने शरीर को नष्ट करता हुआ शोक करे। पर वास्तव में शोक से कुछ भी लाभ नहीं होता। मनुष्य जब अपने शरीर को नष्ट करने लगता है, तब स्वयं कृश हो जाता है, उसका चेहरा पीला पड़ जाता है, उसे कोई चीज भी नहीं मिलती। अतः शोक करना व्यर्थ है।

'धीर मनुष्य उड़ी हुई रुई की भाँति हवा की तरह उत्पन्न शोक को नष्ट कर दे।

"अकेला ही मनुष्य संसार में पैदा होता है और अकेला ही छोड़ता है। केवल सम्भोग के लिए ही मनुष्यों का एक दूसरे से संयोग होता है।

"इस प्रकार इस लोक तथा परलोक देखने वाले बहुश्रुत धीर पुरुष के धर्म को, हृदय को तथा मन को बड़े बड़े भी शोक सन्ताप युक्त नहीं कर सकते।"

राम पण्डित के अनित्यता प्रकाशक इस धर्मोपदेश को सुन कर सब किसी का शोक जाता रहा। तब भरत कुमार ने राम पण्डित को प्रणाम कर वाराणसी

का राज्य करने को कहा। राम ने कहा कि मेरे पिता ने हमें बारह वर्ष के बाद आने को कहा था। अभी तीन वर्ष बाकी हैं, यदि इस समय वाराणसी जाऊँ तो मैं पिता की आज्ञा का पालने वाला नहीं हो सकता। भरत ने पूछा कि तो इतने दिनों तक राज्य कौन करे। राम ने यह कह कर कि तब तक मेरी यह पादुका ही राज करेगी तृण की अपनी पादुका दे दीं। वे तीनों लोग पादुका लेकर घर लौटे। तीन वर्षों तक पादुका ने राज किया। अमात्य राजसिंहासन पर तृण पादुका रख कर निर्णय किया करते थे। यदि निर्णय ठीक नहीं होता था, तो पादुकाएँ आपस में टकराने लगतीं, तब लोग फिर से निर्णय करते थे। यदि निर्णय ठीक होता, तो पादुका चुप रहती। राम पण्डित तीन वर्षों के बाद जंगल छोड़ कर वाराणसी में आये। उनका आना जान कर दोनों मन्त्रियों के साथ भरत उनसे बगीचे में मिले और सीता को पटरानी बनाकर राम का अभिषेक किया। अभिषेक हो जाने पर राम अलकृत रथ पर सवार होकर नगर की प्रदक्षिणा करते हुए 'सुचन्दक' महल में आये। राम ने सोलह हजार वर्षों तक धर्म से राज्य कर स्वर्ग पाया।

कम्बुग्रीव महाबाहु राम ने सोलह हजार वर्ष तक राज्य किया।

(३) विवेचना

दशरथ जातक के विषय में बहुत वाद विवाद हुआ है—बड़ी छान बीन की गई है। सब से पहिले जर्मनी के प्रसिद्ध डाक्टर वेवर ने दशरथ जातक को रामायणीय कथा के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्व दिया। उनकी यह सम्मति थी कि दशरथ जातक की राम कथा अत्यन्त प्राचीन है—यह वाल्मीकीय रामायण से भी पुरातन है। जातक की कहानी में सीता राम की बहिन है जिससे अन्त में राम का विवाह होता है। भाई और बहिन की शादी अत्यन्त प्राचीन समाज की लुप्तप्राय प्रथा को सूचित करती है। यह प्रथा आगे चल कर बिल्कुल ही लुप्त हो गई, परन्तु प्रत्येक जाति के प्राचीनतम इतिहास में इस प्रथा की सत्ता के विषय में अनेक प्रमाण हैं। अतएव दशरथ जातक के राम पण्डित ही वास्तव में रामायणीय कथा के मूल-पात्र हैं। जब वाल्मीकि रामायण में राम कथा लिखी गई तब इस प्रथा का नामो निशान भी न था। अतः जातक रामायण से पहले का जान पड़ता है। वेबर ने एक और भ्रान्त सिद्धान्त निकाला था। वह यह था कि जातक की मूलभूत राम कथा में सीताहरण और लङ्काविजय की घटनाओं का कहीं उल्लेख नहीं है। अतएव ग्रीस देशीय महाकवि होमर के इलियड नामक महाकाव्य का अनुकरण कर वाल्मीकि ने इन दोनों घटनाओं को पीछे से जोड़ दिया है। अर्थात् सीताहरण और लङ्काविजय होमर के काव्य (जिस में हेलेन का पेरिस के हाथों हरण किया जाना और ट्रॉय पर विजय पाना महत्व-

शालिनी घटनायें हैं) से लिए गये हैं। इनकी उत्पत्ति भारतायों के मस्तिष्क से कदापि नहीं हुई। जिस समय इस सिद्धान्त का प्रचार हुआ था उस समय विद्वानों में एक कोलाहल मच गया था। जस्टिस काशीनाथ तैलङ्ग ने 'Is Ramayan copied from Homer' नामक लेख लिखकर इसका मुँहतोड़ जवाब दिया। पीछे से चिन्तामणि वैद्य ने भी अपने रामायण रहस्य 'Riddle of Ramayan' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ में इसका खण्डन किया। अब तो यह सिद्धान्त—रामायण पर होमर का प्रभाव—बिल्कुल ही भ्रान्त माना जाता है।

राम-कथा के विकास का भी इतिहास पूरी तौर से लिखा जा सकता है। ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे विभिन्न राम-कथाओं के क्रम का निर्णय भली भाँति किया जा सकता है। यद्यपि राम-कथा का प्रादुर्भाव महर्षि वाल्मीकि के ही अलौकिक काव्यरत्न से हुआ, तथापि परवर्ती ग्रन्थकारों ने राम को विष्णु भगवान् के साक्षात् अवतार माने जाने के कारण उनके जीवन-चरित में अनेक आश्चर्यमय परिवर्तन कर डाले। इन परिवर्तनों के विषय में कुछ कहने के लिए यहाँ पर्याप्त स्थान नहीं है परन्तु क्रमबद्ध इतिहास जानने की आवश्यक कुञ्जी को यहाँ बताना सर्वथा उचित है। वह कुञ्जी है—कथामें अलौकिकता का पुट। जिस रामायण कथा में जितनी ही आश्चर्यमयी, कृत्रिमतापूर्ण घटनाओं का वर्णन अधिक होगा, वे उतनी ही आधुनिक होंगी। और जिसमें स्वाभाविकता की मात्रा होगी वह प्राचीन होगी। रामायणीय विद्वान् इस सिद्धान्त से सर्वथा सहमत हैं। इसी जाँच के मूल नियम का उपयोग यहाँ किया जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि जातक की कहानी कुछ पीछे की ही होगी। ऊपर वर्णन आया है कि अधिक शोक के अशोचनीय दुष्परिणाम के भय से राम पण्डित ने लक्ष्मण कुमार तथा सीता को पानी में उतरवा कर पितृमरण के दुःखद समाचार सुनाये। सुनते ही उन्हें मूर्च्छा आ गई। शीतल जल की सहायता से कहीं उनकी मूर्च्छा छूटी। इस प्रकार की आश्चर्यमयी घटना का विशेष प्रयोजन है जो आगे दिखाया जायगा। परन्तु इतना निश्चित है कि इस प्रकार अस्वाभाविक घटना का उल्लेख करने से जातक वाल्मीकि रामायण से (जिस में इस घटना का कहीं सङ्केत नहीं है) सर्वथा पीछे का जान पड़ता है।

जातक में ऐसी घटनाएँ उल्लिखित हैं जो सर्वथा एक दूसरे के विरुद्ध हैं। राम और लक्ष्मणके लिए महाराज दशरथका उद्वेग सर्वथा प्रशंसनीय तथा समुचित है। अतएव यदि ये जङ्गल में कैकेयी के कपट व्यवहार की आशङ्का से भेजे जायें तो यह बिल्कुल ठीक है। परन्तु कुमारी सीता को जिसके लिए कुछ भी राजनीतिक आशङ्का नहीं हो सकती, बन में कई वर्षों के लिए भेजना बिल्कुल

असम्बद्ध है। एक युवती कुलीन कन्या को अपने भाई के साथ १२ वर्ष जङ्गलों में बिताना बिल्कुल बुरा है। सीता को राम की बहिन तथा पत्नी मानने का कारण आगे बतलाया जायगा परन्तु सीता को बन में भेजना बिल्कुल ही ठीक नहीं जँचता। परन्तु वाल्मीकि रामायणमें यह घटना बिल्कुल न्यायसङ्गत है। सीता राम की ब्याही स्त्री हैं। आर्य महिला पति के दुःख में उसका साथ कभी भी नहीं छोड़ सकती। अतएव पतिप्राणा ब्याही सीता का राम का सहगमन बिल्कुल ही ठीक है। परन्तु जातक की कहानी में यह घटना असम्बद्धता के पंजे से कभी नहीं निकल सकती। अब जरा दूसरी घटना पर दृष्टिपात कीजिये, जिस में असम्बद्धता स्पष्टरूप में दीख पड़ती है। वह है जङ्गल में वास करने के समय का नियत करना। राम को बनवास देते समय दशरथ ने कहा, मेरी मृत्यु के अनन्तर आना। बस लौट आने की इतना ही आज्ञा थी। दशरथ ने अपने शेष जीवन-चर्या के विषय में दैवज्ञ से पूछा। ज्योतिषी महोदय के कहने पर १२ वर्ष ही जङ्गल में निवास की अवधि ठहराई गई। परन्तु अचानक महाराज पुत्रशोक से विह्वल होकर मर गये। उन्होंने राम से लौट आने की अनेक प्रार्थनाएँ कीं। किन्तु वे बारहवें वर्ष में ही लौटने के लिए राजी थे, इसे ही उन्होंने पिता की आज्ञा का पालन समझा। घटनायें बिल्कुल असम्बद्ध हैं। महाराज का स्नेह कैसा अनोखा दिखाया गया है! जब पुत्र को बनवास दिया तब आप मजे में सुख भोग करते थे परन्तु नवें वर्ष में शोक का प्रवाह इतना उमड़ आया कि उन्हें ले बीता! और देखिये दशरथ की आज्ञा तो इतनी ही थी कि मेरी मृत्यु हो जाने पर लौट आना। जब दशरथ की मृत्यु सचमुच हो गई, तब राम पण्डित का बन से न लौटने का कारण मुझे तो कुछ भी नहीं जान पड़ता। ज्योतिषी ने केवल अनुमान से १२ वर्ष बतलाया था, परन्तु जब प्रत्यक्ष ने अनुमान की असत्यता सिद्ध कर दी। जब वास्तविक मृत्यु ने ज्योतिषी की कल्पना को झूठा ठहरा दिया, तब राम का न लौटना बिल्कुल ही ठीक नहीं! उस समय तो राम के लिए बन से लौट आकर राज्य कार्य करने में ही पिता की आज्ञा का पूरा पालन हो सकता था। परन्तु जो जातक ऐसी असम्बद्ध घटनाओं का वर्णन करता है उसकी कथा स्वाभाविक मूल कहानी नहीं हो सकती, इस के विपरीत वाल्मीकीय राम कथा बिल्कुल सम्बद्ध और स्वाभाविक है। अतएव जातक को प्राचीन मानना नितान्त अनुचित है।

एक प्रमाण और लीजिये। जातक के अन्त में जो पाली गाथा दी गई है वह भी तो रामायण के एक संस्कृत श्लोक का पाली बनाया गया रूप है। वह गाथा यों है :—

दस वस्स सहस्सानि सट्ठि वस्ससतानि च॥
कम्बुगीवो महाबाहु रामो रज्जमकारयीति॥

इसका मूलभूत संस्कृत श्लोक यों है :—

दश वर्ष-सहस्राणि षष्टिवर्ष-शतानि च।
कम्बुग्रीवो महाबाहु रामो राज्यमकारयत् ॥

कहने का तात्पर्य यही है कि जातक कथा वाल्मीकि रामायण से पहले की हो नहीं सकती।

सच पूछा जाय तो राम के आदर्श जीवन को बौद्धों ने अपनाया है। समय देश, पात्र, आदि उपचार से मूल राम कथा में उचित परिवर्तन किये गये हैं। बौद्ध इतिहास से जिन्हें कुछ परिचय होगा वे अवश्य जानते होंगे कि शाक्य के पूर्वज इक्ष्वाकुवंशीय थे जो अयोध्या से भाई बहिनों के साथ निकाल दिये गये थे। अन्य के न मिलने पर भाइयों ने बहिनों से शादी कर कुल चलाया। बस इसी कारण सीता राम की बहिन बतलाई गई। प्राचीन सम्प्रदाय की रक्षा के लिए यह परिवर्तन किया गया है। जातक-परम्परा की रक्षा के लिए महाराज दशरथ की राजधानी अयोध्या से हटा कर काशी में लाई गई है। राम सीता का वनवास दक्षिण के दण्डकारण्य में न होकर बौद्ध सम्प्रदाय के अनुसार हिमालय की तराई में—जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था और जहाँ समग्र बौद्ध साहित्य के ऋषिगण तपस्या किया करते थे—दिखलाया गया है। ऊपर कहा गया है कि जातक में प्राचीन कथा के पात्र तथा काल का हिसाब बिल्कुल बदल दिया गया है। दशरथ जातक इसका उज्ज्वल प्रमाण है। बुद्ध भगवान पिता की मृत्यु से व्याकुल कुटुम्ब को सान्त्वना दे रहे हैं। अतएव वे ऐसे प्राचीन उदाहरण उपस्थित करते हैं जिस में पुत्र ने असीम यातना सहकर भी शोक नहीं मनाया। जातक में राम पिता की मृत्यु से तनिक भी विह्वल नहीं हुए। बस, इस काल के औचित्य के विचार से रामायण का केवल एक अंश यहाँ कहा गया—शेष अंश (सीताहरण तथा लङ्का विजय) बिल्कुल छोड़ दिया गया है। महाभारत में भी ऐसा ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। द्रौपदी के हरण के साथ किसी ऋषि ने पाण्डवों में जोश पैदा करने के वास्ते सीताहरण तथा राम के अद्भुत उद्योग की कहानी सुनाई थी। बाल तथा अयोध्या काण्डों की कथा छोड़ दी थी। संक्षेप करने में ऐसा ही होता है; मतलब की बात ले ली जाती है, और सब छोड़ दिया जाता है। ढाढ़स बंधाने के लिए ही लक्ष्मण के मूर्च्छित होने तथा वज्र की सहायता से मूर्च्छाभङ्ग की घटनाएँ उल्लिखित हैं। अतएव हमारी आलोचना यही बतलाती है कि दशरथ जातक रामायण से लिया गया है। परन्तु अपने अभिप्राय से कुछ अंशों में परिवर्तन कर दिया गया है और कुछ अंशों को बिल्कुल छोड़ दिया गया है। जातक में कोई ऐसी बात नहीं जो इस वाल्मीकीय रामायण से प्राचीन सिद्ध करे।



वाल्मीकि और उनके प्राकृत सूत्र

जो विद्वान् प्राकृत भाषा और साहित्य से कुछ भी परिचित हैं, उनको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत व्याकरण के शास्त्रीय ढङ्ग पर लिखे हुए प्राकृत के एक दो नहीं बल्कि अनेक व्याकरण वर्तमान हैं। पहले पहल उपलभ्य व्याकरणों में भरत-कृत नाट्य शास्त्र में संक्षिप्त रूप से दिये हुए प्राकृत व्याकरण का नाम लिया जाना चाहिए*। किन्तु उपलब्ध पाठ इतना थोडा और भ्रष्ट है कि उसका उपयोग करना अभी सम्भव नहीं है। इसलिये प्राकृत व्याकरणों में वररुचि ही सब से प्रथम तथा श्रेष्ठ समझे जाते हैं। यद्यपि इनके बाद अनेक आचार्यों ने बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे, पर इनकी कीर्ति उसी तरह अक्षुण्ण चली आती है।

किन्तु प्राकृत व्याकरणों का यदि ऐतिहासिक ढग से विचार किया जाय, तो ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी बड़े महत्त्व की मालूम पड़ती है। इन शताब्दियों में बड़ बड़े आचार्यों ने अनेक प्रकार से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे। इन सब में जैनाचार्य हेमचन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। इन्होंने पाणिनि का अनुकरण करते हुए आठ अध्यायों का बृहत् व्याकरण लिखा। इस व्याकरण के अन्तिम अध्याय में इन्होंने प्राकृत भाषाओं का भी विशद रूप से वर्णन किया है। यह व्याकरण जैनों में बहुत प्रसिद्ध रहा है। इन्हीं के सूत्रों से मिलते हुए सूत्र अन्य कई प्राकृत व्याकरणों में भी पाए जाते हैं।

इन ग्रन्थों में तीन ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके सूत्र अविकल वही के वही हैं। सूत्रों की व्याख्या भिन्न भिन्न ढङ्ग और भिन्न भिन्न क्रम से की गई है, इसलिये सूत्रों के एक रहने पर भी ये ग्रन्थ एक दूसरे से बिलकुल विभिन्न से हो गए हैं। इन ग्रन्थों में से सब से प्रथम त्रिविक्रम का प्राकृत व्याकरण है। यह ग्रन्थ इस समय दुर्लभ सा हो रहा है। यह विजि॰ापट्टम से निकलनेवाली ग्रन्थ प्रदर्शिनी सीरीज में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। किन्तु इस समय उसका कुछ पता नहीं लगता। हस्तलिखित प्रतियाँ कई पुस्तकालयों में वर्तमान हैं। स्वर्गीय डाक्टर लड्ड इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि अपने हाथ से करके जर्मनी से लाए थे। यह प्रतिलिपि उनकी मृत्यु के बाद काशी में नीलाम हुई थी। यह काशी तथा पूना से प्रकाशित हो गया है। त्रिविक्रम का ठीक ठीक समय निर्दिष्ट

* भारतीय नाट्यशास्त्र, अध्याय १७

करना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि ये १२ वीं शताब्दी में होने वाले हेमचन्द्र के अनन्तर और मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी के पूर्व हुए। अत ये वैक्रमी तेरहवीं शताब्दी के आसपास के किसी समय में हुए होंगे।

इनका व्याकरण अन्य व्याकरणों से कहीं बड़ा है। उसमें १०८५ सूत्रों पर बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढङ्ग से विराट टीका लिखी गई है। यह व्याकरण किसी समय बड़े ही आदर की दृष्टि से देखा जाता था। 'षड्भाषा चन्द्रिका' के लिखने वाले लक्ष्मीधर स्वय बहुत उच्च कोटि के विद्वान् थे। वे अपने ग्रन्थारम्भ में यों लिखते हैं—

'वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्यासन्ति ये बुधा।
षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तत् व्याख्यारूपा विलोक्यताम्' ॥

अर्थात्—जो विद्वान् त्रिविक्रम की गूढ़ वृत्ति को समझना और समझाना चाहते हों, वे उसकी व्याख्यारूप इस षड्भाषाचन्द्रिका को देखें।

त्रिविक्रम ने अपने ग्रन्थ में सूत्रों के क्रम से व्याख्या की है। इनकी यह टीका पाणिनीय अष्टाध्यायी की टीका काशिका वृत्ति के ढङ्ग की है।

इनके बाद पूर्वोल्लिखित लक्ष्मीधर का नाम आता है। लक्ष्मीधर का भी ठीक समय निर्दिष्ट करना दुष्कर है। इतना ही कहा जा सकता है कि वे त्रिविक्रम के अनन्तर और अप्पयदीक्षित के पूर्व हुए। अप्पयदीक्षित ने अपने 'प्राकृत मणिदीप' में अन्य आचार्यों के साथ इनका भी नाम दिया है। लक्ष्मीधर ने भी उन्हीं १०८५ सूत्रों पर टीका लिखी है, किन्तु इस व्याख्या का—अर्थात् सूत्रों का—क्रम नहीं है। इनकी व्याख्या विषय क्रम से की गई है। इनके ग्रंथ की तुलना भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी से की जा सकती है। इस ग्रन्थ का सम्पादन पण्डित कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी ने किया है और प्रकाशन बाम्बे संस्कृत सीरीज में हुआ है।

इस मण्डल के तीसरे व्यक्ति सिंहराज हैं। सिंहराज का समय भी पूर्वोक्त ढङ्ग से साधारण तरह से ही निश्चित किया जा सकता है। हुल्स महाशय का कहना है कि इनके ग्रन्थ में भट्टोजि की सिद्धान्तकौमुदी और नागोजि भट्ट के परिभाषेन्दुशेखर से उद्धरण मिलते हैं। यदि यह बात ठीक हो, तो ये दो अढ़ाई शतक से पुराने नहीं माने जा सकते। इनके ग्रन्थ का नाम है—प्राकृतरूपावतार। इस ग्रंथ में भी उन्हीं पूर्वोक्त सूत्रों पर लक्ष्मीधर की तरह विषय-क्रम से व्याख्या लिखी गई है। यह व्याख्या पूरे १०८५ सूत्रों पर नहीं की गई है। इन सूत्रों में से केवल ५७५ सूत्र चुन लिए गए हैं और उन पर संक्षेप से टीका लिखी गई है। यह ग्रन्थ एक तरह से लक्ष्मीधर की षड्भाषाचन्द्रिका का संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है। इसकी तुलना वरदराज की मध्यकौमुदी या लघुकौमुदी

से हो सकती है। इस ग्रन्थ का सम्पादन डाक्टर हुल्स ने तथा प्रकाशन विलायत की रायल एशियाटिक सोसाइटी ने किया है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो है कि इन दोनों ग्रन्थों में जिन सूत्रों पर व्याख्या लिखी गई है, वे बिलकुल वही हैं। यहाँ अब यह प्रश्न उठता है कि वे प्राकृत व्याकरण के सूत्र किस के और कब के बनाए हुए हैं। इस प्रश्न पर बहुत कुछ वाद-विवाद हो चुका है, जिसका सारांश नीचे दिया जाता है।

श्रीयुत भट्टनाथ स्वामी ने इण्डियन एण्टिक्वेरी के ४० वें भाग (१९११ ई०) में Trivikrama and his followers नामक एक विस्तारपूर्ण लेख लिखा है। उसमें उन्होंने बहुत सी युक्तियों द्वारा यह प्रमाणित करना चाहा है कि इन सूत्रों के निर्माता त्रिविक्रम ही हैं। त्रिविक्रम विरचित ग्रन्थ के आरम्भ में निम्नलिखित श्लोक भी मिलते हैं—

> प्रकृतेः संस्कृतात् साध्यमानात् सिद्धाच्च यद् भवेत्।
> प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रवक्ष्महे ॥
> प्राकृतपदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्।
> वृत्तिर्यथार्थसिद्ध्यै त्रिविक्रमेणागमक्रमात् क्रियते ॥

ग्रन्थ के अन्त में यह श्लोक मिलता है—

> सप्रत्यय प्रकृतिसिद्धिमदीर्घसूत्र—
> सत्कारकं बहुविधिक्रियमाणदेश्यम्।
> शब्दानुशासनमिदं प्रगुणप्रयोगं
> त्रैविक्रमं जयत मन्त्रमिवार्थसिद्ध्यै ॥

पहले श्लोक का आशय यह है—संस्कृत से पूर्वसिद्ध या सिद्ध होने वाले जो प्राकृत शब्द हैं, लक्ष्य के अनुसार उनके लक्षण हम कहते हैं।

भट्टनाथ स्वामी का कहना है कि यहाँ आया हुआ 'प्रवक्ष्महे' शब्द और 'देश्यमार्षम्' इत्यादि श्लोक में प्रयुक्त 'प्रवक्ष्महे' शब्द से स्पष्ट मालूम होता है कि इन सूत्रों के रचयिता त्रिविक्रम ही थे।

दूसरे श्लोक का तात्पर्य है—अपने सूत्र के मार्ग पर चलने की इच्छा रखने वालों के प्राकृत समझने के लिये आगम के क्रम से त्रिविक्रम यह वृत्ति बनाते हैं। इस श्लोक को लेकर भट्टनाथ स्वामी ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि इन सूत्रों के रचयिता त्रिविक्रम ही हैं। उनका कहना है कि इस श्लोक में आए हुए 'निज' शब्द का त्रिविक्रम को द्योतन करने के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं हो सकता। तीसरे श्लोक से भी उन्होंने यही बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि यदि ये सूत्र त्रिविक्रम के बनाए हुए न होते, तो वे 'त्रैविक्रम शब्दानुशासनमिदम्' कभी न लिखते।

इन युक्तियों का खण्डन बड़े ही मार्मिक ढङ्ग से अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका' की भूमिका में पण्डित कमलाशकर प्राणशकर त्रिवेदी जी ने किया है। उनकी युक्तियों का भी ऊपर के क्रम से ही संक्षेप में हम यहाँ उल्लेख करते हैं—

(१) 'प्रचक्ष्महे' शब्द से जो भट्टनाथ स्वामी त्रिविक्रमको सूत्रकार मानना चाहते हैं, यह ठीक नहीं। जिस दूसरे श्लोक का उन्होंने उल्लेख किया है, उसमें 'प्रचक्ष्महे' शब्द है ही नहीं। वह पूरा श्लोक यह है—

देश्यमार्ष च रूढत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च भूयसाम्।
लक्षणं वक्ष्यते तस्य सम्प्रदायोपबोधकैः.

ऊपर दिए हुए पहले श्लोक में जो 'प्रचक्ष्महे' शब्द आया है, उससे यदि त्रिविक्रम का अभिप्राय अपने को सूत्रकार बतलाने का था, तो उन्होंने अपने ग्रन्थ को वृत्ति क्यों लिखा? उसके बादवाला ही श्लोक जो ऊपर दिया हुआ है, उसके 'वृत्तिर्यथार्थसिद्धयै' इत्यादि शब्दों से ग्रन्थ के वृत्ति होने की सूचना मिलती है। उसी के अनन्तर यह श्लोक आता है—

तद्भवतत्समदेश्यप्राकृतरूपाणि पश्यतां विदुषाम्।
दर्पणतयेयमवनौ वृत्तिस्त्रैविक्रमी जयति।

इस श्लोक में यह ग्रन्थ 'वृत्ति' ही कहा गया है।

(२) ऊपर दिए हुए श्लोकों में जो प्राकृत पदार्थ इत्यादि दूसरा श्लोक है, उसमें आए हुए 'निज सूत्र' इत्यादि शब्दों का श्रीयुत भट्टनाथ स्वामी को बड़ा सहारा है, किन्तु उसका अर्थ उन्होंने कुछ भी नहीं समझा। 'निजसूत्र' से वे 'अपना बनाया हुआ सूत्र' ऐसा अर्थ समझते हैं। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि जैनों में कुछ धर्म ग्रन्थ सूत्र के नाम से प्रचलित हैं। उनमें से अधिकांश प्राकृत में लिखे गए हैं, अतः उनका 'निजसूत्र' इत्यादि से अपने जैन-धर्म ग्रन्थ की ओर ही संकेत है। अन्यथा 'अनुजिगमिषताम्' पद का भी क्या स्वारस्य होता! ऊपर दिए हुए श्लोकों के पहले त्रिविक्रम ने यह श्लोक दिया है। उसमें सूत्र शब्द का दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। वह श्लोक यह है—

अमरपार्थ्य सुखोच्चार शब्द साहित्यजीवितम्।
यच्च प्राकृतमेवेति मतं सूत्रानुवर्तिनाम्॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि 'निज' शब्द का 'अपना' (अर्थात् त्रिविक्रम का) अर्थ करना ठीक नहीं है। हुल्श साहब ने 'निज' शब्द का तामिल भाषानुसार 'उचित' 'वास्तविकता' अर्थ किया है, पर उसकी भी आवश्यकता नहीं है।

(३) तीसरे श्लोकमें 'त्रैविक्रम शब्दानुशासनम्' इत्यादिसे श्रीयुक्त भट्टनाथ स्वामी ने त्रिविक्रम को जो सूत्रकार निर्धारित किया है, वह भी ठीक नहीं है। यदि शब्दानुशासन शब्द लिख देने से ही कोई सूत्रकार बन सके, तो यह पद

पहले महर्षि पतंजलि को मिलना चाहिए; क्योंकि उनका महाभाष्य 'अथ शब्दानुशासनम्' से आरम्भ होता है।

ऊपर दी गई युक्तियों से स्पष्ट ही है कि इन सूत्रों के रचयिता त्रिविक्रम नहीं हैं। फिर वही पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि इन सूत्रों के रचयिता कौन हैं। सच पूछिए तो इस प्रश्न का उत्तर लक्ष्मीधर ने अपनी 'षड्भाषा चन्द्रिका' में स्पष्ट दे दिया है। उनका एक श्लोक इस प्रकार है—

वाग्देवी जननी येषां वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत्।
भाषाप्रयोगा ज्ञेयास्ते षड्भाषाचन्द्रिकाध्वना ॥

उनके लिखने से यही प्रतीत होता है कि इनके रचयिता कोई 'वाल्मीकि' नाम के व्यक्ति थे। लक्ष्मीधर को इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं था कि इन सूत्रों के रचयिता वाल्मीकि हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं या तो उन्होंने गुरु-परम्परा से यह बात सुनी होगी या स्वयं ग्रन्थ देखा होगा। यदि केवल सुनी सुनायी ही बात होती, तो वे 'वाल्मीकिः किल सूत्रकृत्' लिखते, न कि 'वाल्मीकिर्मूलसूत्रकृत्'। रावबहादुर रंगाचार्य के हस्तलिखित एक ऐसे ग्रन्थ का वर्णन आया है। इस ग्रन्थ में सूत्र वे ही हैं जिन पर त्रिविक्रम आदि ने टीका लिखी है; किन्तु इसमें दो ही अध्याय हैं। इसके आदि और अन्त के वाक्य ध्यान देने योग्य हैं।

इस ग्रन्थ का आरम्भ इन श्लोकों से होता है—

येन श्रीरामचरितमधिगम्य सुरर्पितः।
श्रीमद्रामायणं प्रोक्तं तस्मै वाल्मीकये नमः ॥
येन निर्मलिता ना (गा) वः षड्भाषाकृतयो नृणाम्।
विमलैः सूत्रकलकैस्तस्मै वाल्मीकये नमः ॥
स्वान्तस्य काव्ये गिरां च पण्णां सूत्रैर्नराणां कलुषं प्रपश्य।
पराकरोद् य प्रथमः कवीनां वाल्मीकिमेनं मुनिमानतोऽस्मि ॥

और अन्त में यह लिखा हुआ है—

श्रीवाल्मीकीयेषु सूत्रेषु द्वितीयाध्यायस्य पादश्चतुर्थः।

यद्यपि इसमें रामायण के रचयिता ही इन प्राकृत सूत्रों के कर्त्ता माने गए हैं, तथापि यह बात विवादशून्य नहीं है। वाल्मीकीय रामायण के काल के सम्बन्ध में यदि युरोपीय विद्वानों के मत को भी मानकर हम चलें, तो भी महर्षि वाल्मीकि को इन प्राकृतों के काल तक खींच लाना असम्भव है। ऊपर कहा गया है कि इन सूत्रों का हेमचन्द्र के सूत्रों के साथ बहुत कुछ सादृश्य है; किन्तु इस सादृश्य से पौर्वापर्य का ठीक-ठीक विचार करना दुष्कर है।

त्रिवेदी महाशय का तो मत है कि ये सूत्र हेमचन्द्र के बाद बने होंगे; क्योंकि ये सूत्र अधिक संक्षिप्त और ज्यादा अच्छे हैं। कुछ भी हो, रामायण के रचयिता वाल्मीकि इन सूत्रों के कर्ता नहीं हो सकते। किन्तु इतना निश्चित है कि वाल्मीकि नामक किसी व्यक्ति ने इनकी रचना अवश्य की। यह समझ में नहीं आता कि प्राचीनों में इन दोनों के एक होने का प्रवाद कैसे प्रचलित हो गया। 'शम्भुरहस्य' नामक एक प्राचीन प्रचण्ड ग्रन्थ है। उसमें १६८ वाँ अध्याय बिलकुल प्राकृत की प्रशंसा में लिखा गया है। उस अध्याय में कहा गया है कि जिस तरह गार्ग्य, गालव, शाकल्य तथा पाणिनि आदि संस्कृत व्याकरण के आचार्य हैं उसी तरह वाल्मीकि प्राकृत व्याकरण के आचार्य हैं। उन्होंने संस्कृत रामायण की तरह प्राकृत रामायण भी लिखा है। उस ग्रन्थ से इस अंश का अविकल उद्धरण नीचे दिया जाता है—

को विनिन्देदिमां भाषां (प्राकृतीं) भारतीमुग्धभाषितम्।
यस्याः प्रचेतसः पुत्रो व्याकर्ता भगवानृषिः॥
गार्ग्यगालवशाकल्यपाणिन्याद्या यथर्षयः।
शब्दराशेः संस्कृतस्य व्याकर्तारो महत्तमाः॥
तथैव प्राकृतादीनां षड्भाषाणां महामुनिः।
आदिकाव्यकृदाचार्यो व्याकर्ता लोकविश्रुतः॥
यथैव रामचरितं संस्कृतं तेन निर्मितम्।
तथैव प्राकृतेनापि निर्मितं हि सतां मुदे॥
पाणिन्याद्यैः शिक्षितत्वात् संस्कृती स्यात् यथोत्तमा।
प्राचेतसव्याकृतत्वात् प्राकृत्यपि तथोत्तमा॥
प्राकृतं चार्षमेवेदं यदि वाल्मीकिशिक्षितम्।
तदनार्षं भवेद्यो वै प्राकृतः स्यात् स एव हि॥



(२)

महर्षि व्यास

(श्रीमद्भागवत की समीक्षा)

श्रीमद्भागवत के विभिन्न रूप

श्रीमद्भागवत संस्कृत वाङ्मय की सर्वोत्कृष्ट परिणति है। उसके लक्ष्य, साधन और शैली महान तथा विलक्षण हैं; एवं उसका स्वरूप भी अत्यन्त गम्भीर, मधुर तथा प्रमादपूर्ण है। उसका अध्यात्म, उसका काव्य और समाज संगठन-प्रणाली सम्पूर्ण संसार के लिए गौरव की वस्तु है। जीवों के परम कल्याण के लिए ही इस ग्रन्थ रत्न का आविर्भाव हुआ है। यह भगवान् का साक्षात् स्वरूप है, प्रसाद है।

श्रीमद्भागवत का घटनात्मक स्वरूप

वर्णन की दृष्टि से श्रीमद्भागवत का चार प्रकार से विभाजन किया जा सकता है—घटनात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक और गीतात्मक। घटनात्मक भाग में एक तो भगवान् की लीला है और दूसरा साधारण चरित्र। साधारण चरित्र तीन भागों में विभक्त है—इतिहास, भविष्य और उपाख्यान। इतिहास के दो प्रयोजन हैं—एक तो किसी उपदेश, स्तुति अथवा गीत का उपक्रम या उपसंहार करना और दूसरा कोई विशेष शिक्षा देना। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में सूत शौनक, व्यास नारद, परीक्षित शुकदेव, दूसरे स्कन्ध में ब्रह्मा-नारद और इसी प्रकार प्राय सभी स्कन्धों में कथा विशेष का उपक्रम करने के लिए अनेक व्यक्तियों का वर्णन है। प्रथम स्कन्ध में भीष्म की कथा केवल उनकी स्तुति का उल्लेख करने के लिए आयी है। ऐसे ही गीतों के प्रसंग में भी देख सकते हैं। मनु, उनके वंश और वंशानुचरित का वर्णन सद्धर्म की शिक्षा देने के लिए ही आता है—ऐसा श्रीमद्भागवत का सिद्धांत है—'मन्वन्तराणि सद्धर्म'। इसके अन्तर्गत देव-दानव, मनुष्य, पशु-पक्षी, सबके चरित्र आ जाते हैं। भागवत के बारहवें स्कन्ध में वेद विभाजन के प्रसंग में उनके अध्ययन करने वाले अनेक ऋषियों का वर्णन ग्रन्थ के उपसंहार के लिए हुआ है। भगवान् की लीला और साधारण चरित्र दोनों ही सत्य हैं—इतिहास हैं।

श्रीमद्भागवत में भविष्य का भी वर्णन आता है। साधारण योगी और ज्योतिषी भी भविष्य की बातें जान लिया करते हैं। पुराणों के निर्माता महर्षि

व्यास तो विशिष्ट पुरुष हैं। उन्हें प्रकृति की तह में छिपे हुए संस्कारों का प्रत्यक्षवत् ज्ञान है। कुछ लोग पुराणों में भविष्य-परिस्थिति और वंशों का वर्णन पढ़कर ऐसा समझने लगते हैं कि इसमें जिन-जिन घटनाओं और व्यक्तियों का वर्णन हुआ है, उनके पश्चात् इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। परन्तु उनकी यह समझ ऋषि-प्रतिभा की महत्ता न जानने के कारण ही है। पुराणों में वर्तमान काल के गुरुण्ड आदि राजाओं और भविष्य में होने वाली वंश-परम्परा तथा कल्कि-अवतार आदि का उल्लेख है। यदि आगे के लोग ऐसा मानने लगें कि इन व्यक्तियों के होने के पश्चात् पुराणों का निर्माण हुआ है, तो उनका विचार कितना भ्रमपूर्ण तथा उपहासास्पद होगा? इसलिये उन भविष्य की वंशावलियों को भूत वंशावलियों के समान ही सत्य मानना चाहिए।

परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए और जन्म-मृत्यु रूप संसार से मुक्ति का मार्ग बताने के लिए रूपक के द्वारा भी आध्यात्मिक तत्त्व का वर्णन होता है। पहले एक कहानी भी कह दी जाती है। सरल बुद्धि के पुरुषों को वह याद हो जाती है। पीछे उसके पात्रों और कृत्यों का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है कि ये पात्र स्थूल जगत् के नहीं, मानसिक हैं और इनके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे रूपकों को उपाख्यान कहते हैं। श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में पुरञ्जनोपाख्यान और पंचम स्कन्ध में भवाटवी उपाख्यान का वर्णन हुआ है। उनके द्वारा जो विशेष तत्त्व लक्षित कराया गया है, उसका वहाँ स्पष्ट निर्देश कर दिया है। वर्तमान काल के कुछ बुद्धिमान् पुरुष पुराणों की सब कथाओं को ही रूपक अथवा उपन्यास सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। वे यथाकथंचित् आध्यात्मिक पात्रों के रूप में उनकी संगति भी लगा लेते हैं और कहते हैं कि इसका यही अर्थ ठीक है, दूसरा नहीं। तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर ऐसा निश्चय होता है कि इन कथाओं को सर्वथा रूपक अथवा उपन्यास कह देना बड़े साहस की बात है। त्रेता के राम-रावण, अयोध्या-लंका, और द्वापर के कृष्ण-कंस, और कौरव-पाण्डवों को यदि रूपक मान लिया जाय, तो भारतीय इतिहास और प्राचीन मर्यादा का लोप हो हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास एवं पुराणों की रचना शैली इतनी महान् है कि बुद्धिमान पुरुष चाहे तो उनका दूसरा अर्थ भी कर सकता है, परन्तु इस बात को भगवान् व्यास के काव्य कौशल की महिमा समझनी चाहिये। उनकी दिव्य-दृष्टि से पुराणों के आध्यात्मिक पहलू भी छिपे नहीं रहे होंगे। परन्तु ये घटनाएँ भौतिक नहीं हैं, यह प्रवाद तो सर्वथा असत्य है। श्रीमद्भागवत में जहाँ उपाख्यानों का वर्णन हुआ है, वहाँ उसका स्पष्टीकरण भी कर दिया गया है कि यह रूपक है। जहाँ रूपक नहीं है, वहाँ रूपक की चर्चा भी नहीं है। इसलिये वे इतिहास हैं।

श्रीमद्भागवत का उपदेशात्मक स्वरूप

श्रीमद्भागवत का दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग उपदेशात्मक है। उपदेशों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो साधारण और दूसरा विशेष। साधारण उपदेशों में उन अंशों को लेना चाहिए जिनमें साधु महात्माओं ने, मित्रों ने, गुरुजनों ने और सगे-सम्बन्धियों ने उपदेश किये हैं। श्रीमद्भागवत के प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक संवाद में ऐसे उपदेश मिलते हैं, जिनके अनुसार आचरण करने से जीव अपना परम कल्याण प्राप्त कर सकता है। सभी उपदेशों का सार है—विषयों की आसक्ति छोड़कर अपने कर्त्तव्य-कर्म का अनुष्ठान करते हुए भगवान का स्मरण करते रहना। आज तक संसार में जितने दयालु महापुरुष हुए हैं, उन्होंने एक स्वर से यह बात कही है। श्रीमद्भागवत में जगह-जगह तरह-तरह से यही बात दोहरायी गयी है। ज्योतिष चक्र का वर्णन करके, भूगोल का वर्णन करके और अनेक राजा प्रजाओं का वर्णन करके यही बात चित्त में बैठाने की चेष्टा की गयी है कि जीव-जीवन की पूर्णता केवल भगवान् को प्राप्त करने में ही है। चाहे इस बात को थोड़े में समझ लिया जाय और समस्त शास्त्रों को कण्ठस्थ करके समझा जाय, समझना यही पड़ेगा; बिना समझे निस्तार नहीं है।

विशेष उपदेश के रूप में श्रीमद्भागवत के अनेक अंशों का नाम लिया जा सकता है। उनके भी कुछ विभाग किये जा सकते हैं—जैसे गीता रूप से हंसगीता, कपिलगीता और उद्धव के प्रति भगवान् के उपदेश आदि, प्रकरण रूप से चतुःश्लोकी, सप्तश्लोकी भागवत आदि; दीक्षा रूप से ध्रुव के प्रति नारद के उपदेश आदि; क्रिया रूप से युधिष्ठिर के यज्ञ में श्रीकृष्ण के द्वारा अतिथियों का पाद-प्रक्षालन आदि। और भी विशेष उपदेश के मानसिक आदि भेद हो सकते हैं। उन सबका श्रीमद्भागत में वर्णन है। श्रीमद्भागवत वैष्णवों की परम सम्पत्ति है और परमहंसों के सर्वोच्च ज्ञान का इसमें प्रकाश हुआ है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि इसके सुनने की इच्छामात्र से तत्क्षण हृदय में आकर भगवान् बैठ जाते हैं। श्रीमद्भागवत की सबसे बड़ी विशेषता है—'यस्मिन् ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतम्' अर्थात् जिसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त नैष्कर्म्य का आविष्कार किया गया है। और ग्रन्थों में जिस नैष्कर्म्य का वर्णन है वह ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से रहित है; परन्तु इसका नैष्कर्म्य उनके सहित है। यही इसकी सबकी अपेक्षा अपूर्वता है। श्रीमद्भागवत ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते'। 'भगवद्भक्ति रहित ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति नैष्कर्म्य भी शोभायमान नहीं होती'। भक्ति अर्थात् ज्ञान की शोभा इसी में है कि वह भक्तियुक्त हो। जो लोग भक्तिरहित ज्ञान सम्पादन करते हैं, उनकी निन्दा भी स्थान स्थान पर मिलती है।

श्रीमद्भागवत में जहाँ कहीं ज्ञान का प्रसंग आया है—तीसरे, चौथे, सातवें, ग्यारहवें और बारहवें स्कन्धों में—वहाँ बड़ी युक्ति और अनुभव की भाषा में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं के अभिमानियों से विलक्षण, समस्त वृत्तियों से परे निर्गुण ब्रह्मतत्त्व का, आत्म-तत्त्व का विवेचन हुआ है। रज्जुसर्प, स्वप्न, गन्धर्वनगर आदि की उपमाओं से जगत् की असत्यता का भी निरूपण हुआ है और अहंग्रह-उपासना को भी बड़ा ऊँचा स्थान दिया गया है। ज्ञान के अन्तरंग साधनों में श्रवण, मनन, निदिध्यासन को विशेष स्थान देने पर भी 'तत्रोपायसहस्राणाम्' कहकर भक्ति को ही मुख्य माना गया है। इसका कारण यह है कि ज्ञान का आविर्भाव होने के लिए शुद्ध अन्तःकरण की आवश्यकता होती है। बिना शुद्ध अन्तःकरण हुए, श्रवण किये हुए तत्त्व हृदय में प्रवेश नहीं करते और उनका मनन भी नहीं होता। अन्तःकरण की शुद्धि का अर्थ है—समस्त कामनाओं का अभाव अर्थात् पूर्ण निष्कामता। यह तभी सम्भव है जब सारे कर्म भगवदर्थ होने लगें, आत्मोपलब्धि अथवा भगवत्प्राप्ति की कामना में सारी कामनाएँ समा जायं। इसलिये भगवन्नामरूप भक्ति अन्य समस्त कामनाओं को नष्ट करने वाली होने के कारण अन्तःकरण-शुद्धि का प्रधान साधन है, ऐसा समझना चाहिए। निरवलम्ब निष्कामता टिकाऊ नहीं हो सकती। निष्काम होने के लिए एक महान् उद्देश्य और बलिष्ठ आधार की आवश्यकता है, जो कि भगवान् के अतिरिक्त और कोई हो नहीं सकता। इसलिये ज्ञान के प्रकरणों में ऐसा उपदेश प्राप्त होता है कि भगवान् का आश्रय लेकर, आत्मशुद्धि करते हुए आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करो।

श्रीमद्भागवत में भक्ति का केवल साधन रूप में ही वर्णन किया गया हो, ऐसी बात नहीं है। कई स्थानों पर तो ज्ञान और मुक्ति से भी बढ़कर भक्ति को बतलाया गया है। पंचम स्कन्ध में आया है—'मुक्ति ददाति कर्हिचित् न तु भक्तियोगम्'। अर्थात् भगवान मुक्ति तो देते हैं परन्तु भक्ति नहीं देते। तात्पर्य यह कि भक्ति मुक्ति से भी बड़ी है। भगवान् के सेवाप्रिय भक्तों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सार्ष्टि, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, और सायुज्यमुक्ति भगवान् के देने पर भी भक्त लोग नहीं लेते; वे केवल भगवान् की सेवा ही करना चाहते हैं। तीसरे स्कन्ध में भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति से कहा है कि 'ऊँची श्रेणी के सन्त मुझसे एक होना नहीं चाहते; वे मेरी सेवा करते हैं, मेरी आज्ञाओं का पालन करते हैं और अपरस्पर में मेरीलीला कहा सुना करते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तों को मैं दर्शन देता हूँ उनसे बातें करता हूँ और उनका सेवक बन जाता हूँ' (भागवत ३।२५।३४-४०)। इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि भक्ति स्वयं साध्य और फलरूप भी है।

अद्वैतसिद्धिकार श्री मधुसूदन सरस्वती ने में **'भक्तिरसायन'** साध्य-साधन रूप भक्ति का संगति अधिकारी भेद से लगायी है। वे कहते हैं कि साधन भक्ति का अनुष्ठान तो सभी को करना पड़ता है। साधन भक्ति का अनुष्ठान करने पर अधिकारी भेद प्रकट हो जाता है। दो प्रकार के अधिकारी होते हैं—एक तो कोमल हृदय के और दूसरे कठोर हृदय के। कोमल हृदय के अधिकारी वे हैं, जो भगवान की लीला, दयालुता, सुहृदयता आदि का वर्णन सुनकर द्रवित हो जाते हैं, उनकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं, गला रुँध जाता है और शरीर रोमांचित हो जाता है। ऐसे अधिकारियों के जीवन में साधन भक्ति के फलस्वरूप साध्य-भक्ति का उदय होता है और भागवत के शब्दों में *'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या'* अर्थात भक्ति की साधना से प्रेमा-भक्ति का उदय होने पर वे परमात्मा को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं और सर्वदा, सर्वत्र और सर्व रूप में उन्हें भगवान ही के दर्शन होने लगते हैं। जो कठोर हृदय के अधिकारी हैं, वे साधन भक्ति का अनुष्ठान करके धीरे धीरे आत्मशुद्धि सम्पादन करते हैं और पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करके कृत-कृत्य हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में शरीर और संसार का अस्तित्व नहीं रहता, वे विशुद्ध चेतन के रूप में सर्वदा के लिए स्थित हो जाते हैं।

वास्तविक दृष्टि से ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं है। शास्त्र में कहा है कि भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति। जहाँ भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बताते हैं, वहाँ भक्ति का अर्थ साधन-भक्ति है और जहाँ *ज्ञान* से भक्ति को श्रेष्ठ बताते हैं, वहाँ ज्ञान का अर्थ परोक्ष ज्ञान है। पराभक्ति और परम ज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं। रुचि भेद के कारण नाम भेद हो गया है। कोई किसी नाम को पसन्द करता है, कोई किसी नाम को।

श्रीमद्भागवत में स्थान-स्थान पर भक्ति और ज्ञान के साधनों का वर्णन हुआ है। भगवान् के स्वरूप, गुण, लीला, नाम आदि का श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण, उनके श्रीविग्रह को अपने सामने साक्षात् अनुभव करते हुए पादसेवन, अर्चन और वन्दन, उनके सान्निध्य का अनुभव करते हुए उनसे सख्य, दास आदि सम्बन्ध का स्थापन और सम्पूर्ण भाव से उनके प्रति आत्म समर्पण—यह नवधा भक्ति है। श्रीमद्भागवत में इस नवधा भक्ति के लक्षण और उदाहरण बहुत से स्थानों में पाये जाते हैं। निर्गुण भक्ति योग का लक्षण करते हुए कहा गया है कि भगवान् का वर्णन सुनकर चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ इस प्रकार भगवान् को विषय करने लगें, जैसे गंगाजी की धारा अखण्ड रूप में समुद्र में गिरती है। यह स्मरण की अविच्छिन्नता ही निर्गुण भक्ति है। ज्ञान का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जब अपनी अनुभूति से ऐसा

निश्चय हो जाये कि यह भाव और अभाव रूप समस्त कार्यकारणात्मक जगत् अविद्या के कारण ही आत्मा में प्रतीत हो रहा है, वास्तव में इसकी कोई सत्ता नहीं है, केवल आत्मा ही आत्मा है, तब उसको सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। और भी कहा है कि जो वस्तु अन्वय और व्यतिरेक की दृष्टि से सर्वदा अबाध है, उसी का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आत्मा के अज्ञान का इतना ही रूप है कि केवल आत्मतत्व में विकल्प की सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है। इस ज्ञान की उपलब्धि अमानित्व आदि साधन और तत्व विचार के द्वारा होती है। जब ज्ञान और भक्ति दोनों पर ही विचार करते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है कि दोनों ही इन्द्रियों जगत् की [आसक्ति और चिन्तन छोड़कर केवल परमात्मा में लीन हो जाने के पक्ष में हैं। परमात्मा का स्वरूप सगुण है कि निर्गुण निराकार है कि साकार? यह भेद परमात्मा के पास पहुँचने पर खुल जाता है। जो लोग विषयों [redacted] आसक्ति और चिन्तन न छोड़कर परमात्मा के चिन्तन और स्मरण की चेष्टा नहीं करते और परमात्मा के स्वरूप को सगुण अथवा निर्गुण सिद्ध करने का प्रयत्न किया करते हैं, वे केवल कल्पना लोक में बुद्धि की मामा के भीतर ही चक्कर काट रहे हैं। परमात्मा का स्मरण करते रहने से स्वयं उसके स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है, चाहे वह स्वरूप सगुण हो अथवा निर्गुण।

ज्ञान और भक्ति दोनों ही अन्तरंग भाव हैं। इसलिए वे अन्तरंग में रहने वाले परमात्मा का साक्षात् स्पर्श करते हैं। इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे परमात्मा है—ऐसा शास्त्रों का निर्णय है। जो साधन जितना अन्तरंग होगा वह उतना ही भगवान् के निकट होगा—इस दृष्टि से इन्द्रियों द्वारा होने वाले कर्म ज्ञान अथवा भक्ति के सहायक होकर ही परमात्मा की प्राप्ति के साधन होते हैं। वे स्वयं साक्षात् परमात्मा की प्राप्ति के साधन नहीं हैं। चाहे स्वाध्याय, आचार्य-सेवन आदि कर्मों के द्वारा ज्ञान की साधना की जाय अथवा कर्त्तव्य पालन, पूजा-पाठ आदि के द्वारा भक्तियोग की साधना की जाय—कर्म इन्हीं [redacted] साधन होगा। जहाँ निष्काम-कर्मयोग का निष्ठा के रूप में वर्णन आया है, वहाँ निष्कामता की ही प्रधानता है। इसलिये वह निष्कामता भक्तियोग के ही अन्तर्गत है, क्योंकि भगवदर्थ कर्म ही निष्काम कर्म है।

कर्म प्रायः तीन प्रकार के होते हैं—निष्काम सकाम और निरर्थक। निरर्थक कर्म निरर्थक ही हैं, उनका कहीं भी उपयोग नहीं है। सकाम कर्म दो प्रकार के होते हैं—शास्त्रानुकूल और शास्त्रप्रतिकूल। शास्त्र प्रतिकूल कर्म कुछ दिनों के लिए इस लोक में सफल हो सकते हैं, परन्तु आगे चलकर उनके फलस्वरूप आसुरी योनि और नरक का प्राप्त होना निश्चित है। शास्त्र के अनुकूल जो सकाम कर्म होते हैं, उनसे इस लोक में और

परलोक में सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु भगवत्प्राप्ति नहीं होती। भगवत्प्राप्ति होती है निष्काम कर्म से, जो कि सर्वदा सात्विक और शास्त्रानुकूल ही होते हैं। श्रीमद्भागवत में भगवदर्थ कर्म को ही निष्काम कर्म माना गया है। भगवान से रहित कर्म किसी काम के नहीं। श्रीमद्भागवत में तो भगवान् के लिये होने वाले कर्मों को कर्म ही नहीं माना गया है, उन्हें निर्गुण कहा गया है। वे भक्ति के ही अन्तर्गत हैं, स्वयं भक्ति ही हैं। इनके अतिरिक्त ज्ञानयोग और भक्तियोग में सहायक नाना प्रकार के योग और उनके फलों का वर्णन हुआ है जो श्रीमद्भागवत के मूल में ही देखने योग्य हैं।

इन सब साधनों में सर्वसाधारण के लिए अधिकार भेद से रहित, सर्वकालोपयोगी भगवान् के नाम का जितना सुन्दर वर्णन हुआ है, वह श्रीमद्भागवत के छठे और ग्यारहवें स्कन्ध में देखना चाहिये और उसका विशेष रूप से आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि कलियुग में यही एक ऐसी क्रिया है, जिसके द्वारा सब लोग भगवान का प्रेम प्रसाद और साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत का स्तुत्यात्मक स्वरूप

श्रीमद्भागवत का तीसरा महत्वपूर्ण अंश स्तुत्यात्मक है। स्तुति का साधारण अर्थ है—प्रशंसा। ऐसा कहा जाता है कि स्तुतियों में अर्थवाद का होना अनिवार्य है, परन्तु यह बात उन्हीं स्तुतियों के बारे में लागू है, जो परमात्मा के अतिरिक्त और किसी देवता और मनुष्य आदि की हैं। देवता एवं मनुष्य आदि के गुण, प्रभाव, शक्ति, कर्म आदि सीमित होते हैं, इसलिए उन्हें प्रसन्न करने के लिए जब उनका वर्णन आता है, तब बढ़ा-चढ़ा कर उनकी स्तुति की जाती है। और तो क्या, उन्हें ईश्वर कह दिया जाता है। वे अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं और स्तुति करने वाले को वरदान, पुरस्कार, आदि देते हैं। परन्तु भगवान् के गुणों की सीमा नहीं है। उनके ऐश्वर्य, माधुर्य, चरित्र आदि सभी अनन्त हैं। उनका पूरा पूरा वर्णन तो कोई करेगा ही क्या, अंशमात्र भी वर्णन नहीं कर सकता। जब भगवान् की शक्ति, क्रिया और स्वरूप का अंशमात्र भी वर्णन नहीं हो सकता, तब उनका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तो भला कोई कर ही कैसे सकता है। इसलिये भगवान् के गुणों की दृष्टि से भगवान् की स्तुति नहीं हो सकती और वास्तव में देखा जाय तो सभी स्तुति करनेवाले यही कहकर चुप हो जाते हैं कि 'आप की स्तुति नहीं की जा सकती'। फिर भी स्तुति है और भक्तों की दृष्टि से होती है—'नम पतन्त्यात्मसम पतत्रिण'।

कल्पना कीजिये कि कोई नन्हा सा बच्चा है। उससे मनोरंजन के लिए कोई प्रश्न करता है—'तुम्हारे पिता कितने बड़े हैं?' इसके उत्तर में वह अपने

दोनों हाथ उठाकर थोड़ा उछल पड़ता है और कहता है—'इत्ते बड़े'। उससे पूछा जाता है—समुद्र में कितना पानी है ? वह अपने दोनों हाथों को फैलाकर कहता है—'इत्ता पानी'। वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार जितना बड़ा बता सकता है बतलाता है। उससे अधिक बड़प्पन प्रकट करने का कोई साधन उसके पास है ही नहीं। तब क्या वास्तव में उसके पिता उतने ही बड़े हैं और समुद्र में उतना ही पानी है ? वास्तव में बालक ने जितना बतलाया उससे वे बहुत बड़े हैं। परन्तु बालक की इस चेष्टा से गुरुजन प्रसन्न ही होते हैं और बालक को भी प्रसन्नता होती है। ठीक ऐसी ही बात भगवान् के सम्बन्ध में भी है।

जिसकी बुद्धि ऐश्वर्य माधुर्य आदि सद्‌गुणों की जितनी ऊँची कल्पना कर सकती है जितना महान् आकलन कर सकती है जिसकी वाणी जितने अधिक गम्भीर भावों को अभिव्यक्त कर सकती है वह उतना ही भगवान् के स्वरूप एवं गुणों को सोचता एवं वर्णन करता है। भगवान् सस्नेह अपने नन्हे से शिशु को उड़ान और तोतली बोली देख सुनकर प्रसन्न होते रहते हैं और बालक भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उनका चिन्तन और वर्णन करके सन्तोष की साँस लेता है और शान्ति का अनुभव करता है। इसलिये भगवान् के गुणों की अपेक्षा न्यून होने पर भी भक्त की दृष्टि में वह भगवान् की स्तुति है इसमें सन्देह नहीं।

यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि भगवान् के सम्बन्ध में जो कुछ सोचा जाता है और जो कुछ कहा जाता है वह भगवान् का ही आंशिक वर्णन होने के कारण सर्वथा सत्य है क्योंकि भगवान् सर्वरूप हैं। स्तुति करने से भगवान् के नाम गुण रूप लीला आदि का स्मरण होता है, धीरे धीरे स्तुति करनेवाला के चित्त में वह गाढ़ हो जाता है और अन्तत उसी से भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसी से मनुष्य के जीवन में भगवान् की स्तुति बहुत ही उपयोगी है और एक ऊँची साधना है।

श्रीमद्भागवत में स्तुतियों का बड़ा विस्तार है। प्रायः सभी स्तुतियाँ भगवान् की हैं। कुछ एक दो दूसरे देवताओं की भी हैं। श्रीमद्भागवत में दूसरे देवताओं का तिरस्कार नहीं किया गया है। उसमें एकेश्वरवाद के साथ ही बहुदेववाद के लिए भी स्थान है। परन्तु अन्य देवताओं की स्तुति उनकी प्रधानता के लिए नहीं की गई है बल्कि उनके द्वारा भगवान् की महिमा वर्णन करने के लिए ही की गई है। जैसे द्वितीय स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में देवर्षि नारद ब्रह्मा की स्तुति करते हैं परन्तु उसका प्रयोजन यह है कि ब्रह्मा से भी उत्कृष्ट तत्व का ज्ञान हो जाय।

सातवें स्कन्ध के तीसरे अध्याय में हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा को ही ईश्वर कह कर उनकी स्तुति की है, परन्तु सातवें स्कन्ध का तात्पर्य ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ भगवान् को बताने में है। श्रीमद्भागवत में अमुक कामना हो तो अमुक देवता की पूजा करनी चाहिये—ऐसा कहकर अन्त में बतलाया है कि निष्काम, सकाम और मोक्षकाम सब प्रकार के लोगों को भगवान् की ही पूजा करनी चाहिये। इसलिए और देवताओं की स्तुतियाँ भी देवतापरक नहीं, भगवत्परक ही हैं।

भगवान की स्तुतियाँ भी प्राय दो प्रकार की हैं—एक सकाम और दूसरी निष्काम। सकाम स्तुतियों के भी अनेक भेद हैं—कारागार से मुक्त होने के लिए, क्रोध शान्त करने के लिये दुःख से छूटने के लिए—अनेकों प्रकार की स्तुतियाँ हैं। निष्काम स्तुतियों के भी दो भेद हैं—एक तो वह जिनमें तत्त्वज्ञान की प्रधानता है और दूसरी वह जिनमें साधना की प्रधानता है। वेदस्तुति आदि के प्रमाण तत्त्ववर्णनप्रधान हैं और पृथु, प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष ब्रह्मा आदि की स्तुतियाँ साधनप्रधान हैं। तत्त्ववर्णनप्रधान स्तुतियाँ भगवान् में सारे जगत् का, वाणी का, विचारों का, स्तुति करनेवालों का भगवान् में पर्यवसान करके स्वय भी उसी में पर्यवसित हो जाती हैं। साधन प्रधान स्तुतियों में आत्मसाक्षात्कार और मुक्ति का भी निषेध करके कहते हैं—हमें सत्सग, लीला के श्रवण कीर्तन और भक्त चरित्र में इतना आनन्द आता है कि उतना स्वरूपस्थिति में भी नहीं आता। हमें दस हजार कान दे दो कि हम तुम्हारी कथा सुना करें।

इन सभी स्तुतियों से आत्मशुद्धि होती है, भगवत्तत्व का ज्ञान होता है, साधन में और भगवान् के स्वरूप में निष्ठा होती है। श्रीमद्भागवतोक्त स्तुतियों की महिमा उनके भाव और विचारपूर्वक स्वाध्याय से ही अनुभव में आ सकती है।

श्रीमद्भागवत का गीतात्मक स्वरूप

श्रीमद्भागवत का चौथा भाग गीतात्मक है। यहाँ गीतात्मक शब्द से मेरा तात्पर्य गीता से नहीं, गीत से है। 'गीता' मुख्यत भगवान् श्रीकृष्ण और गौणत उनके भिन्न अवतारों द्वारा जगत के कल्याण के लिए अर्जुन, उद्धव आदि अन्तरग भक्तों को दिए गए उपदेश हैं और वे श्रीमद्भागवत के उपदेशात्मक भाग के अन्तर्गत हैं—जैसे कपिलगीता, हसगीता आदि। 'गीत' शब्द का अर्थ है—गायन। जब अन्तरात्मा अपनी व्यथा, अन्तर्वेदना और अनुभूति को अपने अन्दर सवरण नहीं कर पाता, धैर्य का बाँध टूट जाता है, तब अपने आप ही—किसी को सुनाने के लिए नहीं—जो उद्गार निकलते हैं, उनका प्रेम नाम गीत है। वह ससार की कटुता के अनुभव से, ज्ञान से, विरह से, प्रेम से,

करने की इच्छा से, विरह की संभावना से अथवा अन्य कारणों से भी हृदय से निकल पड़ता है—एकान्त में भी और लोगों के सामने भी, किसी की अपेक्षा न करके भी और किसी को सम्बोधित करके भी, परन्तु ऐसे प्रसंग बहुत थोड़े होते हैं।

श्रीमद्भागवत में ऐसे प्रसंग बहुत थोड़े हैं; और जितने हैं, उनमें अधिकांश गोपियों के ही हैं और वे प्रेम के, विरह के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उन्हें पढ़कर एक बार पत्थर का हृदय भी पिघल सकता है। गोपियों के गीत पाँच हैं, द्वारका की श्रीकृष्णपत्नियों का एक है, पिंगला का एक है, और भिक्षु ब्राह्मण का एक है। पहले दशम स्कन्ध में हैं और शेष दो ग्यारहवें स्कन्ध में हैं। और भी दो-एक हैं जैसे ऐलगीत आदि।

पिङ्गला का गीत निर्वेद-गीत है। संसार की कटुता के अनुभव से उसके हृदय में जो व्यथा हुई थी, वह उसमें फूटी पड़ती है—

'मेरे मन ने मुझे जीत लिया। मैं ऐसे पुरुषों से प्रेम करना चाहती थी, जो प्रेम कर नहीं सकते, स्वयं अस्तित्वहीन हैं। धन्य है, मेरे मोह का विस्तार! मेरी मूर्खता की हद है। मेरे प्रियतम परमात्मा निरन्तर मेरे पास रहते हैं और मेरी अभिलाषाओं को पूर्ण करना चाहते हैं, परन्तु मैं मूर्खतावश तुच्छ पुरुषों की सेवा करती रही। मैं निन्दित वृत्ति से जीवन बिताकर अपने आप को दुष्ट पुरुषों के हाथ बेंचती रही। इस दुष्ट शरीर के प्रति इतना मोह? इस मल-मूत्रपूर्ण अपवित्र शरीर के साथ इतनी आसक्ति? मैं ही इस गाँव में सबसे गयी-बीती हूँ। अपने आप को अपने प्रेमी पर निछावर कर देने वाले भगवान् के अतिरिक्त दूसरे से प्रेम! इससे बढ़कर और मूढ़ता क्या होगी? भगवान् ही मेरे प्रियतम हैं—मेरी आत्मा हैं। उन्हें छोड़कर औरों के हाथ अपने को बेंचना, यह मेरा ही काम था। इन लोगों ने मुझे क्या दिया? वे स्वयं मृत्यु के ग्रास हैं। अच्छा हुआ, भगवान् ने कृपा करके मुझे निर्वेद तो दिया। अब मैं समझ गई। अब उनके चरणों की शरण लेकर मैं उन्हीं अनन्त प्रेम सागर भगवान् में विहार करूंगी'।

दूसरा गीत है—एक ब्राह्मण भिक्षु का। वह सात्त्विक और सदाचारी होने पर भी लोगों से अपमानित और सताया हुआ था। वह लोगों से अपमानित होने के समय भी गाया करता था—

'सुख दुःख के हेतु कोई मनुष्य, देवता अथवा ग्रह आदि नहीं हैं; केवल मन ही कारण है। वही संसार-चक्र की धुरी है। उसी के आधार पर अच्छी बुरी सृष्टि होती है। आत्मा तो असंग है। उसका कोई स्पर्श नहीं कर सकता। मन सचेष्ट होता है—उसे अपना स्वरूप मान लेने पर आत्मा बद्ध-सा हो जाता है।

सब कर्म धर्म, यम-नियम, अध्ययन-दान मनोनिग्रह के लिए हैं। इसके शान्त हो जाने पर सर्वत्र शान्ति है। जिसका मन शान्त नहीं, उसकी क्रिया का कोई उपयोग नहीं; जिसका मन शान्त है, उस पर क्रिया का कोई प्रभाव नहीं। सब इन्द्रियाँ मन के वश में हैं। मन को जीत लिया तो सबको जीत लिया। उसको न जीतकर जगत् के शत्रुओं को जीतना मूर्खता है। शत्रुओं का स्रष्टा मन है। मन ने ही शरीर को अपना माना; शरीर के रूप में मन ही है, वही भटक रहा है। भौतिक पदार्थ भौतिक शरीर को ही दुःख पहुँचा सकते हैं—पहुँचायें: अपने ही दाँत से जीभ कट जाय तो क्रोध किस पर करें? यदि देवता ही दुःख देते हों तो दे लें, ये केवल अपने विकार को ही प्रभावित कर सकते हैं। आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं, फिर कौन किस को कैसे दुःख दे? सम्पूर्ण आत्मा ही है'।

प्रेमोन्माद केवल वियोग में ही नहीं होता, संयोग में भी होता है। श्रीकृष्ण के साथ रहनेवाली, श्रीकृष्ण से विहार करने वाली द्वारका की श्रीकृष्ण-पत्नियों का चित्त उनकी लीला में इतना तन्मय हो जाता है कि उन्हें स्मरण ही नहीं रहता कि हम श्रीकृष्ण के पास हैं। एक ही समय उन्हें कभी दिन की प्रतीति होती है, कभी रात की। वे न जाने क्या-क्या बोल रही हैं—

हे पक्षी! तू इस समय नीरव निशीथ में क्यों जग रहा है? इस विलाप का क्या अर्थ है? क्या श्रीकृष्ण की मुसकान और चितवन ने तुम पर भी जादू डाल दिया है? ऐ चकवी! तू आँखें बन्द करके किस को प्रणय-आमन्त्रण दे रही है? क्या तू भी हमारे समान ही श्रीकृष्ण के चरणों पर समर्पित पुष्पों की माला पहनना चाहती है? समुद्र! तू क्यों गरज रहा है? तेरी इस दिग्दिगन्त को प्रतिध्वनित कर देने वाली ध्वनि का क्या तात्पर्य है? क्या श्रीकृष्ण ने हमारी भाँति तेरा भी कुछ छीन लिया है? चन्द्रमा! तेरी क्या दशा हो रही है? आज रजनी को तू अपने करों से रंग उड़ेलकर क्यों नहीं रंग देता? क्या तू भी श्रीकृष्ण की मीठी-मीठी बातों में आकर अपना सर्वस्व खो चुका है? हे मलयानिल! हमने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया, फिर तुम हमारे अंग-प्रत्यंग का स्पर्श करके हृदय को क्यों गुदगुदा रहे हो? उसे तो यों ही श्रीकृष्ण की तिरछी चितवन ने टूक-टूक कर दिया है। घनश्याम के समान श्यामल मेघ! तू तो उनका सखा है न? उनका ध्यान करते करते ही तो तू ऐसा हो गया है। ये बूँदें नहीं, तेरे प्रेम के आँसू हैं। अब क्यों रोता है? उनसे प्रेम करने का फल भोग रहा है क्या? पर्वत! इस गम्भीर, मौन और अचंचल स्थिरता का यही अर्थ है न कि तुम हमारी ही भांति अपने शिखरों पर उनके चरणों का स्पर्श चाहते हो?

नदियो ! क्या तुम वियोगिनी हो ? अवश्य, अवश्य, तभी तो तुम हमारी ही भाँति कृश हो रही हो। हंस ! आओ आओ, तुम्हारा स्वागत है। इस आसन पर बैठो। दूध पियो कहो उनका कुशल मंगल—अच्छे तो हैं ? हम वहाँ नहीं जायेंगी। क्या वे हमारे पास नहीं आयेंगे ?'

देवियो ! धन्य है तुम्हारी तन्मयता ! तभी तो तुम्हें श्रीकृष्ण पत्नी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

गोपियों का हृदय अनिर्वचनीय है। वह प्रममय है, अमृतमय है। उनका हृदय, उनका प्रेम उनके भाव का अमृतमय स्रोत कभी कभी स्वयं वाणी के द्वारा बाहर निकल आता है। वे जब बोलना चाहती हैं तब बोला नहीं जाता, जब मौन रहना चाहती हैं तब बोल जाती हैं। इनके दिव्य भावों का तनिक दर्शन तो कर—

हे सखी ! अब सायंकाल होता है गायें व्रज में आने लगती हैं उनके पीछे पीछे ग्वाल बालों के साथ बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण और बलराम वृन्दावन में प्रवेश करते हैं तब उनकी प्रेम भरी चितवन का रस जो लेता है उसी का जीवन सफल है उसी की आँखें धन्य हैं। कितना विचित्र वप रहता है उनका—श्याम के और कोमल कोमल पत्ते पुष्पों के गुच्छे और उस पर कमल की माला। ग्वाल बालों के बीच में गायन करते हुए वे श्रेष्ठ नट के समान मालूम पड़ते हैं। गोपियो ! जिस वंशी की ध्वनि सुनकर बावलियों को रोमांच हो आता है उनमें कमल खिल जाते हैं, वृक्षों से आँसू बहने लगते हैं—उनसे मद की धारा बहने लगती है, उस बाँसुरी ने कौन सी तपस्या की है ? उफ वह तो गोपियों का हक—श्रीकृष्ण के अधरों की सुधा पी जाती है परन्तु हो न हो उसका कोई महान् पुण्य अवश्य है। जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं तब उसी के स्वर में ताल मिलाकर मोर नाचने लगते हैं जंगली जीव अपना स्वभाव छोड़कर प्रम मुग्ध हो जाते हैं उनके चरण चिह्नों से चर्चित वृन्दावन समस्त पृथ्वी का यशोविस्तार कर रहा है। जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं तब हरिणियाँ अपने पतियों के साथ प्रेम भरी चितवन से उनका विचित्र वेष देखकर सम्मान करती हैं, न पशु होने पर भी धन्य हैं। उनका मधुमय संगीत और अनूप रूप राशि देख सुनकर स्वर्गीय देवियाँ सुध बुध खो बैठती हैं, मूर्च्छित हो जाती हैं। गौए कान खड़ा करके उस अमृत का पान करती हैं। बछड़े मुह में लिये हुए दूध को न उगल पाते हैं और न निगल ही सकते हैं, उनके हृदय में होते हैं श्रीकृष्ण और आँखों में आँसू। वन के पक्षी लतावेष्टित तरुओं की रुचिर शाखाओं पर बैठे बैठे आँख बन्द करके मूक होकर श्रीकृष्ण की बाँसुरी सुना करते हैं, नदियाँ कमलों के उपहार के साथ उनके चरणों का स्पर्श करती हैं, मेघ बिन्दुओं से पुष्प-वर्षा

करता हुआ उसका छत्र बन जाता है। गोवर्धन आनन्दोद्रेक से फूलकर उनकी सेवा करता है, चर अचर हो जाते हैं। अचर चर हो जाते हैं। धन्य है श्रीकृष्ण की लीला! चलो हम भी देखें'।

'नन्दनन्दन! तुम्हारे जन्म से व्रज की बड़ी उन्नति हुई। लक्ष्मी इसकी सेवा करती है, परन्तु हम—जिनका जीवन, प्राण, सब कुछ तुम्हारे लिए है—तुम्हें इधर उधर ढूँढ़ती हुई भटक रही हैं। प्रियतम! तनिक देखो तो सही, तुम्हारी प्रेम भरी चितवन ने हमें बिना दाम की दासी बना लिया। अब उसी के कारण हम दुखी हो रही हैं, क्या यह अपराध नहीं है? तुमने तो बार बार हमारी रक्षा की है। जगत् की रक्षा करने के लिए ही तुमने अवतार भी लिया है। अपने प्रेमियों को अभय देनेवाले प्रभो! अपने कर-कमलों को एक बार, केवल एक बार हमारे सिर पर रख दो। तुम्हारी मधुर मुस्कान से ही प्रेमियों का मान मर्दन हो जाता है, हम तो तुम्हारी सेविका हैं। आओ, हमारे पास आओ; एक बार अपना सुन्दर मुखड़ा दिखा दो। हमारा हृदय तुम्हारी प्राप्ति की अभिलाषा से विकल हो रहा है, उस पर अपने चरण कमल रखकर उसे शान्त कर दो। तुम्हारी मीठी मीठी बातें सुनकर मोहित हो गयी हैं, अपने अधरामृत से हमें सराबोर कर दो। अब तक तुम्हारी चर्चा के बल पर ही हमने जीवन धारण किया है, परन्तु अब रहा नहीं जाता। तुम्हारी मधुर मुस्कान, प्रेम भरी चितवन और विचित्र विहार बार बार मन में आते हैं। वे एकान्त की हृदयस्पर्शी बातें बार-बार मन को क्षुब्ध कर रही हैं। तुम्हारी एक-एक चेष्टा ने हमारे मन को विवश कर दिया है। अब हमारे वक्षःस्थल पर अपने चरण रखो, अपने अधरामृत का दान करो। दिन में तुम्हें एक पलक भी न देख सकने पर अनेकों युग का समय जान पड़ता है, देखते समय पलक का गिरना भी अखरता है। हम तुम्हारे संगीत से मोहित होकर जंगल में आयीं और अब तुम हमें छोड़कर चले गये! यह कहाँ का न्याय है? हमारा मन मोहित है और तुम्हारा अवतार संसार के कल्याण के लिए हुआ है। क्या हमारी व्यथा मिटाने के लिए तुम थोड़ा सा त्याग भी न करोगे? हमारा चित्त घूम रहा है। हम तो अपने कठोर वक्षःस्थल पर तुम्हारे चरणों को रखते हुए भी डरती हैं और तुम रात के समय जंगल में घूम रहे हो; कहीं कंकड़-पत्थर गड जाय तो? सखे! तुम नेक सोचते भी नहीं कि हमारा जीवन तुम्हारे हाथ में है'।

गोपियों के गीत में जो रस है, वह अनुवाद में कभी आ नहीं सकता और जब संक्षेप से अनुवाद किया जाय, तबका तो कहना ही क्या है? इसलिये उनके

गीतों का आनन्द, उनके प्रेम की अनुभूति मूल में ही प्राप्त करने योग्य है। यहाँ तो केवल नाम मात्र का उद्धरण दे दिया गया है।

श्रीमद्भागवत घटना, उपदेश, स्तुति और गीत—चारों ही रूपों में चारों वेदों के समान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह वेद शास्त्रों का सारस्य है और रसमय फल है, इसका आस्वादन ही इसकी महिमा को यत्किंचित् व्यक्त कर सकता है। वास्तव में इसकी महिमा अनिर्वचनीय है।[1]

श्रीमद्भागवत : भक्तिशास्त्र का सर्वस्व

श्रीमद्भागवत संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो यह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का अमृतमय स्वयं गलित फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधि-भाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का वर्णन व्यास ने समाधि-दशा में अनुभूत करके किया है। भागवत का प्रभाव वल्लभ सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्रीभगवान् ने अपने तत्त्व के विषय में ब्रह्माजी को [redacted] प्रकार उपदेश दिया है:—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

"सृष्टि के पूर्व में भी था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूलभाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा"। इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव-जगत् सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं। वही सब सत्त्वगुण रूपी उपाधि से अविच्छिन्न न होकर अव्यक्त, निराकार रूप में रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। 'परमार्थभूत' ज्ञान सत्य विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है। सत्वगुण की उपाधि से अविच्छिन्न होने पर

१. स्वामी श्री अखण्डानन्द के एक लेख का अंश ('कल्याण' से साभार)।

वहाँ निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्ध सत्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा', तमोमिश्रित सत्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्य बल रजस्तम से मिश्रित सत्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष' कहते हैं। जगत् की स्थिति, सृष्टि तथा संहार व्यापार में विष्णु ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं, 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न भिन्न अवतार धारण करते हैं। 'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, माया-सम्बन्ध रहित हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदा चित् शक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न भिन्न अवतारों का उदय होता है —

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान
मवाप नारायण आदिदेव॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र पर ब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ किया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान हैं। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान ने इस प्रकार बतलाया है —

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥

वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्र मण्डल में दीख नहीं पड़ता) वही 'माया' है। भगवान अचिन्त्य शक्ति समन्वित हैं। वे एक समय में एक होकर भी अनेक हैं। नारदजी ने द्वारकापुरी में एक

समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों में विद्यमान भिन्न भिन्न कार्यों में संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधन मार्ग—इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन ही भक्तितत्व का निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होनेवाले वेदव्यास का हृदय भक्ति प्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान वैराग्य पुत्रों में प्राण का ही सञ्चार नहीं हुआ प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय भक्ति ही है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

परमभक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र बहुज्ञता दान तप आदि से प्रसन्न नहीं होते। वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के सिवाय अन्य साधन उपहास मात्र हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्ति प्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं अतः परम्परया साधक हैं, साक्षाद्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय तब तक वर्णाश्रम विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है। कर्मफलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके विषदन्त को तोड़ना है। श्रेय की मूलस्रोत रूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटनेवालों का यत्न। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है— साधनरूपा भक्ति साध्यरूपा भक्ति। **साधन भक्ति** नौ प्रकार की होती है—विष्णु का श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत्संगति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। **साध्यरूपा** या फलरूपा **भक्ति**

प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत्पादाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरणचंचरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयास मात्र मानकर तिरस्कार करते हैं।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है जिस प्रकार पक्षियों के पंख रहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकाएँ थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यासजी ने रासपंचाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्तिशास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्त जनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य है। अतः भाव तथा भाषा उभय दृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में अनुपम है। 'सर्ववेदान्तसार' भागवत का कथन यथार्थ है:—

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

श्रीमद्भागवत का काव्य-सौन्दर्य

श्रीमद्भागवत की कविता में अद्भुत चमत्कार है जो सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्द माधुरी तथा अर्थचातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक परिस्थिति के उदय ने भी इस आकर्षण में किसी प्रकार की न्यूनता

उत्पन्न नहीं की है। भागवत रस तथा माधुर्य का अगाध स्रोत है। नाना परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होनेवाले, मानव हृदय को उद्वेलित करने वाले भावों के चित्रण में भागवत अद्वितीय काव्य है। इसमें हृदय पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कला पक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा का तथा द्वारिका का वर्णन जितना कलात्मक है, उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ है नाना भयानक युद्धों का चित्रण। केशी नामक असुर अश्व का विकराल रूप धारण कर श्रीकृष्ण को मारने के निमित्त आया था। कृष्ण ने केशी के साथ युद्ध करने में जिस युद्ध कौशल का परिचय दिया है वह वर्णन की यथार्थता के कारण पाठकों के सामने झूलने लगता है। इसी प्रकार मगधनरेश जरासंध तथा भीमसेन के प्रलयंकर गदायुद्ध का नातिशय रोमांचकारी चित्रण भागवत में फड़कती भाषा में किया गया है। द्वारिका पुरी के वर्णनप्रसंग में झरोखों से निकलने वाले अगुरु धूप को देखकर श्याम मेघ की भावना से वलभी निवासी मत्त मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है—

> रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्त
> ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।
> नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षै
> र्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्त ॥

उतना ही स्वाभाविक है मधुपुरी में कृष्णचन्द्र के आगमन की वार्ता सुनकर उतावली में अपनी शृङ्गारभूषा को बिना समाप्त किये ही झरोखों से झाँकनेवाली ललित ललनाओं का ललाम वर्णन। आलोचकों की दृष्टि में भागवत का ऋतु वर्णन भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए नितान्त प्रख्यात है। दशमस्कन्ध के एक समग्र अध्याय में प्रावृट् तथा शरद् ऋतु का यह आध्यात्मिकतामण्डित वर्णन वस्तुतः अनुपम तथा चमत्कारी है। वर्षा की धाराओं से ताड़ित होने पर भी किंचिन्मात्र भी व्यथित न होने वाले पर्वतों की समता उन भगवन्निष्ठ भक्तजनों के साथ दी गयी है जो विपत्तियों के द्वारा प्रताड़ित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होते। पवन से ऊँची उठती हुई तरंगमाला से युक्त समुद्र नदियों के समागम से इसी प्रकार क्षुब्ध होता है जिस प्रकार कच्चे योगी का वासनापूर्ण चित्त विषयों के सम्पर्क में पड़कर क्षुब्ध हो उठता है। शरद् भी उतनी ही चारुता के साथ वर्षा के अनन्तर आती है और अपनी रुचिरता की भव्य झाँकी पृथ्वी तल पर दिखलाती है। रात के समय चन्द्रमा प्राणियों के सूर्य की किरणों से उत्पन्न ताप को दूर करता है। विमल ताराओं से मण्डित मेघहीन गगनमण्डल इसी तरह चमकता है जिस प्रकार शब्दब्रह्म के द्वारा अर्थ का दर्शन प्राप्त कर योगियों का सात्त्विक चित्त विकसित हो उठता है—

खमशोभत निर्मेघं शरद् विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥

गोसाईं तुलसीदास का सुप्रसिद्ध वर्षा तथा शरद् वर्णन भागवत के इसी वर्णन के आधार पर है, इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं।

परन्तु भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश वह है जहाँ गोपियों की कृष्णचन्द्र के प्रति ललित प्रेमलीला का रुचिर चित्रण। गोपियाँ भगवान श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करने वाली भगवन्निष्ठ प्रमिकाएँ ठहरीं। उनकी संयोग तथा वियोग उभय प्रकार की भावनाओं के चित्रण में कवि ने अपनी गहरी अनुभूति तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव विश्लेषण का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसे प्रसंग जहाँ वक्ता अपने हृदय की अन्तरतम गुहा में हिल्लोलित भावों की अभिव्यक्ति करता है 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतों का प्राचुर्य दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। वेणु गीत, गोपी गीत, युगल गीत, महिषी गीत आदि भागवत के ऐसे ललित प्रसंग हैं जिनमें कवि की वाणी अपनी भव्य माधुरी प्रदर्शित कर रसिकों के हृदय में उस मनोरम रस की सृष्टि करती है जिसे आलोचक 'भागवत रस' के महनीय नाम से पुकारते हैं। कृष्ण के विरह में व्याकुल महिषी जनों का यह उपालम्भ कितना मीठा तथा तलस्पर्शी है —

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिन नयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

हे कुररि! संसार में सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान अपना अखण्ड बोध छिपाकर सो रहे हैं। परन्तु तुझे नींद नहीं! सखी, कमलनयन भगवान् के मधुर हास्य और लीला भरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह बिंध तो नहीं गया है?

वेणु-गीत में कृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जंगम प्राणियों के ऊपर ही नहीं है, प्रत्युत स्थावर जगत् में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियों का वेणुगीत को आकर्णन कर यह आचरण जितना मधुर है, उतना ही स्वाभाविक है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्त-लक्षित-मनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गन-स्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥

नदियाँ भी मुकुन्द के गीत को सुनकर भँवरों के द्वारा अपने हृदय में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा को प्रकट कर रही हैं। उसके कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरंगों के हाथों से उनका चरण पकड़ कर, कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिंगन कर रही हैं, मानों उनके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं।

रासपंचाध्यायी—भागवत का हृदय है जिसमें व्यास जी ने कृष्ण और गोपियों के बीच रासलीला का सुमधुर वर्णन किया है। इसका आध्यात्मिक महत्व जितना अधिक है साहित्यिक गौरव भी उतना ही विपुल है। गोपियों ने कृष्ण के अन्तर्धान होने पर अपने भावों की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दों में की है वह नितान्त रुचिर तथा सरस है। गोपी गीत का यह पद्य कितना सरस तथा सरल है :—

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि
गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

अर्थात् आपकी कथा अमृत है क्योंकि वह सतप्त प्राणियों को जीवन देती है। ब्रह्मज्ञानियों ने भी देवभोग्य अमृत को तुच्छ समझ कर उसकी प्रशंसा की है। वह सब पापों को हरनेवाली है अर्थात् काम्यकर्म का निरास करने वाली है। श्रवणमात्र से मंगलकारिणी और अत्यन्त शान्त है। ऐसे तुम्हारे कथामृत को विस्तार के साथ जो पुरुष गाते हैं उन्होंने पूर्व जन्म में बहुत दान किये हैं। वे बड़े पुण्यात्मा हैं।

इसी शब्दमाधुरी तथा भावमाधुरी के कारण भागवत शताब्दियों से भक्ति प्रवण भक्तों तथा कवियों को समभावेन उत्साह, स्फूर्ति तथा प्रेरणा करता चला आ रहा है। आज भी उसकी उपजीव्यता किसी भी अंश में घट कर नहीं है।

---

*कृपया अगले ३३ से ४८ तक पृष्ठों को ४९ से ६४ समझें।

कृष्ण भक्त कवि का वर्ण्य विषय है—बालकृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित लीलायें। फलत: उसकी दृष्टि श्रीकृष्ण के लोकरंजक रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति में कृष्णभक्त, कवि सर्वथा कृतकार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णव-धर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य, सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है; जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है। जीवनसरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करनेवाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृङ्गार की नाना अभिव्यक्तियों के चारु चित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रस-स्निग्ध है उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्म समर्पण की भावना से। इन कृष्ण काव्यों की रचना का श्रेय श्रीमद्भागवत को देना चाहिये।



(३)

पाणिनि

संस्कृत भाषा से सामान्य भी परिचय रखने वाला व्यक्ति जानता है कि पाणिनि ने संस्कृत का बड़ा ही पूर्ण तथा व्यापक व्याकरण लिखा है जो अपने विषय में अनुपम है। उन्होंने व्याकरणतन्त्र की जिस प्रणाली की नींव रखी, उससे बढ़कर वैज्ञानिक रीति से व्याकरण लिखने की प्रथा अब तक कहीं भी उद्भावित नहीं हुई। परन्तु सम्भवतः बहुत कम लोगों को पता होगा कि पाणिनि एक अच्छे कवि भी थे। सूक्ति संग्रहों में पाणिनि के नाम से अनेक कवितायें उद्धृत की गई हैं। अन्य ग्रन्थों में भी पाणिनि की ये कवितायें यथावकाश उद्धृत की गई हैं। अलंकार ग्रन्थों के लेखकों ने अलङ्कारों के उदाहरण के लिये भी पाणिनि के कमनीय पद्यों को उद्धृत किया है; परन्तु दूसरी जगह ग्रन्थकारों ने पाणिनि के समग्र पद्यों या पद्यांशों को व्याकरण की कसौटी पर कसने के लिये उद्धृत किया है और यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अपने बनाये हुये नियमों का अक्षरशः पालन स्वयं पाणिनि से भी नहीं हो सकता।

पुरातत्व वेत्ताओं में इस विषय में बड़ा मतभेद है कि ये कवितायें वैयाकरण पाणिनि की हैं या अन्य किसी 'पाणिनि' नामधारी कवि की? दोनों में व्यक्तिगत अभिन्नता है या भेद? डाक्टर भाण्डारकर, पीटर्सन आदि विद्वान् पाणिनि की शुष्क तथा वेदतुल्य भाषा और इन पद्यों की सरस तथा अलंकृत भाषा में विभिन्नता स्वीकार करते हुये यही कहते हैं कि इन श्लोकों का रचयिता वैयाकरण पाणिनि नहीं हो सकता। प्रौढालङ्कृत काव्यों का उद्गम वैयाकरण पाणिनि से बहुत इधर का है। उस समय में तो सरल सुभग भाषा का ही साम्राज्य था, साहित्यिक अलङ्कारों से विभूषित भाषा का प्रचार उस सूत्रकाल से कई शताब्दी उतर कर हुआ है। इस मत के विपरीत डाक्टर ऑफ्रेक्ट तथा डा० पिशल की सम्मति है कि पाणिनि को केवल एक खुसट वैयाकरण मानना बड़ी भारी भूल करना है, वह स्वयं अच्छे कवि थे। उसका मस्तिष्क नीरस व्याकरण के नियमों का भंडार भले हो, परन्तु उसका हृदय तो कमनीय काव्यकला का सुकुमार आकर था। रही अलंकृत भाषा की बात। तो, वेद में, भी, क्या, सरस कविता के भव्य निदर्शन नहीं पाये जाते? अवलोकनीय अलङ्कारों की अनुपम छटा वेद में भी क्या रसिक हृदय को मुग्ध नहीं बना डालती? जब वेद में ही अलंकृत भाषा के सुभग दर्शन होते हैं तब पाणिनि के पद्यों में

अलङ्कार के साक्षात्कार से हमें घबड़ाना नहीं चाहिये, न वैयाकरण तथा सुकवि पाणिनि की अभिन्नता के विषय में चीं-चपड़ करने के लिये उतारू होना चाहिये। जो कुछ हो, यह प्रश्न है बड़ा विकट और अपने निर्णय के लिए अधिक सामग्री चाहता है।

आधुनिक विद्वानों को छोड़कर अब हम संस्कृत साहित्य की परम्परागत प्रसिद्धि पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि पाणिनि ही इन पद्यों के निःसन्दिग्ध रचयिता माने गये हैं। सूक्तिग्रंथों में राजशेखर ने पाणिनि की प्रशंसा करते हुये लिखा है :—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं, काव्यमनु जाम्बुवतीजयम्॥

अर्थात् पहिले व्याकरण अनन्तर 'जाम्बवतीजय' काव्य के पैदा करनेवाले पाणिनि को नमस्कार है।

सदुक्तिकर्णामृत में विशिष्ट कवि प्रशंसा के विषय में उद्धृत एक पद्य[1] में भी सुबन्धु, रघुकार (कालिदास), हरिचन्द्र (गद्यकाव्य लेखक), शूर, भारवि तथा भवभूति जैसे उत्कृष्ट कवियों के साथ-साथ दाक्षीपुत्र का भी नाम उल्लिखित है। जहाँ तक हम जानते हैं 'दाक्षीपुत्र' से वैयाकरण पाणिनि का ही संकेत है क्योंकि महाभाष्य के अनेक[2] स्थलों पर यह विशेषण पाणिनि के लिये प्रयुक्त किया गया है। इस उल्लेख से भी दोनों की अभिन्नता सिद्ध होती है।

क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' नामक छन्दोग्रन्थ में पाणिनि के उपजाति छन्द को चमत्कार का सार बतलाया है :—

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥

अब तक उद्धृत प्रमाणों से पाणिनि के कवि होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु यह बात बड़े महत्त्व की है कि पाणिनि

---

१. सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे, हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः, प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

२. सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। [महाभाष्य १।१।२० पर]

यदा-कदा फुटकर पद्य लिखनेवाले साधारण कवि नहीं थे, प्रत्युत संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम महाकाव्य के लिखने का श्रेय इन्हीं को ही प्राप्त है। इस महाकाव्य का नाम कहीं तो 'पाताल विजय' पाया जाता है और कहीं पर **'जाम्बवती जय'**।

रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार 'नमि साधु' ने 'महाकवि भी अपशब्दों का प्रयोग करते हैं' इसे बतलाने के लिये पाणिनि के 'पाताल विजय' से 'सन्ध्याबधूं गृह्य करेण भानुः' को उद्धृत किया है जिसमें 'गृह्य' शब्द पाणिनीय व्याकरण से अशुद्ध है। अमरकोश के टीकाकार राय मुकुट ने निम्नलिखित पद्य खण्ड को इकारान्त 'पृषन्ति' (जलबुन्द) शब्द के उदाहरण के वास्ते उद्धृत करते समय इसे 'जाम्बवती विजय' का बतलाया है —

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टा वान्ति वाताः शनैः शनैः।

राजशेखर के ऊपर उद्धृत पद्य में, पुरुषोत्तम देव की 'भाषावृत्ति'[1] तथा शरणदेव की दुर्घट वृत्ति[2] में पाणिनि के पद्यों को उद्धृत करते समय उनके काव्य का नाम **'जाम्बवती जय'** या **'जाम्बवती विजय'** बतलाया गया है। जाम्बवती को लाने के लिये कृष्ण भगवान् को पाताल में जाकर विजय प्राप्त करना पड़ा था। अतः 'पातालविजय' 'जाम्बवती विजय' का नामान्तर मात्र है, कोई विभिन्न ग्रन्थ नहीं। शरण देव की पुस्तक में अठारहवें सर्ग से एक पद्य

---

१ पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की वैदिक भाषा के उपयोगी सूत्रों को छोड़ कर शेष सूत्रों पर एक सुन्दर टीका बनाई है उसी का नाम 'भाषा वृत्ति' है। यह लेखक बंगाल का रहनेवाला था और सम्भवतः बौद्ध था। 'वृत्ति' के टीकाकार सृष्टिधर के कथनानुसार इस ग्रन्थ की रचना लक्ष्मणसेन की आज्ञा से की गई थी। अतः पुरुषोत्तमदेव का समय १२वीं सदी का मध्य भाग है।

२ शरणदेव भी बौद्ध थे और बंगाल के प्रसिद्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन के सभा पण्डित थे। इनकी 'दुर्घट वृत्ति' में उन सब प्रयोगों की सिद्धि बताई गई है जो आपाततः अपाणिनीय प्रतीत होते हैं। इनकी सिद्धि सूत्रों के बहुत से तोड़ मरोड़ करने पर की गई है। जयदेव के 'शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुते' में दुरूह शब्दों के भी पिघलानेवाले जिस शरणदेव की प्रशंसा है वह यही हैं। 'दुर्घट वृत्ति' के देखने से ही जयदेव की यह प्रशंसा अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। इसमें अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण पाये जाते हैं। इस ग्रन्थ की रचना ११७२ ई० में की गई थी। अतः शरण का आविर्भाव १२ वीं सदी में हुआ था।

उद्धृत किया[1] गया है जिससे जान पड़ता है कि यह महाकाव्य कम से कम अठारह सर्गों का अवश्य था। अतः भारतीय परम्परा से विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण न मिले तब तक वैयाकरण पाणिनि तथा कवि पाणिनि की एकता में अविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है।

जिसप्रकार पाणिनि का आविर्भाव काल अभी तक ठीक नहीं हो सका उसी प्रकार उनके जीवनचरित का ज्ञान भी हमें बहुत ही कम है। पाणिनि ने स्वयं कहीं भी अपने विषय में (जहाँ तक ज्ञात है) कुछ लिखा ही नहीं। परवर्ती ग्रन्थकारों ने पाणिनि की सम्मति उद्धृत करते समय उनके लिये कतिपय विशेषणों का प्रयोग किया है जिनसे पाणिनि के विषय में कुछ ज्ञात होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि को कई स्थानों पर 'दाक्षीपुत्र' तथा 'शालातुरीय' कहा है जिससे केवल इतना पता लगता है कि पाणिनि की माता का नाम 'दाक्षी' तथा जन्मस्थान का नाम 'शालातुर' था। जेनरल कनिंघम ने अनेक प्रबल प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'शालातुर' का वर्तमान नाम 'लाहुर' है जो पेशावर के आस-पास आज एक छोटा सा गाँव है। अष्टाध्यायी में उत्तरी भारत—खास कर अफगानिस्तान तथा सीमान्त प्रदेश—के सच्चे भौगोलिक उल्लेखों से भी यही जान पड़ता है कि पाणिनि का जन्म अवश्य ही भारत के पश्चिमोत्तरीय प्रदेश में हुआ था। विद्वानों का अनुमान है कि पाणिनि ने उसी स्थान पर विद्याध्ययन किया था जो बौद्धकाल में 'तक्षशिला' के नामसे सर्वप्रसिद्ध विद्यापीठ हुआ। [2]भट्टसोमेश्वर ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में रहनेवाले उपाध्याय वर्ष के पास पाणिनि विद्याध्ययन करते थे। आरम्भ में पाणिनि की बुद्धि बड़ी मोटी थी, कितने समझाने पर भी कोई विषय उन्हें हृदयंगम नहीं होता था। मानसिक व्यथा से पीड़ित होकर पाणिनि ने हिमालय में जाकर अखण्ड तपस्या की तथा शिवजी के प्रसाद से न केवल अपने सहपाठियों को—विशेषत वररुचि को—ही परास्त किया बल्कि एक नये व्याकरण की सृष्टि की। इस कथानक से पाणिनि का पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) में शिक्षा पाना सिद्ध होता है। राजशेखर ने भी एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है[3] जिसमें निश्चय रूप से जाना जाता है कि पाटलिपुत्र में

१. त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनम्
चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य मे।
—जाम्बवती विजये पाणिनिनोक्तम्.........

इन्दुदारो (सर्गे)।

२. कथासरित्सागर, ४था तरंग, पृष्ठ ८ (निर्णय सागर प्रेस का संस्करण)

३. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

पाणिनि की परीक्षा ली गई थी और इसमें उत्तीर्ण होने पर उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। पञ्चतन्त्र के एक आकस्मिक उल्लेख के आधार पर कहा जाता है कि व्याघ्र से पाणिनि की मृत्यु हुई थी।

यूरोपीय लेखक इन्हें ईसा से पूर्व चौथी सदी का बतलाते हैं परन्तु डाक्टर गोल्ड स्टुकर[1] तथा डाक्टर भाण्डारकर[2] ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि पाणिनि बुद्ध के पहिले हो गये हैं और इनका समय कम से कम ईसा से ७०० वर्ष पूर्व है।

पाणिनि की कविता मधुर तथा सरस है। अलङ्कारों की छटा रसिक मन को अतीव आनन्दित कर रही है। ऐसी अनोखी उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया गया है कि हृदय—सागर में सहसा आनन्द—लहरी उठने लगती है। शृंगार रस का ही विशेष वर्णन है। प्राकृतिक दृश्यों का अतिशय अलङ्कृत भाषा में वर्णन बड़ा ही सजीव तथा मनोहर है। पाठकों के मनोरञ्जन के लिये इनमें से कतिपय मनोरम पद्य नीचे दिये जाते हैं—

शृंगाररस

पाणौ शोणतले तनूदरि! दरक्षामा कपोलस्थली
विन्यस्ताञ्जनदिग्धलोचनजलैः किं म्लानिमानीयते।
मुग्धे! चुम्बतु नाम चञ्चलतया भृंगः क्वचित् कन्दली
मुन्मीलन्नवमालतीपरिमलः किं तेन विस्मार्यते॥

खण्डिता नायिका को सखी समझा रही है—ऐ कृशोदरि! लाल हथेलियों पर अपने कृश कपोलों को रखे हुये काजल से मिश्रित आँसुओं को क्यों बहा रही हो? क्या अपने प्राणप्यारे के लिए इतना रो रही हो? भला तेरा वह लाड़िला तुझे कभी छोड़ सकता है! तुझे कभी भूल सकता है? क्यों, तू नहीं जानती—कि भौंरा अपनी चपलता के कारण कन्दली को कहीं भले चख आवे परन्तु नई मालती की सुगन्ध को क्या वह कभी भूल सकता है? जिस प्रकार नई खिलती हुई मालती का परिमल भौंरे को अवश्य आकृष्ट करता है उसी प्रकार तुम्हारी इस उठती जवानी की सुन्दरता उसे जरूर खींच लावेगी।

स्नोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडि।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

—काव्यमीमांसा पृष्ठ ५५।

१ गोल्डस्टुकर 'पाणिनि तथा उनका संस्कृत साहित्य में स्थान' नामक ग्रन्थ में।

२ भांडारकर 'दक्षिण का प्राचीन इतिहास' नामक ग्रन्थ में

क्या ही मनोहर पद्य है ! उदाहरण की अनुरूपता देखते ही बनती है ।[1]

पाणौ पद्मधिया मधूकमुकुलभ्रान्त्या तथा गण्डयो-
र्नीलेन्दीवरशंकया नयनयोर्बन्धूकबुद्ध्याऽधरे ।
लीयन्ते कवरीषु बान्धवजनव्यामोहबद्धस्पृहा
दुर्वारा मधुपाः कियन्ति सुतनु ! स्थानानि रक्षिष्यसि ।

किसी तन्वी के कमनीय कलेवर पर भौंरों की भीर गिरी जाती थी। वह सुकुमारी अपने को बचाना चाहती है। तब कवि कह रहा है—तुम कितने अंगों को इन भौंरों से बचाओगी ? भला कभी ये तुम्हारा पीछा छोड़ सकते हैं ? हाथों को कमल, गण्डस्थल को महुये की फली, आँखों को नील कमल, अधर को बन्धूक तथा तुम्हारे केशपाश को कारे कारे अपने भाई बन्धु समझकर ये भौंरे तुम्हारी देह पर बढ़े ही आते हैं। क्या रोकने से रुक सकते हैं !

वर्षा वर्णन

क्षपां क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व सम्प्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरा-
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः ।

सावन की घटा छाई हुई है। प्रत्येक दिशा में बादल घिर आये हैं। बिजुली भी इन मेघों में कौंध जाती है। इसी दृश्य का उत्प्रेक्षापूर्ण वर्णन इस परम कमनीय कविता के द्वारा किया गया है। कवि कहता है कि ये परम उपकारी जलद—जो न्याय की जीती हुई मूर्ति हैं क्योंकि उनके लिये ऊँच तथा नीच की व्यवस्था का अस्तित्व ही नहीं है—बिजुली रूपी दीपक के प्रकाश में चारों ओर घूम रहे हैं। भला इनके घूमने का उचित कारण क्या हो सकता है ! कवि कहता है कि तीक्ष्ण किरणवाले अपराधी सूर्य की तलाश में वे इधर उधर घूम रहे हैं। जरा तीक्ष्णांशु के अपराध पर दृष्टिपात कीजिये। उसने रातों को पतली बना डाला है, नदियों का जल चुरा लिया है, समग्र विस्तीर्ण पृथ्वी को तपा डाला है, वृक्ष समूह को सुखा डाला है; इन अपराधों के करने के बाद न जाने किस दिशा में वह सुजरिम छिपा हुआ है। इसीलिये इन्साफ़पसन्द बादल उसकी तलाश में चारों ओर घूम रहे हैं। क्या इससे भी बढ़कर सरस कल्पना मेघों के भ्रमण के विषय में की जा सकती है ?

---

१. जिन पाठकों को समग्र पाणिनीय कविता को देखना हो वे नागरी-प्रचारिणी पत्रिका वर्ष १, संख्या ४ में स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के एतद्विषयक लेख देखें।

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किन्नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास ।

वर्षा काल में मेघों की प्रचण्ड गर्जना हो रही है। पाणिनि की सम्मति में यह नीरस गर्जना नहीं है बल्कि उनका करुण क्रन्दन है। बात यह है कि रात के समय अभिसारिका के मुख को बिजुली रूपी आँखों से देखकर मेघों को यह सन्देह हो रहा है कि कहीं हमारे धारा सम्पात के साथ साथ चन्द्रमा जमीन के ऊपर तो नहीं गिर पड़ा है? यदि ऐसा नहीं है तो गाढान्धकार में अभिसारिका का इतना चमकीला चेहरा कहाँ से आया? नायिका के परम कान्तिमय मुख को देखकर उन्हें चन्द्रमा का सन्देह हो रहा है। इस सन्देह में विभोर होकर ही वे इतना करुण क्रन्दन कर रहे हैं।

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं, गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः ।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं, तच्छर्वरी गौरिव हुं करोति ॥

वर्षा में आधी रात के समय चन्द्रमा का बिम्ब मेघों का पटल में बिल्कुल अन्तर्हित हो गया है। बादलों का गर्जन की आवाज चारों ओर से आ रही है। इसपर हमारे सहृदय कवि कहते हैं कि यह तो निशा रूपी गाय का हुंकार है। जिस प्रकार प्यारे बछड़े को आँखों के सामने न देखकर गाय हुंकार करती है उसी प्रकार यह रात्रि भी अपने प्यारे चन्द्र को न देखकर मेघ गर्जन के व्याज से हुंकार कर रही है

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ।

शरत्काल में चन्द्रबिम्ब विमल हो जाता है परन्तु आकाश में मेघों के न होने से सूर्य का गर्मी पहिले से और भी अधिक हो जाती है। इस प्राकृतिक घटना पर पाणिनि ने विलक्षण कल्पना की सृष्टि की है। उनकी सम्मति में शरद् का व्यवहार नायिका के समान प्रतीत होता है। नायिका के समान शरद् शुभ्र पयोधरा (मेघ तथा स्तन) पर नखक्षत के समान रक्तविरंग इन्द्र धनुष को धारण करती हुई कलङ्की चन्द्रमा (मानो उपनायक) को प्रसन्न (निर्मल) कर रही है और साथ ही साथ सूर्य (नायक) के ताप (मानसिक दुःख तथा गर्मी) को भी अधिक बढ़ा रही है। प्राकृतिक घटना पर नायक नायिका का चरित्र पूर्णतया घटित हो रहा है।

सन्ध्या काल

सरागया स्रुतघनघर्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया।
मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितौष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे ॥

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।

सूर्य के अस्त हो जाने पर स्वभावतः कमलिनी संकुचित हो जाया करती है। इसपर कविजी कह रहे हैं कि नलिनी का यह कार्य सर्वथा श्लाघनीय है। प्रिय सूर्य के चले जाने पर कमल रूपी आँखों को बन्दकर कमलिनी ने बहुत ही उचित किया, क्योंकि समग्र संसार को देखने पर भी आँखों का एकमात्र फल प्रियतम को देखना ही है—परन्तु जब प्रियतम ही संसार से चला गया तो इन आँखों को रखकर ही क्या होगा? इस विचार से आँख बन्द कर कमलिनी ने पतिव्रता धर्म को खूब ही निभाया।

अयासमादास्तमनिन्द्यतेजा
जनस्य दूरोज्झितमृत्युभीतेः।
उत्पत्तिमद् वस्तु विनाश्यवश्यं
यथाहमित्येवमिवोपदेष्टुम्॥

सन्ध्या वेला में अत्यन्त प्रतापशाली सूर्य भी डूब रहा है। इस घटना से वह मृत्यु से भय न करने वाले मनुष्यों को मानो उपदेश दे रहा है कि संसार की जितनी उत्पन्न होने वाली चीजें हैं उनका नाश होना अवश्यम्भावी है। इतने प्रतापी होने पर भी जब मेरी ऐसी दशा है, तब और लोगों की कथा क्या कही जाय?

प्रकाश्य लोकान् भगवान् स्वतेजसा
प्रभादरिद्रः सवितापि जायते।
अहो चला श्रीर्दत मानिनामपि
स्पृशन्ति सर्वं हि दशा-विपर्यये॥

भगवान् सूर्य अपने तेज से सब लोकों को प्रकाशित कर के भी प्रभाहीन हो जाते हैं। आश्चर्य है कि बड़े बड़े मानियों की भी लक्ष्मी (शोभा) स्थिर नहीं है। ठीक है, दशा के बिगड़ने पर सब कुछ हो सकता है। बुरे दिनों में मनुष्य को विभिन्न दशायें आकर छूती हैं। सूर्य के अस्त होने से यह उचित शिक्षा लेना प्रत्येक विज्ञ पुरुष का काम है।

चन्द्रोदय

उपोढरागेण विलोलतारकं
तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया
पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार आप ही आप नष्ट होने लगता है। इसी घटना को लेकर कवि ने इस अलौकिक कल्पना की उद्भावना की है। जिस प्रकार

कोई अनुरागी नायक अपनी नायिका के चचल नेत्रवाले मुख को पकड़े तो आनन्द के कारण खिसकते हुये वस्त्र की सुधि उसे कुछ भी नहीं रहती, उसी प्रकार लाल रंग को धारण करने वाले चन्द्रमा ने चचल तारा वाली निशा के मुख (आरम्भ) को इस प्रकार पकड़ा कि खिसकते हुए अन्धकार की खबर उसे जरा भी नहीं लगी। तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा के उदय होते ही अन्धकार धीरे धीरे नष्ट होने लगता है। चन्द्रोदय के उल्लास में उसके नष्ट होने की सुधि किसी को भी नहीं रहती। कितने सुन्दर—श्लिष्ट शब्दों में एक प्राकृतिक घटना का मनोरंजक वर्णन वर्णित किया गया है।



वररुचि

सूक्ति संग्रहों में 'वररुचि' के नाम से बहुत से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। न केवल 'सुभाषितावली' तथा 'शारंगधर पद्धति' में ही इनके पद्य पाये जाते हैं; बल्कि इनसे भी प्राचीन 'सदुक्ति कर्णामृत' में वररुचि कृत श्लोकों की उपलब्धि होती है। यह वररुचि कौन थे? इसे ठीक ठीक कहना अत्यंत कठिन प्रतीत होता है। पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक लिखने वाले कात्यायन मुनि का भी नाम 'वररुचि' था, उधर 'प्राकृत प्रकाश' नामक प्राकृत के अति प्राचीन व्याकरण बनाने वाले भी कोई 'वररुचि' हो गये हैं। कवि वररुचि-जिनके पद्य सूक्ति ग्रंथों में संरक्षित हैं—इन दोनों से भिन्न थे—या अभिन्न; इसको निश्चयपूर्वक सिद्धांत रूप से बतलाना जरा कठिन काम है। लेखक का अनुमान है कि—कवि 'वररुचि तथा वार्तिककार 'कात्यायन' दोनों एक ही व्यक्ति हैं। पतंजलि ने वररुचि के बनाये हुए किसी काव्य ग्रंथ (वाररुचं काव्य) का उल्लेख महाभाष्य में किया है। यह काव्य-ग्रंथ आज कल उपलब्ध नहीं, परन्तु संभवतः उसका नाम 'कंठाभरण' था जिसका उल्लेख राजशेखर के निम्नलिखित पद्य में किया गया है:—

यथार्थता कथं नाम्नि माभूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कंठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

—सूक्ति मुक्तावलि।

यदि वार्तिककार कात्यायन ही इन श्लोकों के रचयिता मान लिये जाँय, तो वररुचि का समय ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में होना चाहिए। कथा सरित्सागर से साफ तौर से जाना जाता है कि—वररुचि कात्यायन पाटलिपुत्र [redacted] प्रसिद्ध राजा नन्द के महामंत्री थे। इन्होंने वर्ष के 'वर्ष उपाध्याय' से सब विद्यायें पढ़ी थीं। व्याकरण के तो आप आचार्य ही हैं। डाक्टर भाण्डारकर ने कथासरित्सागर में उल्लिखित कथा को प्रामाणिक मानकर वररुचि (जिनका गोत्रज नाम 'कात्यायन' था) का समय ईसा से पूर्व चौथी सदी में माना है।

इनकी कविता बड़ी मनोहारिणी है। माधुर्य तथा प्रसाद तो इसमें कूट कूट कर भरा हुआ है। ऋतुओं के वर्णन में ही इनके अधिकतर श्लोक पाये जाते हैं। वर्णन सरल होने पर भी सजीव है तथा अलंकार से सुसज्जित है। इनकी आलोचना करने से कहना पड़ता है कि वररुचि वास्तव में प्रकृति के प्रेमी पुरोहित थे। इनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी पैनी थी। अलंकारों की भी छटा खूब ही मिलती है। छोटे छोटे चुस्त अनुष्टुप् छन्दों में उपमा तथा उत्प्रेक्षा का ऐसा सुंदर विन्यास

देखकर सहृदय पुरुष मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकते। साधारण पाठकों को भी पद्यों को एक बार ही पढ़ने से ज्ञात हो जायगा कि इनकी भाषा कितनी प्राञ्जल तथा सरस है। भाव भी बड़े सुंदर तथा मनोरम हैं। वररुचि के नाम से जितने पद्य सुभाषित ग्रंथों में पाये जाते हैं उनमें से कतिपय सुन्दर श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

वर्षा की बहार

वर्षा की बहार देखिये। लाल लाल बीर बहूटियों से पृथ्वी चारों ओर आच्छादित हो गई है। मालूम पड़ता है कि ये लहू की बूँदें हैं—जो कामदेव के बाणों से घायल होने वाले प्रवासी विरहियों के हृदय से चू-चू कर जमीन पर गिर पड़ी हैं। इन्द्रगोप के विरहोद्दीपक होने की बात कैसे अच्छे ढंग से वर्णन की गई है—

इन्द्रगोपैर्बभौ भूमिर्निचितेव प्रवासिनाम्।
अनंगबाणैर्हृद्भेद स्रुतलोहित-बिन्दुभिः॥

सावन की घटा देखते ही विरहियों के हृदय में आग क्यों लग जाती है? हृदय सन्तप्त क्यों हो जाता है? इसका मार्मिक उत्तर यदि आपको जानना हो, तो वररुचि का यह सुभग पद पढ़िये—

व्योम्नि नीलाम्बुदच्छन्ने गुरुवृष्टि भयादिव।
जगाह ग्रीष्म संतापो हृदयानि वियोगिनाम्॥

जब आकाश में काली काली घटायें घिर आईं, तो ग्रीष्म ऋतु का ताप बहुत डरा कि कहीं अत्यन्त वृष्टि के मारे मेरा अस्तित्व ही नष्ट न हो जाय, इसलिए अपने लिये योग्य स्थान ढूँढकर वह वियोगियों के हृदय में बलात् घुस गया। यही कारण है कि उनका हृदय वर्षा काल में सतप्त हो उठता है।

आलोहितमाकलयन् कन्दलमुत्कम्पितं मधुकरेण।
संस्मरति पथिषु पथिको दयिताङ्गुलितर्जनाललितम्॥

मार्ग में भौंरों से हिलाये गये लाल लाल अकुरों को देखकर पथिकों को अपनी प्यारी की अगुली से किये गये सुन्दर तर्जन याद पड़ रहे हैं। डराने के लिये सचालित लाल अगुलियों तथा भ्रमर कंपित कन्दलों का रंग तथा कार्य एक समान ही है। अतः एक से दूसरे की याद सहज में ही हो जाती है।

नीचे के पद्य में मेघमाला का वर्णन गर्भिणी के रूप में किया गया है —

सान्द्रनीहारसंवीततोय गर्भगुरूदरा।
संततस्तनिताभाली निषसादाद्रिसानुषु॥

घने कुहरे से ढके हुए जल को अपने गर्भ में धारण करने से गुरु उदर वाली तथा सदा गर्जन करने वाली मेघमाला पहाड़ों के शिखरों पर बैठी। क्या करे?

गर्भ के भार से क्लान्त गर्भिणी स्त्री भी तो ऊँची जगहों पर बैठ कर आराम करती है। मेघमाला भी विपुल जल के भार से सन्त्रस्त है। अत उसका पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर बैठना नितान्त स्वाभाविक है।

आचार्य दण्डी ने भी 'समाधि' गुण के उदाहरण में इस पद्य के अनुरूप निम्नलिखित श्लोक की रचना की है—

गुरुगर्भभरक्लान्ता स्तनन्त्यो मेघपंक्तय ।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमा समधिशेरते ॥

—काव्यादर्श, १ परि०, ९८ प० ।

शरद्वर्णन

उपकारिणि विक्षीणे शनै केदारवारिणि ।
सानुक्रोशतया शालिरभूत् पाण्डुरखाङ्मुख ॥

जब खेत का उपकारी जल धीरे धीरे घटने लगा तब धान भी सहानुभूति से पीला पड गया और उदास हो उसने अपना मुँह नीचे कर लिया। धान सोचने लगा कि खेत के ही जल से मेरी पुष्टि हुई है, इसने मुझे पाल पोसकर इतना बडा बनाया है, मुझे फलयुक्त भी किया है, परन्तु जब मेरा उपकारी मित्र ही चल बसा, तो मुझे कृतघ्न की भाँति खडा रहना शोभा नहीं देता। इसलिये सहानुभूति से उसका चेहरा पीला पड जाता है और वह शोक में सिर झुका लेता है। पके हुए धान का क्या ही स्वाभाविक सुभग वर्णन है।

कलमं[1] फलभारातिगुरुमूर्धतया शनैः ।
विननामान्तिकोद्भूतं सामाघ्रातुमिवोत्पलम् ॥

खेतों में धान के पौदे लहरा रहे हैं। पकी हुई बालियों के बोझ से उनका मस्तक झुका हुआ है। जान पडता है कि समीप में उगे हुये कमलों को सूँघने के लिये धान के पौधों ने अपना सिर झुका दिया है। धान का यह काम सर्वथा उचित है। यदि सजीव प्रकृति के पौधे सूँघने का प्रयत्न करते हैं तो क्या बुरा करते हैं।

प्रत्यग्रतिलका सद्यो मधुलक्ष्म्यभिसारिका ।
जातपुष्पशरा चक्रे पदमुद्यानभूमिषु ॥

---

१ इस पद्य से मिलता जुलता भारवि का यह श्लोक है—
अमी पृथुस्तम्बभृत पिशङ्गता गता विपाकेन फलस्य शालय ।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचित नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥
(किरात ४।२६)

जिस प्रकार कोई अभिसारिका नया तिलक लगाये हुये कामदेव के बाणों से व्यथित हो किसी उपवन में आ पहुँचती है, उसी प्रकार वसन्त की लक्ष्मी ने नये नये तिलक वृक्षों तथा पुष्पों से युक्त होकर वाटिका में अपना पैर रखा है।

अस्या मनोहराकारकवरीभारतर्जिता ।
लज्जयेव वने वासं चक्रुश्चमरबर्हिण ॥

इस नायिका के केश कलापों का वर्णन क्या किया जाय। चमरीमृग तथा मयूर इसके सुन्दर कवरी भार से तर्जित होने पर लज्जा के मारे जंगल में ही निवास करते हैं। वे कौन मुँह लेकर शहर में लौटें।

प्रत्यग्रयौवना श्यामामपेततिमिरांशुकाम् ।
विलोक्य जातहासोऽभून्मुदेव कुमुदाकर ॥

चन्द्रोदय हो रहा है। चाँदनी जमीन पर छिटकती चली जाती है। मानो जिस तरह कोई नायक षोडशवर्षीया नायिका को जिसके अंगों में जवानी उमड़ रही हो अपेतवस्त्रा होते देख हँस पड़ता है, उसी प्रकार चन्द्रमा भी तिमिर रहित रात्रि को देख कर आनन्द से हँस रहा है। चाँदनी क्या है? मानो चन्द्रमा का धवल हास्य है।

अपि स दिवस किं स्याद् यत्र प्रियामुखपङ्कजे
मधु मधुकरीवास्मद्-दृष्टिविकासिनि पास्यति ।
तदनु च मृदुस्निग्धालाप-क्रमाहित-नर्मण
सुरत-सचिवैरङ्गै सङ्गो ममापि भविष्यति ॥

कोई विरही संयोग का सुन्दर चित्र अपने नेत्रों के सामने खींच रहा है। वह कह रहा है कि मेरे वे दिन कब आवेंगे जब मेरी दृष्टि प्यारी के खिले हुए मुख-कमल के रस का पान उसी भाँति करेगी जिस प्रकार भँवरा कमल के रस का पान करती है। उसके अनन्तर मीठे मीठे सुभग वार्तालाप करता हुआ कब मैं प्यारी के सुरत सहायक अंगों से मिलूँगा।

यह पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' में वार्तिककार' के नामसे उद्धृत किया गया है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने इसे तन्त्रवार्तिक के रचयिता कुमारिलभट्ट' का बतलाया है। कुमारिल भी अच्छे कवि थे, परन्तु वार्तिककार' नाम से पाणिनीय अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि का ही बोध होता है। अत इस श्लोक को प्रकृति वररुचि को ही रचना मानना उचित प्रतीत होता है।



है। कालिदास ने अवन्ती प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का सूक्ष्म वर्णन मेघदूत में किया है—वहाँ की छोटी छोटी नदियों का भी नाम निर्देश किया है तथा वर्णन दिया है। उज्जयिनी के प्रति उनके विशेष पक्षपात तथा सूक्ष्म भौगोलिक परिचय के आधार पर यह कहा जा सकता है—कि कालिदास यहीं के रहने वाले थे।

स्थितिकाल—कविवर कालिदास के स्थिति-काल के विषय में पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों में बड़ा वाद विवाद हुआ है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने आंतरिक प्रमाणों के आधार पर कालिदास की स्थिति भिन्न भिन्न शताब्दियों में निश्चित की है।

कालिदास का समय ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के सात सौ वर्षों के दीर्घकाल में दोलायमान सा रहा है। यहाँ संक्षेप में प्रधान मतों का उल्लेख किया जायगा।

भारतीय जनश्रुति के आधार पर कालिदास राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों के मुखिया थे। कालिदास के ग्रंथों से भी उनकी विक्रम के साथ रहने की बात सूचित होती है। विश्वविख्यात शकुन्तला का अभिनय किसी राजा की—सम्भवत विक्रम की—'अभिरूप भूयिष्ठा' परिषद् में ही हुआ था। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा के नायक होने पर भी विक्रम का नामोल्लेख तथा 'अनुत्सेक विक्रमालङ्कार' आदि वाक्य—इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं कि कालिदास का विक्रम से सम्बन्ध अवश्य था। रामचन्द्रमहाकाव्य के 'ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीता शकारातिना' आदि पद्यों से भी इसी सम्बन्ध की पुष्टि हो रही है। अत एव तब तक यह मानना अनुचित नहीं होगा कि कालिदास राजा विक्रम की सभा के रत्न थे।

कालिदास ने शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र को अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक बनाया है। अत वे विक्रम पूर्व द्वितीय शतक के अनन्तर होंगे। इधर सप्तम शताब्दी में हर्षवर्द्धन के सभा-कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशस्त प्रशंसा की है। अत कवि का समय विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम की सप्तम शतक के बीच में कहीं होना चाहिए। कालिदास के समय के विषय में प्रधानतया तीन मत हैं—

पहला मत—कालिदास को षष्ठशतक का बतलाता है।

दूसरा मत—गुप्त काल में कालिदास की स्थिति मानता है।

तीसरा मत—विक्रम संवत के आरंभ में इनका समय बतलाता है

इन्हीं तीनों प्रधान मतों का उल्लेख यहाँ क्रमश किया जायगा।

प्रथम मत—अब यह विचार करना है कि विक्रमादित्य नामक राजा का स्थितिकाल भारतीय इतिहास कब बतला रहा है।

भारतीय इतिहास में विक्रम उपाधि वाले चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है जिनके समसामयिक होने से कालिदास का समय भी भिन्न भिन्न सादृश्य में माना गया है[१] डाक्टर हार्नली का मत है कि—

यशोधर्मन ने—जिसने कारुर की लड़ाई में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से परास्त किया था—विक्रमादित्य उपाधि ग्रहण की थी। अपने बड़े विजय के उपलक्ष्य में उसने नवीन संवत् चलाया जो विक्रम के नाम से व्यवहृत हुआ। परन्तु इसे प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से—इसके ऊपर प्राचीनता की पुट देने के लिए—इसने ६०० वर्ष पूर्व से चलाया अर्थात् ५४४ ई० को विजय घटना की यादगार में उसने अपने नवीन संवत् को ६०० वर्ष पूर्व अर्थात् ५६ ईसवी पूर्व से स्थापित होने की बात प्रचारित की। विक्रम संवत् की यह नवीन कल्पना डाक्टर फर्गुसन ने की थी। हार्नली ने इसका उपयोग कालिदास के समय निरूपण के लिए किया। उसने दिखलाया है कि रघु का दिग्विजय यशोधर्मन की राज्यसीमा से बिल्कुल मिलता जुलता है। किसी आलोचक ने कुमारसम्भव में देवस्तुति के सांख्यसिद्धान्त को ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका के (जो सांख्य की प्राचीनतम पुस्तक मानी जाती है) ऊपर अवलम्बित बतलाया है। कारिका को छठी सदी का ग्रंथ मानकर उसके आशय ग्रहण करने वाले कालिदास का भी समय इसी सदी में बतलाया गया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अनेक कौतुकपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास भारवि के अनंतर छठी शताब्दी में विद्यमान थे।

इस मत का खंडन—परन्तु कालिदास को इतना पीछे मानना उचित नहीं प्रतीत होता। हूणों को पराजय करने पर भी यशोधर्मन शकाराति—शकों का शत्रु—नहीं कहा जा सकता। न उसके शिलालेखों से नवीन संवत् स्थापन की घटना सच्ची प्रतीत होती है।

विक्रम संवत् की स्थापना छठी सदी में यशोधर्मा के द्वारा मानना ज्ञात इतिहास पर घोर अत्याचार करना है क्योंकि मालव संवत् के नाम से यह

१ जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (J R A S) १९०१ पृ० ५४५

२ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी की पत्रिका भाग २ पृ० ३१-४४

संवत् अति प्राचीन काल में भी प्रसिद्ध था।[1] ४७३ ई० के कुमारगुप्त की प्रशस्ति के कर्ता वत्सभट्टि की रचना में ऋतुसंहार के कितने ही पद्यों की झलक दीख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को पाँचवीं सदी के अनन्तर मानना अनुचित है। अतः इस मत को अप्रामाणिक मान कर कितने ही भारतीय तथा यूरोपिय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के उन्नत समय में कालिदास की स्थिति बतलाई है।

द्वितीय मतः—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानने वाले विद्वानों में भी कुछ-कुछ भेद दीख पड़ता है। पूना के प्रोफेसर के० बी० पाठक की सम्मति में कालिदास स्कंदगुप्त 'विक्रमादित्य' के समकालीन थे; परन्तु रामकृष्ण भंडारकर, साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा तथा अधिकांश पश्चिमी विद्वान गुप्तों में सबसे अधिक प्रभावशाली चन्द्रगुप्त द्वितीय को कालिदास का आश्रयदाता मानते हैं।

(क) पाठक ने वल्लभदेव[2] के निम्नलिखित श्लोक के पाठ को प्रामाणिक मानकर पूर्वोक्त सिद्धांत को निश्चित किया[3] है—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कंधाँल्लग्नकुंकुमकेसरान्॥

इस पद्य के सिंधु शब्द के स्थान पर वल्लभदेव ने 'वंक्षु' पाठ माना है। 'वंक्षु' शब्द, पाठक की सम्मति में आक्सस (Oxus) शब्द का संस्कृतीकरण है। अतः, इस पाठ को प्रामाणिक मानने से यह कहना पड़ता है कि रघु ने हूणों को आक्सस नदी (जो पामीर से निकल कर अरल सागर में गिरती है) के किनारे उनके भारत आगमन के पहिले हराया था। यह घटना ४५५ ई० के पूर्व की ही हो सकती है क्योंकि उस वर्ष स्कन्दगुप्त के प्रबल प्रताप के सामने हार मान भग्न मनोरथ होकर हूणों को लौटना पड़ा था। अतः रघुवंश को कालिदास की प्रथम रचना मानकर पाठक ने उन्हें स्कन्दगुप्त का समकालीन

---

१. Bhandarkar—Vikrama Era in Bhandarkar Commemoration volume.

२. वल्लभदेव काश्मीर के निवासी थे। उन्होंने लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी पर टीकायें लिखी हैं। मल्लिनाथ ने इन्हें प्रमाणकोटि में मानकर इनके मत का उल्लेख किया है। काश्मीर के निवासी होने से भारत की सीमांत तथा उत्तरीय जातियों से अत्यन्त परिचित प्रतीत होते हैं। इसी कारण से इनके तद्विषयक पाठों पर विशेष श्रद्धा दिखलाई है।

३. इंडियन एण्टिक्वेरी १९१२।

माना है। विजयचन्द्र मजुमदार ने कुछ अन्य प्रमाण देकर इन्हें कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त दोनों के समय में माना है[1]।

(ख) पश्चिमी विद्वान् शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले विक्रमादित्य उपाधि धारण करने वाले, 'चन्द्रगुप्त' द्वितीय के राज्यकाल में (जब भारत में चारों ओर शांति विराजमान थी और जो भारतीय कलाकौशल के पुनरुत्थान का काल माना जाता है) कालिदास को मानते हैं। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु का दिग्विजय समुद्रगुप्त के विजय से सर्वदा मिलता जुलता है। रघुवंश में वर्णित शान्ति[2] का समुचित काल चद्रगुप्त का ही समय था। इसके सिवा इन्दुमती स्वयंवर में उपस्थित मगधराज के लिए जो उपमा या विशेषण[3] प्रयुक्त किये गये हैं उनसे भी 'चन्द्रगुप्त' नाम की ध्वनि निकलती है। अन्य प्रमाणों के आधार पर भी बहुत विद्वानों ने इसी समय को प्रामाणिक माना है[4]। परन्तु गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति बताना ठीक नहीं, क्योंकि चद्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम विक्रमादित्य नहीं थे बल्कि इनसे भी प्राचीन मालवा में राज्य करने वाले विक्रम का पता इतिहास से चलता है, तब कालिदास गुप्त काल में कैसे माने जा सकते हैं।

तृतीय सिद्धांत—पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्त उस भारतीय श्रुति के विरुद्ध हैं जो कालिदास का समय ईसा के पूर्व ५८ में वर्ष में बतलाती है। पूर्वोक्त राजाओं के अतिरिक्त भी ईसा के पूर्व विक्रम नामक राजा की स्थिति काल्पनिक नहीं प्रतीत होती। हाल की गाथा सप्तशती में दानशील राजा विक्रम का उल्लेख पाया जाता है।[5] अब ६८ ई० के रूप में 'विक्रम' का नाम पाया

१ जे० आर० ए० एस् १९०९, ७२१ पृष्ठ।

२ वार्तापि नासंसमदनुताति, को लम्बमेदाहरणाय हस्तम्। रघु० ६।७५

३ 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसेव रात्रि' इन्दु नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै, में चंद्रमा तथा इन्दु शब्द चद्रगुप्त के द्योतक बतलाये गये हैं।

४ मैकडानल्ड हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर। पृ० ३२५

५ हाल की गाथा सप्तशती का रचना-काल स्मिथ की राय में ७० ईस्वी के आसपास है। उसमें विक्रमादित्य वाली गाथा यह है—

संवाहण सुहरस-तोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेन विक्कमादित्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा॥

गा० स० ५।६४

संस्कृतानुवाद—

संवाहन-सुख-रस तोषितेन ददता तव करे लक्षम् (लाक्षाम्)।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्या॥

जाता है तब सौ वर्ष पहिले उसकी स्थिति मानने में किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं प्रतीत होती। इनके 'शकारि' होने में भी कोई आपत्ति नहीं दीखती क्योंकि ईसा के १५० वर्ष पहिले आने वाले शकों का हाल इतिहास में पाया जाता है, परन्तु उनके विनाशकर्ता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। सम्भवतः यही विक्रम उनका सहारक हो। अत ईसा के पूर्व विक्रम की सत्ता ऐतिहासिक ढग से प्रमाणित की जा सकती है। वह विक्रम पौराणिक गाथाओं का कल्पित नायक नहीं है, बल्कि सच्चे इतिहास का प्रभावशाली विजेता है। अत' इसी की सभा में कालिदास की स्थिति भारतीय विद्वानों के द्वारा बतलाई गई है। कालिदास ने रघुवश के छठे सर्ग में पाड्यनरेश का वर्णन किया है और 'उरगपुर' को उसकी राजधानी बतलाया है।[२] 'उरियाउर' का ही 'उरगपुर' सस्कृत रूप जान पड़ता है। 'उरियाउर' पाड्यदेश के राजाओं की प्रथम शतक में राजधानी थी अत, कालिदास इसी समय में विद्यमान मालूम पड़ते हैं।

शकुन्तला में सूचित सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था से भी यही ज्ञात होता है कि कालिदास ऐसे समय में विद्यमान थे जब बौद्धधर्म का प्रभाव अत्यन्त अधिक था तथा वैदिक देवताओं के विषय में श्रद्धाविहीन विचार प्रचलित थे। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल की—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

नान्दी में भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया है। श्रीशारदारजन राय[३] का कहना है कि इस नान्दी में 'प्रत्यक्षाभि' शब्द का प्रयोग कर कवि ने तत्कालीन देवता विषयक अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया है। जिस शिव की अष्ट मूर्तियों का हमें प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है—जिनका साक्षात्कार हमें अपनी आँखों से हो रहा है, उस देवता के विषय में अश्रद्धा कैसे टिक सकती है—अविश्वास कैसे रह सकता है। इसी प्रकार षष्ठ अक में कालिदास ने

१. Nandargikar-Introduction to Raghuvansa
C. V Vaidya-Date of kalidasa, Annals of Bhandarkar Institute vol II पृ० 63–68

२. अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथम्। (रघु० सर्ग ६।५९)

३ S Roy's Introduction to Sakuntala पृ० ५

कर्तव्य कर्म होने के कारण यज्ञ यागादि का करना ब्राह्मण के लिये आवश्यक बतलाया है। बौद्धों ने हिंसापरक होने के कारण यज्ञों की भर पेट निन्दा की है। परन्तु शकुन्तला में एक पात्र कहता है कि क्या यज्ञों में पशु मारनेवाले श्रोत्रिय का हृदय दयालु नहीं होता? कुल परम्परागत धर्म का परित्याग क्या कभी श्लाघनीय है? अतएव यज्ञों का अनुष्ठान सर्वदा श्रेयस्कर है, परन्तु उसके हिंसापरक होने पर भी याज्ञिक ब्राह्मणों का हृदय कोमल होता है—

सहजे किल जे विणिन्दिए णहि तकम्म विवज्जणिज्जए।
पशुमालणकम्मदालुणे अनुकम्पा मिदु एव्व शोत्तिए॥
[सहजं किल यत् विनिन्दितम न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारण-कर्मदारुणः अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥]

इस वर्णन से जान पड़ता है कि कवि ने बौद्ध धर्म के कारण यज्ञों के विषय में होनेवाली निन्दा या अश्रद्धा को दूर करने का उद्योग किया है। अतः कालिदास का जन्म उस समय में हुआ था, जब बौद्ध धर्म के प्रति अश्रद्धा बढ़ती जाती थी तथा ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय हो रहा था। यह समय ब्राह्मण वंशी शुंग नरेशों (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के कुछ ही पीछे होना चाहिये। अतः विक्रम संवत् के प्रथम शतक में कालिदास को मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

अश्वघोष विक्रम के अनन्तर प्रथम शतक में कनिष्क के दरबार में विद्यमान थे। बुद्धचरित महाकाव्य में इन्होंने कालिदास के बहुत श्लोकों का अनुकरण किया है। अश्वघोष के द्वारा किये गये अनुकरण से यह बात पुष्ट होती है। रघुवंश के सातवें सर्ग में (५-१५ श्लोक तक) कालिदास ने स्वयंवर से लौटनेवाले अज को देखने के लिये आनेवाली उत्सुक स्त्रियों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। बुद्ध चरित के तीसरे सर्ग में (१३-२४ पद्य तक) अश्वघोष ने ठीक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है, जब शुद्धोदन की शोभाशालिनी पुरी में प्रथम बार प्रवेश करनेवाले राजकुमार सिद्धार्थ को देखने के लिये सुन्दरी महिलाओं का बड़ा जमघट लगा था। अश्वघोष तथा कालिदास के वर्णनों में आश्चर्यजनक समता है। कालिदास ने वे ही श्लोक कुमारसम्भव में भी रखे हैं। वस्तुस्थिति के विचार करने से यही जान पड़ता है कि अश्वघोष ने कालिदास के इस वर्णन का अनुकरण अपने महाकाव्य में किया है। इसलिये भी कालिदास को विक्रम संवत् के आरम्भ में मानना चाहिये।

ग्रन्थ

कालिदास के नाम से बहुत सी रचनायें आजकल उपलब्ध हो रही हैं। उनमें से कुछ तो अनन्तर के साधारण कवियों की रचना जान पड़ती हैं। सम्भव

है, कुछ रचनायें कालिदास नाम धारी किसी अन्य कवि की हों, क्योंकि पण्डितों की परम्परा में अनेक कालिदास के होने की बात प्रसिद्ध है। दसवीं सदी के आरम्भ में राजशेखर को तीन कालिदासों [redacted] पता था—

एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

किस कालिदास के कौन कौन से ग्रन्थ हैं? इसका आजकल विवेचन करना एक प्रकार से असम्भव है परन्तु विक्रम की सभा को अलङ्कृत करने वाले महाकवि कालिदास की रचनाओं का हम निर्देश भली भाँति कर सकते हैं। कालिदास के काव्य ग्रन्थ चार हैं—ऋतुसंहार, कुमारसम्भव, मेघदूत, रघुवंश, और नाटक ग्रन्थ तीन हैं—मालविकाग्निमित्र विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल (या केवल शाकुन्तल)।

(१) **ऋतुसंहार**—इस काव्य में छहों ऋतुओं का वर्णन है। छ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ऋतु का वर्णन है। ग्रीष्म से आरम्भ कर वसन्त पर समाप्ति की गई है। वर्णन खूब मनोहर हैं। स्वाभाविकता की अच्छी मात्रा दीख पड़ती है। वर्णन अत्यन्त नैसर्गिक हैं। यह काव्य कालिदास की प्रथम रचना माना जाता है।

(२) **कुमारसम्भव**—महाकाव्य है। आजकल इसके १८ सर्ग उपलब्ध होते हैं परन्तु काव्यशैली की परीक्षा द्वारा ९ वें सर्ग से लेकर आगे का ग्रन्थ कालिदास की रचना नहीं प्रतीत होता। केवल आरम्भ के ८ सर्ग ही वास्तव में कालिदास के हैं। मल्लिनाथी सञ्जीवनी भी इन्हीं सर्गों पर है, आगे नहीं। संस्कृत के रीति ग्रन्थों में भी इन्हीं सर्गों से श्लोक उदाहरण के लिये उद्धृत किये गये हैं। इसके प्रथम सर्ग में हिमालय वर्णन तथा पार्वती जन्म, द्वितीय में ब्रह्मा की स्तुति तथा तारकासुर के मारने का उपाय, तृतीय में मदनदहन, चतुर्थ में रति विलाप, पञ्चम में पार्वती-तपश्चर्या, षष्ठ-सप्तम में शिवपार्वती का विवाह तथा अष्टम में रति-वर्णन है। कुमारसम्भव साहित्य की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर है। कितने अंशों में यह रघुवंश से भी बढ़कर है। इस काव्य में कालिदास की आध्यात्मिक विचारधारा छिपी मिलती है। शिव के द्वारा काम का दहन करना तथा पार्वती की तपश्चर्या के अनन्तर शिव द्वारा उन्हें स्वीकृत करने की घटना किस आध्यात्मिक तत्त्व की ओर संकेत कर रही है, वास्तव में वह कितना सच्चा है—कितना गूढ़ है। कामवासनाओं को बिना जलाये— ज्ञानाग्नि में बिना भस्म किये—क्या सच्चे स्नेह की उपलब्धि हो सकती है? बिना तपस्या के क्या कभी स्नेह परिनिष्ठित हो सकता है? काम और

प्रेम का पार्थक्य खूब ही उत्तमता से दिखाया गया है। कुमारसम्भव खूब रहस्यमय है।

(३) मेघदूत—खण्डकाव्य है। धनपति के कोप से निर्वासित किसी अलकानिवासी यक्ष ने अपनी प्राण वल्लभा के पास मेघ को दूत बनाकर सन्देश भेजा है। पूर्वमेघ में रास्ते का वर्णन है और उत्तर में अलका का। अनन्तर सन्देश कथन है। बड़ी ही रमणीय कविता है। इसके आदर्श पर अनेक दूतकाव्य या सन्देश काव्य रच गये। पूरा काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में है। बाह्य प्रकृति के दृश्यों का मनोरम वर्णन तथा मनुष्य के कोमल भावों का सूक्ष्म पर्यालोचन खूब है।

(४) रघुवंश—कालिदास के काव्य ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमें १९ सर्ग हैं। रघु के वंश का वर्णन है, परन्तु यह पूरा नहीं कहा जा सकता। पहले सर्ग में दिलीप का वर्णन तथा वशिष्ठ के आश्रम में पुत्रप्राप्ति के लिये जाना, दूसरे में नन्दिनी वरदान, तृतीय में रघु का जन्म तथा पराक्रम वर्णन, चतुर्थ में रघुदिग्विजय, पंचम में कौत्स का गुरुदक्षिणा का हाल, षष्ठ में इन्दुमती स्वयम्वर, सप्तम में इन्दुमती के लिए राजाओं के साथ महाराज अज का युद्ध, अष्टम में इन्दुमती के केवल पुष्पमाला के स्पर्श से मर जाने पर अज का करुण विलाप, नवम में दशरथ का आखेट, दस से लेकर चतुर्दशसर्ग तक पाँच सर्गों में रामचरित्र, अनन्तर बहुत ही संक्षेप में कुश से लेकर अग्निवर्ण तक बहुत से राजाओं का वर्णन है। अन्तिम १९ वें सर्ग में कामुक अग्निवर्ण की शृंगार लीलायें बड़े विस्तार से वर्णित हैं। रघुवंश की आलोचना क्या की जाय? यह तो संस्कृत साहित्य का अनमोल रत्न है। आदर्शों की सृष्टि जैसी रघुवंश में है, वैसी अन्यत्र नहीं मिल सकती।

(५) मालविकाग्निमित्र—इस नाटक में शुङ्गवंशी राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेम कहानी निबद्ध की गई है। इसमें राजा की पत्नियों म आपस की डाह, राजा की कामपरायणता, प्रधान महिषी धारिणी की धीरता तथा चतुरता आदि विषय अच्छी तरह दिखलाय गय हैं।

(६) विक्रमोर्वशीय—रूपक म पुरुरवा और उर्वशी की प्रेमलीला वर्णित है। पुरुरवा क विरह का अच्छा दृश्य दिखाया गया है। कविता भी ऊंच दर्जे की है। पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान ऋग्वेद में संवाद केद्वारा वर्णित है, ब्राह्मण ग्रन्थों म भी वह विस्तृत रूप से लिखा गया है। कालिदास ने इसी प्राचीन आख्यान को एक रमणीय रूपक का रूप दे डाला है। भला भारत के राष्ट्रीय कवि ऐसा क्यों न करते? 'कवि ने प्रणय तथा प्रणयोन्माद को ही प्रधान प्रतिपाद्य समझा है। × × × धर्मभाव शून्य प्रणय के द्वारा, प्रणय रूपी

पाशबंधन के द्वारा, प्रणयी का भी अमङ्गल साधन होता है। ऐसे प्रणय में पड़ने से जितना अमङ्गल होता है, धर्मभावमय प्रणय में पड़ने से उतना ही, किंबहुना उससे भी अधिक, मङ्गल होता है। कवि ने इस तत्त्व का उद्घाटन मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय में नहीं किया।"

(७) शाकुन्तल अथवा अभिज्ञानशाकुन्तल—यह कालिदास का सब से प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने इसे नाटक साहित्य में सब से श्रेष्ठ बतलाया है—"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।" पश्चिमी विद्वानों ने भी इसे अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अङ्क हैं। पहले अङ्क में हस्तिनापुर का राजा दुष्यंत आखेट करने के लिये वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला के लिये अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिये वह स्वयं वहीं रह जाता है। तृतीय अङ्क में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थयात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को आपन्नसत्त्वा जान गौतमी तथा शारद्वत और शार्ङ्गरव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। यह चतुर्थ अंक शकुन्तला में सबसे अच्छा समझा जाता है—'तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः'। पञ्चम अङ्क में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँचती है परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य ज्योति आकाश में उड़ा ले जाती है और मरीचि के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है। षष्ठ अङ्क में राजा की नामाङ्कित अङ्गूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है। उसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है; वह अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की सहायता करने के लिये स्वर्ग लोक में जाता है। सप्तम अङ्क में दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से लौटता है और मरीचि आश्रम में अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इसी मिलन तथा मरीचि के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

शकुन्तला कालिदास की अनुपम कृति है। यह आरम्भ से अन्त तक नाटयकला का प्रशंसनीय निदर्शन है। साहित्य की दृष्टि से यह तो श्रेष्ठ है ही, साथ ही साथ इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी संकेत किया गया है। चौथे अङ्क में 'अयमहं भोः' (मैं यह आया) इस प्रकार द्वार पर ऊँची पुकार लगानेवाले, पवित्र तपोजीवन के लिए आह्वान करनेवाले, दुर्वासारूपी

अरण्यवास सादा जीवन विलासरहित आचरण तथा तपश्चर्या के मार्ग का तिरस्कार करनेवाली और छिपे चोर की तरह वृक्षों की ओट से प्रवेश करनेवाले दुष्यन्तरूपी विलासिता के जीवन को स्वीकार करनेवाली, शकुन्तलारूपी भारत भूमि की शोचनीय दशा देखकर किसके हृदय में सहानुभूति की सरिता नहीं उमड पडती। तपोमार्ग के अवलम्बन करनेसे असीम शान्ति तथा नित्य अक्षय सुखकी प्राप्ति देखकर कौन मनुष्य तपोमय जीवन बिताने के लिए शिक्षा नहीं ग्रहण करता। शकुन्तला की दुर्दशा को दिखला कर क्या कालिदास ने गान्धर्व विवाह की प्रथा को दूषित नहीं बतलाया है? शकुन्तला तथा दुष्यन्त का चरित्र-चित्रण कालिदास ने जिस खूबी के साथ किया है, वह भी अवलोकनीय है। चतुर्थ अङ्क में कालिदास का प्रकृति प्रेम तथा प्रकृतिदेवी की सजीव मूर्ति का दर्शन किसे रसमय नहीं बनाता। प्रथम अङ्क में आश्रम का कैसा सच्चा वर्णन किया गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने दिखलाया है कि अनुसूया, प्रियंवदा जैसे सजीव पात्रों की तरह तपोवन का अस्तित्व भी ठीक सजीव है। तपोवन के न रहने पर शकुन्तला कुछ और ही होती। तपोवन का प्रभाव शकुन्तला के चरित्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। सच्चा प्रेम पाने का कितना सुन्दर साधन बतलाया गया है। कठिन तपस्या के पहले सच्चा प्रणय पैदा नहीं हो सकता, वह तो केवल कामवासना है। जब तक काम तपस्या के कठोरानल में—वियोग की कराल आग में—दग्ध होकर शुद्ध नहीं बनता, तब तक सच्चा स्नेह उद्भूत ही नहीं होता। दुष्यन्त शकुन्तला का प्राथमिक प्रेम केवल काम के बाल में हरा था उनमें स्वार्थ के जहरीले कीट पैदा हो गये थे। प्रत्याख्यान किये जाने पर शकुन्तला शान्त मन से मरीचि के आश्रम में तपस्या में अनुरक्त होती है और दुष्यन्त स्वयं पश्चात्ताप तथा वियोग की भीषण वडवाग्नि में अपने को तप्त कर शुद्ध करता है। तब कहीं जाकर सच्चे स्नेह की प्रतिमा उनके सामने झलकती है। अतएव जर्मन महाकवि गेटे का यह प्रशस्त प्रशंसा कितनी औचित्यपूर्ण है—

Wouldst thou the life's young blossoms and fruits of its decline,

And by which the soul is pleased, enraptured, feasted, fed—

Wouldst thou the earth and heaven
itself in one sweet name combine?

I name thee, O shakuntala, and all at once is said

कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'प्राचीन साहित्य' में शेक्सपियर के टेम्पेस्ट नाटक तथा कालिदास के शकुन्तला का विषय तारतम्य बड़ा ही सुन्दर दिखलाया है'—"टेम्पेस्ट में शक्ति है, शकुन्तला में शान्ति है; टेम्पेस्ट में बल के द्वारा जय हुई है और शकुन्तला में मंगल के द्वारा सिद्धि। टेम्पेस्ट में आधे मार्ग पर विराम हो गया है और शकुन्तला में सम्पूर्णता का अवसान है। टेम्पेस्ट में मिरान्डा सरल माधुर्य से परिपूर्ण है, परन्तु इस सरलता की नींव अज्ञता-अनभिज्ञता-पर अवलम्बित है; शकुन्तला की सरलता अपराध, दुःख, अभिज्ञता, धैर्य तथा क्षमा से परिपक्व, गम्भीर तथा स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण कर मैं फिर भी यही कहता हूँ कि शकुन्तला के आरम्भ के तरुणसौन्दर्य ने मंगलमय परम परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया है।"

डी० एल० राय ने, जिनकी समालोचना शकुन्तला नाटक के बहिरङ्ग मार्गों पर ही है गूढ़ आध्यात्मिक भावों पर नहीं, शकुन्तला की प्रशंसा इन शब्दों में की[1] है:—"विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग-क्रीड़ा में, भाषा के गाम्भीर्य में तथा हृदय के माहात्म्य में उत्तररामचरित श्रेष्ठ है और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानवचरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता तथा लालित्य में अभिज्ञानशाकुन्तल श्रेष्ठ है।"

श्रुतबोध, नलोदय आदि ग्रन्थ भी कालिदास के कहे जाते हैं परन्तु न तो उनमें वैसी कविता है, न कालिदास के द्वारा रचित होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण ही है। प्रसिद्ध कालिदास के अनन्तर कितने कवियों ने अपना नाम कालिदास रखा। उन्हीं में से यह किसी की रचना हो सकती है।

कविता

कविगुरु कालिदास की कविता-कामिनी की कमनीय कान्ति किस सहृदय के हृदय को नहीं लुभाती। प्रसाद की अगाधता, माधुर्य का मधुर निवेश, पदों की कोमलकान्त अवली, भाव का सौष्ठव, उपमा की विमलता तथा अपूर्वता, अलङ्कारों की रमणीयता—सबने कालिदास की कविता को विश्वविख्यात बना डाला है। जिस पहलू से देखिये उससे ही कविता की कमनीयता प्रकट होती है, सुन्दर भावों का साम्राज्य मन को मुग्ध कर डालता है। कालिदास की उपमा संस्कृत साहित्य में अनुपम, अनूठी और चमत्कारिणी है। कालिदास का सृष्टि-

१ कालिदास और भवभूति पृष्ठ २०७

नैपुण्य अद्वितीय है। रघुवंश की तरह आदर्श सृष्टि कहीं अन्यत्र नेत्रगोचर नहीं होती। मधुर पाक का नमूना इनकी ही कविता है। इनकी कविता के माधुर्य के सामने संस्कृत के अन्य कवियों की कविता का मिठास की तुलना नहीं हो सकती। मानव हृदय के सूक्ष्म भावों का जैसा आपने निरीक्षण किया है वैसा निरीक्षक कवि शायद कहीं मिलेगा। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन जैसा कालिदास ने किया है, प्रकृति के साथ अपूर्व सहानुभूति जैसी इनकी कविता में प्रकट की गई है, प्रकृति के अनुपम दृश्यों का सच्चा चित्र जैसा इनके काव्य में चित्रित है, वैसा संस्कृत-साहित्य में बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में कालिदास सतत परिवर्तनशील अन्तर्जगत् के जैसे सूक्ष्म पारखी थे वैसे ही बाह्यजगत् के विशद पर्यवलोकन में उनकी प्रतिभा का प्रकर्ष सर्वत्र प्रतीत होता है।

कालिदास की असाधारण विश्वव्यापिनी प्रतिभा जैसे महाकाव्यों में विचित्र वर्णन करने—अलौकिक रससन्दोह अभिव्यक्त करने तथा विश्व में आदर्शभूत सृष्टि करने—में निपुण थी, जैसे वह गीतिकाव्य में सूक्ष्म विकारों के वर्णन में समर्थ थी, वैसे ही वह नाटकों में पात्रों के अनुरूप चरित्रचित्रण करने में भी अद्वितीय थी। कालिदास ने शकुन्तला नाटक में दुष्यन्त और शकुन्तला का सर्वतोव्यापी सजीव चित्र खींचा है। शकुन्तला के प्रत्येक मानवगुण अत्यन्त अभिव्यक्त हैं। दुष्यन्त के प्रत्येक राजकीय अथवा साधारण मानवीय भावों की पूरी झलक हमारी आँखों को चकाचौंध बना डालती है। शकुन्तला का हास्योत्पादक विदूषक भी संस्कृत साहित्य में अनूठा है। तात्पर्य यह है कि चरित्र-चित्रण में कालिदास की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है।

कालिदास को सर्वश्रेष्ठ महाकवि कहना पुनरुक्ति मात्र है। भारतीय महाकवियों ने आदर के साथ इन्हें सिर झुकाया है—प्रशस्त प्रशंसा की है—एक स्वर से इन्हें कवि कुल शिरोमणि स्वीकार किया है। महाकवि बाणभट्ट ने, जिसके विषय में 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' लोकोक्ति प्रसिद्ध है, कालिदास के विषय में क्या ही उपयुक्त लिखा है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते।

आशय है कि रस से भरी मधुरिमा में पगी हुई कालिदास की सूक्ति में मञ्जरी की तरह किसे आनन्द नहीं आता।

गोवर्धनाचार्य ने, जिनको विश्वविदित गीति काव्य के रचयिता जयदेव ने शृङ्गारमयी कविता में अद्वितीय बतलाया है, कालिदासीय कविता की क्या ही सुन्दर प्रशंसा की है—

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ती ॥

तात्पर्य है कि कालिदास की सूक्ति साभिप्राय, मधुर तथा कोमल विलासिनी के कण्ठस्वर की तरह है; पाठकों को शिक्षा प्रदान करते समय भी यह आनन्द सागर में निमग्न कर देती है। यह समालोचना वास्तव में सत्यता से भरी है। कालिदास की कविता की मधुरता, कोमलता, साभिप्रायता वास्तव में संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है।

कालिदास की अद्वितीयता के विषय में किसी आलोचक की क्या ही मार्मिक उक्ति है:—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

किसी प्राचीन काल में कवियों की गणना आरंभ हुई तो सबसे पहिला स्थान कालिदास को दिया गया। कालिदास का नाम कनगुरिया पर रखा गया। अनन्तर यह विचार होने लगा कि द्वितीय स्थान किसे दिया जाय, परन्तु वैसे कवि के न होने से दूसरी अङ्गुली पर किसी का नाम पड़ा ही नहीं। अतएव कनगुरिया के समीप की अङ्गुली का नाम 'अनामिका' वास्तव में सार्थक हुआ, क्योंकि उसपर किसी का नाम पड़ ही न सका—वह बिना नाम की ही रह गयी। कालिदास की सर्व-श्रेष्ठता कैसी युक्ति से प्रदर्शित की गई है।

उपमा की छटा

कालिदास उपमा के आचार्य हैं, यह कहना कुछ भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं। प्रत्येक संस्कृतज्ञ 'उपमा कालिदासस्य' से अवश्य ही परिचित है। आपकी उपमाओं में ऐसी विचित्रता है जो और स्थानों पर अप्राप्य है। उपमा के जो प्रधान गुण—विषय को उज्ज्वल करना, काव्य सौन्दर्य को बढ़ाना—आदि हैं, उनका पूर्ण विकास इनकी अनुलनीय उपमाओं में है। आपकी उपमायें एक से एक बढ़कर नवीन कल्पनामयी हैं, जूठी उपमाओं का तो आपने शायद ही प्रयोग किया हो। सब आपकी निज कल्पनाप्रसूत हैं। प्राय: ये उपमायें बहिर्जगत् तथा अन्तर्जगत् दोनों के पदार्थों से ली गई हैं। अत: इनका चमत्कार विशेष बढ़ गया है। उपमायें बिल्कुल नपी तुली हैं—इनका प्रयोग करते समय उपमान तथा उपमेय के वचन तथा लिंग तक का भी ख्याल रक्खा गया है। निम्नलिखित पद्यों में पाठक मेरे इन कथनों का प्रमाण तथा उदाहरण पावेंगे।

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपाल:॥

इन्दुमती स्वयंवर में उपस्थित भूपालमण्डली में अपने अनुरूप वर चुन रही है। उस स्वयंवर में बहुत से राजा आये थे, परन्तु उसने किसी को पसंद नहीं किया। वह सब राजाओं को छोड़कर आगे ही बढ़ती जाती थी। जिस जिस राजा को वह छोड़ती जाती थी उस के चेहरे पर ऐसी ही कालिमा (उदासीनता) छा जाती थी जैसी उस राजमार्ग के महलों पर होती है जिसे दीपशिखा रात में छोड़ती जाती है। इस पद्य में दीपशिखा की उपमा भारतीय कवियों को इतनी अच्छी लगी कि उन्होंने कालिदास का नाम **'दीपशिखा-कालिदास'** रख दिया है। वास्तव में श्लोक की उपमा अतीव रमणीय तथा अनुरूप है। देखिये इन्दुमती की उपमा स्त्रीलिंग 'दीपशिखा' से दी गई है तथा राजा की समता पुल्लिङ्ग 'अट्ट' से। लिङ्ग की समता के साथ साथ वचन का साम्य भी उपयुक्त तथा दर्शनीय है। इन बाह्य सादृश्यों के अतिरिक्त भीतरी समता तो और भी अनुरूपता से भरी है। युवती इन्दुमती के शरीर की कान्ति काञ्चनमयी है और उसका प्रकाश इतना चमकीला है कि चमकती दीपक की शिखा के तुल्य स्वयं परिस्फुट होता हुआ राजवृन्द को ही प्रकाशित कर रहा है। उपस्थित नृप भी साधारण राजा न थे, बल्कि बड़े बड़े महलों की तरह उनकी महत्ता तथा उच्चता सर्वत्र प्रसिद्ध थी। जिस प्रकार दीपक के सामने होने पर ऊंचे ऊंचे मकान चमकीले तथा सुहावने जान पड़ते हैं, उसी प्रकार इन्दुमती के अग्रसर होने पर उसकी प्राप्ति की इच्छा से राजा लोग अत्यन्त प्रमुदित होते थे। उनका अन्तःकरण भविष्य सुख की आशा से आनन्दसागर में दोलायित होने लगता था। परन्तु दीपक के आगे बढ़ जाने पर जिस तरह मकानों पर केवल कालिमा छा जाती है—वे अन्धकार से अभिभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार इन्दुमती के आगे चले जाने पर राजा लोग उदासीन तथा मलिनमुख हो जाते थे।

> किमित्यपास्याभरणानि यौवने
> धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।
> वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका
> विभावरी यद्यरुणाय कल्पते॥

शिवजी को पाने के लिये जब पार्वती कठिन तपस्या कर रही थी, तब उनके प्रेम की परीक्षा करने के लिये वे स्वयं ब्रह्मचारी के रूप में उसके पास आये और पार्वती को वैसी दशा में देखकर कहने लगे "भला यह तुम्हारा कैसा हाल है? यह तुम्हारा यौवनकाल है। इसमें सुन्दर आभूषण तुम्हें धारण करना चाहिये, परन्तु तुमने उन्हें छोड़कर इस वल्कल को पहना है। यह तो वृद्धावस्था में अच्छा लगता है। कहो तो सही, प्रदोषकाल में चन्द्रमा तथा प्रकाशमान नक्षत्रों को धारण करनेवाली रात्रि के समय क्या अरुण का उदय होना उपयुक्त

होगा। चन्द्रमा तथा ताराओं से आभूषणों का समता उनकी कमनीयता की द्योतिका है तथा अरुण का सादृश्य वल्कल के लाल रंग को सूचित कर रहा है। रंगों की समता दर्शनीय है।

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥

यह उस का वर्णन है जब पार्वती शिवजी की पूजा करने आ रही हैं। उसने बाल सूर्य के आतपसदृश लाल लाल वस्त्रों को पहना है। स्तनों के भार से वह कुछ झुक सी गई है। इसलिये जान पड़ता है कि फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लाल लाल नये पल्लवों को धारण करनेवाली कोई लता आ रही हो।

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन, प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या।

वशिष्ठ की लाल गाय को चराकर राजा दिलीप जंगल से लौटे आ रहे हैं। रानी बाट जोहती हुई उनका स्वागत करने के लिये आगे खड़ी है। रास्ते में लाल गाय राजा के आगे चली आ रही है उधर सुदक्षिणा उसके आगे खड़ी है। इन दोनों के बीच में गाय की वैसी ही शोभा हो रही है, जैसा दिन तथा रात के मध्य में होने वाला रक्तवर्णा सन्ध्या की होती है। उपमा की उपयुक्तता दर्शनीय है। सन्ध्या काल का यह अनुपम दृश्य कितना मनोमोहक है।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।

राजा दुष्यन्त विदूषक से शकुन्तला के अकृत्रिम सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है। वह कहता है—इस शकुन्तला का पवित्र, स्वभावसुन्दर रूप बिना सूँघे हुये फूल की तरह है, वह उस नवीन पल्लव के समान है जो नखों से छिन्न नहीं किया गया है, उस रत्न के तुल्य है जो कीड़ों के द्वारा विद्ध (छेदा) नहीं हुआ है, उस नवीन मधु के मानिन्द है जिसका रस अभी चखा नहीं गया उस पुण्य फल के समान है जो अभी तक सम्पूर्ण है—भोग करने से घटा नहीं है। न मालूम ब्रह्मा किसे इस रूप का भोक्ता बनावेंगे। यह उपमाओं का अवली कालिदास के ही योग्य है कैसे स्वभावरमणीय प्राकृतिक वस्तुओं से उपमा दी गई है! इन उपमाओं में सौन्दर्य का उत्कर्ष भी क्रम से बढ़ता जाता है। रूप की उपमा पुण्य फल से देते समय कवि अन्तर्जगत् की घटना को

बहिर्जगत् से मिला रहा है। इन उपमाओं को प्रयोग करने में कवि ने कमाल किया है।

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य ।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥

यक्ष मेघ से कह रहा है कि कैलाश पर्वत तुरन्त काट गये हाथी दाँत के टुकड़े की तरह बिल्कुल सफेद है, और तुम चिकने मले हुये अञ्जन के समान काले रंगवाले हो। जब तुम उसके किनारे खड़े होगे तो उस पर्वत की शोभा निश्चल नेत्रों से देखने योग्य होगी। उसकी शोभा वैसी हो होगी जैसी कन्धे पर नील वसन रखे हुये शुभ्र शरीरवाले बलरामजी की होती है। यदि कालिदास नीर पूरित मेघ को केवल रूखे अञ्जन के समान बतलाते तो यह सादृश्य अतीव नीरस होता। अतएव जल से परिपूर्ण मेघ की अनुरूपता की सिद्धि के लिये अञ्जन भी चिकना तथा खूब बारीक मला हुआ बतलाया गया है। कैलाश की कमनीय शुभ्रता का अन्दाजा इसीसे किया जा सकता है कि वह हाथी के तुरन्त काट गये अतएव ताजे दन्त खण्ड के सदृश वर्णित है।

कालिदास ने कहीं कहीं गूढ दार्शनिक विचारों को स्पष्टतया वर्णित किया है। इन पद्यों में विचित्र रमणीयता है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

सुन्दर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी मनुष्य भी उत्कण्ठित हो जाता है। परन्तु उसे उत्कण्ठा क्यों हो जाती है? उसे किसी तरह की कमी नहीं है। फिर उदासी होने का कारण क्या? बात यह है, कि वह अपने चित्त से किसी पूर्व जन्म में होनेवाली मैत्री को सोचने लगता है। यद्यपि वह मित्रता इस समय स्वयं विद्यमान नहीं है, परन्तु उसका संस्कार हृदयपट पर ऐसा अङ्कित हो गया है कि बिना किसी प्रयत्न के ही वह स्मृति-पथ पर आ जाती है। मनुष्य को उसका पता तक नहीं लगता परन्तु मन अकस्मात्, बिना किसी कारण के, उस सौहार्द की ओर चला जाता है। इस अटल सत्य का अनुभव पाठकों को भी हुआ होगा। इस दार्शनिक तत्त्व को कालिदास ने कितने मधुर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। 'मनोऽपि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्' कहकर कालिदास ने इसी सिद्धान्त के स्वरूप को पुनः प्रतिपादित किया है।



कालिदास की एक उपमा

महाकवि कालिदास अपनी उपमाओं के लिये प्रसिद्ध हैं ही। सचमुच उनकी उपमाओं में अभिरामता, नवीनता तथा अनुरूपता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहती है। परन्तु उन्हें कभी प्रक्षेपकर्ताओं अथवा पुस्तक-लेखकों की कृपा से बड़ा ही विकृत रूप प्राप्त हो जाता है जिनसे उनका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। एक ऐसी ही उपमा शाकुन्तल नाटक में वर्षों से विकृत रूप में चली आती है। उधर ही मार्मिक पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

शाकुन्तल नाटक के प्रथम अङ्क में राजा दुष्यन्त निरीह मृग के पीछे अपने रथ पर बैठा बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा है कि इतने में अपने शिष्य के साथ एक तापस आकर चिल्ला उठता है:—

> आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।
> न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्
> मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः।
> क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
> क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते।

अर्थात् यह आश्रम का मृग है। इसे मारना उचित नहीं। मृग के मृदु शरीर पर इस बाण को मत फेंकिये। जिस तरह रुई के ढेर में आग फेंकना ठीक नहीं वैसे ही इसकी देह पर बाण का फेंकना नितान्त अनुचित है।

साहित्य के मर्मज्ञों से इस सुन्दर पद्य की अभिरामता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। 'मालिनी' छन्द की शोभा कितनी सहृदय-शालिनी है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। मालिनी का विन्यासक्रम ही तापस की पदावली को कितनी सुन्दरता से अभिव्यक्त कर रहा है। 'हरिणकानां' में अनुकम्पा सूचक 'क' का प्रयोग, 'अतिलोल' में 'अति' की ध्वनि, नितान्त वैषम्य के प्रकटीकरण के निमित्त दो 'क्व' पदों का विन्यास—यह समग्र साहित्यिक सामग्री इस पद्य को मञ्जुल बनाये हुए है।

परन्तु द्वितीय चरण की उपमा का रूप क्या है? किसी साहित्यिक को मृग के कोमल शरीर के लिए 'तूल' की उपमा बुरी लगी। झट से उसने उसे बदल-कर 'पुष्प' बना दिया और समझ लिया कि फूल की यह उपमा बड़ी फबती है। मृग के शरीर पर बाण का गिरना फूल के ऊपर आग रखने के समान है। यह परिवर्तन पुराना है। राजा लक्ष्मण सिंह ने भी 'ज्यों फूलन की राशि में रचित न धरन कृशानु' के द्वारा इसका अनुवाद किया है।

विचारणीय प्रश्न

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या उपमा ठीक है। हम इस उपमा को अनेक कारणों से आक्षेप का विषय मानते हैं। मुख्य कारण यह है कि 'फूल में आग को रखना' अस्वाभाविक उपमा है। फूल को आग में क्या लेना देना? हाँ, फूल (कमल) को पाला झुलसा कर जला डालता है। जब तुषार जैसे शीतल उपाय से ही यह काम सध जाता है, तब कौन एक साहित्यज्ञ इसके लिये उष्णोपचार का प्रयोग करेगा? इस उपमा में कवित्व का नितान्त अभाव है। बाण फेंकते ही तृण के जल भुन राख हो जाने का भाव कवि को अभीष्ट है, परन्तु फूल के ऊपर आग के अङ्गार रखने का प्रभाव क्या होगा? उसके अङ्गों का यत् किंचित् जल जाना मात्र। उधर रुई में आग रखते ही वह एक क्षण में, पलक मारते मारते राख का ढेर बन जाती है। स्पर्श में वह चिकनी भी है। अतः काव्य की दृष्टि से 'पुष्प' का प्रयोग नितान्त अनुपयुक्त है।

साहित्य परम्परा

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। संस्कृत में उपमा के लिये साहित्य परम्परा है, जो वाल्मीकि-व्यास से आरम्भ होती है। कोई भी कवि इस परम्परा का उल्लंघन नहीं कर सकता। रामायण, महाभारत, तथा पुराण आदि उपजीव्य ग्रन्थों में सर्वत्र ही तूल और अग्नि का परस्पर साहचर्य उपमा के रूप में व्यवहृत किया गया है। विष्णु पुराण में अग्नि के द्वारा रुई के ढेर के ढेर जलाये जाने के समान ही गोविन्द के नामस्मरण से पापराशि के जलाने की बात कही गई है —

सकृत् स्मृतोऽपि गोविन्दो नृणां जन्मशतैः कृतम्।
पापराशिं दहत्याशु तूलराशिमिवानलः ॥
(विष्णु० ६।७।७४)

इस साहित्य परम्परा के कालिदास परम अनुयायी थे। अन्य दृष्टान्तों से भी यह बात स्पष्ट है। इस प्रकार विचार करने से यही प्रतीत होता है कि कालिदास की यह अनुपम उपमा 'तूलराशाविवाग्नि' है, 'पुष्पराशाविवाग्नि' नहीं। अतः राजा साहब के अनुवाद में 'ज्यों तूल की ढेर में उचित न धरन कृशानु' के समान कोई बढ़िया पाठ रखना उचित होगा।

कालिदास की आदर्श सृष्टि

कविता के उद्देश्य के विषय में समालोचकों के भिन्न भिन्न मत हैं। स्विनबर्न आदि अंग्रेजी कवियों की सम्मति में कला का मूल्य कला ही है (आर्ट फार आर्ट सेक)। इन्हें कला का प्रयोजन पाठकों को आनन्द-सागर में केवल डुबा देना है। इससे भिन्न उसका प्रयोजन और कुछ भी नहीं है। परन्तु मैथ्यू

आर्नाल्ड, रस्किन आदि इतर आलोचकों की सम्मति में कविता का उद्देश्य नैतिक है। इन की दृष्टि में कविता का प्रयोजन ऐसे नैतिक आदर्शों की सृष्टि करना है जिन्हें देखकर हम अपने वर्तमान जीवन को सुधार सकें। काव्य में यथार्थवाद की सत्ता रहने पर भी आदर्शवाद ही प्रधान ध्येय है। जीवन जिस रूप में वर्तमान है उसी रूप में उसका चित्रण विशेष लाभदायक नहीं होता। विशेष उपादेय होता है वह आदर्श चित्रण जिससे शिक्षा ग्रहण कर हम अपने जीवन में नैतिक सुधार कर सकते हैं, उसे उदात्त बना सकते हैं तथा अपना जीवन स्तर ऊँचा बना सकते हैं। अतः कविता जीवन की आलोचना है 'Poetry is at bottom the criticism of life.' इस मुख्य उद्देश्य के साथ-साथ आनन्द देना भी कविता का उद्देश्य है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' (अर्थात् कविता कान्ता के कोमल उपदेशों के समान उपदेश देती है) लिखकर दोनों मतों का समन्वय सा कर दिया है।

कालिदास इस नैतिक आदर्श की सृष्टि करने में किसीसे पीछे नहीं हैं। रघुवंश में इन आदर्शों का सम्मेलन खूब दिखाया है। इसके प्रत्येक पात्र हमारे लिये कुछ न कुछ उपदेश अवश्य देते हैं। कालिदास के सब काव्यों में रघुवंश सर्वश्रेष्ठ है अथवा रघुवंश संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसका कारण यही आदर्श सृष्टि है। लोकोपयोगिनी बातों से रघुवंश आद्यन्त पूर्ण है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरु-वाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी पयस्विनी की परिचर्या, भिक्षार्थी अतिथि की इष्ट-पूर्ति के लिये धरणी-पति राजा की व्याकुलता, लोकरंजन तथा राजसिंहासन निष्कलंक रखने के लिये नृपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा पत्नी का निर्वासन रूपी आत्म-त्याग आदि अनेक लोक-हितकर विषय रघुवंश में वर्णित हैं।

आदर्श सती

राम ने सीता विषयक प्रवाद सुन लिया है। भाइयों के सतत विरोध करने पर भी राम प्रजारंजन व्रत के लिये निरपराधिनी सीता का त्याग करने के लिये उद्यत हैं। आज्ञाकारी लक्ष्मण के द्वारा घोर बीहड़ जंगल में सीता छोड़ दी जाती है। सीता को जब अपने त्याग का वृत्तान्त ज्ञात होता है, वह मूर्च्छित हो जाती है; परन्तु फिर भी जो प्रशंसनीय सन्देश वह अपने पतिदेव के पास भेजती है, उसे देखिये। इस सन्देश में करुण रस की पराकाष्ठा है। सीता के सतीत्व का पूरा परिचय मिलता है। ऐसी पवित्रता तथा मधुरता से सनी हुई वाणी कम सुनने में आती है। पढ़िये क्या ही फड़कती हुई वक्तृता है! गूढ़ व्यंजना की चिनगारियों के साथ-साथ सतीत्व के प्रताप को प्रत्यक्ष देखिये:—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ?

सीता लक्ष्मण से कह रही है, कि राम से मेरा वचन कहना। रावण वध के अनन्तर सब देवता वानर तथा राक्षसों के सामने अग्निदेव ने मुझे शुद्ध किया। ऐसी पवित्र नारी को भी आपने लोकापवाद सुनकर निकाल दिया है क्या यह आचरण आपके पवित्र सूर्यकुल के योग्य है? क्या यह कामचारी होना आप के कुल के योग्य है? पतिव्रता अभिमानिनी नारी को कैसा मर्म भेदित होता है। सीता का आत्माभिमान कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त हो रहा है।

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥

अथवा आप तो बुद्धिमान हैं, आपने सोचकर ही यह काम किया होगा। अतः यह त्याग आप ने अपनी इच्छा से नहीं किया है बल्कि यह वज्रपात मेरे जन्मान्तरों में किये गये पापों का फल है। मेरा ही दोष है, आप का नहीं। भारतीय ललना अपने भाग्य पर दोषों को मढ़ने के सिवाय क्या कभी देवतुल्य पति पर दोषारोपण कर सकता है।

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥

अथवा इस जीवन में मुझे कुछ भी प्रेम नहीं है, क्योंकि मुझे आप से फिर मिलने की आशा कुछ भी नहीं है। अतः इस जीवन में आत्महत्या करने के लिए मैं तैयार थी, परन्तु मेरे गर्भ में स्थित तुम्हारा तेज इस कार्य में बाधा पहुँचा रहा है।

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥

अतएव लड़के के उत्पन्न होने के समय तक मैं सूर्य में दृष्टि लगाकर तपस्या करूँगी। इस तपस्या का फल यही होगा कि फिर भी दूसरे जन्म में आप ही मेरे पति हों। परन्तु मुझे कभी आप से वियोग न होवे। बुरे कर्मों के द्वारा इस जन्म में तो मुझे विरह वेदना सहनी पड़ी परन्तु अगले जन्म में प्रियतम वल्लभ से वियोग न होवे ऐसी तपस्या करूँगी। सीता का पातिव्रत धर्म कितने ऊँचे दर्जे का है! पति से परित्यक्ता होने पर भी पतिदेव के लिये कठिन तपस्या से अपना जन्म बिताकर अगले जन्म के लिए प्रार्थना कर रही है।

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥

मनु ने राजा का यही श्रेष्ठ धर्म बतलाया है कि वह चारों वर्णों तथा आश्रमों की यथोचित रक्षा करे। आपने मुझे निकाल दिया है सही, परन्तु एक साधारण तपस्विनी की हैसियत से आप मेरा ख्याल कीजियेगा। मुझमें स्त्री भाव न रखिये, परन्तु तपस्विनी होने के कारण मेरी रक्षा करना आप का परम धर्म है। कितने मधुर तथा गंभीर शब्दों में रक्षा की प्रार्थना की गई है।

पाठकों ने देख लिया कि इस वक्तृता से सीता का उच्च चरित्र कितना परिस्फुरित दिखाई पड़ता है। उसमें आत्माभिमान की मात्रा कितनी अधिक है। पति के सिर पर त्याग का दोष न मढ़ कर वह उसे अपने पापों का परिणाम समझ रही है। सतीत्व का ऐसा आदर्श शायद ही किसी साहित्य में मिलेगा। भारतीय महिलाओं को सदा इस आदर्श को सामने रखना चाहिये। सती सीता का यह पवित्र चरित्र प्रत्येक आर्य के हृदय पर चोट करता है।

आदर्श राजा

राजा के आदर्श को कालिदास ने स्थान-स्थान पर दिखलाया है। देखिये आदर्श राजा कौन है? इसका उत्तर कालिदास कितना अच्छा देते हैं:—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥—शकुन्तला

वैतालिक राजा से कह रहा है—हे राजन्! तुम्हारी वृत्ति इसी तरह की है कि तुम अपने सुख की अभिलाषा कभी नहीं करते और हमेशा संसार के लिये दुःख सहते हो। प्रजा के समुचित सुख देने में अपने सुख का जरा भी ख्याल नहीं करते। तुम्हारे चरित्र की उपमा केवल उपकारी वृक्ष से दी जा सकती है। वृक्ष अपने सिर पर घाम सहता है परन्तु अपनी छाया से नीचे आये हुये जनों की तकलीफ दूर करता है। वृक्ष घाम अपने ऊपर लेता है परन्तु दूसरों को शान्ति पहुँचाता है। आदर्श राजा का भी यही सच्चा व्यवहार है।

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्॥

हे राजन्! अपने दण्ड की सहायता से बुरे मार्ग पर चलने वाले को तुम दंड देते हो। प्रजा के झगड़ों को शान्त करते हो। लोक की रक्षा करने में समर्थ

हो। अधिक धन रहने पर तो सभी मनुष्यों के मित्र होते हैं परन्तु बन्धु के सम्पूर्ण कामों का भार तुम्हारे ही ऊपर है। दुख तथा सुख में तुम ही प्रजा के सच्चे बन्धु हो। क्या इससे बढ़कर राजा के लिये कोई उपदेश हो सकता है? यदि शासक वर्ग इन उपदेशों का पालन करे तो राजनीतिक आकाश आन्दोलन मेघों से बिल्कुल निर्मल हो जायगा।

राजा प्रजा के व्यवहार पर जरा दृष्टि डालिये —

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन्॥

—रघु०

वह राजा न तो अत्यन्त कड़ा व्यवहार करता था न अत्यन्त नम्र ही। यदि राजा अत्यन्त कड़ा हो जाय तो लोग उससे उद्विग्न होकर उसके विरुद्ध आन्दोलन करने लगते हैं और यदि वह अत्यन्त कोमल हो जाता है तो प्रजा उसका अपमान करने से भी नहीं चूकती। यह समझकर राजा ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन कर राजाओं को बिना उखाड़े ही नवा दिया। वायु भी ऐसा ही करता है। वेग को रोकने वाले वृक्षों को वह उखाड़ नहीं देता बल्कि केवल उन्हें नवा देता है—वश में कर लेता है। राजाओं के लिये कितना सुन्दर उपदेश है।

राजा की कर प्रणाली का उद्देश्य क्या होना चाहिये?

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

—रघु०

राजा दिलीप अपनी प्रजा के कल्याण के लिये ही उनसे कर लिया करते थे। सूर्य पृथ्वी से जल (किरणों द्वारा) लेता है परन्तु उससे हजार गुना अधिक जल दे देता है। राजा भी थोड़ा कर लेता है परन्तु उससे ही प्रजा के अनेक लाभकारी कार्य कर देता है। ऐसे सुयोग्य राजा की प्रजा की दशा देखिये —

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्॥

—रघु०

प्रत्येक मनुष्य यही सोचता था कि सब प्रजा में राजा मुझ पर ही अधिक प्रेम करता है। जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियों में से किसी भी नदी का तिरस्कार नहीं करता उसी प्रकार राजा ने किसीका तिरस्कार नहीं किया। धन्य हैं ऐसे राजागण!

कालिदास राजा के अनेक सङ्कटों को भी जानते थे। सुख का सतत भोग करने पर भी उत्तरदायी राजा का जीवन अत्यन्त कष्टमय है, इस बात को वह

अच्छी तरह परिचित थे। जिस प्रकार सिर पर कच्चे सूत में बँधी हुई तरवार के गिरने का भय आनन्द में डूबे हुए मनुष्य को सतत चिन्तित रखता है, उसी प्रकार राज्यसुख का अनुभव करनेवाले राजा के हृदय में भी चिन्ता का साम्राज्य रहा करता है। राज्य से सुख नहीं जान पड़ता। राजा दुष्यन्त स्वयं अपने मुँह से यह बात कह रहा है—

> औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
> क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
> नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
> राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥
>
> —शाकुन्तल

राज्य की प्राप्ति केवल चिन्ता को दूर कर देती है। साधारण मनुष्य के विपरीत राजा को सब चीजें प्राप्य रहती हैं। अतः उनके पाने की उत्सुकता नहीं होती परन्तु पाये हुए राज्य पर शासन करना बेतरह दुःख देता है। राज्य पाने में श्रम दूर नहीं होता बल्कि परिश्रम बढ़ता जाता है। जिस प्रकार छाता के डंडे को अपने हाथ में धारण करनेवाले मनुष्य को छाया से उतना सुख नहीं मिलता जितना डंडे के बोझ से श्रम होता है। पाठक! आप राज्य और छाता[1] की सुन्दर उपमा को तभी हृदयंगम कर सकते हैं जब आप उस समय के भारी भद्दे छाताओं का खयाल करें। प्राचीन काल में छाते का डंडा मोटा होता था और छाते के ऊपर सोने या चाँदी की कलशी रखी जाती थी; तिसपर छाते को मोड़ नहीं सकते थे। वास्तव में ऐसे छाते को हाथ में लेकर चलने से सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक होगा। कालिदास की तरह शेक्सपियर ने भी क्या ही अच्छा कहा है—

> 'Uneasy lies the head
> That wears the crown'

---

१ जैन कवि हरिचन्द्र ने अपने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक महाकाव्य में जम्बूद्वीप की—जिसमें शेषनाग के हजारों फन कमानियों का काम दे रहे हैं और सुमेरु सोने की कलशा की तरह जिसके ऊपर चमका करता है—मनोहर समता एक छाते के साथ क्या ही अच्छी दी है। पद्य यह है:—

> अवाप्य सर्पाधिपमौलिमैत्रीं छत्रद्युतिं तन्वति यत्र वृत्ते।
> धत्ते समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभां काञ्चन काञ्चनाद्रिः। १ स० ३६ श्लो०

आज भी नैपाल के प्रधान-मंत्री का छाता अपनी प्राचीनता की रक्षा करते हुए उसी प्रकार का होता है जैसा ऊपर वर्णन किया गया है।

जिसके सिर पर तान रखा हुआ है उसका मन हमेशा अशान्त रहता है।

× × ×

प्रकृति वर्णन

कालिदास प्रकृति देवी के प्रवीण पुरोहित थे उनकी सर्वव्यापिनी दृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को सावधानतापूर्वक हृदयगम किया था। इनके प्रकृति वर्णन इतने सजीव हैं कि वर्णित वस्तु हमारे नेत्रों के सामने आकर नाचने लगती है। बाह्य जगत् के सौंदर्यमय वर्णना से कालिदास की विलक्षण निरीक्षण शक्ति का परिचय हमको पंक्तियारत्ती को मिलता है। पाठकों को भूलना न चाहिए कि पाश्चात्य कवियों के प्रकृति वर्णन नग्न होते हैं—बिना किसी आवरण के प्रकृति अपने असली रूप में आकर उपस्थित होती है परन्तु भारतीय कवियों का प्रकृति वर्णन अलंकृत है—ये महाकवि प्रकृति को सुन्दर सुघराई आभूषणों से सज्जित कर पाठकों के सामने लाते हैं। महाकवि कालिदास इस अलकृत वर्णन की शैली में अतीव निपुण हैं। इतना ही नहीं इन प्रकृति वर्णनों में आपके वैज्ञानिक ज्ञान का पूर्ण परिचय पाया जाता है। पाठक! जरा प्रकृति वर्णनों का आनन्द उठाइये।

जगत्पावन तीर्थराज प्रयाग में गंगाजी यमुनाजी से कल्लोलें कर रही हैं—भागीरथी का विमल जल सूर्यसुता के नील नीर से मिलकर कितना रमणीय मालूम हो रहा है। कालिदास ने इसका क्या ही सुन्दर सच्चा परन्तु अलंकृत वर्णन किया है। प्रयाग का ऐसा विशद वर्णन शायद ही किसी साहित्य में उपलब्ध होगा।

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥

—रघु० सर्ग १३

भावार्थ—रावण का वध कर पुष्पक विमान पर चढ़कर राम अयोध्या को लौट आ रहे हैं। मार्ग में प्रयाग मिलता है। वह सीता से कहने लगते हैं,

हे निर्दोष अंगोंवाली ! गङ्गा और यमुना के संगम को देखो, यमुना की तरङ्गों से पृथक किया हुआ गंगा का प्रवाह कितना सुन्दर मालूम होता है। कहीं तो गंगा फैली हुई कान्तिवाले नीलमों के साथ गूथे हुये मुक्ताहार के सदृश शोभित है और कहीं नीले कमलों के संग पोही हुई सफेद कमलों की माला की तरह शोभा पाती है। कहा वह नील हंसों के साथ मानसरोवर के प्रेमी उज्ज्वल हंसों की पंक्ति के समान दृष्टिगोचर होती है और कहीं कालागुरु की पत्र रचना की हुई पृथ्वी की चन्दन-रचना सी जान पड़ती है। कहीं छाया में छिपे हुये अन्धकारों से कुछ कालिमा ली हुई चन्द्रमा की विमल प्रभा के समान रमणीय ज्ञात होती है और कहीं छिद्रों से आकाश को दिखलाती हुई शरद ऋतु की शुभ्र मेघमाला की तरह भासित होती है और कहीं काले सांपों का गहना पहनी हुई और भस्म का अंगराग धारण की हुई शिवजी की मूर्ति की तरह चमक रही है। भिन्न भिन्न प्राकृत उपमाओं का यह सम्मेलन किसे मुग्धकारी नहीं प्रतीत होता।

कालिदास ने नर्मदा का अत्यन्त रोचक उपमापूर्ण वर्णन किया है :—

रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥

—मेघदूत, पूर्वभाग

हे मित्र मेघ! तुम को नर्मदा दिखाई पड़ेगी। कंकड़ पत्थरों से कठिन विन्ध्याचल के निम्न प्रान्तों में फैली हुई रेवा कितनी रमणीय मालूम होगी। उसकी शोभा उसी प्रकार तुम्हें मुग्ध कर देगी जिस प्रकार भिन्न भिन्न रेखाओं से बनाई गई हाथी के अङ्ग की सुन्दर रचना।

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥

—पूर्वमेघ

दूर होने से जिस नदी का चौड़ा भी प्रवाह पतला जान पड़ता है उस पर कृष्ण के समान श्यामवर्णवाला मेघ जब जल पीने के लिये झुकेगा, तब आकाशचारी देवतागण दृष्टि नीचे कर उसे उसी तरह देखेंगे मानो पृथिवी के गले में मोतियों की माला पड़ी हुई हो और उसके बीच में एक बड़ा नीलम लगा हुआ हो। शुभ्र नदी मुक्तामाला के समान तथा कृष्ण मेघ नीलम के तुल्य वर्णित है। कालिदास की अद्भुत प्रकृति प्रेक्षण शक्ति का यह नमूना है। पावन आश्रम का कितना सच्चा वर्णन है —

नीवाराः शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

—शाकुन्तल, १ अङ्क, १३ ।

आश्रम में ऋषियों ने वृक्षों को लगाया है। इनके खोखलों में तोतों के बच्चे आराम कर रहे हैं। शुक धान को लाकर अपने बच्चों के मुँह में डालते हैं जिससे कुछ नीवार के दाने वृक्षों के नीचे गिरे हुए हैं। पत्थर चिकने दीखते हैं जिससे जाना जाता है कि ऋषियों ने इनसे इङ्गुदी के फलों को तोड़ा है। मृगों का ऋषियों में इतना विश्वास हो गया है कि शब्द सुन कर भी नहीं भागते हैं, ज्यों के त्यों खड़े हैं। सरोवर के मार्ग भी वल्कल वस्त्र से चुये हुये जल की रेखाओं से अङ्कित हैं। समुचित वर्णन से आश्रम का वास्तविक दृश्य पाठकों की आँखों के आगे झूलने लगता है।

एक और आश्रम वर्णन देखिये —

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥
आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गणभूमिषु ॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥

—रघु०, प्रथमसर्ग, ४९-५३ ।

भावार्थ—दिन को ऋषिगण इन्धन के लिये जंगल में गये थे। सायंकाल वे लोग समिधा, फूल, फल तथा कुश लेकर दूसरे जंगलों से लौटे आ रहे हैं, उनका स्वागत करने के लिये अग्नि स्वयं आगे आते हैं, इन आहिताग्नि ऋषियों से यह (वसिष्ठ का) आश्रम भर रहा था। ऋषियों की पर्णशालाओं के द्वार को मृग रोक कर बैठे हुये हैं, ज्ञात होता है कि ये ऋषिपत्नियों की सन्तान हों। क्यों न हों, ऋषिगण नीवार का कुछ अंश इन्हें भी दिया करते हैं। अतः इन पर ऋषियों का सन्तान के समान ही स्नेह है। मुनिकन्यायें वृक्षों को घड़ों से सींच रही हैं। पेड़ों पर बैठे हुये पक्षी वृक्षों के आलवाल में जल पीना चाहते हैं,

अत: मुनिकन्यायें उन छोटे छोटे वृक्षों को छोड़कर चली आ रही हैं जिससे ये पक्षी विश्वासपूर्वक आनन्द से जल पी लें। अहा, ऋषिकुटियों के आंगनों की कैसी शोभा है! ग्रीष्म के बीत जाने पर ऋषियों ने नीवार काट कर इन आंगनों में इकट्ठा किया है, इनमें बैठ कर मृग जुगाली कर रहे हैं। वाह रे इन जंगली जीवों का विश्वास तथा इन ऋषियों का विश्वप्रेम! अग्नि में होम किये गये हैं। उनके धूम से सुरभित वायु इधर उधर बिखर रहा है, उस आश्रम की ओर आने वाले अतिथियों को अग्नि के धूम पवित्र कर रहे हैं। आश्रम का कितना वास्तविक वर्णन है। सानन्द बैठे हुये मृग, फैलता हुआ यज्ञाग्निधूम, आवरराशि से भरा आंगन और पौधों को सींचने वाली ऋषि कन्यायें हमारी आँखों के सामने चित्रित सी जान पड़ती हैं।

रघुवंश के नवम सर्ग में कविवर ने वसन्त का बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन किया है। देखिये पवन से हिलाई गई लता कैसी नाच रही है —

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥

—रघु० ९ ३५।

उपवन में लताएँ नाच रही हैं। इनमें रमणीय भ्रमर की गुंजार गान की भाँति मालूम होती है, विकसित फूल कोमल कांति वाले चमकते दाँत हैं। जैसे गाते समय नर्तकी के दाँत कुछ दिखाई पड़ते हैं उसी तरह लता के विकसित कुसुम रमणीय जान पड़ते हैं। उनके कोमल पत्ते वायु से हिल रहे हैं, मानों वे लय से युक्त हाथों से भाव बतला रही हों। लता तथा नर्तकी का साम्य कितना सुन्दर है।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

नवविवाहिता वधू की तरह रमणीय रूप वाली शरद् आ गई। खिले हुए काश इसके वस्त्र हैं। विकसित कमलसमूह इसका मनोहर मुख है। उन्मत्त हंसों की ध्वनि इसके नूपुर की आवाज़ है। पके हुए धान के खेतों की शोभा की तरह इसके पतले गात्र का सुघरता है। नवीन विवाहिता तथा शरद् की समता कितनी मनोमोहक है।

कालिदास ने प्यारी ग्रीष्मऋतु का एक सुन्दर वर्णन किया है। पद्य में स्वभावोक्ति कूटकूट कर भरी है।

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ।

—शाकुन्तल १म अङ्क ३ प० ।

गर्मी के दिनों में जल में स्नान करना कितना सुहावना जान पड़ता है। पाटल फूल खिले हुये हैं, उनके संसर्ग से जंगली हवा भी सुगन्धित हो रही है। घने वृक्षों की छाया में नींद अनायास आ जाती है और दिन ढलने पर कुछ शान्ति मिलती है, जिससे सायंकाल रमणीय मालूम पड़ता है। ग्रीष्म के दिनों के इस वर्णन को प्रत्येक पाठक ने अनुभव किया होगा।

कुमार सम्भव के आठवें सर्ग में सन्ध्याकाल अत्यन्त विशद रूप से वर्णित है। नीचे का श्लोक कालिदास के वैज्ञानिक ज्ञान को सुन्दर शब्दों में प्रकट कर रहा है —

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥

—कुमार, सर्ग ८।३१

हिमालय पर बैठे हुये शिवजी पार्वती से कह रहे हैं —यह देखो, तुम्हारे पिता के झरने बहे चले जा रहे हैं परन्तु इनकी पहले जैसी शोभा नहीं है। सूर्य के डूब जाने से उसकी किरणों का सम्पर्क झरनों के जलकणों से जाता रहा। अतएव वे इन्द्रधनुष के परिवेष से शून्य हैं। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसका अनुभव जलप्रपात को सावधानी से देखने वाले पाठक को हुआ होगा कि जब झरने से जलकण निकलते हैं, तब सूर्य-किरणों के ठीक उनपर पड़ने से उन छोटे कणों में भी इन्द्रचाप दृष्टिगोचर होते हैं। इसी अनुभव का द्योतक यह पद्य है जिससे कालिदास की विलक्षण प्रकृतिपर्यवेक्षण शक्ति का पता लगता है।

पाठकों ने रेल द्वारा यात्रा करके आनन्द उठाया होगा। रेल की तेजी के कारण विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों का सौन्दर्य देखा होगा। सुहावने वृक्षों की शोभा आप के मन में झूलती होगी। आइये तेज रथ पर यात्रा करने वाले दुष्यन्त के मुख से कुछ प्रकृति के वर्णनों को सुनिये —

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्द्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥

—शाकुन्तल, १ म अङ्क ।

जो वस्तु देखने में सूक्ष्म मालूम पड़ती थी, वह अकस्मात् मोटी जान पड़ती है। जो बीच में टूटी जान पड़ती थी वह मानो जुड़ी हुई दीख पड़ती है। जो

स्वभाव से टेढ़ी थी वह भी देखने में सीधी हो गई है। रथ के वेग के कारण कोई भी वस्तु क्षण भर भी न तो मुझसे दूर रहती है न समीप। चीजें नजदीक आकर दूर चली जाती हैं और दूरवाली समीप आ जाती हैं, परन्तु क्षण भर भी स्थिर नहीं रहतीं। हमारे पाठकों ने रेल से अवश्य इस दृश्य का अनुभव किया होगा। कितना सच्चा और मधुर वर्णन है।

एक दूसरा प्राकृतिक दृश्य देखिये। यह रेल से समतल भूमि का चित्र नहीं है, बल्कि यह व्योमयान से यात्रा करने वाले लोगों के ही दृष्टि पथ में आता है। दुष्यन्त इन्द्र की सहायता के लिये अमरावती गये थे, पौरवराज ने देवराज के दुःसाध्य कार्य को समाप्त किया। देवराज ने कृतज्ञता प्रकाशित की। राजा अपनी प्यारी राजधानी के लिए मातलि के साथ आकाश से उतर रहे हैं। व्योमयान से भूमितल का सतत परिवर्तनशील दृश्य इतना विचित्र था कि राजा से बिना वर्णन किये न रहा गया। वह मातलि से कह रहे हैं:—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
सन्तानं तनुभावनष्टसलिलव्यक्त्या भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते॥

—शाकुन्तल, ७ म अंक।

मुझे ज्ञात हो रहा है कि सारे पर्वत ऊपर को उठ रहे हैं और उनके शिखरों से पृथ्वी नीचे उतर रही है। दूर से जान पड़ता था कि वृक्ष अपने पत्तों के भीतर छिपे हुये हैं, परन्तु अब उनके स्कन्ध साफ दिखाई पड़ रहे हैं। पहले नदियों के पतले भागों का जल दिखाई नहीं देता था। अतः वे विच्छिन्न जान पड़ती थीं, परन्तु अब जल के दिखाई देने से वे मिली हुई दीख रही हैं। देखो जान पड़ता है, जैसे कोई पृथ्वी को उछालता हुआ मेरे पास ला रहा है। क्या ही सुन्दर चित्र है। कितने सच्चे तथा सरल शब्दों में यह कहा गया है। इसे देखकर यह कहना पड़ता है कि कालिदास ने व्योमयान से यात्रा अवश्य की होगी। मेघदूत में वर्णित कितने दृश्य इस सिद्धान्त के पोषक हैं। परन्तु कुछ लोगों की सम्मति है कि उस समय ये व्योमयान कहाँ, यह सब महाकवि की कल्पना से प्रसूत हैं। यदि यही बात है, तो धन्य है कवि की ऐसी अलौकिक कल्पना शक्ति!

× × ×

सौन्दर्य-वर्णन

नारी के सौन्दर्य का वर्णन करना कवियों को अत्यन्त प्रिय है। वे रमणी के नख से शिख तक रूप-राशि के वर्णन में अपना सारा कवित्व समाप्त कर देने

से तनिक भी नहीं हिचकते। संस्कृत का ही नहीं बल्कि हिन्दी का भी अधिकांश साहित्य ऐसे ही वर्णनों से भरा है। कालिदास भी स्त्री सौंदर्य के वर्णन में बड़े प्रवीण हैं, परन्तु आप में वह विशेषता है—ऐसी मौलिक कल्पना है—जो कहीं देखने को भी नहीं मिल सकती।

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त कह रहे हैं—

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण॥

शकुन्तला के स्कन्ध देश में छोटी गांठ देकर वल्कल बाधा गया है जिससे उसका विशाल स्तनमण्डल ढक गया है, अतएव शकुन्तला का नवीन कोमल शरीर पीले पत्तों में ढके हुए फूल की तरह शोभा नहीं पाता। परन्तु दुष्यन्त को अपनी भूल तुरन्त ज्ञात होती है। सहज सुन्दर शकुन्तला की रूपराशि में वल्कल वस्त्र से भी वृद्धि होती है, हानि नहीं। वह कहता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

—शाकुन्तल १म अङ्क, १७

जैसे शैवाल से ढके रहने पर भी कमल रमणीय मालूम होता है, जैसे चन्द्रमा की मलिन कालिमा उसकी शोभा को और भी बढ़ाती है, उसी तरह यह भी सुकुमारांगी वल्कल धारण करने पर भी अधिक मनोहर जान पड़ती है। ठीक ही है, जिसकी आकृति मनोहर होती है उसके लिए कौन चीज आभूषण का काम नहीं देती? अर्थात् मलिन तथा क्षुद्र वस्तु के भी संयोग से उनकी शोभा अधिक बढ़ जाती है।

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन॥

—कुमार०, १ म सर्ग, ४१

मेरी कल्पना यह है कि पार्वती के दोनों हाथ शिरीष फूल से भी अधिक सुन्दर हैं। क्योंकि यदि यह बात न होती, तो कामदेव अपने पुष्पबाणों से शिव को वश करने में असमर्थ होकर पराजित बन उनके कण्ठ को बाँधने के लिए इन भुजाओं की सहायता क्यों लेता?

निम्नलिखित पद्य में कालिदास ने पार्वती की मुसकराहट का क्या ही अच्छा वर्णन किया है —

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्यात् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥

—कुमार०, १।४४

यदि उज्ज्वल फूल ईषद्रक्त नवीन पल्लव पर रखा जावे, यदि मोती लाल-लाल मूँगों पर निहित हो, तभी ये दोनों सुमन तथा मोती पार्वती की लाल लाल होंठों पर फैली हुई कमनीय मुसकराहट की समता पा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥

—रघु० ३ सर्ग २ पद्य

शरीर की दुर्बलता से थोड़े गहने पहननेवाली वह सुदक्षिणा (दिलीप की धर्मपत्नी) को लोध्र फूल के समान पीले मुंह से ऐसी शोभा हुई जैसे प्रातःकाल टिमटिमाते हुए तारागण से युक्त रात्रि की शोभा पीले चन्द्रमा से होती है। सुन्दर पूर्णोपमा है।

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥

—उत्तरमेघ

यक्ष अपनी दयिता के विषय में मेघ से कह रहा है—

"मेरी प्रिया के नेत्र हमेशा रोने से सूज गये हैं। वह गर्म आहें भरा करती है, जिससे उसके सुन्दर होंठों का रंग बिलकुल बदल गया है। उसकी लम्बी-लम्बी खुली हुई अलकों से उसका मुख छिप गया होगा। इसलिए हाथ पर रक्खा हुआ उसका मुख तुम्हारे अनुसरण के कारण क्षीण कान्तिवाले चन्द्रमा के समान मलिन जान पड़ता होगा। जिस प्रकार काले मेघों से ढके हुये चन्द्रमा की दयनीय दशा देखकर मनुष्यों को बिना दया हुये नहीं रहती, उसी प्रकार काले अलकों से ढके हुये मुख को देख प्रत्येक पाठक का कोमल हृदय यक्ष पत्नी की शोचनीय अवस्था से अवश्य प्रभावान्वित होगा।

× × ×

काव्य तथा नाटक कवि-हृदय का प्रत्यक्षीकरण है—मानव-भावों का पूर्णतया दिग्दर्शन है। जिस कवि ने मानव-हृदय के भावों को अच्छी तरह

मनन नहीं किया है, वह नाटकरचना में कदापि सफल मनोरथ नहीं हो सकता। नाटक का मन्तव्य किसी सामाजिक दुर्गुण से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम अथवा गुणों से उत्पन्न सुपरिणाम को दिखा कर पाठकों के हृदय पर ऐसा प्रभाव डालना है कि वे उस दुर्गुण को छोड़ कर अच्छे रास्ते पर आ जाँय। इसीलिए जब नाटककार मानवीय भावों का सच्चा वर्णन दर्शकों के सामने उपस्थित नहीं कर सकता, तब उस नाटक से अभिलषित प्रभाव डालना एक कठिन काम बन जाता है। हृदय के भाव विभिन्न दशाओं में जिस प्रकार उदय होते हैं, उसी प्रकार अच्छी तरह उन्हें चित्रित कर देना सचमुच एक दुष्कर कार्य्य है। समुचित भाव चित्रण के लिए अनुभव की बड़ी आवश्यकता है, केवल कल्पनाशक्ति से काम नहीं चल सकता। अच्छा नाटककार होने के लिए कल्पनाशक्ति के *साथ साथ बाह्य पदार्थों के विशेष अनुभव की मात्रा भी चाहिए साथ साथ नाटक* कला की जरूरत होने से नाटक रचना बायें हाथ का खेल नहीं है। नाटक की भाँति काव्य गुम्फन के लिये भी इन दो गुणों—कल्पना और अनुभव—की जरूरत है। इनके बिना न काव्य में रस आता है और न कविता ही हृदय में चुभती है। यदि किसी कवि में इनका अभाव हो, तो वह महाकवि की सच्ची पदवी से सदैव वंचित रहेगा। इन्हें निकाल डालने से कविता में कवित्व ही नहीं रहता।

तुलसी के वर्षा तथा शारद वर्णन कितने विशद और मनोहर हैं। कारण यह है कि इन वर्णनों में महाकवि ने अपने विस्तृत अनुभव से काम लिया है और साथ ही साथ उन्हें अपनी प्रखर कल्पनाशक्ति से परिपुष्ट किया है। रामायण में कल्पना तथा अनुभव की मिली हुई छटा सहृदय हृदय सन्तत अनुपम काव्यानन्द पैदा करती है। यदि पाठकों को कल्पना और अनुभव का मधुर शर्बत पीना अभीष्ट हो—मीठी चाशनी चखनी हो—तो वे महाकवि बिहारी के 'नावक के तीर"—हृदय में घाव करने वाले—दोहों का खूब मनन करें। इन्हीं अद्भुत शक्तियों के न होने के कारण प्रौढ़ा नायिका के तिरछे कटाक्षों पर अपनी समग्र काव्य शक्ति अर्पण कर देने पर भी शायद ही कोई शृङ्गारिक कवि कविता कामिनीकान्त बिहारी के समुन्नत पद तक पहुँचा है।

बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य वर्णन में कवि की अधिक शक्ति का परिचय मिलता है। इस विषय पर कवि, नाटककार डी० एल० राय ने क्या ही ठीक कहा है—"बाहरी सौन्दर्य्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्त्तनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला है वैसा ही नीला है, यद्यपि बीच बीच में वर्षा आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण होता है, तथापि उसका स्वाभाविक रङ्ग नीला है। समुद्र तथा नदियाँ तरङ्ग-पूर्ण होने पर भी उनका साधारण आकार एक ही प्रकार का है। परन्तु मनुष्य के

हृदय में घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है; अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म हो जाता है। जो कवि इस अन्तरजगत के विचित्रता के रहस्य को खोल कर दिखा सकता है, वही यथार्थ में कवि के नाम से पुकारा जाता है।"

कहना व्यर्थ है कि कवि-कुल कुमुद कलाधर कालिदास की कविता में दोनों का रमनीय मिश्रण पाया जाता है। कल्पनाशक्ति की पराकाष्ठा के साथ साथ उसमें अनुभव की पूर्ण मात्रा भी पाई जाती है। कालिदास के भावमय नाटक इन शक्तियों के पूरे परिचायक हैं। नाटकों को छोड़ कर काव्यों में भी इनकी पूरी झलक दृष्टिगोचर होती है। मानव हृदय के भावों का जैसा सूक्ष्म अध्ययन कालिदास ने किया था, वैसा बहुत कम कवि करने में समर्थ हुये हैं। कान्ता-विरहित यक्ष की विरहावस्था तथा मानसिक वेदना का विशद वर्णन पढ़कर कौन ऐसा सहृदय है, जिसके हृदय में सहानुभूति की नदी नहीं उमड़ पड़ती! निर्जीव मेघ को दूत बनाकर अपनी प्राण प्रिया प्रियतमा के पास प्रेममय कुशल सन्देश भेजने वाले यक्ष के प्रेमोन्माद को पढ़कर कौन सहृदय उस के आदर्श स्नेह की शतशः प्रशंसा नहीं कर बैठता है? पुरुष तथा स्त्रियों के विभिन्न परन्तु सूक्ष्म मनोविकारों को कालिदास ने कितनी बारीकी से वर्णन किया है, यह एक दो पद्यों को उद्धृत कर दिखाया जाता है —

अंगेनांगं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥

—उत्तर-मेघ

मेघ के द्वारा यक्ष अपनी शिखरिदशना पत्नी के पास सन्देश भेज रहा है कि यद्यपि भाग्य ने सच्चे संयोग को रोक रखा है, तथापि वह अपने मानसिक संकल्पों से तुम्हारे अत्यन्त कृश शरीर में अपने कृश अङ्ग द्वारा प्रवेश करता है। शारीरिक संयोग न सही, परन्तु मानसिक संयोग को कौन रोक सकता है? इसी भाव को यह पद्य द्योतित करता है। इसके विशेषणों पर गौर करने से कालिदास की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का पता लगता है। कवि ने यक्ष के शरीर के लिये तनु-कृश विशेषण दिया है और यक्ष पत्नी के शरीर के लिये प्रतनु— अत्यन्त कृश। इन विशेषणों से कवि पुरुष तथा स्त्रियों के शारीरिक संगठन के भेद को दिखला रहा है। अबलायें स्वभाव से ही सुकुमार होती हैं। तिसपर हृदय-सर्वस्व प्रियतम के वियोग में 'कनगुरिया की मुँदरी कंगन होय' वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है। परन्तु पुरुषों का शरीर इतना सुकुमार नहीं

होता। पुरुषों की विचारशक्ति अधिक होती है—दयिता के आकस्मिक वियोग से वह बिल्कुल दुःख सागर में डूब नहीं जाता, बल्कि धैर्य के सहारे कुछ शोक को कम करने का प्रयत्न करता है। परन्तु प्रियतम के वियोग से स्त्रियों का धैर्य छूट जाता है, उनके ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता है। वे सदा नेत्रों से आँसुओं की धारा बरसाने लगती हैं। कविवर ने इसी विभिन्न विचारशक्ति के द्योतन के लिये यक्ष को केवल सास्रु—आँसुओं से युक्त बतलाया है, परन्तु यक्ष पत्नी को अश्रुद्रुत—आँसुओं से पिघली हुई बताया है। कालिदास ने यक्ष को केवल उत्कण्ठित बताया है, परन्तु उसकी पत्नी को अविरतोत्कण्ठित—लगातार उत्कण्ठित। पुरुष को वियोग-दुःख भिन्न भिन्न कार्यों की व्यग्रता के कारण सदा नहीं सताया करता। दयिता की मधुर स्मृति जब कभी आ जाती है, तभी मिलने के लिये उत्कण्ठा उत्कट हो उठती है। पर्दानशीन अबलाओं के पास मनोरञ्जन की सामग्री ही क्या है? सदा बन्द कोठरी में निवास करने से बाहरी वस्तु उनके नेत्रों से नहीं मिलती जिससे मनोवेदना भी तनिक दूर हो। अतएव उनकी उत्कण्ठा कभी घटती नहीं। इन्हीं भावों को प्रगट करने के लिये कालिदास ने विभिन्न विशेषणों का प्रयोग किया है। इस प्रयोग से कालिदास की स्त्री पुरुष सम्बन्धी प्रकृति की सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति का पता लगता है। पाठक इस निरीक्षण शक्ति के गहरापन का ख्याल स्वयं कर सकते हैं।

कालिदास ने मानसिक विकारों का वर्णन ठौर ठौर पर किया है, जिससे उनकी अद्भुत शक्ति का पता लगता है।

> अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
> स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥
>
> —शकु० १।३२

जब शकुन्तला जाने लगी, तब प्रेम के वशीभूत राजा भी उसके पीछे पीछे जाने को तय्यार हुआ। परन्तु इस अनुचित इच्छा को उसने तुरन्त दबा डाला और उस समय उसने कहा—यद्यपि विनय से रोके जाने पर मैं मुनि कन्या के पीछे नहीं गया, अपने स्थान से उठा तक नहीं, तथापि ज्ञात पड़ता है कि मैं उसके पीछे जाकर लौट आया हूँ। कामियों के सच्चे हृदय का यह पूर्ण निदर्शन है।

शकुन्तला आश्रमकुटी की ओर लौट रही है—परन्तु प्रेम के कारण राजा को फिर देखना चाहती है। पाठक! देखिये किस बहाने वह अपने मनोरथ को सिद्ध कर रही है—

> दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
> तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।

आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥

—शकु०, २।१२

शकुन्तला सखियों के साथ कुछ दूर जाकर अचानक ठहर जाती है। वह बहाना करने लगती है कि कुश के छोटे छोटे अंकुर मेरे पैरों में चुभ रहे हैं। जरा धीरे धीरे चलूँगी, थोड़ा आराम कर लूँ। उसका वल्कल पेड़ की डाल में लगा नहीं था, तो भी बहाना करके नहीं लगे हुये वल्कल को छुड़ा रही है और इसी व्याज से दुष्यन्त को बारबार देख रही है। कहिये कैसा अच्छा मनोविकार व्यञ्जक चित्र है! शकुन्तला के नवीन उदयमान प्रेम का कैसा मधुर दृश्य है!

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

—कुमार०, ३।६८

जब कामदेव ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया, तब शिवजी का भी धैर्य क्षणभर के लिये छूट गया, और वे पार्वती को देखने लगे। तब पार्वती भी नवकदम्ब कुसुमों के सदृश अपने पुलकपूर्ण अङ्गों से अपना भाव प्रगट करती हुई तिरछे मुँह कर के खड़ी हो गई।

रस-वर्णन

कालिदास रस वर्णन में अतीव निपुण हैं। वे मानव हृदय के सच्चे पारखी हैं। अत उनके वर्णन बिल्कुल सच्चे हैं। कालिदास कोमल रसों के वर्णन में दक्ष हैं। उनके शृङ्गार तथा करुण का वर्णन अत्युत्तम है। कालिदास का वीररस का वर्णन इतना ओजस्वी नहीं है कि उसके सुनते ही हृदय में उत्साह की आग जलने लगे, इतना फड़कता हुआ नहीं है कि कायर भी वीर बन जाय। भवभूति की वीरमयी कविता की तुलना में वह श्रेष्ठ नहीं उतर सकते। उनके युद्ध-वर्णनों में कोमलता, है, ओज नहीं। उनमें न तो योद्धाओं का हुंकार, न आयुधों की झनझनाहट ही सुन पड़ती है। इनसे हृदय में उतना वीर रस दीप्त नहीं होता, तथापि ये वर्णन हैं बड़े सुन्दर। कुछ पद्यों को देखिये —

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृत. शशंसुः ॥

—रघु०, ७।३८

तुरहियों का इतना तुमुल नाद था कि योद्धागण एक दूसरे की बातें नहीं सुन सकते थे। इसीलिये उन्होंने कुल का नामोच्चारण न कर बाणों से ही अपने नाम

एक दूसरे को बतलाये। योद्धाओं के बाणोंपर उनके नाम अङ्कित थे। उन्हें पढ़कर दूसरों ने उनका परिचय पाया।

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम्॥

—रघु०, ७।३९

युद्ध में घोड़ों की टापों से खूब धूल उड़ी। रथों के पहियों से वह धूलि और भी बढ़ गई। हाथियों ने अपने कान की फटकार से चारों ओर धूल ही धूल कर दिया। फल यह हुआ कि धूलि ने आँखों को ढकते-ढकते सूर्य को भी छिपा दिया।

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे॥

—रघु०, ७।४३

संग्राम में आकाश व्यापी धूल का क्या ही आलङ्कारिक वर्णन है। रुधिर के प्रवाह से पृथ्वी पंकमयी हो गई है—धूलि का नामोनिशान भी गायब हो गया है। जो धूलि पहले से उठी थी उसे वायु ने खूब ही तितर बितर कर दिया है। अत धूलि उसी भाँति प्रकाशित होती है, जैसे अङ्गार शेष रहनेवाले अग्नि का पहले से उठा हुआ धुआँ आकाश में शोभित होता है। धूलि तथा धूम की उपमा कैसी साङ्गोपाङ्ग है। महात्मा तुलसीदास का यह दोहा भी इस पद्य से साम्य रखता है—

रुधिर गाड़ भरि भरि जमेउ, ऊपर धूलि उड़ाइ।
जिमि अंगार रासिन्ह पर, मृतक धूम रह छाइ॥

पाठकों ने ध्यान दिया होगा कि इस वर्णन में मधुरता है, भवभूति के तुल्य ओज नहीं दिखाई पड़ता। अतएव कहना पड़ता है कि कालिदास माधुर्य तथा प्रसादगुणों के कवि थे, ओज गुण के नहीं। शृङ्गार, शान्त, करुण रसों के कवि थे, उद्धत वीर रस के नहीं।

× × ×

करुण-रस

कालिदास का करुणरस का वर्णन अतीव नैसर्गिक है। इन के काव्यों में दो बार विशेष रूप से इसका प्रसंग आया है। रघुवंश के अष्टम सर्ग में पुष्पमाला के आघात से इन्दुमती के मर जाने पर महाराज अज ने विलाप किया है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में कामदेव के जल जाने पर रति का विलाप है। ये दोनों ही वर्णन अत्यंत करुणोत्पादक हैं।

अज इन्दुमती के मरने पर विलाप कर रहा है:—

कुसुमान्यपि गात्रसंगमात् प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत् प्रहरिष्यतो विधेः॥

—रघुवंश, ८।४४

यदि कोमल फूल भी शरीर को छूकर जीवन नष्ट करने में समर्थ है, तो मारनेवाले निर्दयी विधाता के लिए और कौन चीज साधन नहीं हो सकती! जब कोमल सुमन से ऐसी दशा हो जाती है, तो कठोर वस्तुओं का कहना ही क्या!

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता॥

—रघु०, ८।४५

अथवा यमराज कोमल वस्तु को मारने के लिये कोमल वस्तु का ही उपयोग करता है। देखो सुकुमार कमलिनी का नाश कोमल पाले के पड़ने से हो जाता है।

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥

—रघु०, ८।४६

यदि यह माला प्राण लेनेवाली है, तो यह मेरे हृदय पर रखी गई है। मुझे क्यों नहीं मार डालती? बात यह है कि विधाता की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष बन जाता है। दैव की इच्छा से ही इस कोमल माला ने मेरी प्राणप्यारी के प्राणों को लेने में विष का काम किया है।

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता॥

—रघु०, ८।४७

अथवा मेरे भाग्य-दोष से विधाता ने इस माला को भी वज्र बना डाला है। इसने वृक्ष को तो नहीं गिराया, परन्तु उसके सहारे खड़ी होनेवाली लता को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। भाग्य के विप्लव से अचिन्तित घटना भी घटित हो सकती है।

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे॥

—रघु०, ८।४८

जब कभी मैंने अपराध किया, तब भी तुमने मेरा तिरस्कार नहीं किया। क्या कारण है कि आज बिना अपराध के ही मुझ से अकस्मात् रूठ गई हो। सैकड़ों विनय करने पर भी तुम मुझ से बातें भी नहीं करती।

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥

—रघु०, ८।५७

हे प्यारी ! नवीन कोमल पत्रों की शय्या पर भी लेटने से तुम्हारा मृदु अङ्ग क्लेश पाता था, वही अङ्ग आज कठोर चिता पर कैसे रखा जायगा ! अग्नि की विषम ज्वाला उसे कैसे सह्य होगी !

शिवजी ने पुष्पधन्वा काम को अपने ललाट की अग्नि से भस्म डाला है। पति के भस्मीभूत शरीर को देखकर रति विलाप कर रही है —

हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः ।
वद सम्प्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥

—कुमारसभव, ४।१४

हे प्रिय ! तुम्हारे बिना तुम्हारे प्यारे साथियों की कैसी दुरवस्था होगी। यह आम की नई मंजरी, जिसका डठल हरा, लाल और सुन्दर है, जिसके आविर्भाव की सूचना कोकिल की मधुर काकली दे रही है, अब किस का बाण बनेगी ?

अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः ।
बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनंग मोक्ष्यति ॥

—कुमार०, ४।१५

हे अनङ्ग ! तुम्हारी मृत्यु का हाल सुनकर आकाश में व्यर्थ उदय लेनेवाला चन्द्रमा कृष्ण पक्ष के बीत जाने पर भी अपनी कृशता बड़े दुःख से छोड़ेगा। तुम्हारे बिना अब वह कामी जनों को कदापि सुखी नहीं कर सकता। अतः उदय होने पर भी वह दुखी है।

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

—कुमार०, ४।३३

चन्द्रमा के अस्त होने पर साथ ही उसकी चाँदनी भी अस्त हो जाती है। मेघ के साथ बिजुली भी विलीन हो जाती है। स्त्रियाँ अपने पति का सदा अनुसरण करती हैं। इसकी पुष्टि अचेतन जीवों के व्यवहार से भी हो रही है। चेतन प्राणियों की बात ही न्यारी है। प्रमदा सदा पति की अनुगामिनी होती है, इसे कैसे *प्राकृतिक दृष्टान्तों से* कवि ने *सिद्ध किया है।*

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में प्रेम तथा करुणा का अपूर्व सम्मेलन है। चौथे अङ्क में, जहाँ शकुन्तला अपने पतिगृह जा रही है, कवि ने जैसा करुण चित्र अङ्कित किया है वैसा शायद ही कहीं चित्रित हो। दुष्यन्त के पास प्यारी कन्या

शकुन्तला को भेजते समय संसार के विषय से विमुख होने पर भी कण्व की कैसी दशा है। देखिये —

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
> कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
> वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः,
> पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥
>
> —शकुन्तला, ४।५

'आज शकुन्तला पतिगृह को चली जायगी' इससे उत्कण्ठा के मारे मेरा हृदय उच्छ्वसित हो रहा है। आँसुओं के अवरोधके कारण कण्ठ गद्गद हो रहा है, चिन्ता से दृष्टि शिथिल हो गई है, पास की चीज भी नहीं देख सकती, मैं तो अरण्यवासी हूँ, जब ममता न होने पर भी प्रेम के कारण मेरी ऐसी विह्वल दशा हो गई है तब अपनी कन्या-को, न जाने, पहिले पहिल पतिगृह भेजते समय गृहस्थों को कितना दुःख होता होगा?

शकुन्तला के इस अङ्क में कालिदास ने प्रकृति और मनुष्य को एक घनिष्ठ प्रेम बन्धन से बधा हुआ दिखाया है। आश्रम की बालिका शकुन्तला को अलंकृत करने के लिए स्नेह से प्रकृति आभूषण वितरण कर रही है। मृग का छौना शकुन्तला को जाने नहीं देता। प्रकृति पत्तों के गिरने के व्याज से आँसू बहाती है। ऐसा प्रकृति तथा मनुष्य का सहानुभूति वर्णन संस्कृत-साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। यह दृश्य कालिदास के प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम तथा असीम करुण-रस की वर्णन शैली का सुस्पष्ट परिचायक है।

महर्षि कण्व शकुन्तला को विदाई की आज्ञा प्रकृति से माँग रहे हैं —

> पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
> नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
> आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
> सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥
>
> —शकुन्तला ४।८

हे वृक्ष! जो शकुन्तला पहिले तुम्हें जल पिलाये बिना स्वयं जल न पीती थी, नवल पल्लवों के गहने पहनने की शौकीन होने पर भी जो प्रेम के मारे तुम्हारे पल्लवों को नहीं तोड़ती थी, जो तुममें पहले पहल फूल आने पर खूब उत्सव मनाती थी, वह आज पतिगृह जा रही है। तुम सब जाने की अनुमति दो।

शकुन्तला के जाते समय तपोवन कितना दुःख प्रगट कर रहा है —

> उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
> ओसरिअपंडुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥

[उद्गलितदर्भकवला मृग्य परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता]

—शकुन्तला, ४।१४

मृगीगण कुश के ग्रास को वियोग से दुखी होकर गिरा रही हैं। शकुन्तला के आश्रम छोड़ने से वे इतनी शोकग्रस्त हैं कि उन्हें खाना नहीं सुहाता। जो मयूरी आनन्दोल्लास में नाच रही थी उसने अपना नाचना छोड़ दिया। लताओं से पीले पीले पत्ते झड़ रहे हैं, मानो वे आँसुओं को बरसा रही हैं। क्योंकि प्रकृति की गोद में पाली गई शकुन्तला आज अपने प्यारे आश्रम सहचरों को छोड़कर भारत की महारानी बनने जा रही है। कण्व का गला भर आना सहज है, प्रियंवदा तथा अनुसूया की भी विह्वलता बोधगम्य है, परन्तु अचेतना प्रकृति का यह हार्दिक शोक, अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करनेवाली प्रकृति की यह मूक वाणी, सच्चे सहृदय के अतिरिक्त किसे सुन पड़ती है? प्रकृति में मानव वियोग का यह आन्दोलन बिना किसी मार्मिक कवि के अन्तश्चक्षु के किन नेत्रों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है? मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग किस रसिक की हृदय तन्त्री को निनादित नहीं करता? धन्य हैं कालिदास और धन्य है उनकी सौन्दर्य दर्शन चातुरी।

× × ×

वियोग वर्णन

सम्भोग शृङ्गार की भाँति विप्रलम्भ शृङ्गार भी कवियों का एक मनोरञ्जक विषय है। विप्रलम्भ के करुणा मय वर्णन के बिना वे अपने को कृतकार्य नहीं समझते। कालिदास ने शृङ्गार रस को खूब अपनाया है। इनके काव्यों में सम्भोग का प्रकाशमान रूप और विप्रलम्भ की करुण मूर्ति दोनों हमारे हृदय में चमत्कार पैदा करते हैं। कालिदास ने शिव पार्वती के सम्भोग वर्णन में पाठकों को सम्भोग-शृङ्गार खूब चखाया है। मेघदूत में विप्रलम्भ शृङ्गार द्वारा वियोगी यक्ष की हृदय पीड़ा पूर्णतया अभिव्यक्त की गई है। अपनी प्रेयसी के वियोग में यक्ष ने अपने मुख से अपनी दुःखकथा कह सुनाई है। पाठकों के रसास्वादन के लिए कतिपय पद्य उद्धृत किये जाते हैं —

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति॥

—उत्तर मेघ

मेघ के मुँह से यक्ष अपनी प्रिया को सन्देश भेज रहा है—

हे प्रिये! तुम्हारे कोमल अङ्गों की समता प्रियङ्गु लता में पाता हूँ। चकित हरिणी की दृष्टि में तुम्हारे नेत्रपात का अनुमान करता हूँ। चन्द्रमा में तुम्हारे मुख की शोभा पाता हूँ। मयूरों के पुच्छों में तुम्हारी अलकों का अनुमान करता हूँ। मैं नदियों की पतली लहरों में तुम्हारी भौंहों की शोभा पाता हूँ। इस प्रकार प्रत्येक अङ्ग की समता तो मिलती है, परन्तु हे प्रिये! तुम्हारी सारी मूर्ति मैं कहीं नहीं पाता। इस पद्य में कालिदास की प्रकृति के साथ कितनी सहानुभूति लक्षित होती है।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

—उत्तरमेघ

हे प्रिये! चट्टान के ऊपर मैं गेरू आदि धातु के रंगों से तुम्हारी मूर्ति बनाना चाहता हूँ। मैं तुम्हारी सौम्य प्रतिकृति नहीं खींचता, बल्कि तुम्हारी प्रणय मान के समय की मूर्ति बनाना चाहता हूँ और कोप को शान्त करने के विचार से मैं अपने आपको तुम्हारे चरण कमलों पर गिराना चाहता हूँ। आशा होती है कि असल संयोग न सही, इस नक़ली संगम से ही मन को तृप्त करूँगा, परन्तु हाय! इस क्रूर दैव को कौन समझावे? इस कृतान्त को हमारा कल्पित संयोग भी मंजूर नहीं! यह प्रेम चित्र हजारों कोशिशें करने पर भी तैयार नहीं होता। बात यह है कि मेरी आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा बहने लगती है। कुछ दिखाई नहीं पड़ता। चित्र, तैयार हो तो किस प्रकार!

देखिये, यक्ष की कैसी शोचनीय दशा हो गई थी—

भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वस्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥

—उत्तरमेघ

हे प्रिये! जब देवदारु वृक्षों के पल्लवों के तोड़ने पर उनके दूध की गन्ध से सुगन्धित वायु हिमालय से चलती है, तब मैं उसका आलिङ्गन किया करता हूँ। इसका कारण यह है कि मैं सोचता हूँ कि शायद तुम्हारे अङ्गों से यह हवा छू गई हो, अतः वायु के आलिङ्गन करने से मुझे तुम्हारे कोमल अंगों के आलिङ्गन का भी सुख मिल जायगा। बेचारे प्रणयी यक्ष का यह आचरण किस

हृदय को करुणामय न बना डालेगा। वाह! यक्ष में अपनी प्रेयसी के लिए कितना सच्चा स्नेह है!

राजा दुष्यन्त ने दुर्वासा के शाप के कारण स्वयं शकुन्तला का [redacted] प्रत्याख्यान कर दिया है परन्तु अंगूठी को देखते ही विस्मृत पूर्व गान्धर्व विवाह का दृश्य आँखों के सामने झलकने लगता है—विवाह की स्मृति हठात् हो जाती है। उस समय शकुन्तला के विरह में उसकी दशा कितनी दुःख उपजानेवाली हो गई है।

> रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
> शय्योपान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपा।
> दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
> गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्॥
>
> —शाकुन्तल ६।५

वह सुन्दर चीजों से द्वेष करता है। पहिले की तरह राजमन्त्रियों को पास नहीं आने देता। सारी रात बिस्तर के ऊपर करवटें बदलते बिताता है। अपने महल की स्त्रियों से अनुकूलता की रक्षा करने के लिए उचित उत्तर देता है परन्तु जब कभी गोत्र स्खलन में अर्थात् दूसरों के पुकारते समय शकुन्तला का नाम एकाएक निकल पड़ता है तब लाज [redacted] मारे सिर नीचा कर लेता है।

विरही राजा का कैसा दयनीय चित्र है!

× × ×

कालिदास के विचार रत्न

कालिदास के भिन्न भिन्न विषयों पर विचार उनके ग्रन्थों में बिखरे हुये मिलते हैं। उनके ग्रन्थों को मनोयोग से पढ़नेवाला ही उन समग्र विचारों का सुन्दर गुम्फन कर सकता है। तथापि कतिपय विषयों पर कालिदास के विचार (जिनसे हम अनेक उपदेश ले सकते हैं) यहाँ निबद्ध किये जाते हैं।

(१) शरणागत-रक्षा

शरणागत की रक्षा भारतीयों के धर्म में मुख्य समझी जाती है, सज्जनों ने शरणागत की रक्षा करने के लिये अपने प्रिय प्राणों को भी तिलाञ्जलि दे डाली है। प्राणों को न्योछावर कर शरणागत की रक्षा करने की प्रथा प्राचीनकाल [redacted] चली आती है। भारतीय इतिहास इसके पूर्ण साक्षी हैं। राजा शिवि शरणागत बाज के लिये अपनी जान तक देने के लिये तैयार हो गये थे। कालिदास के विचार इस विषय में स्पष्ट उक्त हैं। उनका मत यह है—

> क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।
>
> कुमार०, १।१२

यदि कोई छोटी जाति का या गुणहीन भी मनुष्य शरण में आ जाय तो सज्जन लोग उस पर उतनी ही ममता—मेरा है ऐसा अभिमान—रखते हैं, जितनी उच्चकुल में उत्पन्न गुणवान् मनुष्य पर होती है। कितनी उच्चकोटि की शिक्षा है—सहायता करने में जाति पाँति का संकीर्ण विचार कभी नहीं करना चाहिये। ब्राह्मण हो या शूद्र, पातकी हो या पुण्यात्मा, जब आपके द्वार पर सहायता के लिये आ जाय तो उसको नीच जाति का ख्याल कर दुरदुराना सर्वथा निन्दनीय है। सर्वश्रेष्ठ भाव यह है कि सब पर बराबर ममता रखी जाय और यथाशक्ति सहायता दी जाय। मनुष्यों को ऐसी उज्ज्वल शिक्षा को गाँठ बाँध लेनी चाहिये।

(२) आदर्श धीर

धीर का लक्षण कवि ने परिमित शब्दों में बहुत ही अच्छा दिया है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

—कुमार०, १।५९

धीर वही है जिसका चित्त विकार पैदा करनेवाले कारणों के रहने पर भी विकृत न हो। यह लक्षण कितना विशद तथा तात्त्विक है। धीरता की सच्ची कसौटी यही है कि सैकड़ों वासनायें मन को बुरा बनाने पर तुली हों, परन्तु चित्त की वृत्ति में कुछ भी विकार न पैदा हो। इसी भाव का यह प्रसिद्ध पद्य है—

नवे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते॥

शान्ति वही है जो युवावस्था में शान्त है। जब प्रलोभनों का अन्त हो जायगा तो शान्ति स्वयं आ जायगी। बुढ़ापे की शांति को क्या असली शान्ति कहेंगे? हमें चाहिये कि सच्चे धीर बनने का सतत प्रयत्न करें।

(३) मित्र-माहात्म्य

सच्चे मित्र की प्रशंसा है। यदि एक भी सच्चा मित्र मिल जाय तो जीवन की गति अच्छी बन सकती है। सुख के दिनों में सदा साथ देनेवाले बहुत मिलेंगे, परन्तु विपत्ति आ जाने पर मित्र का साथ देने वाले कम मिलते हैं; मित्रों की पहचान के लिये दुःख निकष माना है। विपत् की कसौटी पर कसे जाने पर चमकने वाले मित्र ही आदर्श मित्र हैं। ऐसे मित्रों के प्रेम के विषय में कवि का मत है—

दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने।

—कुमार०, ४।२८

पुरुष का प्रेम पत्नी पर निश्चल नहीं, परन्तु मित्रजनों पर प्रेम सदा अचल रहता है। ऐसे ही मित्रों से जीवन सुखमय बन जाता है। आजकल के नवयुवकों को सोच समझकर किसी से मैत्री करनी चाहिये।

(४) सच्चा प्रेम

किसी किसी कवि ने प्रेम के विषय में इसे सिद्धान्त सा मान लिया है— "मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् स्नेहः प्रवासाश्रयात्" अर्थात् विदेश में रहने से स्नेह नष्ट हो जाता है। ये महानुभाव संयोग में ही स्नेह का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। ये कहते हैं कि प्रेम वियोग होते ही उड़ जाता है। कालिदास ने इस सिद्धान्त का सर्वथा खण्डन किया है। उनका मत है —

> स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
> दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।

—उत्तरमेघ

घटने की बात तो दूर रहे, वियोग में स्नेह बढ़ता है। कारण यह है कि वियोग में स्नेहरस का आस्वादन नहीं होता। अतः रस एकत्र होते-होते महान् राशि बन जाता है। इसके विपरीत, संयोग में प्रेम आस्वादन के कारण घटता हुआ प्रतीत होता है। किस सहृदय को यह सिद्धान्त मान्य नहीं।

(५) सज्जन

सज्जन के विषय में कालिदास के विचार सुनने लायक हैं। उसका आचरण करना अपने को मनुष्यों में उच्च बनाना है। कवि अपनी सुन्दर सम्मति दे रहा है —

> निःशब्दोऽपि प्रदिशति जलं याचितश्चातकेभ्यः
> प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥

—उत्तर मेघ

सज्जन प्रणयी जनों की याचना का जवाब उनकी अभिलाषा को पूरा करने ही से देते हैं, मुख से इच्छापूर्ति के वचन नहीं कहते। माँगी हुई चीज को ही दे डालते हैं—याचना की सिद्धि कर देते हैं। बस उसका यही उत्तर है। मुख से केवल शब्दों का व्यर्थ खर्च नहीं करते, शीघ्र मनोरथ ही पूरा कर देते हैं। चातक ने मेघ से प्यास बुझाने के लिये जल माँगा। मेघ गर्जन रूपी शब्दों से इसे स्वीकार नहीं करता। वरन् जल बरसाकर उसे तृप्त कर देता है—सज्जनों का उत्तर कार्यमय होता है शब्दमय नहीं। वे ही सच्चे सज्जन हैं जो प्रणयी की अभिलाषा पूर्ण करके दिखा देते हैं। इस ऊँची

पदवी के योग्य वे लोग नहीं हैं जो मुँह से काम करने की प्रतिज्ञा कर देते हैं, परन्तु उसे पूरा करने से कोसों दूर भागते हैं। इसी भाव को किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है :—

गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः।
नीचो वदति न कुरुते, न वदति सुजनः करोत्येव ॥

(६) सुख-दुःख

कालिदास ने दुःख सुख के परिवर्तन की उपमा पहिये की नेमि से दी है। जिस प्रकार पहिये की नेमि नीचे से ऊपर तथा ऊपर से नीचे घुमा करती है, उसी प्रकार दुःख-सुख को भी दशा है। संसार में कौन ऐसा मनुष्य है जो सदा सुख भोगे और कौन ऐसा है जो दुःख के नरक में पड़ा हुआ सदा आहें भरा करे? संसार का इतिहास साक्षी है कि अवनति के बाद उन्नति तथा उन्नति के बाद अवनति अवश्य होती है। इस सिद्धान्त में तनिक भी संदेह नहीं है। मेरी समझ में भारतभूमि के लाडिले सपूत कालिदास मेघदूत के द्वारा अपनी प्यारी जननी के पास संदेश भेज रहे हैं :—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

—उत्तरमेघ

हे भारतभूमि घबड़ाओ नहीं, दुःख सदा नहीं रहता। पराधीनता पंक में फँसी हुई भी तुम्हें यह सोचना न चाहिये कि इस विपत् से उद्धार नहीं होगा। ज्ञान सूर्य की किरणें अब चमकने लगी हैं। उन्नति तथा स्वाधीनता की ऊषा अपनी लालिमामयी साड़ी पहने तुम्हारा स्वागत करने के लिये आरही है। घबड़ाने का समय नहीं। पहिये की नेमि की तरह दुःख तथा सुख परिवर्तित होते रहते हैं। भास कवि ने ऐसा ही कहा है :—

चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः।

—स्वप्नवासवदत्ता

(७) निर्धन

अंग्रेजी में एक कहावत है—Empty sack can not stand erect. निर्धन कभी ईमानदार नहीं हो सकता। परन्तु कहने की जरूरत नहीं कि यह बहुत अंशों में गलत है। क्या भारत में और क्या विदेश में, हजारों निर्धन ऐसे हैं जो धनिकों से कहीं बढ़कर ईमानदार हैं। आजकल तो यह देखा

जाता है कि धनिक ही अधिक वर्द्धमान हैं। परन्तु कालिदास का गरीबों के विषय में यह विचार सर्वथा अप्रशंसनीय है—

रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।

—उत्तर मेघ।

सब खाली चीजें हलकी होती हैं, निर्धन का सब जगह निरादर होता है। परन्तु भरपूर होने से भारीपन आता है। धनिकों का सब जगह आदर होता है। सोचिये इस विचार में कितनी सचाई है। अन्य देशों में अपमान सहनेवाले निर्धन भारतीय इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

(८) धन का फल

धन इकट्ठा करना ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य नहीं है। रुपया कमाकर उसे अपने ही काम में खर्च करना ठीक नहीं है। स्वार्थ पङ्क में फँसकर जीवन बिताना कभी श्रेयस्कर नहीं है। रुपये का एक उद्देश्य भोजन बिना मरनेवाले भाइयों की मदद करना भी होना चाहिये। धन इकट्ठा करो सही, पर दूसरों के दुःख दूर करने में भी उसका व्यय करना चाहिये। कालिदास की यही राय है —

आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम्।

—पूर्वमेघ

उत्तम पुरुषों की संपत्ति का फल यही है कि वह विपद में पड़े हुये मनुष्यों के दुःखों को दूर करे। ठीक है—परोपकाराय सतां विभूतयः।

(९) कृतज्ञता

कालिदास कृतज्ञता को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। सब मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि समय पड़ने पर उपकारी की सहायता करें।

न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः।

—पूर्वमेघ

छोटे मनुष्यों के पास भी यदि कोई मित्र आश्रय के लिये आ जाय, तो उसके पहिले किये गये उपकारों को याद कर उसे जरूरी है कि वह विमुख न करे—यथाशक्ति आश्रय दे। फिर बड़ों की बात ही क्या है? छोटा या बड़ा, गरीब या धनी—सब का कर्तव्य है कि उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। इसीलिए लोक तथा शास्त्र में कृतघ्न की बड़ी निन्दा है।

(१०) विपत्ति

विलाप के विषय में कालिदास का मनोरम मन्तव्य है—

स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो
विवृतद्वारमिवोपजायते । —कुमारसंभव, ४।४६

किसी स्नेही परिचित के आगे दुःख के मानो द्वार खुल जाते हैं। जिस प्रकार दरवाजा खुल जाने पर भीतर रोकी गई चीज बड़े वेग से बाहर आने लगती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में दबा दबाया दुःख बन्धुजनों के आगे आँसुओं के रूप में निरन्तर निकलने लगता है। कालिदास ने इस सूक्ति में मानव जीवन के एक बड़े पते की बात कही है जो मनोवैज्ञानिक तथ्य से नितान्त ओत प्रोत है। विपत्ति किसी सहानुभूति की अपेक्षा रखती है, सहानुभूति मिलते ही वह हल्का होने के मार्ग पर अग्रसर होती है और इसके लिए रोना बहुत ही जरूरी साधन है। यह बनावटी न होकर स्वाभाविक है, बहिरंग न होकर अन्तरंग है। इस मौलिक तथ्य की उद्भावना बड़ी सुन्दरता से इस सूक्ति में की गई है।

कालिदास और शिक्षण समस्या

महाकवि कालिदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनके ग्रन्थों के अनुशीलन-कर्ताओं को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि मानव-जीवन से सम्बद्ध शायद ही कोई विषय होगा जिसे कविवर ने अछूता छोड़ दिया होगा। भारत की सभ्यता और संस्कृति कालिदास को अपना अभिव्यञ्जक पाकर कृतकृत्य हुई। भारतीय संस्कृति का जितना मनोरम चित्रण कालिदास ने किया है, उतना वाल्मीकि और व्यास को छोड़कर शायद ही किसी कवि ने अपनी लेखनी से अभिव्यक्त किया हो। शिक्षण की समस्या के ऊपर भी उन्होंने बड़ा गम्भीर विचार किया है। उन्हीं विचारों के प्रति पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है। कवि कालिदास ने किसी विद्यालय में शायद ही अध्यापन कराया हो, परन्तु इस विषय में उनके मन्तव्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और वर्तमान समय के शिक्षा शास्त्रियों के लिए भी विशेष ध्यान योग्य हैं।

शिक्षण प्रकार

भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में भी बालक तथा बालिका के शिक्षण का प्रारम्भ किया जाता है। चूडाकरण के अनन्तर विद्यारम्भ संस्कार किया जाता है। चूडाकरण तीसरे वर्ष तथा विद्यारम्भ पाँचवें वर्ष में किया जाता है। विद्या का प्रारम्भ लिपि के ग्रहण से ही होता है। जिस प्रकार नदी का आश्रय लेकर

समुद्र प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार लिपि की शिक्षा पाकर वाङ्मय—शब्द समुदाय—में बालक प्रवेश कर सकता है सबसे प्रथम शिक्षण का विषय होने से आज भी लिपि की समस्या नितान्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥

—रघुवंश, ३।२८

इसके अनन्तर उपनयन का समय आता है। उपनयन होने पर ब्रह्मचारी अपने गुरु के पास जाता है और अपने वर्ण के अनुसार विद्याओं का अध्ययन करता है। कालिदास ने विद्याभ्यासी के लिये ब्रह्मचर्य की बड़ी आवश्यकता मानी है। रघु ने रुरुमृग के चर्म को धारण कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने मन्त्रविद् पिता से अस्त्रविद्या को सीखा।

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवी—
मशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।

—रघु०, ३।३१

शैशवकाल ही विद्याभ्यास के लिए उपयुक्त काल है, इसी समय रघुवंशीय नरेशों ने अपने वर्ण तथा मर्यादा के अनुसार शिक्षा का अनुशीलन किया (शैशवेऽभ्यस्त-विद्यानाम्—रघु० १।८)। पडंगों के साथ वेद भारतीय धर्म का मूल स्रोत है। वेद का अभ्यास प्रत्येक आर्य के लिये आवश्यक है। शैशवकाल कुछ बीत जाने पर जब ब्रह्मचारी की बुद्धि परिपक्व होने लगती है, तब षडङ्ग वेद की शिक्षा दी जाती है। वेदानुशीलन के पीछे काव्य, इतिहास आदि पढ़ाया जाना चाहिये। इसीलिये वाल्मीकि ने कुश लव को शैशव के किंचित् बीत जाने पर षडङ्ग वेद की शिक्षा दी और पीछे अपनी मनोरम कृति रामायण को पढ़ाया—

साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥

—रघु०, १५।३३

संस्कार का शिक्षा पर बड़ा प्रभाव होता है। पूर्वजन्म के संस्कार इस जन्म में फलीभूत होते हैं। कवि का कहना है कि बालक का मस्तिष्क वे लिखी स्लेट की तरह नहीं है, प्रत्युत वह अपने जन्म की प्रवृत्तियों, संस्कारों तथा शक्तियों को साथ लेकर पैदा होता है और उसके जीवन में आगे चलकर ये ही प्रवृत्तियाँ हवि को पाकर विकसित होती हैं। उमा के विषय में कवि का कथन है कि जिस प्रकार शरदकाल में हंसमालायें गङ्गा में आती हैं, रात के समय स्वाभाविक प्रकाश

औषधियों में आता है, उसी प्रकार उपदेश के समय में स्थिरता से विद्या ग्रहण करनेवाली उमा के पास पूर्व जन्म की उपार्जित विद्यायें स्वतः आ गई—

तां हंसमाला शरदीव गङ्गां
महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले
प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥

—कुमार०, १।३०

शिक्षक

कालिदास ने आदर्श शिक्षक की बड़ी सुन्दर परिभाषा लिखी है। कुछ शिक्षक विद्याग्रहण करने में निपुण होते हैं और कुछ विद्यार्थियों को पढ़ाने में चतुर होते हैं, परन्तु सब से श्रेष्ठ शिक्षक में इन दोनों गुणों का समन्वय होता है। वह विद्या के ग्रहण में तथा विद्या के संक्रमण में समभाव से समर्थ होता है—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥

—मालविका०, १।१६

अध्यापन से अध्यापक की विद्या और भी प्रस्फुटित होती है। अध्ययन-समय में खूब पढ़ी हुई भी विद्या अध्यापन के समय विलक्षण रूप से विकसित होती है। कालिदास का अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। कविवर का कथन है "सुशिक्षितोऽपि सर्वः उपदेशेन निष्णातो भवति"—मालविका; प्रथम अङ्क।

जब शिक्षक को चतुर छात्र प्राप्त होता है, तब वह उसके उपदेश को इतनी जल्दी तथा सुन्दरता से सीख लेता है कि जान पड़ता है कि विद्यार्थी ही शिक्षक को बदले में शिक्षा देता है। मालविका की शिक्षा के विषय में कालिदास का कहना है—

यद्यत् प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥

—मालविका०, १।१५

शिक्षा पात्रभेद से नाना प्रकार की होती है, सत्पात्र को शिक्षा देने से वह विलक्षण चमत्कार पैदा करती है। साधारण जल शुक्ति में पड़ते ही मोती बन कर चमक तथा दाम दोनों में बढ़ जाता है, परन्तु अन्यत्र वह साधारण जल ही

रह जाता है। यही कारण है कि शिक्षक अपनी शिक्षा के निमित्त उपयुक्त अधिकारी की खोज में रहता है। कालिदास का कथन नितान्त स्पष्ट है।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥

—मालविका०

सफल शिक्षा की कसौटी है योग्य आलोचकों की प्रशंसा पाना। वही उपदेश विशुद्ध तथा उपादेय माना जाता है जो योग्य व्यक्तियों के सामने परीक्षा के अवसर पर मलिन नहीं होता।

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥

विद्यार्थी का कर्तव्य

विद्यार्थियों को अपनी शिक्षा को सफल बनाने के लिये अनेक नियमों का पालन अत्यावश्यक है। ब्राह्ममुहूर्त में उठना प्रत्येक आर्य का कर्तव्य है विशेषतः छात्रों का क्योंकि उस समय में चित्त प्रसन्न रहता है चेतनता प्रसन्नता प्राप्त कर लेती है। कालिदास की यह उक्ति—

पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना।

इस विषय में नितान्त चमत्कारिणी है। सन्ध्याकाल में सन्ध्यावन्दन प्रत्येक हिन्दू का धर्म है विशेषतः विद्याभ्यासियों का। कविवर ने शङ्कर मुख से सन्ध्यावन्दन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

पार्वणमुकवसुधास्तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः।
ब्रह्म गूढमभिसायमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी॥

—कुमार० ८।४७

आशय है कि तपस्वी लोग पवित्र जल से सूर्य को अञ्जलि देते हैं। पैर के अगले भाग पर खड़े रहते हैं तथा सन्ध्याकाल में गायत्री का उपांशु जप कर रहे हैं [गूढ' जप उसे कहते हैं जिसमें जिह्वा भी न हिलती हो अर्थात् मानसिक जप]

विद्यार्थियों को चाहिये कि वे अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कभी न करें (आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया रघु०, १४। ४६) क्योंकि यदि पूज्य पुरुषों के प्रति अनादरभाव दिखलाया जायगा तो वह उस व्यक्ति के कल्याण में महान् बाधक बनेगा।

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।

—रघु० १।७९

इन नियमों के पालन करने पर ब्रह्मचारी को अपने उद्देश्य की सिद्धि प्राप्त करते देर नहीं लगती।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य क्या है? किस फल की सिद्धि के लिये इतना क्लेश स्वीकार किया जाता है? कालिदास का इन प्रश्नों का उत्तर बहुत स्पष्ट है। शिक्षण का सच्चा फल यही नहीं है कि वह सामाजिक जीवन का तथा अर्थोपार्जन का प्रकार मात्र है। शिक्षित हो जाने पर व्यक्ति अपने उदर की पूर्ति अवश्य कर सकता है तथा समाज में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर सकता है। परन्तु शिक्षा की इतनी ही आवश्यकता नहीं है, वह तो जीवन को पवित्र तथा विभूषित करने के लिये नितान्त समर्थ है। पार्वती-जन्म के अवसर पर हिमालय की प्रशंसा करते समय कालिदास ने स्पष्ट ही कहा है कि हिमालय पार्वती से उसी प्रकार पवित्र तथा विभूषित किये गये जिस प्रकार स्वर्ग गङ्गाजी से तथा विद्वान् पुरुष संस्कारयुक्त वाणी से।

> प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रि-
> मार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
> संस्कारवत्येव गिरा मनीषी
> तया स पूतश्च विभूषितश्च॥
>
> —कुमार०, १।२८

शास्त्रीय विद्या जब तक वह व्यवहार के रूप में न लाई जाय केवल अध्ययन शब्द का संचालनमात्र है, परन्तु व्यवहार से समन्वित होने पर ही वह अध्ययन वास्तविक बनता है। कविवर की यह उक्ति—

> विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हति।
>
> —रघु०, १।८८

विशेष व्याख्या नहीं चाहती। गीता के 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' का भी यही रहस्य है। 'ज्ञान' केवल शाब्दिक तथा शास्त्रीय रहता है और 'विज्ञान' व्यावहारिक तथा कार्यरूप में परिणत होता है। ज्ञान तथा विज्ञान के समन्वय बिना उच्च उद्देश्य की पूर्ति कभी नहीं हो सकती।

इस प्रकार महाकवि कालिदास के शिक्षा-विषयक विचार नितान्त उच्च, उपादेय तथा स्फूर्तिवर्धक हैं। आशा है कि शिक्षकों का ध्यान इन रुचिर विचारों की ओर अवश्य आकृष्ट होगा।

विश्वकवि कालिदास

विश्वकवि देश और काल की परिधि से बाहर होता है। देश और काल का बंधन उसकी अलौकिक प्रतिभा तथा उसकी कलात्मक निर्मिति के ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण स्थापित नहीं करता। वह कविता लिखने में सर्वदा स्वच्छंद रहता है। वह पक्षी की तरह कमनीय छंद में चहक उठता है, वायु के समान वह भाव प्रवाह में बह निकलता है। विमल प्रतिभा ही उसकी कला पक्ष रचना का एकमात्र आधार होती है। देश और काल की आवश्यकता पर दृष्टि रखने वाले कवि की कविता उसी देश में समझी जाती है तथा उसी वातावरण में उसका महत्त्व उन्मीलित होता है। विश्वकवि भगवती वीणापाणि का एक वरदान होता है, जिसकी कविता विद्वमानवता के लिए, समस्त मानव समाज के लिए उपादेय तथा श्लाघनीय होती है। प्रत्येक युग में उसकी रसमयी कृतियाँ सहृदयों का हृदयोन्मेष करती हैं, उनके मूल्य का अंकन होता है तथा उनके भीतर विद्यमान शाश्वत तत्त्वों के अनुशीलन से मानव का परम मंगल संपन्न होता है। विश्वकवि ही 'रससिद्ध' कवीश्वर के नाम से भारतीय आलोचना में प्रख्यात है।

कालिदास सच्चे अर्थ में विश्वकवि हैं। उनकी कविता भारतवर्षीय मानवों के ही कल्याण के लिए जागरूक न होकर इस विशाल जगत् के मानवों के मंगल के लिए क्रियाशील है। वे सब देश के कवि हैं—सब युग के कवि हैं। उनकी अलौकिक प्रतिभा काव्य के नाना प्रकारों के विरचन में कृतकार्य है। शेक्सपीयर की रूपमयी प्रतिभा मिल्टन की प्रबंधकाव्यमयी प्रतिभा तथा शेली की गीतिमयी प्रतिभा का कहीं एकत्र मंजुल सामरस्य प्रस्तुत होता है, तो वह है विश्वकवि की दिव्य प्रतिभा से उद्भूत काव्य निचय। सचमुच कालिदास शारदा देवी की रत्नमाला के मध्यमणि हैं। किसी आलोचक की यह सरस उक्ति वस्तुतः यथार्थ है—

> अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा
> हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
> प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या
> न कालिदासादपरस्य वाणी॥

भावों की परख

यह महाकवि मानव हृदय में उदय लेनेवाले तथा क्षण क्षण में परिवर्तित होने वाले भावों को सूक्ष्म दृष्टि से परखता है और अपनी लेखनी से उन्हें चिरस्थायी रूप प्रदान करता है। कालिदास के काव्यों में भावोद्बोधक प्रसंगों का एक ही

रुचिर चित्रण है। पोष्यपुत्री शकुन्तला की बिदाई के अवसर पर काव्य के करुण भावों की अभिव्यंजना कहीं है, तो अन्यत्र विरह-वेदना से विधुर यक्षपत्नी की कोमल भावनाओं का और मनोविनोद की नाना क्रीडाओं का बड़ा ही अभिराम चित्रण है। अभीष्ट वस्तु की अकस्मात् अचिंतित उपलब्धि मानव-मन को आश्चर्य के कितने गंभीर गर्त में गिरा डालती है; इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का सुन्दर प्रसंग आता है पार्वती के जीवन में, जब वह शंकर की नाना प्रकार से निंदाएँ करने पर ब्रह्मचारी को स्वयं छोड़ खड़ी होती है तथा वह ब्रह्मचारी भी साक्षात् शिव के रूप में आविर्भूत होकर पार्वती को आगे जाने से रोकता है। इस 'चकपकाने' का दृश्य कालिदास ने बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

शृंगार

कालिदास मुख्यतया शृंगाररस के कवि माने जाते हैं। इस सार्वभौम धारणा के भीतर एक महान सत्य छिपा हुआ है। प्रेम का वर्णन अन्य कवियों ने भी किया है, परंतु प्रेम की नाना अवस्थाओं का रुचिर चित्रण मनोवैज्ञानिक पद्धति से जैसा कालिदासीय काव्यों में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र कहाँ? 'मालविकाग्निमित्र' में प्रतिकूल परिस्थिति में रह कर भी राजसी अंतःपुर में पनपने वाले यौवन-सुलभ प्रेम का चित्रण है, तो 'विक्रमोर्वशीय' में यौवन की उद्दाम भावना से उत्पन्न, कामुक व्यक्ति को प्रेयसी के विरह में एकदम पागल बना देनेवाले प्रेम का निरूपण है। यदि पहले में संयम के आवरण से झाँकने वाले प्रेम का चित्रण है, तो दूसरे में संयम का बाँध तोड़ देने वाले प्रेमनद का उद्दाम विवरण है। 'शकुंतला' में प्रेम की स्थिति इन दोनों दशाओं से भिन्न है। यहाँ वासनात्मक काम की विशुद्ध प्रेम में परिणति का मंजुल चित्र है जिसमें तपस्या तथा साधना की आग में काम का कालुष्य जल जाता है और वह प्रेम के खरे सोने के रूप में चमक उठता है। यही परिणति तो शाकुंतलीय कथावस्तु की आध्यात्मिक पीठिका है। प्रेम के कोमल भाव के चित्रण में यक्ष का यह वचन दृष्टांत रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है—

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥

हिमालय के देवदारु के चूनेवाले दूध की सुगंध से युक्त वायु को यक्ष इसी भावना से आलिंगन करता है कि उसने उसकी पत्नी के अंग का शायद स्पर्श किया हो।

प्रकृति वर्णन

हमारा कवि बाह्य प्रकृति के निरीक्षण तथा वर्णन में भी उतना ही दक्ष है जितना अन्त प्रकृति के चित्रण में। कालिदास की दृष्टि में प्रकृति निर्जीव पदार्थों का पुञ्जमात्र नहीं प्रत्युत वह जीवनी शक्ति से कमनीय भावनाओं से प्राणिमात्र के लिए सहानुभूति से स्पन्दित होती है। प्रकृति का यह स्पन्दन चित्र कालिदास की प्रतिभा का भव्य निदर्शन है। प्रकृति अपने स्वतन्त्र साम्राज्य में मानव की उपेक्षा कभी नहीं करती। वह तो मानव के साथ मैत्री के सुवर्ण सूत्र में इस प्रकार बँधी रहती है कि वह उसके दुख में दुखी तथा उसके सुख में सुखी रहती है। मैं इसे कालिदास की प्रतिभा का भव्य निदर्शन मानता हूँ— प्रकृति का मानवीय वृत्तियों से सवलित रूप में चित्रण। कालिदास से बढकर तुङ्गशिखर हिमालय का सूक्ष्म पारखी कोई भी अन्य संस्कृत कवि नहीं हुआ। प्राचीन आश्रम अपनी आध्यात्मिक पवित्रता तथा वैभव के साथ यहाँ उपस्थित होता है तथा जन कोलाहल से दूर शांतिमय वातावरण में जीवन यापन के लिए मानवमात्र को जोरों से पुकारता है। आश्रम का यह दृश्य कितना पावन है—

नीवारा शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामध
प्रस्निग्धा क्वचिदिङ्गुदीफलभिद सूच्यन्त एवोपला।
विश्वासोपगमादभिन्नगतय शब्द सहन्ते मृगा
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखा निस्यन्दरेखाङ्किता ॥

प्रकृति में मानवीय भावों की अभिव्यञ्जना के लिए शाकुन्तल का चतुर्थ अङ्क अपनी तुलना नहीं रखता। आश्रम की कन्या शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसे नाना पुष्पाभरणों से सजाना जाने की अनुमति कोयल की कूक से देना विरह में आँसुओं के रूप म पुराने पाले पत्तों का गिरना मृगियों का अपने घास के कौर को छोड़कर उदास हो जाना—आदि दृश्य प्रकृति की सजीवता तथा सहानुभूति के भव्य निदर्शन हैं। यह तो हुआ प्रकृति का विभावपक्ष। आलंबन पक्ष की रुचिरता भी उतनी ही मनोमोहक है जिसमें प्रकृति अपने सच्चे सजाए रूप में यथार्थ रीति से चित्रित की गई है। सुषमा तथा सौम्यभाव ही इस प्राकृत वर्णन का प्राण है। भवभूति के समान कालिदास प्रकृति के उग्र रोमाञ्चकारी तथा बीहड दृश्यों की ओर आकृष्ट नहीं होते। व सौम्यभाव के उपासक हैं प्रकृति में, मानव में तथा देवता म।

शरद् की यह शोभा कितनी स्वाभाविक तथा यथार्थ है—

संपन्नशालिनिचयावृत भूतलानि
स्वस्थस्थितप्रचुरगोकुलशोभितानि।
हंसैः ससारसकुलैः प्रतिनादितानि
सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदम्॥

धान से मंडित खेत, स्वस्थ खड़ी हुई गायों की शोभा, सारसों तथा हंसों के कूजने का शब्द—ये ही तो शरद् के अपने निजी वैभव हैं।

कला-पक्ष

हृदयपक्ष के समान कालिदास के काव्यों में कलापक्ष का विशेष आदर नहीं है। कानों को मंकृत करनेवाले अनुप्रास यहाँ खोजने पर भी नहीं मिलेंगे और न मिलेंगे वे श्लेष जो कवि के प्रयास के परिणाम होने से आलोचकों के वैरस्य के कारण बनते हैं। कम से-कम शब्दों में अधिक-से अधिक भावों की अभिव्यक्ति कालिदासीय काव्यों का निजी वैशिष्ट्य है। कालिदास शब्दों के चित्रकार हैं। छोटे-छोटे असमस्त पदों में सरस भावों का मंजुल निवेश, औचित्य मंडित सरस उपमाओं का प्रयोग हमारे कवि के काव्यों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कालिदास के शब्दचित्र चित्रकार की तूलिका से निर्मित चित्रों से कहीं अधिक चमत्कारी हैं। शाकुंतल के आरम्भ में ही दुष्यंत के बाणों के गिरने से भयभीत भागनेवाले हरिण का चित्र कितना रुचिर है! कालिदास की कविता अभिव्यञ्जना प्रधान है। चुने हुए थोड़े से शब्दों में अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देने में उनकी प्रतिभा सर्वातिशायिनी है।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

कमल का फूल सेवार से ढंके रहने पर भी सुंदर मालूम पड़ता है। चंद्रमा का काला धब्बा उसकी शोभा को बढ़ाता है। यह सुकुमारी शकुंतला वल्कल वस्त्र पहनने पर भी अधिक मनोज्ञ प्रतीत होती है। सच है, मधुर तथा सुंदर आकृति के लिए कौन वस्तु सजावट का काम नहीं करती?

सन्देश

आज के युग में कालिदास का अपना एक सुन्दर संदेश है। आज मानव समाज परस्पर कलह तथा वैमनस्य से छिन्न-भिन्न हो रहा है। प्रबल समरानल

के भीतर संसार की समृद्ध शक्तियाँ अपना सर्वस्व स्वाहा कर रही हैं—संस्कृति पददलित होकर अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रही है। ऐसे समय आध्यात्मिकता की मूर्ति, त्याग तथा तपोवन का प्रतीक यह महाकवि आशावाद का संबल लेकर विश्वमानव के सामने उपस्थित है। वह पुकार कर कह रहा है कि भौतिकता का आग्रह, भोग विलास की लिप्सा, क्षुद्र स्वार्थों की उपासना और धर्मविरुद्ध काम की सेवा मानव को अवनति के गर्त में झोंकने के लिए सदा जागरूक रहती है।

त्याग, तपस्या तथा तपोवन भारतीय संस्कृति के निरलस हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' कालिदास के काव्यों का प्रभावशाली संदेश है। मदन-दहन के अनन्तर पार्वती का मंगलमय शिव के साथ विवाह, तपस्या के बाद ही दुष्यन्त तथा शकुन्तला का परिणय, गो-सेवा के फलस्वरूप रघु का जन्म, कौत्स को रघु का सर्वस्वदान—ऐसे आदर्श हैं जिनकी उपासना आज भी मानवों को कल्याण की अन्तिम कोटि तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त है। सरस्वती का यह वरद पुत्र सरस्वती की महिमा को समझने के लिए आग्रह करता है तथा राजाओं को प्रकृति के रंजन के लिए प्रवृत्त होने की कामना करता है—

> प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
> सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ॥

अश्वघोष

बौद्ध आचार्यों में अश्वघोष का स्थान बहुत ही ऊँचा है। महायान सम्प्रदाय को दृढ़ भित्ति पर स्थिर करनेवाले आचार्यों में इनका नाम सबसे पहले लिया जाता है। अभी तक साहित्य-संसार इनकी दार्शनिक कृतियों से ही (जिनका अनुवाद चीनी, तिब्बती, जापानी आदि पूर्वी भाषाओं में हजारों वर्ष पहले हो चुका है) परिचित था, परन्तु नई खोज से इनका नाम संस्कृत साहित्य के महाकवियों में भी उल्लेखनीय हो गया है। नई खोज से न केवल इनके महाकाव्यों का ही पता लगा है बल्कि सुदूर मध्यएशिया में की गई खुदाई से इनके एक अपूर्ण परन्तु महत्त्वपूर्ण नाटक की भी उपलब्धि हुई है। १८९२ ई० के पहले अश्वघोष का नाम केवल बौद्ध दार्शनिकों की ही श्रेणी में स्थान पाता था, परन्तु आज वह न केवल एक महाकाव्य निर्माता की दृष्टि से देखा जाता है वरन् सुयोग्य नाटककारों की उज्वल पंक्ति में ऊंचा स्थान रखता है।

जीवन वृत्त

सौभाग्यवश अश्वघोष के जीवन की मुख्य घटनाओं पर भारतीय तथा चीन देशीय दन्त-कथाओं से अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनसे ज्ञात पड़ता है कि इनका जन्म साकेत—अयोध्या—में हुआ था। इनकी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' था। इनके महाकाव्यों में वेद तथा शास्त्रों की अनेक बातें मिलती हैं जिससे इनका एक शिक्षित ब्राह्मण कुल में जन्म लेना सिद्ध होता है। बचपन में इन्हें वैदिक धर्म की शिक्षा दी गई थी, परन्तु समयानन्तर पार्श्व के शिष्य पूर्णयशस् ने इन्हें बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। ये पार्श्व अपने समय के एक बड़े विद्वान् भिक्षु थे और कहा जाता है कि कनिष्क महाराज के द्वारा सङ्गठित चतुर्थ बौद्ध समिति के, (जो ई० सन् १०० के आस पास जालन्धर में हुई थी) ये प्रधान—सभापति—थे। एक जन श्रुति के अनुसार 'कात्यायनी पुत्र' ने अभिधर्म पिटक की 'महाविभाषा' नामक मन्ती टीका में सहायता लेने के लिये इन्हें काबुल बुलाया था। ह्वेनत्साङ्ग की साक्षी पर यह महाविभाषा कनिष्क की चतुर्थ बौद्धसङ्गीति में तैयार की गई थी। बौद्धधर्म में दीक्षित होने पर अश्वघोष ने शाक्यमुनि के धर्म के प्रचार में अपनी सारी शक्ति लगा दी। इन्होंने पाटलि पुत्र में आकर साधारण जनता को बौद्ध-धर्म के गूढ़ रहस्यों को मधुर भाषा में समझाना आरम्भ कर दिया। अश्वघोष ने प्रचार-कार्य में न केवल अपनी दार्शनिक तथा कवित्व शक्ति को ही खर्च किया

बल्कि अपने अलौकिक संगीत ज्ञान का भी पूरा उपयोग किया। कहा जाता है कि इनके व्याख्यान इतने मधुर, रोचक तथा आकर्षक होते थे कि हिनहिनाता घोड़ा भी अपनी हिनहिनाहट छोड़कर मौन बन, सावधानता से उन्हें सुनने लगता था। कविवर का 'अश्वघोष' (अर्थात् घोड़ों की आवाज) नाम इन्हीं आकर्षक मनोमुग्धकारी व्याख्यानों के कारण पड़ा, ऐसी किंवदन्ती है।

एक दूसरी दन्त कथा के अनुसार, सुनते हैं, अश्वघोष का यह धर्म प्रचार अचानक रुक गया। चन्दन कनिष्क—सम्भवत प्रसिद्ध कुषाणवंशी महाराजा कनिष्क—ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। पाटलिपुत्र (पटना) के शासक ने हार मानकर छ करोड़ रुपया देना स्वीकार किया। उसने तीन करोड़ रुपयों के बदले में बुद्ध भगवान् के भिक्षा पात्र को दे डाला और शेष तीन करोड़ में अश्वघोष को कनिष्क के अर्पण किया। कनिष्क अश्वघोष को अपनी राजधानी पेशावर में लाया और उनसे बौद्धधर्म की दीक्षा लेकर स्वयं उनका शिष्य बन गया। अश्वघोष ने अपनी शेष आयु कनिष्क को बौद्धधर्म के उपदेश देने में बिताई और उनकी ही शिक्षा का यह प्रभाव था कि कनिष्क ने अशोक के समान बुद्धधर्म के प्रचार के लिए चीन, तिब्बत, मध्यएशिया, जापान आदि देशों में भिक्षुओं को भेजा। उन्हीं के प्रयत्नों का यह फल है कि अपनी जन्मभूमि से उत्पाटित होने पर भी यह धर्म वृक्ष [illegible] पूर्वी देशों में अभी तक हरा भरा है। सारांश यह है कि समग्र दन्त कथायें कुशानवंशी कनिष्क के साथ अश्वघोष का घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करती हैं।

कनिष्क का समय

कनिष्क-काल के विषय में ऐतिहासिकों में बड़ा मत भेद है। फ्लीट, फ्रैंके, लूडर्स आदि विद्वानों की सम्मति में कनिष्क ने ही विक्रम सम्वत् को चलाया, अत उनका काल ५८ ई० पूर्व के आस पास है। डाक्टर भण्डारकर आदि कतिपय भारतीय विद्वानों की राय में ईसा की तीसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध कनिष्क का काल है। परन्तु ये मत ठीक नहीं जँचते। किसी कुषाण वंशी राजा के ही राज्याभिषेक से शक काल का आरम्भ होता है। इसको पुष्ट करनेवाला एक प्रमाण की उपलब्धि हाल में ही हुई है। मथुरा के आस पास के एक प्रसिद्ध देवकुल से, जहाँ कनिष्क की विशाल पत्थर की मूर्ति मिली है, विम कद फिस नामक राजा की भी शिलामयी प्रतिमा उपलब्ध हुई है। प्रतिमा के निर्माण का काल पाँचवें वर्ष में है, परन्तु उस पर किसी सम्वत् का उल्लेख नहीं है। उसी देवकुल से काठियावाड़ के पश्चिमी क्षत्रपों के राज्य की नींव डालने वाले चष्टन की भी शिलामयी प्रतिमा मिली है। एक ही देवकुल से क्षत्रपों तथा कुशानों की प्रतिमा के मिलने से ज्ञात होता है कि क्षत्रप लोग कुशन-वंशियों के नजदीकी थे। सम्भवत क्षत्रप

लोग कुशानों के द्वारा काठियावाड़ के ऊपर शासन करने के लिए गवर्नर नियुक्त किये गये थे। यह निर्विवाद है कि क्षत्रपों के शिला लेखों का समय शककाल में दिया गया है। अतएव विमकिद्फिस की प्रतिमा का समय भी शक सवत में ही दिया गया होगा। कुशान वंशियों का शक सम्वत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत इनका समय शक काल के आरम्भ (७८ ई०) से बहुत पीछे नहीं है। कनिष्क का भी समय ईस्वी की प्रथम शताब्दी से प्राचीन नहीं है। सम्भवत विमकिद्फिस (कनिष्क का पूर्ववर्ती राजा) के राज्याभिषेक के उपलक्ष में शककाल चलाया गया था। ऐसी मान्यता कई ऐतिहासिकों की है। कनिष्क विमकिद्फिस का ही उत्तराधिकारी था। वह १२५ ई० के आसपास सिंहासन पर बैठा। फलत कनिष्क के सभाकवि होने के कारण अश्वघोष का समय भी ईसा की पहली शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा दूसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध (७५-१५० ई०) है।

कनिष्क के सारनाथ के शिलालेख में किसी राजा अश्वघोष का उल्लेख है। कई विद्वानों की राय है कि यह शिला लेख महाकवि अश्वघोष से सम्बन्ध रखता है। एक बडे भारी भिक्षु को राजा की उपाधि धारण करना कुछ असम्भव नहीं जँचता, क्योंकि आजकल भी प्रभावशाली सन्यासी तथा महन्त 'महाराज' कहे जाते हैं। परन्तु मेरी सम्मति में इस शिला-लेख से महाकवि का कोई सम्बन्ध नहीं है। अधिकतर सम्भव है कि यह शिलालेख किसी अश्वघोष नामक स्थानीय शासक से सम्बन्ध रखता हो।

अश्वघोष के आर्यशूर, मातृचेट आदि कितने उपनामों का चीनी तथा तिब्बती ग्रन्थकारों ने उल्लेख किया है। परन्तु इस कथन में कुछ सत्यता नहीं जान पड़ती। बुद्धधर्म के इतिहासकार तिब्बती तारानाथ ने मातृचेट तथा अश्वघोष को एकही माना है। परन्तु चीनी यात्री इत्सिंग (६७१ ई०—६९५ ई०) के कथन से इनकी एकता सिद्ध नहीं होती। उसने मातृचेट के डेढ सौ पद्यों वाले एक स्तोत्र 'अध्यर्धशतक' की प्रशस्त प्रशंसा की है और लिखा है कि अश्वघोष वगैरह प्रसिद्ध विद्वान् भी मातृचेट के अनुकरण करने से नहीं हिचकते थे। इस कथन से मातृचेट तथा अश्वघोष की भिन्नता स्पष्ट सिद्ध होती है। मातृचेट का कनिष्क के नाम लिखा हुआ 'कणिक लेख' नामक पद्यात्मक एक पत्र[1] तिब्बती भाषा में अभी तक सरक्षित है। इस पत्र में मातृचेट ने वृद्धापेके कारण कणिक (सम्भवत कनिष्क) के पास आने में असमर्थता प्रगट की है। परन्तु अश्वघोष

---

[1] इस पत्र का अंग्रेजी अनुवाद डाक्टर टामस ने इण्डियन एन्टिक्वेरी १९०३ साल में किया है।

का महाराज कनिष्क के साथ रहना निस्सन्देह सिद्ध है। अतएव तनिक लेख के आधार पर भी अश्वघोष मातृचेट[1] से भिन्न ही ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार आर्य शूर भी व्यक्तिवाचक नाम जान पड़ता है। अतएव अश्वघोष, मातृचेट तथा आर्यशूर को एक ही व्यक्ति मानना समुचित नहीं जान पड़ता।

ग्रन्थ रचना

अश्वघोष के बनाये हुए ग्रन्थ[2] ये हैं—

[१] बुद्धचरित—यह एक महाकाव्य है। इसे प्रोफेसर कावेल ने १८९३ ई० में इङ्गलैण्ड से प्रकाशित किया है। यह काव्य खण्डित है। सन् ४०४ के लगभग चीनी भाषा में इसका अनुवाद हुआ था तथा ८०० के आस पास तिब्बती भाषा में। इसमें भगवान बुद्ध का चरित विशद रूप से वर्णित है। भाषा शैली अत्यन्त सरल तथा मधुर है। उपमायें बड़ी ही सुन्दर तथा समुचित हैं। स्थान स्थानपर प्राकृतिक वर्णन अत्यन्त सजीव है।

[२] सौन्दरनन्द महाकाव्य—महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इस काव्य को कलकत्ते से प्रकाशित किया है। इसमें सुन्दरनन्द नामक गौतमबुद्ध के छोटे भाई के, जो सांसारिक सुखों में ही लिप्त था, बौद्धधर्म में दीक्षित होकर तपस्या करने का वृत्तान्त विशद रूप से वर्णित है। स्थान स्थान पर बौद्धधर्म के दार्शनिक रूखे सिद्धान्त कोमल, सरल, सुधा-वर्षिणी भाषा में परिचित उपमा तथा रूपक के द्वारा समझाये गये हैं। कविताशैली शुद्ध वैदर्भी है। भाषा की सरलता तथा कोमलता में यह काव्य अपना सानी नहीं रखता। कविता की सजीवता दर्शनीय है।

[३] शारिपुत्र प्रकरण—मध्यएशिया में तुरफान की खोज में इसके कुछ अंश मिले हैं। डाक्टर लूडर्स ने बर्लिन से इसे प्रकाशित किया है। संस्कृत के अन्य उत्तम नाटकों की भांति नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, गद्य पद्य का मिश्रण, संस्कृत तथा विभिन्न प्राकृत का प्रयोग, भरतवाक्य—आदि सभी नाटकीय विलक्षणतायें इसमें उपलब्ध होती हैं, जिससे संस्कृत नाटक के उत्पन्न होने का काल ईसा से कितने ही शताब्दी पूर्व सिद्ध होता है।

---

१ 'मातृचेट' की कविता के विषय में देखिए बल्देव उपाध्याय 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ २०३–२०६।

२ जहाँ तक निश्चय किया जा सकता है, ये ही ग्रन्थ महाकवि अश्वघोष की लेखनी से प्रसूत हैं। इनके नाम से और भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिनकी सत्यता में बहुत सन्देह है।

[४] वज्रसूचि उपनिषद्—इसमें जन्मना जाति का पूर्णतया खण्डन किया गया है। बौद्ध लोग जाति पाँति कुछ नहीं मानते। बौद्धों के आशय को प्रकट करते हुये अश्वघोष ने वर्ण व्यवस्था को खूब आड़े हाथों लिया है।

[५] महायान-श्रद्धोत्पाद शास्त्र—इस पुस्तक का चीनी भाषा से अँग्रेजी में अनुवाद जापानी विद्वान् सुजुकी ने किया है। इसका मूल संस्कृत ग्रन्थ अब बिलकुल लुप्त हो गया है। इस छोटे ग्रन्थ में समग्र महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है। यह ऊँचा दार्शनिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अश्वघोष की गम्भीर दार्शनिक अभिज्ञता को सूचित करता है।

परन्तु अधिकांश आलोचकों की सम्मति में यह ग्रन्थ अश्वघोष की रचना नहीं हो सकता। इसके दो कारण हैं। पहिला कारण तो यह है कि इस ग्रन्थ में वर्णित महायान के सिद्धान्त नितान्त विकसित दशा के सूचक हैं जो प्रथम द्वितीय शती में कथमपि उपलब्ध नहीं हो सकते। महायान का वह आदिम युग था। फलतः इतने विकसित तथा पल्लवित सिद्धान्तों का उदय इस युग में सम्भाव्य नहीं माना जा सकता। दूसरा कारण तो मूलच्छेदी ही है। चीनी ग्रन्थों का निश्चित मत है कि अश्वघोष एक सर्वास्तिवादी बौद्ध आचार्य थे। फलत वे हीनयान के अनुयायी थे, महायान से उनका सम्बन्ध जोड़ना इतिहास-विरुद्ध है। इसीलिए आलोचकों की दृष्टि में इस ग्रन्थ का रचयिता हमारा कवि दार्शनिक अश्वघोष न था, प्रत्युत तन्नामधारी कोई पश्चाद्वर्ती लेखक था जिसे अश्वघोष द्वितीय मानना अयुक्तिसंगत न होगा।

कविता

अश्वघोष की कविता-शैली उत्कृष्ट वैदर्भी है। स्वाभाविकता की यह खान है और कृत्रिमता से कोसों दूर है। कविता धारा प्रवाह से बहती आती है। माधुर्य तथा प्रसाद गुण तो इसमें कूट-कूट कर भरे हुये हैं। कविता को हृदयंगम करने में कुछ भी देर नहीं लगती। उपमा का इतना अनुरूप प्रयोग कम देखने में आता है। अश्वघोष ने रूखे सूखे दार्शनिक तत्त्वों को मधुर भाषा में घरेलू परिचित दृष्टान्तों के द्वारा ऐसी खूबसूरती से समझाया है कि बिना किसी परिश्रम के वे हृदयंगम हो जाते हैं। वास्तव में दर्शन को इतनी मधुर तथा सरल भाषा में समझाना कोई हँसी-खेल नहीं है। मानव हृदय का भी सच्चा वर्णन पाया जाता है तथा स्थूल प्रकृति का भी। रसों का भी मनोहारी वर्णन है। शृङ्गाररस की सुन्दरता खूब ही देखने में आती है। करुणरस का प्रवाह भी अपने वेग में सहृदय हृदय को द्रवीभूत कर देता है परन्तु सबसे अधिक शान्त रस ही

दृष्टिगोचर होता है। नीचे से ऊपर तक इनकी कविता शान्त रस में पगी हुई है।

कविवर अश्वघोष की उपमायें जितनी स्वाभाविक हैं, उतनी ही अनुपम हैं। उपमा की अनुरूपता तथा नवीनता के विषय में अश्वघोष कालिदास से टक्कर लेते हैं— कालिदास की प्रसिद्ध उपमाओं की तरह ये उपमाएँ भी संस्कृत-साहित्य में अपना सानी नहीं रखतीं। इन उपमाओं में प्रकृति का जितना सुन्दर उपयोग किया गया है, जितना लिङ्ग समता का ख्याल रखा गया है, जितनी चमत्कारिता तथा विलक्षणता पर दृष्टि रखी गई है, उसकी उतनी प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते। इन सबका सुन्दर प्रयोग अश्वघोष को डंके की चोट महाकवि सिद्ध कर रहा है। कतिपय उपमायें नीचे उद्धृत की जाती हैं.—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष,
भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ
तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः॥

—सौन्दरनन्द, ४।४२

जब नंद को अपने महल में भगवान् बुद्ध के आगमन तथा निराश लौट जाने के दुखद समाचार मालूम हुए, तो वह शीघ्र ही अपनी प्यारी से छुट्टी लेकर बुद्धदेव के पास चला। बुद्धदेव में जितना गौरव वह रखता था वह उसे आगे की ओर खींचता था और उसकी प्रियतमा का अनुराग उसे पीछे खींचता था। इस अनिश्चय में पड़ा हुआ नन्द न तो वहाँ से जा सका और न वहाँ खड़ा ही रह सका। उसकी दशा वैसी ही थी जैसी तरंगों में तैरते हुए राजहंस की होती है। तरंग का झोंका राजहंस को पीछे लौटने को बाध्य करता है और तैरता हुआ हंस आगे बढ़ने का संतत प्रयत्न करता है। न तो वह आगे ही बढ़ता है और न स्थिर भाव से एक जगह ही ठहर सकता है। चंचल मनोवृत्ति का यह यथार्थ दिग्दर्शन है। नंद और राजहंस की उपमा कितनी सुन्दर सोची गई है। इसी भाव की द्योतिका उपमा कालिदास ने भी प्रयुक्त की है.—

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः,
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।

—कुमार०, ५।८५

इसी भाव को कवि ने एक और सुन्दर उपमा से व्यक्त किया है:—

स कामरागेण निगृह्यमाणो,
धर्मानुरागेण च कृष्यमाणः।

जगाम दु खेन विवर्त्यमान',
प्लवः प्रतिस्रोत इवापगायाः ॥
—सौन्दरनन्द, ४।४४

उस नन्द को काम राग एक ओर खींच रहा था और धर्मानुराग दूसरी ओर। इन दोनों प्रतिकूल झमटों में पड़ा हुआ वह बड़े दु ख से आगे बढ़ सका, जिस प्रकार नदी की धारा के प्रतिकूल जानेवाली नाव बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ सकती है।

तस्या मुखं पद्मसपत्नभूतं,
पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्रे।
छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य
बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात् ॥
—सौन्दरनन्द, ६।११

सुन्दरी अपने प्राण प्यारे के विरह में अकेली बैठी है। पल्लव के रग की तरह ताम्र वर्णवाले हाथ पर कमल की शोभा धारण करनेवाला मुख रखा हुआ है। जान पड़ता है कि जल में प्रतिबिम्बित कमल के ऊपर झुका हुआ कोई कमल हो।

उपमा की तरह रूपक का भी समुचित प्रयोग अश्वघोष ने किया है। इन रूपकों में भी अनुरूपता तथा नवीनता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

सा हासहंसा नयनद्विरेफा, पीनस्तनाभ्युन्नतपद्मकोषा।
भूया बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥
—सौन्दरनन्द, ४।४०

वह सुन्दरी नद के द्वारा अत्यन्त शोभित होती थी। वह स्त्री पद्मिनी नन्दरूपी सूर्य से, जो अपने कुल में उदित हुआ था, बारम्बार विकसित की जाती थी। सुन्दरीरूपी कमलिनी का हास (हँसी) हस था, नेत्र भौंरे थे, मोटे स्तन पद्मकोष थे, इस प्रकार वह सुन्दरी एक सुन्दर पद्मिनी थी, जिसने नन्दरूपी सूर्य से विकास पाया था।

बुद्ध के धर्म-चक्र प्रवर्तन का सुन्दर रूपक देखिये —

अथ धर्मचक्रमृतनाभि, धृतिमतिसमाधिनेमिमत्।
तत्र विनयनियमारमृषिर्जगतो हिताय परिषद्यवर्तयत् ॥
—सौन्दरनन्द, ३।११

उस मृगदाव के परिषद् में महर्षि बुद्धदेव ने ससार के हित के लिये उस धर्म-चक्र को चलाया—वह धर्मचक्र, जिसकी नाभि सत्य था, धैर्य, मति तथा समाधि जिसकी नेमि थे और विनय तथा नियम जिसके अर थे।

बुद्धधर्म का सुन्दर उपदेश

सौन्दरनन्द' महाकाव्य में अश्वघोष ने अत्यन्त रोचक तथा सरल ढंग से बुद्धधर्म के सिद्धान्तों को प्रकट किया है जिनके समझने में पाठकों को कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। पाठकों के ज्ञान के लिए कतिपय पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
—सौन्दरनन्द १६।२८-२९

इन पद्यों में निर्वाण का तत्त्व समझाया गया है। साधारण लोगों का यह गलत ख्याल है कि मरने के अनन्तर किसी दूसरे पवित्र आनन्दमय लोक में मनुष्य निर्वाण पाता है। यह बात ठीक नहीं तत्त्व तो यही है कि इसी लोक में क्लेशनाश से मनुष्य निर्वाण पा लेता है—शान्त हो जाता है। अश्वघोष इस निर्वाण तत्त्व को दीपक के दृष्टान्त से समझा रहे हैं। जिस प्रकार निर्वृति पाया हुआ—बुझा हुआ—दीपक न तो कहीं और पृथिवी में जाता है, न आकाश में वह न तो किसी दिशा में जाता है न किसी विदिशा में (दिशाओं के कोण भागों में)। वरन् स्नेह (तेल) के नाश हो जाने पर उसी स्थान पर शान्ति पा लेता है। उसी प्रकार निर्वाण को पाने वाला विद्वान् न तो कहीं पृथ्वी पर जाता है न आकाश में। न किसी दिशा में जाता है, न किसी विदिशा में बरन् क्लेश के नाश हो जाने पर वहीं वह एकान्तिक शान्ति पा लेता है। इसी लोक में निर्वाण की प्राप्ति होती है किसी दूसरे लोक में नहीं। कठिन समस्या को समझाने के लिए इससे भी स्पष्ट भाषा का प्रयोग शायद ही कहीं मिलेगा।

यथा हि भीतो निशि तस्करेभ्यो,
द्वारं प्रियेभ्योऽपि न दातुमिच्छेत्।
प्राज्ञस्तथा संहरति प्रयोगं,
समं शुभस्याप्यशुभस्य दोषैः॥
—सौन्दरनन्द, १६।७९

भावार्थ—जिस प्रकार चोरों से भयभीत मनुष्य रात में अपने प्रिय के लिये भी दरवाजा नहीं खोलता उसी प्रकार कार्यों के दोषमय होने से विद्वान् लोग

शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कार्यों का प्रयोग एक साथ छोड़ देते हैं। न तो वे बुरा काम करते हैं और न अच्छा ही।

शरीर की अनित्यता

सौन्दरनन्द महाकाव्य में महाकवि अश्वघोष ने शरीर की अनित्यता को सुन्दर युक्तियों से प्रतिपादित किया है। जब बौद्धधर्म स्वीकार करने पर भी, भिक्षु हो जाने पर भी, सुन्दरनन्द के चपल चित्त से विषयवासना उन्मूलित नहीं हो सकी, और जब वह अपनी प्यारी स्त्री में अनुरक्त अपने चित्त को कामना से विरहित नहीं कर सका, तब मैत्रेय भिक्षु ने एक बड़ा सारगर्भित व्याख्यान "शरीर की अनित्यता" पर दिया। यह वर्णन समग्र ९ वें सर्ग में दिया हुआ है। युक्तियों की अपूर्वता, उपमाओं की अनुरूपता, उदाहरणों की अनुकूलता, भावों की सुष्ठुता तथा भाषा की मधुरता के मिश्रण से ऐसा सुन्दर वर्णन संस्कृत साहित्य में बड़ी कठिनता से उपलब्ध होगा। इस रोचक व्याख्यान के कतिपय पद्यों को हम पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं।

शरीरमामादपि मृन्मयाद् घटादिदं तु निःसारतमं मतं मम।
चिरं हि तिष्ठेद् विधिवद्धृतो घटः समुच्छ्रयोऽयं सुधृतोऽपि भिद्यते॥

इस शरीर में बल का लेश भी नहीं है। इसे व्याधि, जरा, तथा मृत्युरूपी शत्रुओं ने बुरी तरह दबोच रखा है। यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े के समान क्षणभंगुर है। मेरी राय है कि यह शरीर मिट्टी के घड़े से भी निःसार है। यदि घड़े को ठीक ठीक काम में लावें, तो वह बहुत दिनों तक ठहर भी सकता है। परन्तु यह शरीर अच्छी तरह से रखने पर भी टूट जाता है, ठहर नहीं सकता। पद्य कितनी सुन्दरता से शरीर की क्षणभंगुरता सिद्ध कर रहा है।

सच्ची शूरता इन्द्रियों का जीतना है :—

तथा हि वीराः पुरुषा न ते मता जयन्ति ये साश्वरथद्विपान् नरान्।
यथा मता वीरतरा मनीषिणो जयन्ति लोलानि षडिन्द्रियाणि ये॥

जो मनुष्य रण में शूरता दिखलाते हैं, घोड़े, हाथी, रथ से युक्त सैनिकों को जीतते हैं, वे सच्चे शूर नहीं हैं। सच्चे शूर तो वे विद्वान् लोग हैं, जो चपल छहों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हैं। सच्ची वीरता भीतरी जगत के जीतने में है, बाह्य जगत के नहीं।

यथा मयूरश्चलचित्रचन्द्रको बिभर्ति रूपं गुणवत् स्वभावतः।
शरीरसंस्कारगुणादृते तथा बिभर्ति रूपं यदि रूपवानसि॥
यदि प्रतीपं वृणुयान्न वाससा न शौचकाले यदि संस्पृशेदपः।
मृजाविशेषं यदि नाददीत वा वपुर्वपुष्मन् वद कीदृशं भवेत्॥

उसकी हृदयेश्वरी सुन्दरी का विलाप, पत्नी के लिये नन्द का शोक, बालक सिद्धार्थ के प्रव्रज्या ग्रहण करने पर दयिता यशोधरा, माता माया, तथा पिता शुद्धोदन के विलाप—इतने करुणोत्पादक हैं कि इन्हें सुन विरले मनुष्यों के हृदय में करुण रस की नदी न उमड़ पड़ेगी तथा आँखों में आँसुओं की अविरल धारा न निकल पड़ेगी। बुद्ध-चरित का आठवाँ सर्ग आरम्भ से अन्त तक करुण रस से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों का भी यथास्थान सन्निवेश पाया जाता है। सिद्धार्थ ने जिस रात में राज्यपाट छोड़ प्रव्रज्या ग्रहण की उसी रात में इनके पिता के महल में बड़ा भारी उत्सव मना था। उस वर्णन में शृंगार रस से युक्त अनेक दृश्य दिखलाये गये हैं।[1]



१. नई खोज से पता चलता है कि जो पुस्तक अब तक अश्वघोष कृत 'सूत्रालङ्कार' के नाम से प्रसिद्ध थी वह वास्तव में कुमारलात कवि की 'कल्पनामण्डितिका' है। डाक्टर ल्यूडर्स ने इसे सम्पादित कर प्रकाशित किया है। अश्वघोष का सूत्रालङ्कार सम्भवतः गद्य-पद्य मिश्रित था और बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादक था।

विशेष के लिए देखिए बलदेव उपाध्याय-संस्कृतसाहित्य का इतिहास पृ० १९५ (षष्ठ संस्करण)। तथा डा० हरिदत्त शास्त्री—महाकवि अश्वघोष (कानपुर, १९६३)

भास

संस्कृत साहित्य में प्रसिद्धि

संस्कृत नाटक-साहित्य में महाकवि भास को बड़ी प्रसिद्धि है। साधारण नाटककारों की बात तो अलग रहे, स्वयं कालिदास की लेखनी ने भी भास का लोहा मान लिया है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में सूत्रधार[1] के मुख से स्पष्ट ही प्रश्न करवाया है कि प्रख्यात कीर्तिवाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर कालिदास की कृति का इतना अधिक आदर क्यों हो रहा है ? इस प्रश्न से अच्छी तरह मालूम पड़ता है कि कालिदास के समय में भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनके सामने साधारण जनता कालिदास की कमनीय रचनाओं को भी आदर की दृष्टि से नहीं देखती थी। कालिदास के परवर्ति कवियों ने भी भास के रूपकों का अतिशय आदर किया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में भास की विशद प्रशंसा की है। उनका कहना है कि भास ने सूत्रधार (नाटक का मैनेजर तथा कारीगर) से आरम्भ किये गये, बहुत से भूमिका (पार्ट और आकृत) वाले, तथा पताका (नाटक की मुख्य अवान्तर घटना, ध्वजा) से सुशोभित मन्दिरों के समान अपने नाटकों से खूब ही यश पाया[2]। राजशेखर ने भी भास के नाटकों की अग्नि-परीक्षा तथा स्वप्नवासवदत्ता के न जलने की बात लिखी है[3]। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में सर्वसाधारण में भास के नाटकों का खूब प्रचार था।

रचना की उपलब्धि

दुर्भाग्यवश ऐसे प्रसिद्ध नाटककार के विषय में भी हम कुछ नहीं जानते थे, क्योंकि इनके नाटक अभी तक अज्ञानान्धकार में छिपे हुये थे। अकस्मात् एक ही स्थान पर अनन्तशयन के म० म० गणपति शास्त्री को १९०९ ई० में

---

१. 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः'—मालविकाग्निमित्र।

२. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥

३. भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥

दस रूपकों की उपलब्धि हुई। उस समय के अनन्तर अन्य तीन नाटकों का पता चला। इन तेरहों नाटकों की प्राप्ति का वृत्तान्त १९१२ ई० में सर्वसाधारण के सामने प्रकाशित हुआ जिससे संस्कृतज्ञों को आनन्द पूर्ण विस्मय हुआ। म० म० गणपतिशास्त्री ने इन्हीं तेरह रूपकों को अनन्त शयन संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित किया है।

रूपकों का कर्ता

इस नाटक समूह के कर्ता के विषय में बड़ा मतभेद है। वास्तव में इनके भास कृत होने में कितने विद्वानों को सन्देह है। सन्देहवादियों का कहना है कि इस नाटक चक्र का केवल 'स्वप्नवासवदत्ता' भास कृत हो सकता है, क्योंकि आचार्य ने अपनी "अभिनवभारती" में इस रूपक का उल्लेख किया है[1]। परन्तु अन्य रूपकों को भास कृत मानने में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है। स्वर्गीय पण्डित रामावतार शर्मा की सम्मति में कुछ नाटकों के कतिपय अंश भास रचित हैं अवश्य, किन्तु समग्र नाटकों की रचना भास ने नहीं की। किसी केरल कवि ने भास के उपलब्धांशों की पूर्ति कर दी है[2]। अतएव इन नाटकों को भास कृत मानना समुचित नहीं है। डाक्टर[3] बार्नेट भी इन नाटकों के रचयिता को प्रसिद्ध भास मानने को उद्यत नहीं हैं। कतिपय भारतीय विद्वान् केरल देश में ही इनकी उपलब्धि होने से कुछ सन्देह कर रहे थे। वे इसे भास का न मानकर किसी केरलीय नाटककार का षड्यन्त्र समझ रहे हैं। परन्तु कुछ प्रमाण[4] नीचे दिये जाते हैं, जो इन नाटकों को भास प्रणीत सिद्ध करने में अमूल्य सहायता देंगे —

(१) यद्यपि स्वप्नवासवदत्ता' नाटक ही भास की एकमात्र रचना साधारण रीति से जान पड़ती है, तथापि प्राचीनकाल में भास के एक से अधिक रूपकों के होने का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। बाणभट्ट के पूर्वोद्धृत 'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकै' पद्य में प्रयुक्त बहुवचनान्त 'नाटकै' पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सातवीं सदी में भास के नाम से अनेक नाटक प्रचलित थे। राजशेखर ने तो भास के 'नाटक चक्र' का स्पष्टतः उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने 'स्वप्न नाटक' तथा 'दरिद्रचारुदत्त' का उल्लेख किया है। वामन ने 'प्रतिज्ञानाटिका', 'चारुदत्त'

---

१ क्वचित् क्रीडा यथा वासवदत्तायाम्।

२ शारदा (संस्कृत पत्रिका) प्रथमवर्ष की पहिली संख्या।

३ देखिये Bulletin of School of Oriental Studies तथा J R A S 1919 p 233 तथा 1921 p 587

४ Thomas–Plays of Bhasa J R A S 1922 p 79

तथा 'स्वप्नवासवदत्ता' से कतिपय पद्यों को 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में उद्धृत किया है। भामह ने भी प्रतिज्ञा नाटक के वस्तु—कृत्रिम हस्ती के द्वारा वत्सराज को छलना—की आलोचना काव्यालङ्कार में की है। 'प्रतिज्ञा' के एक प्राकृत अंश का संस्कृत अनुवाद भी उनके पद्यों में पाया जाता है[1]। इन सब प्रमाणों पर दृष्टि रखते हुये कहना पड़ता है कि प्राचीनकाल में भास की खूब प्रसिद्धि थी तथा उनके अनेक नाटकों का प्रचार सर्वत्र था। अत यदि ये तेरहों नाटक आन्तरिक समानता रखने के कारण भास प्रणीत माने जायँ तो किसी तरह की ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति प्रतीत नहीं होती।

(२) डाक्टर बार्नेट ने भास के नाम से प्रचारित नाटकचक्र के कर्ता पर यह दोषारोपण किया है कि स्वयं केरलीय कवि होते हुये भी उसने भास के नाटकों के नाम चुरा लिये हैं और भास के नाम से इन्हें प्रचारित किया है। यह कथन उचित नहीं जचता, क्योंकि संस्कृत साहित्य में इस तरह की कल्पित प्रथा प्रचलित नहीं थी। किसी प्राचीन ग्रन्थ की छाया रहने पर भी ग्रन्थ का नवीन नामकरण किया जाता था। नाटकीय वस्तु के एक होने पर भी कवि लोगों को अपनी रचनाओं के नये नाम रखने में अतिशय आनन्द आता था। यही कारण है कि रामायणीय कथा के उपजीव्य होने पर भी भवभूति के नाटक 'महावीर चरित' तथा 'उत्तर रामचरित' हैं, तो मुरारि का 'अनर्घ राघव', जयदेव का 'प्रसन्न राघव' तथा दामोदर मिश्र का 'हनुमन्नाटक' है। उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से नाम चुराने का कलङ्क आरोपित करना केवल हास्यास्पद तथा अनुचित जान पड़ता है।

(३) यदि इस नाटकचक्र की भाषा—संस्कृत तथा प्राकृत—पर उचित ध्यान दिया जाय, तो इसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध होगी। विद्वानों का कहना है कि इनके प्राकृत कालिदासीय प्राकृत से भी प्राचीन हैं। कुछ ऐसे प्राकृत रूप मिले हैं जो अश्वघोष के नाटक तथा अशोक के शिलालेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। स्वीकृत्यर्थक 'आम' का प्रयोग केवल पालीभाषा में ही पाया जाता है तथा कतिपय पुल्लिंग शब्दों के बहुवचनान्त रूप 'आनि' प्रत्यय जोड़कर इन नाटकों में बनाये गये हैं। यह रूप अति प्राचीन है क्योंकि यह अश्वघोष के नाटक तथा अशोक की धर्मलिपियों में भी डाक्टर लूडर्स के द्वारा ढूँढ निकाला गया है—पीछे इन रूपों का अस्तित्व मिलता ही नहीं। यह तो हुई नाटकों की प्राकृत की कथा। इनके संस्कृत के विषय में भी पूर्वोक्त सिद्धान्त

---

१ इन उल्लेखों के लिये म० म० गणपति शास्त्री कृत स्वप्नवासवदत्ता नाटक की भूमिका देखिये।

अतिशय सत्यता से प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमें ऐसे अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जिनकी उपलब्धि केवल रामायण तथा महाभारत में ही प्रचुरता से होती है, अन्यत्र नहीं। इससे इनकी प्राचीनता स्पष्ट सिद्ध होती है।

(४) इन प्रमाणों से इस नाटकचक्र की प्राचीनता सिद्ध होती है। अब इन्हें भास प्रणीत सिद्ध करने का उद्योग किया जायगा। संस्कृत साहित्य में कतिपय विशेषण भास के लिये प्राचीन कवियों ने व्यवहृत किये हैं। यदि इन विशेषणों के अनन्तशयन में प्रकाशित ग्रन्थावली के कर्ता के विषय में भी व्यवहृत होने का कारण मालूम हो तो इन्हें भासकृत मानने में अधिक संशय या दुविधा न होगी।

(क) साधारण नियम है कि नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है परन्तु इन नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है। ये नाटक नान्दी से न आरम्भ होकर सूत्रधार के द्वारा आरम्भ किये गये हैं। यह विशेषता भास के नाटकों में पाई जाती थी।

(ख) वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक प्राकृत महाकाव्य[१] में भास को 'जलणमित्ते'—ज्वलनमित्र-अग्नि का मित्र-कहा है। कतिपय विद्वानों की सम्मति में वासवदत्ता के जलने की झूठी खबर फैलाकर भास को नाटकीय वस्तु का विकास दिखलाने का उचित अवसर मिला है। अतः अग्निदाह का उपयोग करने वाले भास को ज्वलनमित्र कहा गया है। यदि यही कारण ठीक हो, तो उपलब्ध वासवदत्ता के कर्ता भास ही होंगे क्योंकि इसमें वासवदत्ता के अग्निदहन की वार्ता फैलाकर पद्मावती का विवाह सम्पन्न कराया गया है जिससे मुख्य कार्य—राज्य प्राप्ति निष्पन्न हुआ।

(ग) जयदेव ने भास को कविता कामिनी का हास माना है[२]। इस विशेषण से हास्यरसवर्णन में भास की प्रवीणता प्रतीत होती है। उपलब्ध नाटकों में भी हास्यरस के प्रसङ्ग अच्छे ढंग से दिखलाये गये हैं। इनमें हास्य के उद्धत तथा सुकुमार दोनों रूपों का समुचित वर्णन मिलता है। उद्धत हास्य के लिये 'प्रतिज्ञा' के विदूषक की क्लिष्ट भाषा पर ध्यान दीजिये तथा हास्य के सुकुमार रूप के देखने की अभिलाषा हो तो वासवदत्ता के औदरिक पेटू विदूषक पर दृष्टिपात

---

१ भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो॥

२ भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
केषां नैषा कथय कविता कामिनी कौतुकाय॥
—प्रसन्नराघव की प्रस्तावना।

कीजिये। दोनों रूपों का जीता जागता चित्र आपके सामने आकर उपस्थित हो जायगा। कालिदास के ग्रन्थों में केवल सुकुमार हास्य के ही दर्शन होते हैं। उद्धत हास्य की प्रतिमा तो केवल इन नाटकों में ही दीख पड़ती है। अत जयदेव का कथन इन नाटकों के विषय में भी पूरे तौर से घटता है। अतएव विद्वानों ने इन प्रमाणों के आधार पर इन नाटकों को भास कृत मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की है। प्रश्न की महत्ता से ही प्रेरित होकर ये प्रमाण यहाँ कुछ विस्तार से दिखाये गये हैं।

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर अनन्तशयन-ग्रन्थावली में प्रकाशित स्वप्न वासवदत्ता आदि नाटक चक्र के रचयिता प्राचीन नाटककार भास ही थे, ऐसा बहुत लोग मानते आये, परन्तु इधर इस विषय की ओर भी खोज तथा परीक्षा करने पर यही प्रतीत होने लगा है कि इन सब के कर्ता सुप्रसिद्ध भास नहीं हो सकते। भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक के जो उदाहरण तथा विवरण रीति ग्रन्थों में आते हैं, वे प्रकाशित पुस्तक में मिलते नहीं। प्राकृत भाषा के आधार पर भी कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। इस नाटक चक्र को भास-कवि कृत न कहकर केरलदेशीय कविरचित कहना अत्यन्त उपयुक्त है। अब तो महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्म्मा जी की राय ही ठीक मालूम पड़ रही है कि इन नाटकों के कुछ अंश भास कवि के हो सकते हैं, परन्तु केरल देश के किसी ने इन्हें पूरा किया है। यही कारण है कि ये नाटक केरल के बाहर प्रसिद्ध नहीं हो सके। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ केरल में ही मिली हैं और केरल देश के ही नट लोग (जिन्हें चाक्यार कहते हैं) इनका अभिनय कर आज भी लोगों का मनोरञ्जन किया करते हैं। अत ये किसी केरल कवि की ही रचनायें हैं, आजकल यही तथ्य प्रकाशित होने लगा है। परन्तु अभी तक यह विषय सिद्धान्त रूप से निश्चित नहीं हुआ है।

आविर्भाव-काल

भास के आविर्भाव काल के विषय में ऐतिहासिकों में बड़ा मतभेद है। इस विषय का अन्वेषण अभी तक चल रहा है किसी ऐसे सिद्धान्त की उद्भावना अभी तक नहीं हुई है जो समग्र पण्डितजनों को मान्य हो। अतएव विभिन्न मतों का दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

प्रथम मत

भास नाटक चक्र के आविष्कारक तथा सम्पादक गणपति शास्त्री ने भास को चाणक्य तथा पाणिनि से भी प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शूरों को युद्ध के लिए उत्साहित करने के प्रसंग में चाणक्य ने 'अपीह श्लोकौ

मदत ' लिखकर जिन श्लोकों को प्रमाण कोटि में रखा है उनमें से एक भाग की उपलब्ध प्रतिज्ञा नाटिका में पाया जाता[1] है। प्रतिमा नाटक में रावण के बार्हस्पत्य[2] अर्थ शास्त्र म प्रवीणता प्राप्त करने की बात लिखी हुई है। बृहस्पति कृत अर्थशास्त्र कौटिल्य से भी प्राचीन है। अत उसके उल्लेख से चाणक्य अर्थशास्त्र के विषय में भास की अज्ञानता की सूचिका है। प्रयोगों की अपाणिनीयता सिद्ध करती है कि पाणिनि के सर्वमान्य होने के पहिले ही इन नाटकों की रचना हुई। इन प्रमाणों के आधार पर भास का समय कम से कम पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व माना गया है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं और वे चाणक्य तथा भास के पद्य को किसी अन्य ग्रन्थ से लिया हुआ बतला कर इस मत को प्रमाण कोटि में नहीं मानते।

द्वितीय मत

डाक्टर बार्नेट इस नाटकचक्र के 'कल्पित भास' को सप्तम शताब्दी का केरलीय कवि बतलाते हैं क्योंकि इसी समय में लिखे गये महेन्द्रविक्रम विरचित 'मत्तविलास' प्रहसन से इन नाटकों की भाषा तथा पारिभाषिक शब्द पूर्णतया समानता रखते हैं तथा 'राजसिंह' को जिसका नाम भरत-वाक्यों में अधिकता से पाया जाता है, केरल देश का सातवीं सदी का राजा माना है। परन्तु भामह द्वारा उद्धृत तथा बाण के द्वारा प्रशंसित होने से इनका समय अवश्य ही प्राचीन होना चाहिये। इन नाटकों के पारिभाषिक शब्द भी प्राचीनता के ही द्योतक हैं तथा राजसिंह को व्यक्ति वाचक नाम मानने में कोई दृढतर प्रमाण नहीं है। अत इस सिद्धान्त में विद्वज्जन आस्था नहीं रखते।

तृतीय मत

डा० लेस्नी प्रिन्टज, बैनर्जी शास्त्री, सुकथनकर आदि पश्चिमीय तथा पूर्वीय पण्डितों ने बाह्य परीक्षा को छोडकर नाटकों की आन्तरिक परीक्षा की है—विशेषत प्राकृतभाषा की विशिष्ट आलोचना की ह। उससे वे निरूपण करते हैं कि भास कालिदास (पाँचवीं सदी) से पुराने हैं परन्तु अश्वघोष (द्वितीय सदी) से अर्वाचीन। भास के रूपकों में उपलब्ध प्राकृत शब्दों के रूप प्राकृत वैयाकरणों की सम्मति में अत्यन्त प्राचीन ठहरते हैं। यदि 'अस्मि' के अर्थ में भास ने 'म्हि' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने 'म्हि' का। 'हमारे' के

---

१ नव शराव सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत् ॥

२ भो काश्यपगोत्रोऽस्मि साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये मानवीयं धर्मशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रं बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पम्।

अर्थ में भास ने 'अम्हअ' तथा 'अम्हाणं' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने नाटकों में केवल पहिले ही रूप का। 'अहम्' के लिये भास ने 'अहके' तथा 'अहं' का प्रयोग किया है परन्तु कालिदास ने 'हगे' या 'हके' का। इसी प्रकार अश्वघोष की प्राकृत का विकास भास में दीख पड़ता है। अतः इनका समय दोनों—अश्वघोष तथा कालिदास—के बीच अर्थात् तीसरी सदी में होना चाहिये; यही मत अधिकांश विद्वान् मानते हैं।

ग्रन्थ

ऊपर लिखा जा चुका है कि भास ने केवल रूपकों की ही रचना की है। उपलब्ध नाटकों की संख्या तेरह है। रूपकों के आविष्कार तथा त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज में संपादन का श्रेय म० म० गणपति शास्त्री को है। इन नाटकों में से केवल दो का विषय रामायण से लिया गया है। पाँच नाटकों की वस्तु महाभारत से ली गई है। कुछ नाटकों की कथा प्राचीन अर्द्धैतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध हैं; परन्तु इन सब में भास की मौलिक तथा अनूठी कल्पनाशक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव प्रत्येक पाठक को हो सकता है। इन विभिन्न विषयों पर नाटक लिखना भास की अपूर्व नाट्यकुशलता का निदर्शन है।

सम्भवतः भास ही सबसे प्राचीन नाटककार हैं जिन्होंने रामायण को रंग-मंच के ऊपर जनता के सामने रखने का प्रशस्य प्रयत्न किया। यह प्रथा ऐसी उपयोगिनी तथा मनोहारिणी सिद्ध हुई कि रामायणीय नाटकों का ताँता सा बँध गया और यदि आधुनिक रामलीला पर ध्यान दें, जो नाट्य के विकृत रूप हैं, तो उस प्रथा का प्रचुर प्रचार आज भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। भास के नाटकों का सामान्य परिचय यहाँ दिया जाता है।

(१) प्रतिमा नाटक—राम का वनवास, सीताहरण आदि अयोध्याकाण्ड से लेकर रावणवध तक की घटनाओं का वर्णन इस नाटक में किया गया है। इस नाटक से प्राचीन भारत में कला विषयक नवीन वृत्तान्त[१] का पता लगता है। प्राचीनकाल में राजाओं के देवकुल होते थे जिनमें राजाओं की मृत्यु के अनन्तर उनकी पत्थर की बड़ी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इक्ष्वाकुवंश का भी ऐसा ही देवकुल था जिसमें मृत नरेशों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। कैकयदेश से आते समय अयोध्या के समीप देवकुल में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर ही भरत ने उनकी मृत्यु का अनुमान प्राप्त ही प्राप्त कर लिया। इसी कारण इसका नाम 'प्रतिमा नाटक' है। पढ़ने से

१. चन्द्रधरशर्म्मा गुलेरी—'देवकुल' —ना० प्र० पत्रिका, १ भा० १ अङ्क।

प्राप्त शैशुनाग राजाओं की मूर्तियों से भी भास की बात सर्वथा पुष्ट होती है। स्वप्नवासवदत्ता को छोड़कर यह नाटक सबसे बड़ा तथा मनोरमक है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी भास के नाटकचक्र में इसका स्थान बहुत ऊँचा है।

(२) **अभिषेक नाटक**—इसमें राज्याभिषेक का वर्णन है। इन दस नाटकों में बालकाण्ड को छोड़कर रामायण की समग्र उपयोगिनी घटनायें आ गयी हैं। अनुमान है कि बालकाण्ड की कथा भी इसी प्रकार रंगमंच पर अभिनय के लिये लिखी गई थी परन्तु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

(३) **पञ्चरात्र**—इसमें महाभारत की एक घटना का अन्यथा वर्णन मिलता है। द्रोण ने दुर्योधन से आधा राज्य पाण्डवों को दे देने के लिये कहा। दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की कि पाँच रातों मिल जाने पर मैं पाण्डवों को राज्य दे दूंगा। द्रोण के प्रयत्न करने पर पाण्डव मिल गये तथा आधा राज्य दे दिया गया।

(४) **मध्यम व्यायोग**—इसमें मध्यम पाण्डव—भीम—ने एक ब्राह्मण के लड़के की रक्षा एक भयङ्कर राक्षस से की है। यह व्यायोग है।

(५) **दूत घटोत्कच**—अभिमन्यु के वध होने पर पाण्डवों को अपनी विजय के विषय में सन्देह होने लगता है। इसलिये सन्धि स्थापित करने के लिये घटोत्कच दूत बनाकर भेजा जाता है परन्तु दुर्योधन के न स्वीकार करने पर युद्ध फिर जारी किया जाता है।

(६) **कर्णभार**—इन्द्र भगवान् महादानी कर्ण से कवचकुण्डल माँग ले जाते हैं। कर्ण भी अपने ऊपर युद्ध के नेतृत्व का भार ग्रहण करता है।

(७) **दूतवाक्य**—सन्धि करने के लिये श्रीकृष्ण का दुर्योधन के शिविर में जाना तथा उनका विफल मनोरथ होना इस नाटक में वर्णित है।

(८) **ऊरुभङ्ग**—भीम तथा दुर्योधन के अन्तिम गदायुद्ध का तथा दुर्योधन की मृत्यु का करुणापूर्ण वर्णन है। संस्कृत साहित्य का यह प्रसिद्ध नियम है कि कोई भी संस्कृत नाटक वियोगान्त नहीं होता—उसके अन्त में सदैव संयोग तथा मङ्गल का वर्णन होना चाहिये परन्तु केवल यही नाटक इस नियम का प्रतिवादस्वरूप है क्योंकि इसके अन्त में दुर्योधन की मृत्यु रंगमंच पर अभिनीत हुई है। अतएव नाटक छोटा होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व [redacted] है।

(९) **बालचरित**—कृष्ण के बालचरित का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। जिन्हें कृष्ण के बालचरित वृन्दावन लीला—जानने की अभिलाषा हो उनके बड़े काम का है।

(१०) **चारुदत्त या दरिद्र चारुदत्त**—यह रूपक पूरा पूरा उपलब्ध नहीं होता परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इस अपूर्ण रूपक का भी अधिक मूल्य है

क्योंकि शूद्रक का प्रसिद्ध 'मृच्छकटिक' इसी के आधार पर लिखा गया माना जाता है। इसमें धनहीन परन्तु सुचारित्र्य सम्पन्न ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुणग्राहिणी वारवनिता वसन्तसेना का पवित्र आदर्श स्नेह बड़े मार्मिक ढङ्ग से वर्णित है।

(११) अविमारक—'अविमारक' नाम राजकुमार के चरित्र का वर्णन किया गया है। कामसूत्र में उल्लिखित होने से यह प्राचीनकाल की अतिशय प्रसिद्ध नाट्यायिका जान पड़ती है।

(१२) प्रतिज्ञायौगन्धरायण—कौशाम्बी के आखेट के प्रेमी राजा उदयन को कृत्रिम हाथी के छल से उज्जयिनी-नरेश महासेन ने पकड़ लिया। इस रूपक में उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण ने दृढ़ प्रतिज्ञा करके केवल राजा को ही बन्धन से नहीं छुड़ाया बल्कि कुमारी वासवदत्ता का भी कपट से हरण कराया। मन्त्री की दृढ़ प्रतिज्ञता तथा कुटिलनीति का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है।

(१३) स्वप्नवासवदत्ता—भास की नाट्यकुशलता का यह चूडान्त निदर्शन है। इसे 'प्रतिज्ञा' का उत्तरार्द्ध समझना समुचित होगा। राजा उदयन को अपने विरोधियों को परास्त करना है जिसके लिये मगध के राजा दर्शक की सहायता लेना नितान्त आवश्यक है। यौगन्धरायण दर्शक को ठगने के लिए वासवदत्ता के आग में जल जाने की झूठी खबर फैलाता है, परन्तु वास्तव में उसे दर्शक की भगिनी पद्मावती के पास वेश बदल कर रख आता है। अनन्तर पद्मावती के साथ वत्सराज का शुभ विवाह हो जाता है। स्वप्न में राजा वासवदत्ता को देखता है जिससे मिलने से उसकी हार्दिक अभिलाषा अत्यन्त बढ़ जाती है और उसे वासवदत्ता के जीवित होने में कुछ विश्वास जमने लगता है। वत्सविजय के अनन्तर राजा के सामने वासवदत्ता लाई जाती है और दोनों का पुन आनन्द मिलन होता है। चरित्र चित्रण में भास ने अपनी नाट्यकला का अद्भुत चित्र खींचा है—ऐसे शुद्ध तथा विशद प्रेम का वर्णन किया है कि मन आनन्द से मुग्ध हो जाता है। नाटकीय घटनाओं की ऐसी मनोहारिणी संगति दिखाई गयी है कि अस्वाभाविकता पास फटकने नहीं पाई है। वास्तव में यह नाटक संस्कृत साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है जिसकी प्रभा के सामने अनेक नाटक रत्न छविहीन प्रतीत होते हैं।

कविता

भास की भाषा में एक विचित्र अनूठापन है। वाक्य हैं तो बड़े छोटे छोटे, परन्तु उनमें विचित्र भाव भरा हुआ है। भास की कविता कामिनी अपने स्वाभाविक पदविन्यास के लिये जितनी प्रसिद्ध है, उतनी ही अपने भावों के लिये। कृत्रिमता तो कहीं देखने के लिये भी नहीं मिलेगी। इनकी भाषा तथा कविता

भी प्रशंसनीय सरलता तथा आदरणीय सुन्दरता से सर्वत्र व्याप्त है। भास मानव हृदय के विकारों के सच्चे पारखी हैं। बाह्य प्रकृति के भी सरल वर्णनों में इनकी योग्यता किसी से घटकर नहीं। अलङ्कारों के चुनाव में उपमा तथा स्वभावोक्ति पर ही आपका विशेष स्नेह दीख पड़ता है। ऊपर लिखा जा चुका है कि भास नाटकीय कला के पारङ्गत आचार्य हैं, चरित्र चित्रण करने में बहुत चित्तहार हैं। यदि भास की कविता का यथोचित स्वाद लेना हो तो इनके ग्रन्थ पाठ सावधानी से करना चाहिये।

भास की कविता के कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

> विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
> वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
> भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
> निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः॥

स्थान की विशेषता से विश्वास करने वाले हरिण लोग बिना चकित हुये घास चर रहे हैं। वृक्षों की शाखायें फूल तथा फलों से लदी हुई हैं। ऋषियों ने दया करके इनकी रक्षा की है। कपिल रंग के गायों के झुण्ड विचर रहे हैं। खेत कहीं नजर नहीं आते हैं। बहुत स्थानों से धूम निकल रहा है। अतएव निःसन्देह यह तपोवन ही है।[1]

> कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
> एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च॥

मृत्यु के समय में कौन किसकी रक्षा कर सकता है? जब रस्सी टूट गई तब घड़े को कौन रख सकता है? यह संसार वन के समान ही है। जिस प्रकार वन में वृक्ष काटे जाते हैं और फिर उगते हैं, उसी प्रकार इस संसार में भी मनुष्य मरता रहता है और पैदा होता रहता है।

> व्यक्तं बलं बहु च तस्य न नैककार्ये
> संख्यातवीरपुरुषं च न चानुरक्तम्।
> व्याजं ततः समभिनन्दति युद्धकाले
> सर्वं हि सैन्यमनुरागमृते कलत्रम्॥

उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पास सेना तो बहुत है परन्तु वह एक कार्य में नहीं लगी है, बहुत से वीर पुरुष हैं परन्तु वे अनुरक्त नहीं हैं

---

[1] शाकुन्तला के प्रथम अङ्क में वर्णित तपोवन इस तपोवन से कई अंशों में मिलता जुलता है। कालिदास के 'विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः' पद्यांश में इस पद्य के प्रथमांश की छाया स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रही है।

इसीलिये युद्ध के समय में वह छल का प्रयोग कर रहा है, क्योंकि अनुराग के बिना सेना स्त्री की तरह निर्बल होती है।

कुलं तावच्छ्लाघ्यं प्रथममभिकांक्षे हि मनसा
ततः सानुक्रोशं मृदुरपि गुणस्त्वेष बलवान्।
ततो रूपे कान्तिं न खलु गुणतः स्त्रीजनभयात्
ततो वीर्योदग्रं नहि न परिपाल्या युवतयः॥

राजा महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता के विवाह के विषय में विचार कर रहा है। वह कहता है कि पहले तो मैं प्रशसनीय कुल चाहता हूँ। दूसरे वर को दयालु होना चाहिये। यह गुण सुकुमार होने पर भी बलवान है। अनन्तर वर को सुन्दर भी होना चाहिये। गुणों के विचार से नहीं बल्कि स्त्रियों के डर से। फिर मैं बलशाली वर को चाहता हूँ क्योंकि युवतियों की रक्षा तो अवश्य करनी होगी। यदि वर महाशय दुर्बल हुये तो अपनी पत्नी की शत्रु से रक्षा किस तरह कर सकेंगे।

अहः समुत्तीर्य निशा प्रतीक्ष्यते शुभे प्रभाते दिवसोऽनुचिन्त्यते।
अनागतार्थाण्यशुभानि पश्यतां गतं गतं कालमवेक्ष्य निर्वृतिः॥

दिन बिता कर रात का इन्तजार किया जाता है। प्रभात के शुभ होने पर दिन की चिन्ता लगी रहती है—सुबह तो इतना अच्छा बीता, अब देखें दिन में क्या होता है। भविष्य में होने वाले अनर्थों की चिन्ता करनेवाले पुरुष बीते हुये समय को देख-देख कर आनंद मनाते हैं। इतने दिन तो अच्छी तरह बीत गये, अब देखें आगे कैसे बीतता है। यही तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विचार उठा करता है।

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥

सायंकाल का सुन्दर दृश्य है। चिड़िया अपने घोसलों में चली गईं। मुनिजन जल में स्नान कर चुके। सन्ध्याकाल में अग्निहोत्र के लिये जलाई हुई अग्नि शोभित हो रही है। धुआँ मुनियों के वन में घूम रहा है। सूर्य ने भी दूर से उतर कर अपनी किरणों को बटोर लिया है और रथ को लौटाकर धीरे धीरे अस्ताचल पर घुसे चले जाते हैं। सन्ध्याकाल का नैसर्गिक वर्णन है। प्रसादगुण से पद्य पूरा भरा है।



मातृगुप्त

काश्मीर के प्राचीन राजाओं में मातृगुप्त भी कुछ समय के लिए अपनी विद्या काव्यप्रतिभा तथा सदाचार के बल पर वहाँ का अधीश्वर था। उसका जीवनवृत्त सरस्वती के वरद पुत्रों के समान बड़ा ही विलक्षण तथा चमत्कारजनक है। उत्पन्न तो वह हुआ था एक साधारण निर्धन ब्राह्मण परिवार में परन्तु अपनी प्रतिभा के सहारे वह शारदा देश (काश्मीर) का अधिपति बनने में सर्वथा समर्थ हुआ। राजतरंगिणी की कृपा से इस कविबान्धव का चरित्र हमें मूल रूप में उपलब्ध होता है।

उज्जैन में शकारि राजा विक्रमादित्य का उज्ज्वल तथा दीप्त प्रशासन चल रहा था। विद्वानों तथा कवियों का आदर सत्कार करने में वह बड़ा ही लब्धवर्ण था। उसकी इस विपुल कीर्ति ने कवि मातृगुप्त को उसके दर्शनार्थ उज्जयिनी पहुँचा दिया, परन्तु उसका साक्षात् दर्शन सिद्ध करना कविजी के लिए एक विषम पहेली बन गया। बहुत उद्योग किया, परन्तु दरबारियों की दुष्टता के कारण विक्रमादित्य की सभा में मातृगुप्त का प्रवेश होने पर भी राजा के द्वारा उचित सम्मान प्राप्त न हो सका। राजा उनकी परीक्षा ले रहा था, परन्तु आश्रयहीन कवि के लिए तो यह कठिन परीक्षा का काल था। दरबारियों से बिना छेड़छाड़ किये अपना दिन काटना उनका काम था। एक दिन राजा की सवारी कहीं बाहर जा रही थी। राजा ने इस दीन हीन मलिन वस्त्र पहिने, जीर्णकाय मातृगुप्त को देखा और अपनी उपेक्षा से स्वयं मर्माहत हुआ और सोचने लगा—हाय ऐसे पुरुषपादप को, जो शीतवायु और तीव्रताप से सूखता जा रहा है, अभी तक मैंने वसन्त के समान शोभासम्पन्न नहीं बनाया। राजा सोचता रहा, परन्तु उस कवि की सुयोग्य सेवा से उऋण होने का उपाय उसकी दृष्टि में नहीं आया।

एक आधी रात को मातृगुप्त की वास्तविक दशा का परिचय राजा को एक विलक्षण घटना के द्वारा हुआ। हेमन्त की सनसनाहट करती हुई हवा बह रही थी। महल के कुछ दीपक हवा के झोंके से काँप रहे थे और कुछ तो एकदम बुझ गये थे। राजा ने दीपकों की बाती ऊँची करने के लिए पहरेदार को पुकारा, परन्तु इस निर्जन निशीथ में सब सो रहे थे। भूख प्यास का मारा केवल मातृगुप्त ही जाग रहा था। फलतः उसी ने राजा को जवाब दिया और राजा के पूछने पर अपनी उन्निद्रता का कारण कविता के माध्यम से झट कह सुनाया—

शीतेनोद्धूषितस्य माषशिमिवत् चिन्तार्णवे मज्जतो
शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा नो क्षीयते शर्वरी ॥

'शीत से आक्रान्त होकर ओठ काँपने से, क्षुधा से कण्ठ सूख जाने से, चिन्तारूपी समुद्र में डूबता हुआ मैं बुझती हुई आग को फूँक रहा था। ऐसी दुर्दशा में अपमानित की गई दयिता के समान निद्रा मुझे छोड़ कर भाग गई, परन्तु सत्पात्र को दी गई वसुधा के समान रात्रि की क्षति नहीं हो रही है।'

राजा ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवि की दीनदशा जानकर बहुत ही दुःखित हुआ और कवि को उपकृत करने की बात सोचते समय काश्मीर के सूने सिंहासन की ओर उसका विचार दौड़ गया। कल्हण का कथन है कि युधिष्ठिर संवत् ३१८१ में काश्मीर देश का हिरण्य नामक राजा तीस वर्ष और दो महीने राज्य कर स्वर्ग सिधार गया था, सन्तानहीन होने से राज्य के शासक चुनने की विषम समस्या मन्त्रियों के सामने थी। उन लोगों ने चक्रवर्ती राजा विक्रमादित्य (अपर नाम हर्ष) के सामने इस समस्या को समाधान के लिए रखा जो उस समय उज्जैनी में राज्य कर रहा था। राजा ने मातृगुप्त को उचित शासनपत्र के साथ काश्मीर की गद्दी पर बैठाने के लिए मन्त्रियों के पास भेजा। मातृगुप्त ने उस शासनपत्र के साथ, जिसे मार्ग में खोल कर पढ़ने और जानने की निषेधाज्ञा उसे पहिले ही राजा की ओर से मिल चुकी थी, काश्मीर के लिए प्रस्थान किया। जब वह काश्मीर के क्रमवर्त नामक देश में आया और 'काम्बुव' नामक चौकी पर पहुँचा, तब वहीं पर काश्मीर के राज्य मन्त्रियों से भेंट हुई जो वहाँ पर किसी कार्य विशेष के लिए आये हुए थे। विक्रमादित्य का शासनपत्र पढ़ कर उन लोगों ने मातृगुप्त का वहीं अभिषेक किया और तदनन्तर बड़े समारोह के साथ राजधानी में प्रवेश किया।

मातृगुप्त की गुणग्राहिता, प्रतिभा और शासनकुशलता का वर्णन कल्हण ने बड़े विस्तार से किया है। उसने महाकवि मेण्ठ (भर्तृमेण्ठ) का बड़ा ही युक्तियुक्त सत्कार किया। लोगों में शान्ति विराजती थी। उसने मधुसूदन देव का एक मन्दिर 'मातृगुप्त स्वामी' के नाम से बनवाया और उसने इस मन्दिर की जीविका में एक ग्राम भी लगा दिया। लगभग पाँच वर्षों तक उसने काश्मीर पर शासन किया, परन्तु इसी समय महाराजा विक्रमादित्य का उज्जैनी में स्वर्गवास हो गया। इस दुःखद समाचार से वह अत्यन्त दुःखित हुआ और राजसिंहासन छोड़ कर सन्यासी बन अपने शेष जीवन को काशी में

बिताने के अभिप्राय से वह वहाँ से चल निकला। उसी समय पूर्व नरेश हिरण्य के भाई तोरमान का पुत्र प्रवरसेन उससे रास्ते में मिला जो पिता के बन्दी हो जाने के कारण एक कुम्भकार के घर पाला पोसा गया था और जो अपने को राज्य का सच्चा उत्तराधिकारी समझ कर उसे लेने के लिए दृढप्रतिज्ञ था। परन्तु मातृगुप्त की उदारता, कृतज्ञता तथा प्रतिभा से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने उससे राजगद्दी न छोड़ने का विशेष आग्रह किया। परन्तु मातृगुप्त ने अपने पूर्व सङ्कल्प का त्याग नहीं किया। इसका प्रभाव प्रवरसेन पर इतना पड़ा कि उसने भी प्रतिज्ञा की कि मैं भी जीते-जी सम्पत्ति का स्पर्श न करूँगा। और राजा होने पर भी वह सारी आय काशी भेजता रहा। मातृगुप्त ने सन्यास ले लिया। प्रवरसेन द्वारा हठपूर्वक भेजी गई सम्पत्ति को वह दीन दरिद्रों को बाँट देता था और स्वयं भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करता था। काशी में दस वर्ष का समय बिताकर उसने वहीं गंगा के तट पर अपना देह-विसर्जन किया।

राजतरंगिणी में विस्तार से वर्णित विवरण का यह अत्यन्त संक्षिप्त रूप है। इससे विक्रमादित्य की गुणज्ञता, मातृगुप्त की कृतज्ञता तथा प्रवरसेन की उदारता का बड़ा ही समुज्ज्वल दृष्टान्त हमारे सामने उपस्थित होता है। विचारणीय प्रश्न है कि क्या मातृगुप्त [redacted] विशेष पहिचान की जा सकती है?

मातृगुप्त = कालिदास

कतिपय विद्वान् मातृगुप्त को कालिदास से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं। इनकी युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) ऐसी किंवदन्ती प्रख्यात है कि विक्रमादित्य ने अपने दरबार के सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास को अपना आधा राज्य दिया था। मातृगुप्त को काश्मीर का राज्य दिया जाना ही इसका आधार प्रतीत होता है।

(२) कालिदास के समान ही 'मातृगुप्त' नाम भी भगवती काली के सेवक होने से दिया गया होगा। दोनों नामों का समानार्थक होना भी ध्यान देने की बात है।

(३) राजतरंगिणी में कल्हण ने भवभूति आदि संस्कृत के मान्य कवियों का उल्लेख किया है, वहाँ कालिदास जैसे कविमूर्धन्य का अनुल्लेख आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। सम्भावना है कि 'मातृगुप्त' के रूप में कालिदास का उल्लेख कल्हण को अभीष्ट है।

(४) आलोचकों का कहना है कि मेघदूत में कालिदास के जीवन की छाया है। कवि को अपनी प्रियतमा का दीर्घ दुःसह वियोग सहना पड़ा था और इसीलिए मेघदूत में कवि की आत्मजीवनी बोलती प्रतीत होती है। मातृगुप्त के विषय में भी ऐसी ही किंवदन्ती है।

(५) कालिदास शीतप्रधान देश के निवासी प्रतीत होते हैं, ऋतुसंहार का आरम्भ ग्रीष्म के वर्णन से होता है और शाकुन्तल की प्रस्तावना में 'सुभग-सलिलावगाहा' पद्य में ग्रीष्म ऋतु का रुचिर संकेत है। प्रकृति का सौन्दर्य भी कालिदास की कविता में मुखरित होता है। यह सब घटनायें कालिदास को काश्मीर का निवासी, नहीं तो प्रवासी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त मानी गई हैं। फलतः मातृगुप्त को कालिदास से भिन्न व्यक्ति नहीं होना चाहिए।

(६) काश्मीर की राज्यप्राप्ति के अनन्तर मातृगुप्त ने अपनी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति इस पद्य में की थी राजा विक्रमादित्य के पास अपना सन्देश भेज कर—

नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं
दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि।
निःशब्दवर्षणमिवाम्बुधरस्य राजन्
संलक्ष्यते फलत एव तव प्रसादः॥

—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग, २५२१ श्लोक

यही कृतज्ञता की भावना कालिदास ने अपने मेघदूत के अन्तिम पद्य में भी प्रकट की है—

कच्चित् सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥

—उत्तरमेघ, ५१ श्लोक

दोनों पद्यों का समान भाव तथा एक ही समान उपमा ध्यान देने योग्य है। इसीलिए दोनों पद्यों के कर्ताओं का एकीकरण सर्वथा सम्भाव्य है।

(७) कहते हैं कि राजा प्रवरसेन ने वितस्ता (झेलम) नदी पर एक बहुत बड़ा नावों का पुल बनवाया था। तभी से नावों के पुल बनाने की प्रथा लोक में प्रचलित हुई। इसी घटना के उपलक्ष्य में प्रवरसेन ने 'सेतुबन्ध' प्राकृत महाकाव्य की रचना करवाई—मातृगुप्त के हाथों, ऐसी किंवदन्ती है। उधर 'सेतुबन्ध' के टीकाकार कालिदास को इसका रचयिता मानते आये हैं। बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में प्रवरसेन तथा कालिदास का पास ही पास वर्णन किया है। यह घटना भी पूर्वोक्त समीकरण की पुष्टि करती है।

इन युक्तियों का उत्तर भी भली भाँति दिया जा सकता है—

(१) आधा राज्य देने की प्रसिद्धि सार्वत्रिक नहीं है। यदि काश्मीर के राज्य देने का स्पष्ट उल्लेख होता, तो दोनों कवियों की एकता सिद्ध होती। परन्तु ऐसा नहीं है।

(२) नामों के समानार्थक होने से क्या होता है? ये नाम भी भिन्न हैं। एक ही नामधारी क्या भिन्न भिन्न व्यक्ति नहीं पाये जाते?

(३) राजतरंगिणी काश्मीर का इतिहास है, संस्कृत साहित्य का इतिहास नहीं है। अतः 'कालिदास' का उल्लेख होना अनिवार्य नहीं है। भवभूति का उल्लेख राजनैतिक इतिहास की व्याख्या के लिए आवश्यक होने से किया गया है, अन्यथा नहीं।

(४) मातृगुप्त के प्रियतमा से विरहित होने की घटना का उल्लेख राजतरंगिणी में नहीं है। गप्प पर तर्क की दीवाल नहीं खड़ी की जा सकती।

(५) कवयः क्रान्तदर्शिनः। क्रान्तदर्शी कवि के लिए किसी भी देश का प्रकृतिवर्णन वहाँ निवास का संकेत नहीं करता। प्रतिभा की उड़ान से ऐसी रचनायें सर्वत्र उपलब्ध होती हैं।

(६) श्लोकों के भावसाम्य से इतना बलवान् अनुमान कभी नहीं किया जा सकता। कवियों में भाव परस्पर अनुरूप होते ही रहते हैं। इससे इन कवियों की एकता का प्रश्न नहीं उठता।

(७) 'सेतुबन्ध' की रचना का श्रेय राजा प्रवरसेन को ही देना चाहिए। यह प्रवरसेन मध्यभारत के वाकाटक राजाओं में अन्यतम माना जाता है। सेतुबन्ध की रचना का श्रेय कालिदास को देना कथमपि न्याय्य नहीं है। फलतः पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर मातृगुप्त कालिदास से अभिन्न नहीं माने जा सकते।

इन दोनों की भिन्नता के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। मातृगुप्त ने विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया था, पर कालिदास शिव के भक्त थे इसीलिए वैष्णव मातृगुप्त से उनकी भिन्नता मानना ही उचित है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार-चर्चा' में जहाँ कालिदास के नाम एक अन्य पद्य उद्धृत किया है वहाँ मातृगुप्त के नाम से नीचे लिखा हुआ पद्य—

नायं निशामुखसरोरुहराजहंसः
कीरीकपोलतलकान्ततनुः शशाङ्कः।
आभाति नाथ! तदिदं दिवि दुग्धसिन्धु-
डिण्डीरपिण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम्॥

यदि दोनों की एकता की परम्परा साहित्य गोष्ठी में रहती, तो इसका उल्लेख क्षेमेन्द्र अवश्य करते। प्राचीन टीकाओं में दिये उद्धरणों से मातृगुप्त कवि न होकर लक्षणकार प्रतीत होते हैं। शाकुन्तल की टीका में राघव भट्ट ने मातृगुप्त के नाम से नाट्य सम्बन्धी अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। कर्पूरमञ्जरी की टीका में वासुदेव ने मातृगुप्त को अलङ्कारविषयक ग्रन्थ का निर्माता माना है। उधर सुन्दर मिश्र ने 'नाट्यप्रदीप' में मातृगुप्त को भरत-नाट्यशास्त्र का टीकाकार बतलाया है। फलत मातृगुप्त नाट्यलक्षण पर ग्रन्थ-निर्माता विद्वान् प्रतीत होते हैं काव्यों के रचयिता कालिदास के साथ उनकी अभिन्नता मानना साहित्य परम्परा से नितान्त अपुष्ट तथा विरुद्ध है।



(९)

भर्तृमेण्ठ

भर्तृमेण्ठ का हाल कल्हण पण्डित की राजतरंगिणी में मिलता है। सुनते हैं कि भर्तृमेण्ठ हाथीवान थे क्योंकि 'मेण्ठ' शब्द का अर्थ संस्कृत में हाथीवान होता है। इसी कारण सूक्ति-ग्रन्थों में 'हस्तिपक' के नाम से जो पद्य मिलते हैं, उन्हें पण्डितों ने इसी कवि की रचना बताया है। संस्कृत कवियों की ऐतिहासिक परम्परा से परिचित राजशेखर का एक श्लोक भर्तृमेण्ठ की प्रशंसा में मिलता है जिसमें इनके हाथीवान होने की सूचना है। राजशेखर का यह पद्य यों है—

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः॥

भावार्थ यह कि जिस प्रकार हाथी महावत के अंकुश की चोट खाकर व्यथित हो सिर हिलाये बिना नहीं रहता, उसी प्रकार मेण्ठराज की वक्रोक्तियों को सुनकर कौन ऐसा सहृदय कवि है जो मर्म-विद्ध हो आनन्द से अपना मस्तक नहीं हिलाता। अंकुश और वक्रोक्ति का रूपक कविवर के महावत होने की कल्पना को अच्छी तरह से पुष्ट करता सा दीख पड़ता है। इस पद्य में इन्हें 'मेण्ठराज' कहा है, कहीं-कहीं केवल 'मेण्ठ' ही मिलता है, परन्तु अधिकतया ये भर्तृमेण्ठ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कल्हण पण्डित ने लिखा है कि भर्तृमेण्ठ ने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना की। किसी गुणग्राही राजा के यहाँ आश्रय पाने की लालसा से इधर-उधर घूमकर कवि जी काश्मीर पहुँचे। उस समय काश्मीर के राजा थे मातृगुप्त, जो स्वयं एक बहुत ही अच्छे कवि थे। काव्य लेकर कवि मातृगुप्त के दरबार में गये। वहाँ अपनी मनोहर कविता, राजा की आज्ञा पाकर, सुनाने लगे। परन्तु इधर काव्य की समाप्ति हो चली, उधर काव्य के भले या बुरे होने के बारे में मातृगुप्त ने कुछ भी नहीं कहा। राजा के इस मौनावलम्बन से कवि अत्यन्त दुःखित हुये और उन्होंने इसे अपनी कविता का निरादर समझा। राजा में इस सरस महाकाव्य के गुण समझने की योग्यता का सर्वथा अभाव जानकर कवि जी पुस्तक को वेष्टन में बाँधने लगे, परन्तु राजा मातृगुप्त ने पुस्तक के नीचे सोने की थाली इसलिये रखवा दी कि कहीं लावण्य जमीन पर टपक कर खराब न हो जाय—काव्य-रस चूकर पृथ्वी पर गिर न पड़े। राजा की इस सहृदयता तथा गुणग्राहकता से भर्तृमेण्ठ अत्यन्त आह्लादित हुये—इसे ही उन्होंने अपना पूरा सत्कार समझा

और राजा के द्वारा पुरस्कार के रूप में दी गई सम्पत्ति को पुनरुक्त के समान माना। इस घटना का वर्णन राजतरंगिणीकार के शब्दों में सुन लीजिये—

हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम्।
आसमाप्ति ततो नापत् साध्वसाध्विति वा वचः॥
अथ ग्रन्थयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात्।
लावण्यनिर्याणभिया राजाधः स्वर्णभाजनम्॥
अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसत्कृतिः।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम्॥

—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग २६४–२६६

बहुत सम्भव है कि ये मातृगुप्त के सभा-पण्डित हो गये हों और कश्मीर में अपने दिन बिताये हों। इससे अधिक इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

कविवर राजशेखर के उल्लेख से जान पड़ता है कि भर्तृमेण्ठ ९०० ईस्वी के पहले ही होंगे। राजतरंगिणी के ऊपर दिये वर्णन के आधार पर भर्तृमेण्ठ और मातृगुप्त की समसामयिकता सिद्ध होती है। कल्हण के कथनानुसार मातृगुप्त ने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (४३० ई० के आस पास) कश्मीर देश पर शासन किया। अतः कविवर भर्तृमेण्ठ का भी यही समय—पाँचवीं सदी का पूर्वभाग—समझना चाहिये।

ग्रन्थ

ऊपर कहा गया है कि कवि ने 'हयग्रीववध' की रचना की। यही इनकी एक मात्र रचना जान पड़ती है। दुर्भाग्यवश यह महाकाव्य अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है। कहीं-कहीं सूक्तिग्रन्थों तथा रीतिग्रन्थों में उद्धृत श्लोक ही इस अनुपम महाकाव्य के अवशिष्ट अंश हैं, परन्तु ये इतने थोड़े हैं कि इनसे पूरे महाकाव्य के गुण-दोषों का विवेचन नहीं किया जा सकता। नाम से प्रतीत होता है कि इस महाकाव्य में विष्णु भगवान के द्वारा हयग्रीव के वध का वृत्तान्त दिया गया है। मम्मटाचार्य ने अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में रस के दोषों को दिखाते हुए 'अङ्गस्याप्यतिविस्तृति' नामक एक दोष माना है। अङ्गी—मुख्यपात्र—का ही विस्तार से वर्णन काव्य में अभीष्ट होता है; परन्तु यदि ऐसा न कर अंग—अमुख्य पात्र—का विस्तार किया जाय तो साहित्यिक दृष्टि से इसे दोष समझना चाहिये। इसी दोष के उदाहरण में मम्मट ने 'हयग्रीववध' का नाम लिया है। इस महाकाव्य में नायक—अङ्गी—विष्णु भगवान् हैं; प्रतिनायक—अङ्ग—हयग्रीव है; परन्तु कवि ने नायक के वर्णन की अपेक्षा प्रतिनायक का ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। उचित तो यह था कि प्रधानपात्र का विस्तृत वर्णन किया

जाय, प्रतिनायक का कम। इस औचित्य के परित्याग करने से 'हयग्रीववध' में पूर्वोक्त रस-दोष आ गया है; मम्मट के कथन का यही सारांश है।

भर्तृमेण्ठ संस्कृत के एक प्रतिभाशाली कवि थे। बालभारत में राजशेखर ने अपने विषय में लिखते समय भर्तृमेण्ठ का नामोल्लेख किया है।

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

राजशेखर का कहना है कि बहुत पहिले वाल्मीकि कवि हुये; फिर वही संसार में भर्तृमेण्ठ के रूप में आये, अनन्तर भवभूति के रूप में फिर आ विराजे। वे ही आदि-कवि वाल्मीकि आजकल राजशेखर हैं। राजशेखर की इस प्रशंसा से भर्तृमेण्ठ उच्चकोटि के कवि प्रतीत होते हैं। आश्चर्य की बात है कि राजशेखर ने वाल्मीकि तथा भवभूति के मध्यवर्ती समय के प्रधानकवि का उच्च पद कालिदास को न प्रदान कर भर्तृमेण्ठ को दिया है। इससे राजशेखर की माननीय सम्मति में भर्तृमेण्ठ का स्थान बड़ा ऊंचा ठहरता है।

कहा जा चुका है कि हयग्रीववध उपलब्ध नहीं है। अतः मेण्ठ की संस्कृत साहित्य में संरक्षित रचनाओं के एकत्र संग्रह करने का उद्योग नीचे किया जाता है।

क्षेमेन्द्र के कथनानुसार 'हयग्रीववध' के आरम्भ का श्लोक यह है—

आसीद् दैत्यो हयग्रीवः सुहृद्वेश्मसु यस्य ताः।
प्रथयन्ति बलं बाह्वोः सितच्छत्रस्मिताः श्रियः॥

भावार्थ—हयग्रीव नामक एक दैत्य रहता था, मित्रों के घरों में रहने वाली, सफेद छाते के समान मुसकुराहट वाली सम्पदायें जिसके दोनों बाहुओं के बल को प्रगट करती थीं।

हयग्रीव की प्रभुता देखिये—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥

प्रतापशाली हयग्रीव को देखकर ऐरावत के गण्डस्थल पर चिरकाल से बहने वाले मद ने वहाँ के रहने के प्रेम को छोड़ दिया—डर के मारे सूख गया और मान ने—अहंकार ने—इन्द्र के हृदय में निवास करने के स्नेह को छोड़ दिया अर्थात् इन्द्र के हृदय से डर के कारण अभिमान भाग गया।

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती॥

देवताओं का गर्व चूर करने वाला हयग्रीव जब कभी स्वेच्छा से अपने महल के बाहर निकल पड़ता था, तब इसकी खबर पाकर इन्द्र अमरावती के फाटकों की अर्गला जल्दी में गिरा देते थे— फाटक बन्द कर देते थे। उस समय जान पड़ता था कि अमरावती ने भय के मारे अपनी आँखें बन्द कर ली हैं। ये दोनों श्लोक काव्यप्रकाश में उदाहृत किये गये हैं।

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः॥

हयग्रीव के सैनिकों ने नन्दन वन में उत्पन्न होने वाले कल्पवृक्ष की उन मञ्जरियों को, जो इन्द्राणी की केशरचना के काम में लाई जाती थीं, अनादर से छूआ। आशय है कि हयग्रीव ने स्वर्गलोक जीत लिया। साहित्यदर्पण में यह श्लोक 'पर्यायोक्त' अलङ्कार के उदाहरण में दिया गया है।

दानवाधिपते ! भूयो भुजोऽयं किन्न नीयते।
सहायतां कृतान्तस्य क्षयाभिप्रायसिद्धिषु॥

हयग्रीव से कोई कह रहा है कि ऐ दानवों के राजा ! आप संसार के नाश करने के अभिप्राय को सिद्ध करने के लिये यमराज की फिर अपने बाहु से सहायता क्यों नहीं करते ?

महासुरसमाजेऽस्मिन् न चैकोऽप्यस्ति सोऽसुरः।
यस्य माशनिनिष्पेषनीराजितमुरःस्थलम्॥

बड़े बड़े असुरों के इस समाज में ऐसा कोई एक भी असुर नहीं है जिसकी छाती इन्द्र के वज्र के आघात से सुशोभित न की गई हो। राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में ये दोनों श्लोक 'कविसमय' के उदाहरण में दिये गये हैं। दानव, असुर तथा दैत्य में भेद होने पर भी कवि लोग इनमें भेद नहीं मानते। इन्हीं पद्यों में दैत्य हयग्रीव दानव तथा असुर कहा गया है। इसी कविसमय के दृष्टान्त में राजशेखर ने इन्हें उद्धृत किया है।

महात्माओं के सच्चे लक्षणों को बताने वाला यह प्रसिद्ध पद्य सुभाषितावली में भर्तृमेण्ठ का बताया गया है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

महात्माओं की यही विशेषता है कि न तो उनका मन सुख के समय में हर्ष के वश में होता है, न तो दुःख के समय में विषाद के—

इदं हि माहात्म्यविशेषसूचकं वदन्ति चिह्नं महतां मनीषिणः।
मनो यदेषां सुखदुःखसंभवे प्रयाति नो हर्षविषादवश्यताम्॥

धाचो माधुर्यवर्षिण्यो नामय. शिथिलांशुकाः ।
दृष्टयश्चञ्चलद्भ्रूका मण्डनान्यान्ध्रयोषिताम् ॥

माधुर्य बरसाने वाली वाणी, ढीले कपड़े वाली नाभियाँ, चपल भौं वाली आँखें—आन्ध्रदेश की महिलाओं के ये ही भूषण हैं ।

तथाप्यकृतकोत्तालहासपल्लवितावरम् ।
मुखं ग्रामविलासिन्याः सकलं राज्यमर्हति ॥

गाँव की सुन्दरी स्त्रियों का मुख बिना बनावट के अर्थात् स्वाभाविक अट्टहास से होठों के पल्लव के समान खिल जाने पर इतना मनोरम है कि उसके लिये पूरा राज्य न्योछावर किया जा सकता है । बहुत ठीक है ! एक दूसरे कवि जी को भी ग्रामीण नारियों के स्वभाव एवं सुन्दर हाव भाव अच्छे लगते हैं—

न तथा नागरस्त्रीणां विलासा रमयन्ति नः ।
यथा स्वभावमुग्धानि वृत्तानि ग्राम्ययोषिताम् ॥

सायंकाल अन्धकार की बड़ी सेना ने सूर्य के ऊपर चढ़ाई कर डाली । बेचारा सूर्य कहीं छिप जाने के लिये समग्र पृथ्वी में घूमने लगा । इस भय से उसकी बुद्धि मारी नहीं गई । सूर्य ठहरा बड़ा बुद्धिमान् । वह अपने शरीर को खण्ड खण्ड करके प्रत्येक घर में दीपक के रूप में ठहर गया । अब अन्धकार क्या कर सकता है । न पूरा सूरज मिलता है, न वह अपनी शत्रुता का बदला ले सकता है । सूरज को कैसी अच्छी चाल सूझी । इस रमणीय उत्प्रेक्षा के लिये हमारे भर्तृमेण्ठ भी पूरे कल्पना राज्य के अधिपति ठहरते हैं ।

महद्भिरोघैस्तमसामभिद्रुतो भयेऽप्यसंमूढमति भ्रमन् क्षितौ ।
प्रदीपपर्यायेण गृहे गृहे स्थितो विखण्डश्य देहं वसुधेर भास्करः ॥

आजकल के धनियों को धन से क्या लाभ है । जरा कवि का सुन्दर उक्ति सुन लीजिये—

मधु च विकसितोत्पलावतंसं शशिकरपल्लवितं च हर्म्यपृष्ठम् ।
मदनजनितविभ्रमा च रामा फलमिदमर्थवतां विभूतयोऽन्याः ॥

धनाढ्यों का फल यही है—खूब शराब उड़ाना, चन्द्रमा की किरणों से सुशोभित महल का शिखर, कामविलास वाली स्त्री । बस, सुन्दर ऊँचे महल पर शराब से मस्त होकर काम चेष्टा करना यही धन का फल है । धनिकों की और बातें सिर्फ विभूतियाँ हैं । उनसे उनको कुछ लाभ थोड़े है । आज कल के हमारे सेठ-साहूकारों का व्यवहार आज भी उपर्युक्त पद्य को यथार्थ बनाए दे रहा है ।

जनमजितमपोच्छता विजेतुं निशिनदशार्थदारं धनुर्विमुच्य ।
यतिरभसतयोद्यता स्मरेण प्रुवमसियष्टिरिहाङ्गनाभिधाना ॥

अंगना की यह सुन्दर परिभाषा है। कामदेव ने मनुष्य को जीतने के लिये अपने तीखे पांचों बाण छोड़े, परन्तु मनुष्य जीता नहीं गया। परन्तु कामदेव अपने हठ पर डटा था। समझा कि इस साधारण धनुष से काम नहीं चलने का, झट-पट उसने तलवार उठा ली। यही तलवार नारी है। संसार में ईश्वर को भी वश करने वाली युवती को छोड़ और कौन मोहक वस्तु है?

त्यक्तो विन्ध्यगिरिः पिता भगवती मातेव रेवा नदी
ते ते स्नेहनिबन्धबन्धुरधियः तुल्योदयाः दन्तिनः।
त्वल्लोभान्ननु हस्तिनि! स्वयमिदं बन्धाय दत्तं वपुः
त्वं दूरे म्रियसे लुठन्ति च शिरःपीठे कठोरांकुशाः॥

हाथियों के पकड़ने के लिये पालतू हथिनी जंगलों में छोड़ दी जाती है। उसी के संग में हाथी अपने झुण्ड को छोड़ चला आता है और पकड़ लिया जाता है। ऐसे ही पकड़े गये हाथियों का करुण क्रन्दन है—हे हथिनी! तुम्हारे लोभ में पड़कर मैंने पिता विन्ध्याचल को छोड़ दिया। माता के समान पालने वाली नर्मदा से विमुख हुआ। अत्यन्त स्नेही समान वयस्क अपने बन्धुवर्ग—हाथियों को भी छोड़ दिया। इतना ही नहीं, अपने प्यारे शरीर को भी बंधन में डलवा दिया। यह सब तेरे लोभ में पड़ने से ही हुआ। आशा थी तुम्हारे संग की। परन्तु अब मैं अपनी भूल समझता हूँ। तुम तो दूर खड़ी हो और मेरे सिर पर कठोर अंकुश बरस रहे हैं। बड़ी भूल हुई!

इस प्रकार अपने दुर्भाग्य पर शोक करने वाले करिशावक को लक्ष्य कर कवि जी कह रहे हैं—

ग्रासमासं गृहाण त्यज गजकलभ! प्रेमबन्धं करिण्याः,
पाशग्रन्थिव्रणानामभिमतमधुना देहि पङ्कानुलेपम्।
दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तरम्या,
रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः॥

ऐ हाथी के बच्चे! हथिनी का प्रेम अब छोड़ दो। वह तो तुम्हें बन्धन में डाल कर भाग गई है। घास के ग्रास लो, और तुम्हारे शरीर पर रस्सी बाँधने से जो घाव हो गये हैं उन पर कीचड़ का लेप लगाओ। अब तुम्हें विन्ध्याटवी में फिर लौट आने की कोई आशा नहीं। शबर सुन्दरियों के विलास से रमणीय और रेवातट पर उगने वाले वृक्षों के पुष्प-पराग से धूसर वर्ण वाले विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ अब तुम से बहुत दूर हो गई हैं।

अन्तिम दोनों ही पद्य कवि के हाथियों से विशेष परिचय तथा प्रेम को द्योतित कर रहे हैं।

शूद्रक

संस्कृत साहित्य के इतिहास में बहुत से ऐसे राजाओं के नाम मिलते हैं जिन्होंने कवियों तथा पण्डितों को आश्रय देकर आदर-सत्कार करके ही सरस्वती देवी की सेवा नहीं की; बल्कि स्वयं कमनीय कविता लिखकर-सुन्दर ग्रन्थों का निर्माण कर-शारदा की उत्कृष्ट सेवा की है। ऐसे नृपति-कवियों में शूद्रक का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। शूद्रक ने सुशासन से केवल पुरुषों को ही आनन्दित नहीं किया, प्रत्युत अपनी रमणीय नाट्यकला के प्रदर्शन से भी सहृदय जनों के हृदय को सर्वदा रसाप्लुत बनाया।

जीवन चरित्र

शूद्रक की प्रसिद्ध कृति मृच्छकटिक है जिसमें कतिपय पद्यों से रचयिता के विषय में कुछ वृत्त ज्ञात होता है। उसमें लिखा[1] है कि शूद्रक ऋग्वेद, सामवेद, गणित शास्त्र, वैशिकी कला-नृत्य गायन आदि-एवं हस्तिशास्त्र में परम प्रवीण थे, भगवान् शिव के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, बड़े ठाट बाट से उन्होंने अश्वमेध किया था, अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठा कर उसने दस दिन तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर अन्त में अग्नि में प्रवेश किया। वह युद्धों से प्रेम करते थे, प्रमाद रहित थे, तपस्वी तथा वेद जानने वालों में श्रेष्ठ थे। राजा शूद्रक को बड़े-बड़े हाथियों के साथ बाहुयुद्ध करने का बड़ा शौक था। उनका शरीर था शोभन, उनकी गति थी मतङ्ग के समान; नैन थे चकोर की तरह, मुख था पूर्ण चन्द्रमा भाँति। तात्पर्य यह है कि उनका समग्र शरीर सुन्दर था। वे द्विजों में मुख्य थे।

शूद्रक नामक राजा की संस्कृतसाहित्य में खूब प्रसिद्धि है। जिस प्रकार विक्रमादित्य के विषय में अनेक दन्त-कथायें प्रख्यात हैं, उसी प्रकार शूद्रक के विषय में भी हैं। कादम्बरी में विदिशा नगरी में, कथासरित्सागर में शोभावती तथा वेतालपञ्चविंशति में वर्धमान नामक नगर में शूद्रक के राज्य करने

---

१ ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कला वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दिनदशसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥ —१।४
समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव॥ —१।५

का वर्णन पाया जाता है। कथासरित्सागर में इस कथा का उल्लेख पाया जाता है कि किसी ब्राह्मण ने राजा को आसन्नमृत्यु जान कर उसके दीर्घ जीवन की आशा से अपने प्राण निछावर कर दिये थे। हर्षचरित में लिखा है कि शूद्रक चकोर के राजा चन्द्रकेतु का शत्रु था। राजतरंगिणीकार स्थिर-निश्चयता के दृष्टान्त के लिये शूद्रक का स्मरण करते हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार विक्रमादित्य के सत्ताइस वर्ष पहिले शूद्रक ने राज्य किया था। प्रसिद्धि है कि कालिदास के पूर्ववर्ती रामिल तथा सोमिल नामक कवियों ने मिलकर 'शूद्रक-कथा' नामक पुस्तक लिखी थी। अतः शूद्रक राजा की पर्याप्त प्रसिद्धि है; परन्तु अनेक पश्चिमी विद्वान् मृच्छकटिक के शूद्रक-कर्तृक होने में सन्देह प्रकट करते हैं। भला कोई कवि अपनी मृत्यु का उल्लेख अपने किसी प्रबन्ध में कर सकता है? अतः प्रस्तावना का यह अंश अवश्य ही प्रक्षिप्त जान पड़ता है। डाक्टर पिशल ने मृच्छकटिक को काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित के लेखक दण्डी की रचना माना है। परन्तु अब सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है कि दण्डी का मृच्छकटिक से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था।[1] अतः 'शूद्रक' ही इस मृच्छकटिक के रचयिता हैं, इसे मानने में अब तनिक भी सन्देह नहीं जान पड़ता है।

स्थितिकाल

शूद्रक के समय निरूपण के विषय में पश्चिमी तथा पूर्वी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। पुराणों में आन्ध्रभृत्य कुल के प्रथम राजा शिमुक का वर्णन मिलता है। अनेक भारतीय विद्वान् राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता अंगीकार कर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानते हैं। यदि यह अभिन्नता सप्रमाण सिद्ध की जा सके, तो शूद्रक कालिदास के समकालीन अथवा उनके कुछ पूर्व के ही माने जायेंगे। परन्तु मृच्छकटिक की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है। अतः बहिरंग तथा अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर यहाँ बहुसम्मत तथा यथासम्भव विश्वासयोग्य समय का निरूपण किया जायगा।

---

१ 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' के अलंकार-निर्देश का वर्णन विशिष्टरूप से काव्यादर्श के द्वितीय अध्याय में पाया जाता है। यही श्लोक मृच्छकटिक में भी उपलब्ध होता है। अतः डाक्टर पिशल ने काव्यादर्श के समस्त पद्यों को दण्डी की रचना मानकर मृच्छकटिक को दण्डी विरचित बतलाया है। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' दण्डी से बहुत प्राचीन है, क्योंकि इसके अलङ्कार का विवेचन भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न ढंग से किया है। इन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख आचार्य दण्डी ने स्वयं किया है। अब तो यह पद्य 'दरिद्रचारुदत्त' में उपलब्ध होने से भास कवि का माना जाता है।

वामनाचार्य ने अपनी काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में ('शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु') शूद्रक विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया है। 'द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्'—इस मृच्छकटिक के द्यूत प्रशंसा परक वाक्य को उद्धृत भी किया है जिससे कह सकते हैं कि आठवीं शताब्दी के पहले ही मृच्छकटिक की रचना की गई होगी। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (सप्तम शतक) ने भी काव्यादर्श में जैसा कहा जा चुका है, 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' मृच्छकटिक के इस पद्यांश को अलङ्कार निरूपण करते समय उद्धृत किया है। इन बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मृच्छकटिक की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी।

समय निरूपण में मृच्छकटिक के अन्तरंग प्रमाणों से भी बहुत सहायता मिलती है। नवम अङ्क में वसन्तसेना की हत्या करने के लिये शकार आर्य चारुदत्त पर अभियोग लगाता है। आधिकरणिक के सामने यह पेश किया जाता है—अन्त में मनु के अनुसार ही धर्माधिकारी निर्णय करता है—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥ (९।३९)

इससे स्पष्ट हो है कि मनु के कथनानुसार चारुदत्त का अपराध सिद्ध होता है और धनसम्पत्ति के साथ उसे देश से निकल जाने का दण्ड दिया जाता है। यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥
न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥

—८ अ०, ३८० ३८१

अतः मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी। मनुस्मृति का रचना काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है जिसके पीछे मृच्छकटिक को मानना होगा। भास कवि के 'दरिद्र चारुदत्त' तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अत्यन्त समता पाई जाती है। मृच्छकटिक का कथानक बहुत विस्तीर्ण है, दरिद्रचारुदत्त का संक्षिप्त। यदि मृच्छकटिक को भास के रूपक के अनुकरण पर रचा गया मान लें, तो शूद्रक का समय भास के पीछे होना चाहिये अर्थात् ईस्वी की तीसरी सदी के पीछे होगा।

मृच्छकटिक के नवम अङ्क में कवि ने बृहस्पति को अङ्गारक अर्थात् मंगल

का विरोधी[1] बतलाया है; परन्तु वराहमिहिर ने इन दोनों ग्रहों को मित्र[2] माना है। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर का सिद्धांत ही आजकल फलित ज्योतिष में सर्वमान्य है। आजकल भी मंगल तथा बृहस्पति मित्र माने जाते हैं, परन्तु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई-कोई आचार्य इन्हें शत्रु मानते थे, जिसका उल्लेख[3] बृहज्जातक में ही पाया जाता है। वराहमिहिर का परवर्ती ग्रन्थकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं कह सकता। अत शूद्रक वराहमिहिर से पूर्व के ठहरते हैं। वराहमिहिर की मृत्यु ५८९ ईस्वी में हुई थी, इसलिये शूद्रक का समय छठी सदी के पहले होना चाहिये।

इन सब प्रमाणों का सार यही है कि शूद्रक भास (तृतीय शतक) के परवर्ती तथा वराहमिहिर (षष्ठ शतक) के पूर्ववर्ती थे अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पञ्चम शतक में हुई थी।

ग्रंथ

शूद्रक के नाम से अभी तक एक ही ग्रंथ उपलब्ध हुआ है। यह मृच्छकटिक है। इसमें १० अंक हैं। पहले अङ्क का नाम 'अलंकारन्यास' है। इसमें उज्जयिनी की प्रसिद्ध वारवनिता वसन्तसेना को राजा का स्यालक शकार वश में करना चाहता है। रास्ते में अँधेरी रात में विट तथा चेट के साथ शकार उसका पीछा कर रहा है। मूर्ख शकार के कथन से वसन्तसेना को पता चलता है कि वह आर्य चारुदत्त के मकान के पास ही है। अत उसके घर में घुसती है। विदूषक मैत्रेय शकार को डाँट डपट कर घर में घुसने से रोकता है। चारुदत्त से वार्तालाप करने के बाद शकार से बचने के लिये वसन्तसेना अपना गहना उसके घर रख आती है। दूसरे अङ्क का नाम 'द्यूतकर संवाहक' है। दूसरे दिन सवेरे दो घटनाएँ घटती हैं। संवाहक पहले चारुदत्त की सेवा में था, पीछे पक्का जुआरी बन जाता है। वह जुए में बहुत सा धन हार जाता है जिससे वह चारुदत्त के घर भाग आता है। चारुदत्त उसे ऋण मुक्त कर देते हैं। संवाहक बौद्ध भिक्षु बन जाता है। उसी दिन प्रात काल वसन्तसेना का हाथी रास्ते में किसी भिक्षुक को

---

१. 'अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पते'।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥
—९।३३

२. जीवेन्दूष्णकरा कुजस्य सुहृद'। —बृहज्जातक २।१६

३ जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभौमा' क्रमात्।
वीन्द्वर्का विकुजेन्द्विनाश्च सुहृद' केषाञ्चिदेवं मतम्॥
—२।१५

कुचलना ही चाहता है कि उसका सेवक कर्णपूरक उसे बचाता है। चारुदत्त अपना बहुमूल्य दुशाला उपहार में देते हैं।

तीसरे अङ्क का नाम 'सन्धिच्छेद' है। वसन्तसेना की दासी मदनिका को शर्विलक सेवा से मुक्त कराना चाहता है। वह ब्राह्मण है, परन्तु प्रेमपाश में बध कर आर्य चारुदत्त के घर में सेंध मारता है और वसन्तसेना का गहना चुरा लेता है। चतुर्थ अङ्क का नाम 'मदनिका शर्विलक' है जिसमें शर्विलक अलङ्कार लेकर वसन्तसेना के घर आता है और मदनिका को सेवामुक्त कर देता है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली उसके बदले में देती है। मैत्रेय रत्नावली लेकर वसन्तसेना के महल में जाता है और जुए में हार जाने का बहाना कर रत्नावली देता है। वसन्तसेना सायङ्काल चारुदत्त के घर आने के लिये वादा करती है। पाँचवें अङ्क का नाम 'दुर्दिन' है। इसमें वर्षा का विस्तृत वर्णन है। सुहावने वर्षाकाल में आर्य चारुदत्त उत्सुकता से वसन्तसेना की राह जोहते बैठे हैं। चट वसन्तसेना के आगमन की सूचना देता है। चारुदत्त से प्रेम सम्मिलन होता है। वह रात वह वहीं बिताती है।

षष्ठ अङ्क का नाम प्रवहणविपर्यय' है तथा सप्तम का 'आर्यकापहरण'। प्रातःकाल चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में गए हैं। उनसे भेंट करने लिए वसन्तसेना जाना चाहती है परन्तु भ्रम से शकार की गाड़ी में, जो समीप में खड़ी थी जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की भविष्यवाणी पर विश्वास कर गोपाल के पुत्र आर्यक को कैदखाने में बन्द कर देता है। आर्यक कारागृह से भाग कर चारुदत्त की गाड़ी में चढ़ जाता है। शृङ्खला की आवाज को भूषण की झनझनाहट समझ गाड़ीवान गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में दो पुलिस के सिपाही गाड़ी देखने आते हैं जिनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का वचन देता है और अपने साथी से किसी बहाने झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त से भेंट करता है। अष्टम अङ्क का नाम 'वसन्तसेना मोटन' है। जब वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है, तब प्राणप्रिय चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार—संस्थानक—मिलता है जो उसकी प्रार्थना न स्वीकार करने से वसन्तसेना का गला घोंट डालता है। संवाहक जो भिक्षु बन गया है, वसन्तसेना को समीप के विहार में ले जाता है और योग्य उपचार से उसे पुनरुज्जीवित करता है। नवम अङ्क में, जिसका नाम 'व्यवहार' है, शकार चारुदत्त पर वसन्तसेना के मारने का अभियोग लगाता है। कचहरी में जज के सामने मुकदमा पेश होता है। उसी समय चारुदत्त का बालक-पुत्र रोहसेन मृच्छकटि-मिट्टी की गाड़ी-लेकर आता है जिसमें वसन्तसेना के दिये सोने के गहने हैं। इसी के आधार पर चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है। 'संहार' नामक दशम अङ्क में उसी समय राज्यपरिवर्तन होता है।

पालक को मारकर चारुदत्त का परम मित्र आर्यक राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को क्षमा ही नहीं कर देता, प्रत्युत मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी का हुक्म देता है; परन्तु चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। वसन्तसेना के साथ चारुदत्त का ब्याह सम्पन्न होता है। इसी अन्तिम प्रेम-मिलन के साथ यह रूपक समाप्त होता है।

शूद्रक के नाम से 'पद्मप्राभृतक' नामक भाण प्रकाशित है। भाण का कथानक बहुत ही सुन्दर है और उसमें वर्णित विषयों की प्राचीनता भी स्पष्ट दीखती है। अतः मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक पद्मप्राभृतक के भी कर्ता हैं; इसे मानने में आपत्ति नहीं जान पड़ती।

मृच्छकटिक का रूपकत्व

मृच्छकटिक नाटक नहीं है, प्रकरण है। प्रकरण का नायक धीर-प्रशान्त होता है। मृच्छकटिक का नायक ब्राह्मण चारुदत्त भी धीर—प्रशान्त है। प्रकरण का वृत्त—कथावस्तु भी नाटक की भाँति प्रख्यात नहीं रहता, बल्कि कवि-कल्पित हुआ करता है। मृच्छकटिक की कथा—चारुदत्त तथा वसन्तसेना का संगम—शूद्रक के उर्वर मस्तिष्क की उपज है, इतिहास पुराण आदि में प्रसिद्ध नहीं। वस्तु तथा नेता के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से युक्त होने से अवश्य ही यह प्रकरण है[1]। 'मृच्छकटिक' के नामकरण का कारण चारुदत्त के पुत्र की मिट्टी की गाड़ी है, जिसमें लड़के को प्रसन्न करने के लिये वसन्तसेना ने अपने सोने के आभूषण उतार कर भर दिये थे और जिसके कचहरी में ले आने से आधिकरणिक को चारुदत्त के अभियोग का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया था। इसी के ही आधार पर जज को निश्चय हो गया कि चारुदत्त ने अवश्य ही वसन्तसेना की हत्या की है। यह घटना इस रूपक में बड़े महत्व की है। अतः इसीके कारण इस रूपक का नामकरण किया गया है।

---

१. साहित्यदर्पण में (६।२२४) प्रकरण का लक्षण—

भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्॥
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि क्वचिद् द्वयम्॥
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः॥

वस्तु, नेता तथा रस की भिन्नता के कारण रूपक की विभिन्नता हुआ करती है। अतः इन्हीं विषयों पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जायगा।

वस्तु-विचार

मृच्छकटिक की कथा वस्तु का विचार संक्षिप्त में यहाँ किया जायगा। प्रकरण का वृत्त लौकिक होना चाहिये—लोक सम्बन्धी चरित के ऊपर अवलम्बित होना चाहिये। साथ ही साथ उसे कवि कल्पित होना आवश्यक है। मृच्छकटिक की कथा कवि कल्पना से प्रसूत है और लोकप्रसिद्ध प्रेमघटना को लेकर यह रूपक लिखा गया है। उपकारी सज्जन कितना ही कष्ट उठावें, कितने ही संकट में फँसें, सत्यमार्ग को नहीं छोड़ते। यदि उनका आचार शुद्ध रहता है तो उनकी विजय अवश्य होती है। यह उपदेश बड़े सुन्दर ढंग से इस रूपक में दिया गया है। सदाचारी चारुदत्त को अन्त में विजयलक्ष्मी आलिंगन करती है—सच्ची प्रणयिनी वसन्तसेना अपने हृदयवल्लभ चारुदत्त को प्राप्त कर अपने को कृतकृत्य समझती है।

इस प्रकरण की कथावस्तु के दो अंश हैं—पहिला भाग चारुदत्त तथा वसन्तसेना का प्रेम, दूसरा भाग आर्यक की राज्यप्राप्ति। शूद्रक ने पहले अंश को भास के 'दरिद्र-चारुदत्त' नाटक से अविकल लिया है। शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार की समता इसमें दृष्टिगोचर हो रही है। जिज्ञासुजन दोनों को साथ-साथ पढ़ कर इस समता को जाँचें। राजनीतिक भाग कवि की अपनी सम्पत्ति है। यह अंश किसी ऐतिहासिक घटना को लक्ष्य करके लिखा गया है कि नहीं! इसका निर्णीत उत्तर नहीं दिया जा सकता। बहुत से आलोचक इस अंश को प्राचीन ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखा गया मानते हैं। दोनों अंशों को शूद्रक ने बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बद्ध किया है। पंचम अंक के विस्तृत वर्षा वर्णन को छोड़ शेष अंकों में अभिनय की सर्वत्र प्रधानता परिलक्षित हो रही है।

चरित्र-चित्रण

शूद्रक चरित्र चित्रण में खूब सिद्धहस्त हैं। इनके पात्र जीते जागते हैं, सजीवता की मूर्ति हैं। प्रत्येक पात्र में कुछ न-कुछ विशेषता है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त है। प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त ब्राह्मण, वणिक् या मन्त्री हुआ करता है। चारुदत्त ब्राह्मण है तथा धीर-प्रशान्त है। शूद्रक ने चारुदत्त के रूप में भारत के आदर्श नागरिक का चित्र खींचा है। वह सदाचार का निदर्शन है। कवि ने विट के द्वारा चारुदत्त का क्या ही सुन्दर वर्णन किया है!

दीनानां कल्पवृक्ष स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शं शिक्षितानां सुचरितनिकष शीलवेलासमुद्रः ।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः [redacted] जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥
—१।४८

चारुदत्त दीनों के कल्पवृक्ष हैं। दरिद्रों की सहायता करते उसे दरिद्रता आ घेरती है, परन्तु फिर भी वह दीनों की सहायता करने से विरत नहीं होता। उसमें आत्माभिमान की मात्रा खूब है। उसे जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि हमारे घर से छूछे हाथ लौट आनेवाला चोर अपने मित्रों से मेरी दरिद्रता की निन्दा करेगा। स्वभाव उसका बडा उन्नत है। वसन्तसेना का अलकार चोरी चला जाता है, उसे प्रसन्नता होती है कि उसके घर में सेंध मारनेवाला चोर विफल मनोरथ होकर नहीं गया। वसन्तसेना के अल्पमूल्य भूषण के बदले में बहुमूल्य रत्नावली देने में तनिक भी नहीं हिचकता। जो शकार उसके जीवन का गाहक था, जो उस पर वसन्त सेना के मारने का मिथ्या अभियोग लगाकर शूली पर चढाये जाने का कारण था, उसी दुष्टबुद्धि मूर्ख शकार को वह क्षमा कर देता है। सचमुच चारुदत्त के रूप में हम एक आदर्श हिन्दू सज्जन का मनोरम चित्र पाते हैं। **वसन्तसेना** उज्जयिनी की वेश्या है—इस प्रकरण की नायिका है। उसके चरित्र में हम अनेक स्त्रीसुलभ गुणों का सन्निवेश पाते हैं। वेश्या होने पर भी वह सच्चे प्रेम का मूल्य जानती है—माता के आग्रह करने पर भी वह शकार की सगति नहीं चाहती और विरोध करने पर भी सदाचारी आर्य चारुदत्त की प्रेमपात्री बनने के लिये वह सतत उद्योग करती है। उसका हृदय अत्यन्त कोमल है। सेवकों पर दया करना उसका स्वभाव है। यद्यपि शकार उसे मार डालने का उद्योग करता है, तथापि वह अपने सद्गुणों के कारण जीवित बच जाता है। वसन्तसेना तथा चारुदत्त के अतिरिक्त अन्य पात्रों के भी चरित्र चित्रण में शूद्रक को सफलता प्राप्त हुई है। **धूता** सच्ची पतिव्रता हिन्दू नारी है जो अपने पतिदेव की प्रसन्नता के लिये कठिन से कठिन सकट झेलने के लिये उपस्थित है। अपने पति को कलक से बचाने के लिये वसन्तसेना के अल्पमूल्य आभूषण के लिये बहुमूल्य रत्नावली देते समय उसे तनिक भी दुविधा नहीं होती। **रोहसेन** भी स्निग्ध हृदयपुत्र है। **मैत्रेय** केवल मोदक से अपनी उदर ज्वाला को शान्त करनेवाला 'औदरिक'—पेटू—नहीं है, न वह केवल हास्य का साधन है, प्रत्युत वह एक सच्चा मित्र है—विपत्ति में साथ देनेवाला सच्चा बन्धु। अन्य साधारण पात्रों में **शर्विलक** का चरित्र सज्जनता तथा दुर्जनता का अपूर्व मिश्रण है। वेश्या की गृहदासी **मदनिका** को अपनी प्रियपात्री बनाने

में यह ब्राह्मण देवता तनिक भी नहीं सकुचाते—उसे ऋणमुक्त करने के लिए चोरी करने में कुछ भी लज्जा नहीं, परन्तु अपने मित्र आर्यक के कारागृह में बन्धन की वार्ता सुन वह अपनी प्रणयिनी को छोड़ सहायता करने के लिये खम ठोककर 'मैदाने जंग' में आ जुटता है।

मृच्छकटिक में सबसे विचित्र नाटकीय पात्र है—**शकार**। यह राजा का श्यालक है। नाम है संस्थानक। यह गर्व का जीता-जागता पुतला है। इसमें दया छूकर भी नहीं है। वसन्तसेना को प्रणयपाश में बाँधना चाहता है, परन्तु वह इस मूर्ख को पसन्द नहीं करती। शकार चारुदत्त का अकारण शत्रु है। वसन्तसेना का गला अपने ही घोंट डालता है परन्तु दोष मढ़ता है चारुदत्त के सिर। अपने किये कर्म का फल चखने का भी सुयोग आता है परन्तु चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है। शकार के कथन सर्वथा दोषयुक्त होते हैं—

अपार्थमक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम्।
लोकन्यायविरुद्धं च शाकारवचनं विदुः॥

इसकी शकार-बहुला भाषा भी शाकारी के नाम से प्रसिद्ध है। यथा—

झाणज्झणन्तबहुभूशणशद्दमिश्शं
किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा।
एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दम्॥

—१।२५

अरी! अपने गहनों को झनझनाती हुई राम से डरी हुई द्रौपदी की तरह क्यों भग रही हो? मैं तुम्हें उसी भाँति ले भागता हूँ, जिस प्रकार हनुमानजी विश्वावसु की भगिनी सुभद्रा को ले भागे थे। रामायण तथा महाभारत की कथा की कैसी अच्छी जानकारी है! वास्तव में मृच्छकटिक के पात्र जीते-जागते मालूम पड़ते हैं।

सामाजिक अवस्था

मृच्छकटिक में तत्कालीन हिन्दू समाज का सच्चा चित्र हमें मिलता है। राजा का प्रभुत्व अधिक था, परन्तु वह अपने मन्त्रियों की सहायता से राज्य संचालन किया करता था। पुलिस का इन्तजाम भी उस समय में अच्छा था। उस समय मनुस्मृति के अनुसार मुकद्दमों का फैसला हुआ करता था—मनु की प्रामाणिकता सर्वत्र मानी जाती थी। अधिकरणिक (जज) की सहायता करने के लिये 'असेसर' हुआ करते थे जिसमें ब्राह्मण तथा साहूकारों को भी जगह मिलती थी। वैश्यों का उस समय अच्छा संगठन था। वे दूर देशों से व्यापार किया करते थे—विदेशों में उनके जहाज भी आया-जाया करते थे। ब्राह्मणों का काम केवल अध्ययन अध्यापन ही न था, बल्कि उनमें भी बड़े बड़े धनाढ्य—सम्भवतः

व्यापार से धन प्राप्त करनेवाले व्यक्ति थे। आर्य चारुदत्त के पितामह बड़े भारी सेठ थे। ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे—उनके घर मन्त्रपाठ से सदा गूंजा करते थे। ब्राह्मण धर्म पर खूब विश्वास था। उस समय की धार्मिक-चर्या आजकल से भिन्न न था। सन्ध्यावन्दन, बलि देना, देवताओं के मन्दिर में सायंकाल को दीपदान आदि आजकल की तरह उस समय भी प्रचलित थे। इन्द्रध्वज तथा कामदेवोत्सव आदि उत्सवों का सर्वत्र प्रचार था। ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म भी समुन्नत दशा में था। चैत्य और विहार भिक्षुओं के लिये बने थे, जिनमें रोगियों की शुश्रूषा भी हुआ करती थी। उस समय लोग धनाढ्य थे—वसन्तसेना के महल में राजसी ठाट बाट था। इतना होने पर भी दाम देकर खरीदे गये दासों की प्रथा उस समय थी परन्तु क्रीत दासों की दशा बहुत अच्छी थी—उनके साथ मालिक का व्यवहार बहुत अच्छा होता था।

प्राकृत भाषा

मृच्छकटिक का विशेषता उसकी प्राकृत भाषा है। जितनी प्राकृत भाषायें इसके पात्रों के भाषणों में उपलब्ध होती हैं, उतनी अन्य किसी नाटक में नहीं। मृच्छकटिक की विवृति लिखनेवाले पृथ्वीधर के अनुसार यह भाषा निर्देश किया जाता है। सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, शोधनक श्रेष्ठी—ये ग्यारह पात्र शौरसेनी बोलते हैं। वीरक और चन्दनक अवन्तिभाषा बोलते हैं। विदूषक की भाषा प्राच्या है। संवाहक, वसन्तसेना तथा चारुदत्त के तीनों चेट (नौकर), भिक्षु और रोहसेन—ये ६ पात्र मागधी बोलते हैं। शकार शकारी, दोनों चाण्डाल चाण्डाली, माथुर और द्यूतकर ढक्क भाषा का प्रयोग करते हैं। इन भाषाओं का लक्षण संक्षेप में पृथ्वीधर ने अपनी विवृति के आरम्भ में दिया है। कुछ विस्तार के साथ इनके लक्षण मार्कण्डेय कवीन्द्र के 'प्राकृतसर्वस्व' में मिलेंगे। लक्षण वहीं से देखना चाहिये।

कविता

शूद्रक की शैली बड़ी सरल है। बड़े-बड़े छन्दों का बहुत कम प्रयोग किया गया है। नये नये भाव स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इस प्रकरण का मुख्य रस शृंगार है। रस की विभिन्न सामग्री से परिपुष्ट कर शृंगार का सुन्दर रूप कवि ने दिखलाया है। शूद्रक ने वर्षा का बड़ा विशद वर्णन किया है। इसमें चमत्कार जनक अनेक सूक्तियाँ हैं। धर्मप्राण चारुदत्त को मेघाच्छन्न आकाश के देखने पर वामन भगवान् की लीला स्मरण हो आती है—

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः।

आभाति संहतबलाकगृहीतशङ्ख
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्त ॥

—५।२

जल से भीगे भैंसे के उदर तथा भौंरे की तरह मेघ नीला है। इसमें बिजुली की चमक पैदा हो रही है, यही पीली चादर जान पड़ती है। बलाका—बकपंक्ति—मेघ के समीप उड़ रही है। वह शङ्ख की तरह है। आकाश में इस प्रकार मेघ को देखकर मालूम होता है कि दूसरे केशव नभोमण्डल को आक्रमण करने के लिये उद्यत हैं।

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ता कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥

—५।२५

जिस प्रकार दुर्जन के साथ किया गया उपकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ताराएँ नष्ट हो गई हैं। प्रियों से वियुक्त स्त्रियों की तरह दिशाएँ शोभित नहीं होतीं। इन्द्र के वज्र की अग्नि से भीतर ही भीतर अत्यन्त तपाया गया यह आकाश, जान पड़ता है, पिघल पिघल कर पानी के रूप में पृथ्वी पर गिर रहा है। पूर्वार्द्ध में उपमाएँ तथा उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा अवलोकनीय है।

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटञ्च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥

—९।१४

इस श्लोक में राजकरण—कचहरी—का खूब सच्चा वर्णन किया गया है। शूद्रक का कहना है कि कचहरी समुद्र की तरह जान पड़ती है। चिन्तामग्न मन्त्री लोग जल है, दूतगण लहर तथा शङ्ख की तरह जान पड़ते हैं—इधर उधर दूर देशों में घूमने के कारण दोनों की यहाँ समता दी गई है। चारों ओर रहनेवाले 'चार'—आजकल के खुफिया पुलिस—घड़ियाल हैं। यह समुद्र हाथियों तथा घोड़ों के रूप में हिंस्र पशुओं से युक्त है। तरह-तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले हैं। कायस्थ—मुशी लोग जहरीले सर्प हैं। नीति से इसका तट टूटा हुआ है। यह प्राचीन काल के राजकरण का वर्णन है, आजकल की कचहरी तो कई अशों में इससे भी बढ़कर है। कचहरी में पहले पहल पैर रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की सत्यता का अनुभव पद-पद पर होगा।

शर्विलक के चरित्र का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये ब्राह्मण देवता आर्य चारुदत्त के घर में रात को सेंध मारने जाते हैं। पहुँचने पर उन्हें मालूम पड़ता है कि वह अपना मानसूत्र भूल आये हैं। झटपट गले में पड़े रहनेवाले डोरे की—जनेऊ की—सुधि उन्हें हो आती है। बस आप इसीसे अपना कार्य सम्पादन करते हैं। इस प्रसंग में यज्ञोपवीत की उपयोगिता सुन लीजिये—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यं विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गा-
नेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च॥

—३। १७

भाई, ब्राह्मणों के लिये जनेऊ बड़े काम की चीज है, विशेष करके हमारे जैसे (चोर) ब्राह्मण के लिये। क्योंकि जनेऊ से भीत पर सेंध मारने की जगह को नापते हैं। आभूषणों के बन्धन जनेऊ के द्वारा छुड़ाये जाते हैं। यन्त्र से दृढ़ रूप से लगाये गये किवाड़ों को इसकी सहायता से खोलते हैं और यदि साँप या कीट काट खाय, तो उसे जनेऊ से बाँध भी सकते हैं (जिससे विष न चढ़े) ठीक ही है। चोर ब्राह्मण के लिये जनेऊ का और उपयोग ही क्या है।

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डु-
र्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पङ्के दुग्धधाराः पतन्ति॥

—१। ५७

चन्द्रोदय का वर्णन है। कामिनी के गण्डस्थल की तरह श्वेत रंगवाला, नक्षत्रों के परिवार के साथ, राजमार्ग का प्रदीप, यह चन्द्रमा उदय हो रहा है। उसकी सफेद किरणें जब अन्धकार के समूह पर गिरती हैं, तो मालूम पड़ता है कि (काले) कीचड़ में, जिससे पानी चू गया है, दूध की (सफेद) धाराएँ गिरती हैं। काले अन्धकार-समूह में चन्द्र-किरणों का क्या ही विचित्र वर्णन है।

—:o:—

भारवि

संस्कृत 'बृहत् त्रयी' में भारवि की अमर कृति 'किरातार्जुनीय' सर्वप्रथम है। काव्य संसार में एक अनुपम शैली के आविर्भावक होने के हेतु भारवि की ख्याति पर्याप्त रूप से विस्तृत है।

महाकवि भारवि का नाम संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्ध है। 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य की ख्याति पण्डित समाज में खूब ही है। विज्ञ पण्डित-जन जिन तीन विख्यात काव्यों को बृहत्त्रयी के नाम से पुकारते हैं और जिनका अध्ययन संस्कृत कविता पढ़ने वालों के लिए नितान्त आवश्यक बतलाते हैं, उनमें किरातार्जुनीय प्रथम स्थान धारण करता है। यही किरातार्जुनीय महाकाव्य कविवर भारवि की अमर कृति है।

भारवि का जीवन वृत्तान्त अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके महाकाव्य से इस विषय में तनिक भी सहायता नहीं मिलती। पूरे ग्रन्थ भर में कवि ने अपने विषय में कहीं भी परिचयात्मक संकेत कुछ भी नहीं लिखा है परन्तु सबसे पहिले दक्षिण के एक शिलालेख में इनका नामोल्लेख पाया जाता है। अनुमान यही होता है कि भारवि दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। इस अनुमान की हाल में ही यथेष्ट पुष्टि हुई है। अभी कुछ वर्ष बीते आचार्य दण्डी विरचित गद्यात्मक अवन्तिसुन्दरीकथा तथा उसीका पद्यात्मक अवन्तिसुन्दरीकथासार नामक सारांश उपलब्ध हुये हैं जिनसे भारवि के विषय में भी बहुत कुछ बातें ज्ञात हुई हैं। सौभाग्यवश दण्डी ने कथा के आरम्भ में अपने पूर्वजों का वृत्तान्त कुछ विस्तार के साथ दिया है। लिखा है कि दण्डी के चतुर्थ पूर्वपुरुष, जिनका नाम दामोदर था, नासिक के समीपस्थ अपनी जन्मभूमि को छोड़कर दक्षिण प्रान्त में चले आये। अवन्तिसुन्दरीकथा के सम्पादक पण्डित रामकृष्ण कवि ने इन्हीं दामोदर के साथ भारवि की एकता मानी है अर्थात् उनकी सम्मति में भारवि ही आचार्य दण्डी के चतुर्थपुरुष (प्रपितामह) थे, परन्तु जिस पद्य के आधार पर यह अभिन्नता मानी गई थी उसके पाठ अशुद्ध होने के कारण इस सिद्धान्त को अब बदलना पड़ा है। भारवि दण्डी के प्रपितामह नहीं थे, प्रत्युत प्रपितामह के मित्र थे क्योंकि भारवि की सहायता से ही दामोदर राजा विष्णुवर्धन की सभा में प्रविष्ट हुए। जो कुछ हो, इतना तो निश्चित है कि भारवि दक्षिण भारत के रहनेवाले थे और चालुक्यवंशी नरेन्द्र विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे।

दन्तकथा

पण्डितसमाज में भारवि के विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। सुनते हैं कि इनके पिता अपने पुत्र की वैदुषी से परिचित होने पर भी सभा में इनका इसलिए तिरस्कार किया करते थे, जिससे ये पाण्डित्य बढ़ाने में—शास्त्राभ्यास करने में—और भी दत्तचित्त हों, परन्तु पण्डितसमाज में अपनी निन्दा, तिसपर पिता के द्वारा की गई, सुनकर भारवि मन ही मन जल भुन गये और पिता को मार डालने का निश्चय किया। एक रात को मारने के लिये तलवार लेकर गये भी, परन्तु जब माता के सामने पिता के निन्दा करने के कारण को छिपकर सुना, तब बेचारे बड़े मर्माहत हुए। पिता के सामने गये और सरल हृदय की सच्ची बातें कह सुनाईं। पितृघातरूपी घोर मानस पातक के लिये पिता से प्रायश्चित्त भी पूछा। पिता ने ससुराल में जाकर सेवावृत्ति स्वीकार करने को कहा। बेचारे ससुराल में गये और अपने ससुर की गायें नित चराया करते थे। इनकी धर्मपत्नी भी वहीं थी। कार्यवश पत्नी ने इनसे पैसे माँगे, परन्तु भला उस समय भारवि के पास पैसे कहाँ? झट से इन्होंने अपना वह प्रसिद्ध पद्य पत्नी को किसी गुणग्राही साहूकार के पास गिरो रखने के लिए दिया। वह नीतिमय पद्य यह है—

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥

पद्य के मर्म को समझनेवाले किसी महाजन ने बहुत सा द्रव्य देकर इस पद्य को खरीद लिया और अपने शयनागार के सामने तख्ती पर इसे लिखकर लटका दिया। कार्यवश वह विदेश गया, वहाँ उसे कई वर्षों तक ठहरना पड़ा। जब लौटकर रात को घर आया तब उसने अपनी पत्नी के पास ही किसी वयस्क पुरुष को सोते हुये पाया। राह के थके माँदे बनिये को क्या खबर थी कि इतने वर्षों में उसका इकलौता बेटा भी बड़ा हो गया होगा—वयस्क बन गया होगा। पत्नी के कुव्यवहार से मर्माहत हो उसने सोते समय ही दोनों को मार डालने की ठानी, परन्तु घर में घुसने के समय उसका माथा 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' वाली तख्ती से टकराया। उसने श्लोक पढ़ा—सहसा करने से रुक गया, पत्नी को जगाया। तब उसके आश्चर्य की सीमा न रही, जब उसने उस वयस्क पुरुष को अपना वही प्यारा इकलौता पुत्र पाया। कल्पित अनिष्ट की आशंका से उसका अङ्ग सिहर गया। उसने भारवि को बुलाया, बड़ा सम्मान किया और पत्नी तथा पुत्र की जीवन रक्षा करनेवाले श्लोक के रचयिता के सामने अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की।

इस दन्तकथा की बातें सत्य हों या न हों परन्तु यह तो सबको मानना पड़ेगा कि भारवि के पद्य नीति के सुन्दर उपदेश से भरे हुए हैं। भारवि नीति से खूब परिचित थे। उनके उपदेश के अनुसार संसार में वर्तने से समुचित लाभ ही होगा।

भारवि परम शैव थे। यह बात किरातार्जुनीय के कथानक तथा अवन्ति सुन्दरीकथा के उल्लेख[1] से स्पष्ट प्रतीत होती है। राजाओं के सहवास से, जान पड़ता है, वे राजनीति के बड़े भारी जानकार हो गये थे। राजशेखर ने लिखा है कि राजा लोगों को बड़े बड़े शहरों में काव्य तथा शास्त्र की परीक्षा के लिए ब्रह्मसभाएं करनी चाहिए। उज्जयिनी में इसी प्रकार की सभायें होती थीं जिनमें बड़े-बड़े कवियों की परीक्षा ली जाती थी। कालिदास तथा भर्तृमेण्ठ की भाँति भारवि की भी उज्जयिनी में परीक्षा ली गई थी।[2]

भारवि की 'आतपत्रभारवि' भी संज्ञा थी। रसिकों ने जिस सुन्दर अर्थ से मुग्ध होकर इन्हें यह नाम दिया था वह नीचे के पद्य में व्यक्त किया गया है—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा-
दुद्भूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता-
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥

—५।३९

स्थल कमलों के वन के वन खिले हैं उनसे पीत पराग झर रहे हैं। हवा झोंके से बह रही है। वह पराग को उड़ाकर आकाश में फैला दे रही है। इस प्रकार कमल का पराग सोने के बने छाता की शोभा धारण कर रहा है। आकाश में फैला हुआ पराग सोने के बने पीले छाते की तरह जान पड़ता है। श्लोक का भाव बिल्कुल अनूठा है। सहृदयों को भारवि के 'कनकमय आतपत्र' का प्रयोग इतना अच्छा लगा कि उन्होंने भारविकवि का नाम ही इसी के कारण 'आतपत्र भारवि' रख दिया।

---

१ यतः कौशिककुमारो (दामोदर) महाशैवं महाप्रभावं गवां प्रभवं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।

२ श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

स्थितिकाल

भारवि किस समय में हुए ? इसका पता उनके ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से नहीं चलता। बहिरंग प्रमाणों के द्वारा उसे जानने के इस समय हमारे पास यथेष्ट साधन हैं। कालिदास के साथ भारवि का नाम दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय के ऐहोड के शिलालेख में मिलता है। यह शिलालेख दक्षिण में बीजापुर जिले के ऐहोड नामक ग्राम में एक जैन मन्दिर में मिला है। इस शिलालेख का समय[1] ५५६ शकाब्द (अर्थात् ६३४ ईस्वी) है। शिलालेख की प्रशस्ति पुलकेशी के आश्रित **रविकीर्ति** नामक किसी जैन कवि की है। प्रशस्ति के अन्त में रविकीर्ति अपने को कविता निर्माण करने में कालिदास तथा भारवि के समान यशस्वी बतलाता[2] है। गंग नरेश दुर्विनीत के समय के शिलालेख से ज्ञान पड़ता है कि **दुर्विनीत** ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी।[3] यह टीका लिखना उचित ही था क्योंकि पूरे महाकाव्य में यही सर्ग चित्रकाव्य होने के कारण सबसे अधिक क्लिष्ट है। इन उल्लेखों से यही पता चलता है कि ६३४ ईस्वी तक इनका नाम दक्षिण में प्रसिद्ध हो चुका था। अतः यह भारवि के लिए अन्तिम अवधि है।

अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर भारवि **विष्णुवर्धन** के सभापण्डित बताये गये हैं। विष्णुवर्धन पुलकेशी द्वितीय का अनुज था और वह ६१५ ईस्वी के आसपास महाराष्ट्र प्रान्त में अपने भाई की आज्ञा से राज्य करता था। उसके समकालिक होने से भारवि का समय सप्तम शताब्दी का आरम्भ काल होना चाहिये अर्थात् मोटी तरह से यही कहना चाहिये कि ६०० ईस्वी के आसपास भारवि विद्यमान थे।

ग्रन्थ

भारवि की अमर कीर्ति जिस काव्य पर अवलम्बित है वही सुप्रसिद्ध किरातार्जुनीय नामक महाकाव्य है। इनकी यही एकमात्र रचना है।

किरातार्जुनीय का कथानक महाभारत से लिया गया है। वह संक्षेप में यहाँ दिया जाता है। द्यूतक्रीडा में हार कर युधिष्ठिर द्वैतवन में रहते थे।

---

१. पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥

२. येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

३. शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्ढकथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।

दुर्योधन की शासन-प्रणाली देखने के लिये उन्होंने एक वनेचर को भेजा। वनेचर पूरी जानकारी प्राप्त कर लौटा और दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की बातें बतलाईं। भीम और द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने के लिये उत्तेजित किया, परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़कर समर छेड़ने की बात कथमपि स्वीकार नहीं की। इसी बीच में भगवान् वेदव्यास जी भी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने अर्जुन को पाशुपतास्त्र पाने के लिये इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के हेतु भेजा। अर्जुन ने कठिन तपस्या की। व्रतभंग करने के लिये दिव्याङ्गनायें भी आईं, परन्तु व्रती अर्जुन अपने व्रत से तनिक भी नहीं डिगा। भगवान् इन्द्र स्वयं अर्जुन के आश्रम में आये और मनोरथसिद्धि के लिये शिवजी की तपस्या करने का उपदेश दे गये। अर्जुन ने और भी दत्तचित्त से शिव की आराधना की। मुनिगणों के कहने पर शिव ने अर्जुन के तपोबल की परीक्षा करने के लिये किरात का रूप धारण किया। एक मायावी शूकर अर्जुन की ओर भेजा गया। अर्जुन ने शूकर पर अपना बाण छोड़ा, साथ ही साथ किरात ने भी अपने शरों को छोड़ा। अर्जुन का बाण सूअर का काम तमाम कर पृथ्वी में चला गया। बचे हुये बाण के लिये झगड़ा छिड़ गया। कभी धनञ्जय की विजय होती, तो कभी किरात का पक्ष प्रबल होता। अन्ततोगत्वा दोनों बाहुयुद्ध पर तुल गये। गाण्डीवी के बल से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने स्वयं अपना दर्शन दिया और अपना अमोघ पाशुपत अस्त्र देकर अर्जुन की अभिलाषा पूरी की।

मल्लिनाथ ने किरात का परिचय इस सुन्दर श्लोक में दिया है—

> नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज-
> स्तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
> शृङ्गारादिरसोऽयमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः
> शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

किरात में १८ सर्ग हैं जिनमें ऊपर वर्णित कथानक का वर्णन किया गया है, परन्तु बीच के कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के लक्षणानुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त तथा जलक्रीड़ा का बहुत कुछ विस्तार किया है। पूरा चौथा सर्ग शरद् ऋतु, पंचम हिमालय पर्वत, षष्ठ युवतिप्रस्थान, अष्टम सुराङ्गना विहार तथा नवम सुरसुन्दरी सम्भोग के वर्णन में लगाये गये हैं। किरात में प्रधान रस वीर है। शृंगार रस भी गौण रूप से वर्णित किया है, वह मुख्य रस का अंगभूत ही है। किरात का आरम्भ 'श्री' शब्द से (श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीम्) होता है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द आया है। कहना व्यर्थ है कि भारवि ने 'मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' के अनुसार मङ्गलार्थक लक्ष्मी शब्द का प्रयोग प्रति सर्ग के अन्त में किया है।

कविता

भारवि का काव्य अपने 'अर्थगौरव' के लिये विवेचकों में प्रसिद्ध है। जिस प्रकार विद्वत्समाज ने कालिदास की उपमा की प्रशंसा की है, उसी प्रकार उसने भारवि के अर्थगौरव को सराहा है। 'भारवेरर्थगौरवम्'। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थगौरव की पहिचान है। भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों के द्वारा प्रकट कर वास्तव में अपनी अनुपम काव्य चातुरी दिखलाई है। भारवि ने भीम के भाषण की प्रशंसा युधिष्ठिर के द्वारा जिन शब्दों में कराई है, वे ही शब्द इनकी कविता के भी यथार्थ निदर्शन हैं—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

—२। २७

भारवि ने अपने काव्य को अलङ्कार से विभूषित करने में खूब प्रयत्न किया है। ऋतु, जलक्रीडा, चन्द्रोदय का वर्णन बड़ी सुन्दर भाषा में किया है। चतुर्थ सर्ग में शरद् ऋतु का वर्णन इतना नैसर्गिक और हृदयग्राही हुआ है कि इस जोड़ का दूसरा वर्णन ढूँढ निकालना जरा कठिन है। अन्य प्राकृतिक दृश्यों का भी वर्णन खूब अनूठा हुआ है। उपमा, श्लेष आदि अलङ्कारों का प्रयोग भी उचित स्थान पर किया गया है। भारवि ने चित्रकाव्य लिखने में अपनी चातुरी दिखलाने के लिये एक समग्र सर्ग—पञ्चदश—ही लिख डाला है। इस सर्ग में सर्वतोभद्र, यमक, विलोम तथा अन्यान्य चित्रकाव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। भारवि ने एक ही अक्षर वाला भी एक श्लोक[1] लिखा है जिसमें 'न' के सिवाय अन्य वर्ण है ही नहीं। अतः कहीं कहीं इनका काव्य कठिन-सा हो गया है। इसीलिये मल्लिनाथ ने इनके काव्य को नारिकेल फल के समान बतलाया है (नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः)। इतना होने पर भी इनकी कविता में एक विचित्र चमत्कार है—मनोरम गाम्भीर्य है जो पाठकों के हृदय को अपनी ओर खींच लेता है।

भारवि नीति के, विशेषतः राजनीति के, बड़े भारी ज्ञाता प्रतीत होते हैं। पूरे काव्य में नीति भरी पड़ी है। भारवि के कितने ही नीति—वाक्य पण्डितों की जिह्वा पर नाचते हैं। 'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः' 'न वञ्चनीयाः प्रभवो ऽनुजीविभिः', 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' 'विश्वासयत्याशु सतां हि योगः'

[1] ननोननुन्नो नुन्नोनेनाना नानाननानुनु
नुन्नोऽनुन्नोननुन्नेनोनानेनानुन्ननुन्ननुत्।

—१५। १४

'सुदुर्लभा' सर्वमनोरमा गिरः', 'गुरुतां नयन्ति हि गुणाः न संहतिः', 'गुणा' प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तव'—आदि भारवि के अनेक वाक्य इतने लोकप्रिय और प्रसिद्ध हैं कि सर्वसाधारण इसका प्रयोग भारवि के नाम से अनवगत होने पर भी करते हैं। राजनीति का भी विशिष्ट वर्णन किरातार्जुनीय में उपलब्ध होता है। द्वितीय सर्ग में भीमसेन और युधिष्ठिर का संवाद राजनीति के गूढ़ तत्वों से भरा हुआ है। अन्य सर्गों में राजनीति के ऊँचे सिद्धान्त उचित स्थान पर रखे गये हैं।

भारवि ने बहुत से छन्दों में कविता की है परन्तु सबसे अधिक सुन्दरता से वंशस्थ का प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ वृत्त को राजनीतिक विषयों के वर्णन के लिये सबसे अधिक उपयुक्त माना है—

पाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।

अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजनीति के विशेषज्ञ भारवि का वंशस्थ सबसे अच्छा हुआ है। लेखक को तो यही प्रतीत होता है कि भारवि के द्वारा वंशस्थ के इतने सुचारु रूप से प्रयोग किये जाने के कारण ही सम्भवतः क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ को राजनीति वर्णन के लिये उपयुक्त माना है। क्षेमेन्द्र ने भारवि की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

—सुवृत्ततिलके

अब भारवि के कुछ श्लोक नमूने के तौर पर दिये जाते हैं—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां,
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः॥

दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की कथा सुनकर द्रौपदी व्यग्र हो जाती है और युधिष्ठिर को क्रोध कर लड़ाई करने की सलाह दे रही है। क्रोध की प्रशंसा करते हुए वह कह रही है कि जिस मनुष्य का क्रोध व्यर्थ नहीं होता, वही आपदाओं को पार करता है, इतर प्राणी आप ही आप उसके वश हो जाते हैं; परन्तु यदि कोई प्राणी क्रोधशून्य है तो मित्र होने पर न तो उसका आदर ही होता है और न शत्रु होने पर उससे भय। दोनों अवस्थाओं में उसकी स्थिति व्यर्थ है। अतः उचित स्थान पर क्रोध अवश्य करना चाहिये।

करोति यः सर्वजनातिरिक्तां
सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे
न पूरणी तं समुपैति संख्या ॥

किसी मनुष्य में योग्यता होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे उचित है कि वह सब व्यक्तियों से बढ़कर होनेवाली अपनी योग्यता को कार्यों के द्वारा अर्थवती—सफल—बनावे। यदि वह ऐसा करता है, तो सभा में योग्य पुरुषों की गणना में उसे दूसरा नंबर कभी नहीं मिलता—वह सदैव पहला गिना जाता है।

उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा-
दपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं
गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः ॥

सायंकाल का दृश्य है। शाम को गोचर भूमि से, जहाँ वे रात के पिछले पहर में गई थीं, गायें झुण्ड की झुण्ड लौटी आ रही हैं। उनके थन दूध से भर गये हैं, जल्दी चल नहीं सकतीं। अतः धीरे-धीरे चल रही हैं। अपने प्यारे बछड़ों की याद आ रही है इसलिये उनके मोटे थनों से दूध चू रहा है। गायों के इस झुण्ड ने अर्जुन को देखने के लिये अत्यन्त उत्सुक बना डाला। शाम को चरागाह से घर लौटने वाली गायों का यह चित्र कितना नैसर्गिक है! गाँवों में इस दृश्य को देखने वाले इसकी सचाई की स्तुति जरूर करेंगे।

गायों को चराने वाले बेचारे ग्वाले भी क्या ही सरलता की मूर्ति हैं। भारवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

गतान् पशूनां सहजन्मबन्धुतां
गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः
कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥

ये गोपाल पशुओं के साथ भाई का सा प्रेम करते हैं। घर का सा प्रेम वन में रखते हैं—जंगल को घर सा समझते हैं। इतने सीधे हैं कि गायें उनकी सरलता का अनुकरण करती सी दीख पड़ती हैं। ग्वालों के इन सच्चे रेखाचित्रों का यह वर्णन यथार्थ है।

उपैति शस्यं परिणामरम्यता
नदीरनौद्धत्यमपङ्कता महीम्।
नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं
तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः ॥

शरद् ऋतु का स्वाभाविक वर्णन है। धान पक गये हैं, अतः सुन्दर मालूम पड़ रहे हैं। नदियों में वर्षाकाल वाली उद्धतता नहीं है। पृथ्वी पर पंक बिल्कुल सूख गया है। वर्षाकाल की शोभा के प्रेम को अत्यन्त परिचित, अतः स्थिर होने पर भी, इस शरद् ने अपने नये गुणों के कारण छिपा डाला है— शरद् के सामने अब वर्षा को सब भूल गये हैं। ठीक है, गुण की कद्र होती है परिचय की नहीं।

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां
गता विपाकेन फलस्य शालयः।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं
नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥

खेत में बालियों के पक जाने पर धान के पौधे पीले पड़ गये हैं। बालियों के बोझ के कारण पौधे झुक गये हैं। जान पड़ता है कि खेत के जल में खिले हुए, गन्ध द्वारा जाने गये, इन नीले कमलों को सूंघने के लिए ये पौधे झुके हैं। कवि ने बहुत ठीक कहा। बालियों के बोझ से अवनत धान के पौधों पर क्या ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है। कवि ने अपना प्रकृतिज्ञान खूब अच्छे ढंग से अभिव्यक्त किया है।

मृणालिनीनामनुरंजितं त्विषा
विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं
द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ॥

धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली हैं। कमल लता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमल के पत्तों की शोभा के साथ जल की शोभा मिल रही है। खेत में धानों की पकी पकी पीली शिखा (बालियाँ) सिरे पर हिल रही हैं जिनसे जल भी पीला हो गया है। इस प्रकार खेत का जल ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंगबिरंगा धनुष, गलकर पानी के रूप में बह रहा हो। क्या ही अनोखी कल्पना है।

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः
शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥

शरद का सुहावना समय है। सुग्गों की पाँत की पाँत उड़ रही है। शिरीष के फूल की तरह कोमल हरे शुकों की पाँत मूंगे के टुकड़े के समान लाल लाल चोंचों में धान की पीली पीली बालियों को लिए हुए आकाश में उड़ी जा रही है। मालूम पड़ता है कि आकाश में इन्द्रधनुष उगा हो। सुग्गों का शरीर है हरा, चोंच है लाल, उन चोंचों में ली हुई धान की बालियाँ हैं पीली—वाह! इन रंगों की मिलावट क्या इन्द्रधनुष से कम सुहावनी जंचती है। भारवि ने शरद के इस शोभन दृश्य को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। कल्पना एकदम नई है—वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है।



भट्टि

संस्कृत भाषा में निबद्ध 'शास्त्रकाव्यों' में भट्टिरचित महाकाव्य आदिम ग्रन्थ माना जाता है। आधुनिक आलोचक काव्य के द्वारा व्याकरण सिखलाने के इस विशाल तथा दुराराध्य प्रयत्न को हँसी उड़ाये न रहेगा, परन्तु प्राचीन आलोचक ऐसे शास्त्रकाव्यों को निरर्थक वाग्जाल नहीं मानता था।

संस्कृत साहित्य में भट्टिकाव्य एक उन्नत स्थान रखता है। सरलता से व्याकरण सिखलाने में यह महाकाव्य अनुपम है। इसके ग्रन्थकार का नाम किन्हीं की सम्मति में भर्तृहरि है। ये लोग शतकत्रयी के प्रसिद्ध रचयिता भर्तृहरि को ही इस महाकाव्य का कर्ता मानते हैं परन्तु यह कथन सत्य नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में इन दोनों की एकता मानने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है। प्रत्युत जहाँ शतकों से कोई पद्य उद्धृत किया गया है वहाँ स्पष्टतः श्री भर्तृहरि का नाम उल्लिखित है और भट्टिकाव्य के पद्य श्रीभट्टि स्वामी, भट्टि आदि के नाम से उद्धृत किये गये हैं। दोनों के एक ही व्यक्ति होने पर यह भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती। अतएव भट्टिकाव्य के रचयिता का नाम भर्तृहरि न होकर भट्टि स्वामी या भट्टि है।

समय

भट्टिस्वामी की जीवन घटनायें अज्ञान के गाढ़ अन्धकार में अभी तक छिपी हैं। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार लिखता है—

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां
श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य
क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥

अर्थात् श्रीधरसेन राजा के द्वारा शासित वलभी नगरी में मैंने इस काव्य को बनाया। इस काव्य से उस राजा की कीर्तिकौमुदी चारों ओर फैले। इससे जान पड़ता है कि भट्टिस्वामी का वलभी[1] के राजा श्रीधरसेन की सभा

---

१ यह 'वलभी' नगरी गुजरात की प्राचीन राजधानी थी। गुप्त राजाओं के पतन के अनन्तर यहाँ पर स्वतन्त्र राजाओं ने बहुत दिन तक राज्य किया और उन्हीं के समय में यह नगरी अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। इसी के नाम पर इन

में सत्कार होता था सम्भवत ये उनके सभापण्डित थे। अत श्रीधरसेन का काल ही भट्टिकाव्य का निर्माण काल है। शिलालेखों में वलभी में राज्य करने वाले श्रीधरसेन नामधारी चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का काल ५०० ई० के आस पास है और अन्तिम राजा का ६५० के लगभग। इन चारों राजाओं में से भट्टिस्वामी किस श्रीधरसेन के शासन काल में थे? यह कहना अत्यन्त दुष्कर है परन्तु श्रीधरसेन द्वितीय के एक शिलालेख में किसी भट्टिनामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। इस शिलालेख के भट्टि तथा महाकवि भट्टि को एक मानने में कोई भी साधक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु यदि दोनों नाम-साम्य से एक मान लिये जाय तो भट्टिस्वामी का समय प्राय निश्चित सा हो जायगा। इस शिलालेख का समय ६१० ई० के आस-पास है। अतएव भट्टिस्वामी का समय भी ईसा की छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सातवीं का आरम्भ सिद्ध होता है। दोनों की भिन्नता मानने पर भी हम यह निसन्देह कह सकते हैं कि सातवीं सदी के मध्य काल से पहिले भट्टिकाव्य की रचना की गई थी।

ग्रन्थ

भट्टिस्वामी का ग्रंथ उन्हीं के नाम पर भट्टिकाव्य कहलाता है। इसे रावण-वध भी कहते हैं। यह महाकाव्य २० सर्गों में समाप्त हुआ है, इसमें ३६२४ पद्यों का विशाल सन्निवेश किया गया है। इस महाकाव्य में मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र की जीवन घटनायें सरल रीति से वर्णन की गई हैं। इस महाकाव्य का सुन्दर उद्देश्य यह है कि मनोरंजन के साथ साथ संस्कृत व्याकरण का पूर्ण ज्ञान पाठकों को प्राप्त हो जाय। कितने विद्वानों ने शास्त्र काव्यों का निर्माण कर शब्द-व्युत्पत्ति तथा शब्द प्रयोग का ज्ञान साथ ही साथ कराने का स्तुत्य कार्य किया है। केवल भट्टिकाव्य ही इस प्रकार के काव्य का नमूना नहीं है बल्कि अन्य काव्य भी संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं। काश्मीर—देशीय भट्टभीम कृत "रावणार्जुनीय" काव्य भी इसी तात्पर्य से लिखा गया है। पातंजल महाभाष्य में उद्धृत कतिपय पद्यांशों से यह अनुमान निकाला जा सकता है कि महर्षि पतंजलि के समय में भी ऐसे वैयाकरण काव्यों का उद्भव हो चुका था। अतएव भट्टिस्वामी ने अपने पूर्व विद्वानों के द्वारा अभ्यस्त मार्ग का अनुसरण बड़ी उत्तम रीति से किया है। ग्रन्थकार ने पुस्तक का उद्देश्य बड़ी योग्यता से पूर्ण किया है।

राजाओं ने 'वलभी सवत्' चलाया। गुप्त शासन काल में प्रचलित होने वाले गुप्त सवत् को ही गुप्तों के पतन के बाद 'वलभी सवत्' नाम प्राप्त हुआ।

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥

भावार्थ—यह महाकाव्य व्याकरण जाननेवालों के लिये बड़ा उपकारक है। व्याकरण जाननेवालों के लिये यह ग्रन्थ दीपक की तरह ग्रन्थ शब्दों को प्रकाशित कर देगा। जिस प्रकार अन्धों के हाथ में रहने पर भी दर्पण प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कराता है उसी प्रकार व्याकरण न जाननेवालों के लिये यह ग्रन्थ व्याकरण का परिचय प्रत्यक्ष रीति से नहीं कराता।

यद्यपि व्याकरण सरलता को लक्ष्य में रखकर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है, तथापि पाठकों को भूलना न चाहिये कि यह काव्य है नहीं नहीं, महाकाव्य है, व्याकरण ग्रन्थ नहीं। अतएव महाकाव्य के आवश्यक गुणों का निर्वाह कविवर ने बड़ी योग्यता के साथ किया है। भट्टिकाव्य के चार सर्गों की दसवें से लेकर तेरहवें तक की छटि काव्य की विलक्षणताओं को प्रदर्शित करने के लिये की गई है। दसवाँ सर्ग शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की सुन्दर छटा से सुशोभित है। एकादश सर्ग का सृष्टि माधुर्यगुण की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। उदात्त तथा अद्भुत भावों के प्रकटीकरण के लिये समग्र द्वादश सर्ग निर्मित हुआ है। त्रयोदश में भाषासमित्रता खूब मनोमोहक है।

भट्टि में वक्तृत्व शक्ति का उत्तम दर्जा विद्यमान थी। इसके प्रमाण भट्टि काव्य के कतिपय पात्रों के भाषण हैं। वसन्त के राजनैतिक भाषण से कविवर के राजनीतिक ज्ञान का परिचय हमें मिलता है। रावण की सभा में उपस्थित होने पर शूर्पणखा का भाषण भी बड़े महत्त्व का है। कविवर ने भाषणों को इन पात्रों के समुचित ही निविष्ट किया है। शूर्पणखा के भाषण (५म सर्ग) से हम कुलटा के कुटिल स्वभाव का परिचय हमें साफ तौर से मिलता है। प्राकृतिक दृश्यों के रमणीय वर्णन करने में कविवर भट्टि की शक्ति अच्छी दीख पड़ती है। द्वितीय सर्ग में शरद् ऋतु का विमल वर्णन वास्तव में है। द्वादश सर्ग में प्रातःकाल का कमनीय वर्णन किया गया है। कहीं कहीं माघ के पद्यों पर भट्टि के पद्यों की छाया स्पष्ट दृग्गोचर हो रही है। कवि भट्टि अपने प्रशंसनीय उद्योग में पूरे सफल हुए हैं। इस काव्य के अनुशीलन से पाठकों को काव्यपरिचय के साथ साथ संस्कृत व्याकरण का भी यथेष्ट ज्ञान हो जाता है।

सूर्योदय का क्या ही रमणीय वर्णन है—

दुरुत्तरे पङ्क इवान्धकारे मग्नं जगत् सन्ततरश्मिरज्जुः।
प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रत्युज्जहारेव ततो विवस्वान्॥

भावार्थ—यह समस्त संसार गहरे कीचड़ की तरह गाढ़ान्धकार में धँसा हुआ है, जिससे स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों के शरीर बिल्कुल नहीं दिखाई

पड़ते। उदयाचल पर उदय होने वाला सूर्य रस्सीरूपी किरणों को चारों ओर फैलाकर उप अन्धकार से संसार को मानो उठा रहा है। क्या ही सहृदयमर्मस्पर्शिणी उत्प्रेक्षा है! जिस प्रकार कीचड़ में फँसे हुए मनुष्य को कोई उपकारी सहायता द्वारा बाहर निकालता है उसी प्रकार घने अन्धकार में पड़े हुए संसार को सूर्य भगवान अपनी रश्मियों से बाहर निकाल रहे हैं। धन्य हैं उपकारी सविता!

चन्द्रास्त पर कविवर की एक उत्प्रेक्षा सुनिये —

क्व ते कटाक्षाः क्व विलासवन्ति प्रोक्तानि वा तानि ममेति मत्वा।
लङ्काङ्गनानामवबोधकाले तुलामनारुह्य गतोऽस्तमिन्दुः॥

लङ्का की युवतियों के मुख की समता भला चन्द्रमा पा सकता है! उन मुखों में कटाक्ष तथा विलास युक्त वचनों का निवास है। परन्तु चन्द्रमा न तो तिरछे कटाक्षों को फेंक सकता है और न विलास भरे वचनों को कह सकता है। अतएव युवतियों के जागने पर मेरी समता उनके मुख के साथ नहीं हो सकती, यही सोचकर चन्द्रमा सुबह होते ही डूब रहा है। क्या अच्छी कल्पना है!

शरद-विषयक कुछ रमणीय उक्तियों को जरा पढ़िये —

तरङ्गसंगाच्चपलैः पलाशैः ज्वालाश्रियं सातिशयां दधन्ति।
सधूमदीप्ताग्नि-रुचीनि रेजुस्ताम्रोत्पलान्याकुलषट्पदानि॥

भावार्थ—तालाबों में विकसित रक्त कमलों की शोभा जलती हुई अग्नि की तरह हो रही है। लहरों के झोंकों से नवीन पत्ते हिल रहे हैं जिसे देखकर जान पड़ता है कि अग्नि की ज्वालायें उठ रही हैं। कमलों के ऊपर बैठे हुए भौंरे धुएँ की तरह जान पड़ते हैं। अतएव ये कमल धूमवाली जलती आग के समान शोभित हो रहे हैं। क्या ही स्वाभाविक उपमा है।

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥

इस सुहावने शरद में ऐसा कोई सरोवर नहीं है जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कोई पद्म नहीं है जिस पर भ्रमर नहीं बैठे हों। ऐसा कोई भौंरा नहीं है जो गूँज न रहा हो और ऐसी भनभनाहट भी नहीं है जो मन को न हर लेती हो। सारांश यह है कि शरद में सरोवरों में सुन्दर कमल खिले हुये हैं, कमलों पर बैठे हुये भौंरों की रसीली भनभनाहट मनुष्यों के चित्त को चुरा रही है। वाग्देवतावतार श्रीमम्मटाचार्य ने 'काव्यप्रकाश' में इस पद्य को 'एकावली' का उत्कृष्ट उदाहरण बतलाया है।

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतंगः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ॥

प्रात काल प्यारे चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर कुमुदिनी की दुरवस्था को देखकर सरोवर के किनारे खड़ा हुआ वृक्ष भी रो रहा है। हाय ! वही कुमुदिनी अब सङ्कुचित हो गई जो अभी अपने प्रियतम चन्द्रमा की शीतल रश्मियों में हँसती हुई कल्लोलें कर रही थी। कुमुदिनी की दुःखद अवस्था, सचेतन मनुष्य को कौन कहे, अचेतन जड़ वृक्ष को भी रुला रही है। वृक्ष के कोमल पत्ते उसकी आँखें जान पड़ते हैं और उनके ऊपर गिरा हुआ ओस आँसुओं की तरह मालूम हो रहा है। पत्तों से गिरते हुए सुन्दर ओस के कण आँखों से गिरने वाले आँसुओं के समान जान पड़ते हैं। वृक्ष पर चहकती हुई चिड़ियों की आवाज रोने के स्वर सा जान पड़ती है। अतएव तीरस्थ यह वृक्ष वास्तव में चिड़ियों के शब्द के व्याज से मानो रो रहा है। वृक्ष का यह करुणक्रन्दन किसे सुभग नहीं मालूम पड़ता।

कविवर की उपमायें कहीं कहीं बड़ी सुन्दर हैं—अनूठी हैं। देखिये, सती सीता की उपमायें कितनी रमणीय हैं —

> हिरण्मयी साललतेव जङ्गमा
> च्युता दिव स्थास्नुरिवाचिरप्रभा।
> शशांककान्तेरधिदेवताकृति-
> सुता ददे तस्य सुताय मैथिली॥

जनक ने रामचन्द्र को जानकी दी। जानकी क्या थी ? मानो चलने वाली सोने की लता हो, आकाश से गिरी हुई स्थिर रहने वाली बिजुली हो। लता कभी चलती नहीं, परन्तु जानकी जंगम लता है। बिजुली कभी स्थिर नहीं रहती, केवल क्षणभर में चमक कर गायब हो जाती है, परन्तु सीता स्थिर रहने वाली विद्युत है तथा चन्द्रमा की शोभा की अधिष्ठात्री देवी है। जनक नन्दिनी जानकी के लिये ये उपमायें कितनी समुचित हैं।

लंका में हनुमान ने आग लगादी है, अग्निताप से दुःखित लंका का कुछ हाल सुनिये। यह वर्णन अलङ्कृत होने से कितना मनोरम है।

> सरसां सरसां परिमुच्य तनुं पततां पततां ककुभो बहुश।
> सकलै सकलै. परित॰ करुणैरुदितैरुदितैरिव खं निचितम्॥

भावार्थ—अग्निज्वाला से व्याकुल होकर पक्षियाँ तालाब के सरस शरीर को भय के मारे छोड़कर चारों दिशाओं में उड़ रही हैं। उनके मनोहर कारुण्योत्पादक रोने की आवाज से आकाश व्याप्त हो गया है। साधारण अर्थ कितनी मनोहर शब्दावली में रखा हुआ है। यह पद्य पादादियमक का उत्कृष्ट उदाहरण है।

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा, विलसितं ह्रसितं स्मरभासितम्।
न समदाः प्रमदा हतसंमदाः, पुरहितं विहितं न समीहितम् ॥

जो हँसी दिल्लगी हमेशा हुआ करती थी वह अब गायब हो गई। कामदेव से उद्दीपित श्रृङ्गार विलास अब कम हो गये, डर से युवतियों का दर्प चूर-चूर हो गया और उनका आनन्द काफूर हो गया। पहले जो हितसाधक कार्य थे वे इस समय में नहीं किये जाते थे। लङ्का में आग लग जाने से स्त्रियों की दुरवस्था का वर्णन कितने रमणीय शब्दों में हुआ है। कविवर ने इस पद्य में 'चक्रवाल यमक' दिखलाया है।

न गजा नगजा दयिता दयिता, विगतं विगतं, ललितं ललितम्।
प्रमदा प्रमदाऽऽमहता, महतामरणं मरणं समयात् समयात् ॥

अग्निज्वाला से कवलित लङ्का की अवस्था कैसी शोचनीय हो गई है? पर्वतों में उत्पन्न होने वाले प्यारे हाथियों की रक्षा कोई भी नहीं कर रहा है। वे विशालकाय हस्ती इधर उधर अग्नि देवता के बलिदान हो रहे हैं। पक्षियों का आनन्द-खेल अब नष्ट हो गया। प्यारी वस्तुयें पीड़ित दीखती हैं। स्त्रियों का मद अब नष्ट हो गया तथा वे आम (रोग) से पीड़ित हो रही हैं। बड़े बड़े शूरों का बिना युद्ध के ही मरण काल आ पहुँचा है। शूर योद्धा रण में लड़कर अपने प्यारे प्राणों को निछावर करते हैं परन्तु आज वे बिना युद्ध के मृत्यु शय्या पर सो रहे हैं। कितनी भयङ्कर अवस्था हो गई है। पद्य कितना मधुर है। करुण रस क्याही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है। इस पद्य में यमकों की सुन्दर अवली शोभित हो रही है।

सैनिक वेषधारिणी स्त्रियों की वीरता तो देखिये —

नेत्रेषुभिः संयुतपक्ष्मपत्रैः कर्णान्तकृष्टैरलकेशशूलाः।
स्तनोरुचक्रास्ततकर्णपाशाः स्त्रीयोधमुख्याः जयिनो विचेरुः ॥

स्त्रियाँ जयी सैनिकों की तरह घूम रही थीं। उनके नेत्र बाणों का काम करते थे, नेत्रों के पक्ष्म (बरौनी) बाणों के पंख की तरह जान पड़ते थे। ये बाण कान तक खींचे गये थे। लम्बे लम्बे केश शूल थे, स्तन बड़े बड़े चक्रायुध थे, विस्तीर्ण कान पाश की तरह जान पड़ते थे। अतएव अपने पक्ष्मल नेत्रबाणों से युवकों को वेधकर केशरूपी शूलों से स्त्रियों ने युवकों के मन को जीत लिया था। नारियों के आयुध सुकुमार होनेपर भी कितने प्राणघातक हैं।

साम्नैव लोके विजितेऽपि वामे। किमुद्यतं भ्रूधनुरप्रसह्यम्।
हन्तुं क्षमो या यद् लोचनेषुर्दिग्धो विषेणेव किमञ्जनेन ?

कोई नायक किसी स्त्री से कह रहा है कि हे प्रतिकूल काम करनेवाली ! तुम अपने मधुर आचरण से ही समस्त लोक को जीत चुकी हो, फिर इस असह्य —

धनुष को चढाने से लाभ ? तुम्हारे नेत्रबाण ही प्राण लेने में समर्थ है तो फिर उन पर अजनरूपी विष लगाने से काम ही क्या हुआ ? कितनी सुन्दर व्यञ्जना है ! अञ्जन लगाये हुए नयनों की सकता विषदिग्ध (विष में बुताये गये) बाणों के साथ कितनी समुचित तथा मनोरञ्जक है !

रावण द्वारा अपमानित विभीषण के सुन्दर उपदेश आज कल भी धनी रईसों पर कितने अच्छे घटते हैं—

करोति वैरं स्फुटमुच्यमान, प्रतुष्यति श्रोत्रसुखैरपथ्यैः।
विवेकशून्यः प्रभुरात्ममानी, महाननर्थः सुहृदां धतायम्॥

भावार्थ—उस स्वामी का आचरण कितना विलक्षण है जो अपने समान किसी दूसरे को नहीं मानता और जिसने विवेक को तिलाञ्जलि दे दी है। यदि ऐसे स्वामी से स्पष्ट शब्दों में उनके हित की बात कही जाती है तो वह वैर करता है, परन्तु उसके हानिकारक परन्तु कानों को सुख देनेवाले वचनों से वह सन्तुष्ट होता है। कल्याणकारी वचन बुरे लगते हैं और हानिकारक अच्छे ! कैसी उल्टी गंगा बह रही है। अतएव ऐसा कुस्वामी अपने आश्रितों का महान अनर्थ करनेवाला होता है। आजकल भी ऐसे कुस्वामियों की संख्या भारत में कम नहीं है।

विभीषण का यह कथन कितना सत्य है—

मूर्खातुर पथ्यकटूननश्नन्, यत्सामयोऽसौ भिषजां न दोष ॥

यदि मूर्ख रोगी कड़वी दवा नहीं पीता और इसलिए यदि उसका रोग नहीं छूटता तो इसका दोष उसी मूर्ख का है, न कि वैद्य महाशय का। भला ! कहीं दवा पिये बिना रोग अच्छा हो सकता है। "कड़वी औषध बिन पिये मिटे न तन को ताप।"



(१२)

मयूर भट्ट

भारतीय प्राचीन किसी विद्वान् महापुरुष के विषय में लिखते समय लेखक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कोई ऐसा प्रामाणिक इतिहास अथवा आख्यान नहीं, जिसमें किसी महापुरुष की जीवनी उल्लिखित हो; और न कोई ऐसा ग्रन्थ ही मिलता है, जिसमें उन्होंने स्वयं अपने विषय में कुछ लिखा हो। प्राचीन विद्वान् तो मानो इस परिपाटी को जानते ही न थे; उनको अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान भी न था। उनको इस बात की परवाह न थी कि भविष्य में हमारा नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाय। उच्च कोटि का ग्रन्थ लिखना उनका ध्येय था। ग्रन्थ के आदि या अन्त में यदि हो सका तो अपने गुरु या पिता का अथवा कहीं कहीं अपना भी नाम अंकित कर दिया। वह भी अपनी प्रतिष्ठा के लिये नहीं बल्कि अपने बड़ों की ओर कृतज्ञता प्रकाश करने के हेतु। संवत् आदि के रूप में अपना अथवा ग्रन्थ का समय लिखना तो वे प्रायः जानते ही न थे। यत्र तत्र विद्वानों ने अपना समय उल्लिखित कर दिया; नहीं तो चुप्पी साधना ही साधारण नियम रहा। इन्हीं बातों को देखकर मैक्डानल ने अपनी "History of Sanskrit Literature" में लिखा है— "History is the *one* weak spot in Indian literature. It is, in fact, non-existent. The total lack of the historical sense is so characteristic, that the whole course of Sanskrit literature is darkened by the shadow of this defect, suffering as it does from an entire absence of exact chronology..... Two causes seem to have combined to bring about this remarkable result. In the first place, early India wrote no history, because it never made any.........Secondly, the Brahmans, whose task it would naturally have been to record great deeds, had early embraced the doctrine that all actions and existence are positive evil, and could therefore have felt but little inclination to chronicle historical events."

ऊपर दिए हुए साधनों के अभाव के कारण लेखक को किसी विद्वान् की जीवनी लिखने के लिये इधर उधर बहुत टटोलना पड़ता है। एक ही नाम के कई व्यक्ति हो जाने के कारण पता नहीं चलता कि अमुक ग्रन्थ के रचयिता के

उन एक नामधारी विद्वानों में कौन सा था। बड़े कष्ट और छान बीन से यदि यह पता चल भी गया, तो उनका समय निकालना तो दुर्घट समस्या ही हो जाती है, जिसका निश्चित ज्ञान प्रायः सम्भावना के रूप में ही रहा करता है। किसी दूसरे विद्वान् ने कहीं अपने पूर्व आचार्य या गुरु का नाम ले लिया अथवा कभी अपने पूर्व विद्वान् के प्रति कृतज्ञता प्रकाश के हेतु अथवा मार्मिक ज्ञाता होने के कारण प्रशंसा करने के निमित्त मुक्तकण्ठ से उनका नाम अपने ग्रन्थ में ले लिया। कभी किसी कवि ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा करने में उस राजा के समकालीन विद्वानों का नाम भी उल्लिखित कर दिया; अथवा कभी किसी विद्वान् की प्रकर्ष विद्वत्ता दिखाते हुए उससे पराजित विद्वान् अथवा शिष्यों का नाम ले लिया। दैववशात् यदि किसी राजा ने किसी विशिष्ट विद्वान् को कोई मानपत्र या दानपत्र दिया, तो अपने और उसके पूर्वजों और पुत्र-कलत्रों का नाम दे दिया। यदि किसी राजा की विशेष कृपा और प्रेरणा हुई तो कल्हण आदि विद्वानों ने राज तरङ्गिणी आदि इतिहास—ग्रन्थ लिखने का साहस किया।

उपर्युक्त अविरल उल्लेखों को छोड़कर और कोई साधन किसी महान् व्यक्ति के विषय में लिखने का नहीं मिलता। इन उल्लेखों की भी पूरी जाँच करनी पड़ती है। कितने ही ग्रन्थ किसी विशेष हेतु से ही लिखे जाते हैं। उनमें यह नहीं देखा जाता कि इतिहास की दृष्टि से सत्य घटनाओं का ही उल्लेख किया जाय। जैनियों ने अपने धर्म्म ग्रन्थों का इतना महत्व दिखाना चाहा कि विभिन्न-कालीन अपने आचार्यों को समकालीन ही लिखा दिया; अथवा अपने धर्म्म में पुरुषों की विशेष रुचि दिखाने के लिये दूसरे विद्वानों को भी अपने धर्म्म में मिला लिया। बल्लालसेन ने भोजदेव की इतनी प्रशंसा करनी चाही कि विभिन्न कालीन कवियों की एक बृहद् सभा की ही उनके राज्य में आयोजना कर दी। कभी-कभी किसी विद्वान् को कोई विशेष इतिहास लिखने के लिये दन्तकथा का ही आश्रय लेना पड़ा; और जिसको जैसी दन्तकथा मिली, उसने वैसा ही इतिहास लिख डाला। फल यह निकला कि एक ही व्यक्ति के बारे में भिन्न भिन्न परस्पर विरुद्ध कथाएँ लिख डाली गईं और अपने अपने रूप में सभी सत्य मानी जाने लगीं।

इन साधनों के अभाव और कठिनाइयों के कारण आज ऐसा समय आ गया है कि महान् व्यक्तियों का जीवन दुरुह अन्धकार में ही छिपा रह गया है। कितने ही महापुरुष अपने समय के धुरन्धर विद्वान् थे। उन्होंने बड़े बड़े कार्य्य किए थे, पर आज उनका पता लगाना असम्भव नहीं तो नितान्त कठिन तो अवश्य हो गया है। यही कठिनाइयाँ इस लेख के चरित-नायक महाकवि मयूर की जीवनी लिखने के समय भी अनुभव करनी पड़ती हैं।

शिलालेख, पत्र लेख आदि प्रामाणिक साधनों की जाँच करने पर विदित होता है कि मयूर नाम के अनेक व्यक्ति इस भारत भूमि में हो गए हैं। इनमें से अनेक राजा और कवि भी थे। समय के क्रम से इसका उल्लेख करना तो कठिन है, पर यथासम्भव उनके समय, ग्रन्थ, जीवन आदि के विषय में जहाँ तक जाना गया है, वह इस प्रकार है—

(१) महाकवि मयूर कादम्बरी आदि ग्रन्थों के रचयिता बाण के समकालीन थे।

(२) पर्यायवाचक शब्दों के समूहरूप पदचन्द्रिका केलेखक भी एक मयूर थे।[1]

(३) मयूरपाद थेर सिंहल द्वीप के एक लेखक थे। ये १२ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए थे।[2]

(४) मयूरपन्त (मोरोपन्त) १८ वीं शताब्दी के मराठी लेखक थे।[3]

(५) मयूर नाम के एक राजकुमार भी नवम शताब्दी में थे। लेख में इस बात का उल्लेख है कि इस मयूर ने वन्दावल्ल को हराया; पर स्वयं बाउक द्वारा भूतकूप रण क्षेत्र में हराया गया। बाउक एक प्रतिहार सरदार था।[4]

(६) एक मयूर भट्ट लक्ष्मणगिरि के किसी ग्रन्थ के टीकाकार हैं।[5]

(७) मयूराक्ष राजा विश्ववर्म्मन के मन्त्री थे। उन्होंने एक विष्णु का और एक दिव्य माताओं का मन्दिर बनवाया था।[6]

(८) हाङ्गल के कादम्बों के तीन राजाओं को मयूर वर्म्मन् कहते हैं। ये ११ वीं और १२ वीं शताब्दी में हुए थे।[7]

---

१. A. C. Burnell: A Classified Index to the Sanskrit Manuscripts in the palace at Tanjore. p. 48; London 1880

२. Indian Antiquary; 35; 166

३. Buhler—Catalogue of sanskrit Manuscripts Contained in private Librarise of Gujeres etc.

४. J. R. A. S. New series. Vol. 26 (1894) pp. 3 & 8.

५. Ernst Haes, Catalogue of Sanskrit and Pali Books in the British Museum, pp, 72 & 88; London 1876

६. Carpus Inscriptionum Indicarum, Vol. 3. p. 74

७. Indian Antiquary, 4, 203.

(९) मयूर शर्मन् कादम्ब जाति के एक राजा सम्भवत छठीं शताब्दी के पूर्व हुए थे[१]।

(१०) मयूरवाह ने स्वप्रकाशिकासार लिखा है। यह एक वेदान्त विषयक ग्रन्थ है[२]।

(११) मयूरध्वज नाम के एक राजा थे[३]।

(१२) मयूरेश्वर खण्ड भट्ट के पिता थे[४]।

(१३) मयूर वाचस्पति को वाचस्पति मिश्र भी कहा गया है।

(१४) मयूरपोषक चन्द्रगुप्त के पिता थे[५]।

ऊपर दिए हुए अनेक मयूरों में से कितने ही राजा या मन्त्री हैं। कुछ का कोई विशेष परिज्ञान ज्ञात नहीं है। इन मयूरों में से पहले चार कवि हैं। पहले सूर्य शतक के रचयिता दूसरे पदचन्द्रिका के लेखक तीसरे सिंहल द्वीप के मयूरपाद थेर और चौथे १८ वीं शताब्दी के मयूरपन्त या मोरोपन्त हैं। इनमें से अन्तिम तीन प्रस्तुत लेख के विषय नहीं हैं। यह सम्भव है कि पद चन्द्रिका के लेखक सूर्यशतक के रचयिता महाकवि मयूर ही हों पर बर्नेल ने अपने ग्रन्थ में पदचन्द्रिका के लेखक को सूर्यशतक के रचयिता से भिन्न कहा है। भेद का कारण स्पष्ट नहीं है। बर्नेल ने पदचन्द्रिका के प्रारम्भ में ग्रन्थ का आदि और अन्त दे दिया है। उसमें सूर्य के पर्यायवाचक शब्द अधिक मिलने के कारण बहुत सम्भव है कि सूर्यशतक के रचयिता ही पदचन्द्रिका के भी लेखक हों।

मयूर पाद थेर सिंहल द्वीप के एक लेखक हैं। इन्होंने पूजावलिय और योगार्णव दो ग्रन्थ लिखे हैं। इनका जन्म काल १३ वीं शताब्दी का पूर्व भाग है इसी कारण ये प्रस्तुत लेख के कवि मयूर से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

---

१ Epigraphica Indica, Vol 8 pp 28-31

२ Kavyatirth and Sastri—Catalogue of Printed Books and Manuscripts in Sanskrit belonging to the Oriental Library of the Asiatic Society of Bengal pp. 37 and 121

३ J R A S Vol 69 p 78

४ Aufrecht Catalogue Vol 1 pp 432 33

५ Monier Williams Sanskrit English Dictionary S V Mayura

चौथे कवि मयूर एक मराठी लेखक हैं। उनका जन्म काल १८वीं शताब्दी है। उनके नाम के दो ग्रन्थ केकावलि और आर्या मुक्त माला[1] मिलते हैं। आर्या मुक्तमाला की एक प्रति इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में है। उसमें यह ग्रन्थ एक रामनन्दन मयूर के नाम से लिखा है। इसी नाम सादृश्य से व्यूलर को यह सन्देह हुआ कि यह ग्रन्थ भी सूर्य शतक के रचयिता महाकवि मयूर ने लिखा है। पर उस प्रति के देखने से ज्ञात हुआ है कि लेखक १८ वीं शताब्दी (१७२९-१७७४) के एक मराठी लेखक हैं और उन्होंने मराठी तथा तथा संस्कृत में भी अपने ग्रन्थ लिखे हैं[2]। उनका असली नाम रामनन्दन मोरोपत है। शुद्ध संस्कृत में लिखने पर मोरो का मयूर हो जाता है। नाम सादृश्य से ही बहुधा यह भूल व्यूलर से हो गई है, अन्यथा और कोई उपयुक्त प्रमाण इसकी पुष्टि में नहीं मिलता।

विलियम टेलर ने अपनी सूची में मयूर के नाम से एक शब्दलिङ्गार्थ चन्द्रिका नाम की एक टीका भी दी है[3]। यह धनञ्जय के किसी ग्रन्थ की टीका प्रतीत होती है। दशरूपककार धनञ्जय नवम शताब्दी में हुए थे, और टेलर की सूची कई कारणों से एक शुद्ध सूची नहीं है। यह सन्देहयुक्त ही है कि मयूर ने यह टीका लिखी हो।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि सूर्य शतक के रचयिता महाकवि मयूर इन सब से पृथक् और प्राचीन थे। इन सब में वह ओजस्विनी भाषा, पदलालित्य, भाव गम्भीरता, दृढ पदबन्ध, सुश्लिष्ट रचना, अनुप्रास, यमक, अलङ्कार नहीं मिलते, जो सूर्यशतक के रचयिता में हैं। यही कारण है कि इनके अनन्तर के बडे बडे कवियों ने इनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और कालिदास आदि प्रसिद्ध महाकवियों के साथ इनके नाम का उल्लेख किया है।

सोलहवीं शताब्दी के प्रसन्नराघव नाटक के लिखनेवाले जयदेव कहते हैं कि वह कविता रूपी कामिनी किस पुरुष को प्रिय न होगी, जिस कामिनी के केश-समूह चोर (बिल्हण) कवि हैं, मयूर जिसके कर्णभूषण हैं, भास जिसकी हँसी

---

१. Buhler Catalogue of Sanskrit Mss contained in Private Libraries of Gujerat etc.

२ Grierson Linguistic Survey of India, Vol 7 p. 14, Cal 1905

३ W. Taylor: Catalogue Raisonne of Oriental Mss in the Government Library, Vol 2 p 131 No. 862 Madras 1860

हैं कविकुलगुरु कालिदास जिसके लावण्य हैं। हर्ष जिसके हृदय में निवास करने वाली प्रसन्नता हैं और बाण जिसके कामदेव हैं। पद्य इस प्रकार है—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणश्च बाणः
केषान्नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥[1]

नवम शताब्दी के राजशेखर ने तो मयूर को सब कवियों से उच्च आसन दिया है। उनका कहना है कि मयूर की कविता सुनने के अनन्तर कवियों का अहङ्कार चूर चूर हो जाता है जैसे उनका सर्पमारण मन्त्र सुनकर सर्पों का अहङ्कार नष्ट हो जाता है। श्लोक इस प्रकार है—

"दर्पं कविभुजङ्गानां गता श्रवणगोचरम्।
विषविद्येव मायूरी मायूरी वाङ् निकृन्तति॥"[2]

प्रसिद्ध बाण नामधारी वामन भट्ट बाण, जिन्होंने बाण के हर्षचरित की शैली पर वीरनारायण चरित सोलहवीं शताब्दी में लिखा था मयूर की कीर्ति इस प्रकार गाते हैं—

"प्रतिकवि-भेदनबाणः कवितातरुगहन-विहरणमयूरः।
सहृदयलोकसुबन्धुर्जयति श्री भट्टबाण कविराजः॥"[3]

'कवियों में श्रेष्ठ भट्टबाण का जयजयकार है, जिनके बाण (तीर और बाण कवि) दूसरे कवियों के भेदन करने में समर्थ हैं, जिनके मयूर (मोर और मयूर कवि) कविता रूपी गहन वृक्ष में विहार करनेवाले हैं, जिनके सुबन्धु (अच्छे बन्धु और सुबन्धु कवि) सहृदय जन हैं अर्थात् कवि बाण की सहायता से प्रत्येक कवि को परास्त कर सकता है, मयूर की सहायता से कविता के गहन विषयों में प्रवेश कर सकता है और सुबन्धु की सहायता से जिसके शब्द सरस हो जाते हैं और सब लोग सहृदय हो जाते हैं।

त्रिलोचन का कहना है कि तभी तक संसार में और कवि रूपी विहगों (चिड़ियों) की ध्वनि सुनाई देती है जब तक मयूर की मधुर ध्वनि कानों में नहीं पहुँचती। अर्थात् मयूर की मधुर कविता सुनने पर और सब कविताएँ नीरस प्रतीत होती हैं। पद्य इस प्रकार है—

---

१ जयदेव का प्रसन्नराघव, प्रथम अङ्क श्लोक २२

२ जल्हण की सूक्तिमुक्तावलि पर पेटर्सन का लेख। J B R AS Vol 17 p 577

३ भट्ट बाण का वीरनारायण चरित।

"तावत्कविविहङ्गानां ध्वनिर्लोकेषु शस्यते।
यावन्नो विशति श्रोत्रे मयूर-मधुर-ध्वनिः॥"[1]

उपर्युक्त प्रशंसा सूचक पद्यों से विदित होता है कि महाकवि मयूर अपने समय के कोई साधारण पुरुष नहीं थे। वे सर्वमान्य कवि थे। उन्होंने सर्वत्र उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। बड़े बड़े महाकवियों के साथ उनका नामोल्लेख हुआ है और अपनीकवित्व शक्ति में वे कभी किसी से कम नहीं थे। इसी कारण यह प्रमाणित होता है कि अवश्य इनका आविर्भाव ऐसे समय और स्थान में हुआ होगा, जब और जहाँ इनकी बुद्धि का विकास पूर्णतया हो सका और इनको बराबर अवसर मिलता गया, जिससे ये अपनी शक्ति पूरी तरह से काम में ला सके।

समय

ऊपर दिखाए हुए अनेक मयूरों के होते हुए भी सूर्यशतक के रचयिता महाकवि मयूर का समय निकालना नितान्त कठिन है। सूर्यशतक के टीकाकार भट्ट महेश्वर[2] और भक्तामरस्तोत्र के एक टीकाकार[3] लिखते हैं कि मयूर धारा नगरी के राजा भोज की सभा के एक पण्डित थे। पर यह बात निर्मूल प्रतीत होती है। यह सिद्ध हो गया है कि राजा भोज सन् १११०–११५०[4] के लगभग धारा या उज्जयिनी में राज्य करते थे, और इसी रीति से मयूर का भी समय द्वादश शताब्दी ही निर्णीत हुआ प्रतीत होता है। पर मयूर का नाम और उनके अनेक पद्य इसके पहले की शताब्दियों में अनेक स्थलों पर मिलते हुए दिखाई देते हैं। नवम शताब्दी[5] के आनन्दवर्धनाचार्य्य अपने सर्व-प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक[6] में श्लेषालङ्कार और व्यतिरेकालङ्कार मयूर के सूर्यशतक से ही देते हैं। एवं नवम शताब्दी के राजशेखर ने महाकवि मयूर का गुणगान अपने एक श्लोक में इस प्रकार किया है—

"दर्पं कवि भुजङ्गानां गता श्रवणगोचरम्।
विषविद्येव मायूरी मायूरी वाङ्मिकृन्तति॥"

१. सुभाषित रत्न भाण्डागारम्, पृ ५३. श्लोक ३४
२. आगे देखिए, कुष्ठ रोग की कथा नं. २.
३. आगे देखिए, कुष्ठ रोग की कथा नं० १
४. Imperial Gazeteer. Vol. II. p 311.
५. G A. Jacob J. R. As. Vol. 29 (1897) p 289.
६. Kavyamala—Dhvanyaloka. pp 99. and 92

जिस प्रकार मयूर की विषविद्या सुनने पर सर्पों का अहङ्कार दूर होता है उसी प्रकार मयूर की कविता सुनने पर अन्य कवियों का अहङ्कार छिन्न भिन्न हो जाता है।[1]

उपर्युक्त दो प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मयूर नवम शताब्दी के पूर्व अवश्य रहे होंगे और अपनी कीर्ति बड़े बड़े महाकवियों और विद्वानों के भी हृदय में व्याप्त कराने के लिये उनको हुए कुछ अधिक समय अवश्य व्यतीत हो गया होगा।

दूसरी ओर यह देखा जाता है कि मयूर का नाम तीन और विद्वानों के नामों के साथ अनेक स्थलों पर मिलता है। प्रभावक चरित प्रबन्ध चिन्तामणि आदि जैनियों के लिखे ग्रन्थों में मयूर और बाण के नाम के साथ मानतुङ्ग सूरि की भी कथा मिलती है और इससे यह प्रमाणित हो सकता है कि मानतुङ्ग सूरि मयूर के समकालीन थे और जिस समय उनका आविर्भाव इस पृथ्वीमण्डल पर हुआ था उस समय मयूर ने भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। पर मानतुङ्ग सूरि के काल का निर्णय इतना विवादग्रस्त विषय हो गया है कि इनके समय का ठीक ठीक पता चलाना नितान्त कठिन हो गया है।

मानतुङ्ग जैनों के प्रसिद्ध आचार्य थे। इन्होंने भक्तामर स्तोत्र और भयहर स्तोत्र की रचना की थी। इनके स्तोत्रों का प्रभाव इतना अधिक था कि यह स्तुति के बल से ही ये सुदृढ़ निगड बन्धन से मुक्त हो गए। इनके विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रीति से कालनिर्णय करने की चेष्टा की है—

(१) भाऊदाजी ने सात स्थिरावलियां अर्थात् जैनवंशावलियों की परीक्षा करके इस बात का अनुमान किया है कि मानतुङ्ग ईसा की तीसरी शताब्दी में थे पर प्रभावक—चरित में मयूर और बाण को समकालीन देखकर इनका काल सातवीं शताब्दी ही स्थिर किया गया है।[1]

(२) जैनियों की तपागच्छ मत की पट्टावलि के अनुसार, जिसमें प्रभावक चरित से ही कथा ली गई है, श्रीमानतुङ्ग मयूर और बाण के समकालीन माने गए हैं पर उसी में यह भी लिखा है कि ये मालवाधीश चालुक्य वयरसिंह देव के मन्त्री थे। वे लिखते हैं— मालवेश्वर चालुक्य वयरसिंह देवामात्य '।[2]

अब वयरसिंह मालवा के परमार राजा वैरिसिंह प्रथम या द्वितीय ही प्रतीत होते हैं जिनका समय सन् ८७५ से ९५० है[3] और इस प्रकार श्री मानतुङ्ग नवम या दशम शताब्दी में आ जाते हैं।

---

१ J B B R A S (1861) ii 24 222–223

२ Indian Antiquary Vol II p 252

३ Duff Chronology p 300

(३) कुछ स्थिरावलियों के अनुसार श्रीमानतुङ्ग का समय जैन धर्म के संस्थापक श्री महावीर से, जिनका समय लगभग ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व अनुमान किया गया है, २० वीं या २३ वीं[1] पीढ़ी में प्रतीत होता है।

(४) श्रीमानतुङ्गने भक्तामर स्तोत्र संस्कृत में लिखा है। जैन मतावलम्बी अपने ग्रन्थ ईसा के लगभग १००० वर्ष बाद तक महाराष्ट्री प्राकृत में ही लिखा करते थे। इससे यह अनुमान होता है कि भक्तामर स्तोत्र १००० ईस्वी के अनन्तर लिखा गया होगा।

उपर्युक्त विचारों से श्री मानतुङ्ग का ठीक ठीक समय नहीं स्थिर किया जा सकता, पर भाऊदाजी के अनुसार श्रीमानतुङ्ग का काल तीसरी शताब्दी स्थिर होने पर मयूर का भी वही समय स्थिर हो सकता है। पर मानतुङ्ग का काल-निर्णय इतना सन्देह ग्रस्त है कि उसी के आधार पर मयूर का समय ठीक करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

मयूर के समकालीन दूसरे और विद्वान् व्यक्ति का नाम राजशेखर ने भी उल्लिखित किया है। वे लिखते हैं—

"अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्ग-दिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवद् सभ्य समो बाणमयूरयोः॥"

"अहा! देवी सरस्वती का कितना प्रभाव है कि मातङ्गदिवाकर, बाण और मयूर के साथ श्रीहर्ष की सभा के सभ्य हो गए।"

इस पद्य में उल्लिखित मातङ्ग दिवाकर कौन थे? इसका ठीक ठीक ज्ञान अभी तक नहीं है। फिनवर्ड हाल का मत है कि मातङ्ग दिवाकर मानतुङ्ग दिवाकर का छोटा रूप है, और मानतुङ्ग दिवाकर प्रसिद्ध मानतुङ्ग से इतर कोई व्यक्ति नहीं है। पिटर्सन का मत इससे भिन्न है। वे कहते हैं कि 'मातङ्गदिवाकर' नाम के कोई और कवि हैं। दिवाकर तो कवि का शुद्ध नाम है और मातङ्ग उनका उपनाम है। दिवाकर कोई अप्रसिद्ध कवि नहीं हैं। राजशेखर ने अपने एक पद्य में बाण और दिवाकर का नाम साथ साथ उल्लिखित किया है। राजशेखर का पद्य इस प्रकार है—

भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्कः कवि-
र्मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः।
दण्डी बाण-दिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते॥

---

१. Indian Antiquary Vol. II pp 247, 252.

कवि दिवाकर का उपनाम मातङ्ग विचित्र अर्थ बोध कराता है। सूक्तिमुक्तावलि में पाठ भेद से ऊपर दिए हुए श्लोक में मातङ्ग के स्थान पर चण्डाल पद मिलता है, और इससे यह सिद्ध होता है कि दिवाकर का उपनाम उनकी जाति से पड़ा था। वे चण्डाल जाति के थे और उनका नाम चण्डाल दिवाकर था जो संस्कृत करने पर मातङ्ग दिवाकर हो गया।

इस सम्बन्ध में यह बात तो स्पष्ट है कि दिवाकर नाम के कोई कवि बाण और मयूर के समकालीन थे। दिवाकर का काल विदित नहीं है, और इसलिये उस सम्बन्ध से मयूर के समय का भी पता नहीं चल सकता। पर बाण और मयूर का नाम ऊपर के पद्य में और अन्यत्र एक साथ ही आना इस बात का पर्य्याप्त प्रमाण है कि बाण का समय ही मयूर का समय है।

हर्षचरित से विदित होता है कि बाण महाकवि मयूर को अपने लड़कपन का साथी जाङ्गलिक मायूरक कहते हैं।[1] 'जाङ्गलिक' का अर्थ शङ्कर ने अपनी हर्षचरित की टीका में गारुडिक अथवा विषवैद्य दिया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि मयूर विष के प्रयोग में बड़े निपुण थे और सर्प आदि जहरीले जन्तुओं के काटने पर मरे हुए लोगों को तुरन्त जीवित कर देते थे।

प्रोफेसर ब्यूलर[2] को इस बात का सन्देह है कि मयूर और मायूरक एक ही व्यक्ति हैं और जाङ्गलिक मायूरक कवि मयूर हो सकते हैं। पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि एक ही व्यक्ति विषवैद्य और कवि नहीं हो सकता। प्रोफेसर मैक्समूलर[3] और पीटर्सन[4] का कहना है कि कवि मयूर ही जाङ्गलिक मायूरक थे। उपर्युक्त नवम शताब्दी के "दर्पं कवि भुजङ्गानां" इत्यादि श्लोक से भी यह दृढ़तर सिद्ध हो जाता है कि मयूर ही विषवैद्य और कवि दोनों थे।

बाण का समय सर्ववादि-सिद्ध है कि वे थानेश्वर के हर्षवर्धन के समकालीन और उनकी सभा के पण्डित थे। विन्सेण्ट स्मिथ ने अपने इतिहास में हर्षवर्धन का समय सन् ६०६–६४८[5] दिया है, और इसलिये बाण और मयूर का भी वही समय सिद्ध होता है।

मयूर की जन्मभूमि और उनका पूर्व जीवन

मयूर की जन्मभूमि और पूर्व जीवन के वृत्तान्त के सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला है। हर्षचरित में केवल इस बात का प्रमाण मिलता है कि

---

१ हर्ष चरित, जीवानन्द, प्रथम उच्छ्वास, पृ० ६१.

२. Kackanbos the Sanskrit Poems of Mayura. p 4

३ India what can it teach us p 329.

४. Subhashitavali of Ballabhdeva—Intrd. p. 86.

५. Imperial Gazeteer; Vol. II. p. 295

वे जाङ्गलिक अथवा विषवैद्य थे। इसके अनन्तर मयूर की प्रसिद्ध कविताएँ अनेक स्थलों पर मिलती हैं।

सूर्यशतक के टीकाकार मधुसूदन, जिनकी सत्ता ब्यूलर १६५४ ईस्वी के लगभग मानते हैं, अपनी भावबोधिनी टीका में श्रीहर्ष और उनके कवियों के बारे में इस प्रकार लिखते हैं—

"अथ विद्वद्वृन्दविनोदाय श्रीमद्वृद्धवदनाद् विदितः श्रीसूर्यशतकप्रादुर्भावप्रसङ्गस्तावत्प्रोच्यते । स यथा । मालवराजस्योज्जयिनीराजधानीकस्य कविजन मूर्धन्यस्य रत्नावल्याख्यनाटिकाकर्त्तुः महाराज श्रीहर्षस्य सभ्यौ महाकवी पौरस्त्यौ बाणमयूरावास्ताम् । तयोर्मध्ये मयूरभट्टः श्वशुरो बाणभट्टः कादम्बरीग्रंथकर्त्ता तस्य जामाता । तयोः कवित्वप्रसङ्गे परस्परं स्पर्धाऽसीत् । बाणस्तु पूर्वमेव कदाचिद् राजसमीपे समागतो राज्ञा महत्या सम्भावनया स्वनिकटे स्थापितः कुटुम्बेन सहोज्जयिन्यां स्थितः । कियत्स्वपि दिवसेष्वतीतेषु कवित्वप्रसङ्गे तत्पद्यानि श्रुत्वा मयूरभट्टो राज्ञा स्वदेशादाकारितः इत्यादि ।'[1]

उपर्युक्त प्रसङ्ग से यह बात सिद्ध होती है कि बाण और मयूर श्रीहर्ष की सभा के पण्डित थे। उन दोनों में परस्पर स्पर्धा थी। बाण ससुर और मयूर जामाता थे। इनमें बाण पूर्व ही से इनकी सभा के पण्डित थे; और मयूर के पद्य किसी समय कवि मण्डल में सुनकर राजा ने उनको उनके देश से अपनी सभा में बुलाया था। इसी के अनन्तर बहुधा वे भी श्रीहर्ष की सभा के पण्डित हो गए।

सूर्यशतक के दूसरे टीकाकार जगन्नाथ, जो बहुधा १७ वीं शताब्दी के जगन्नाथ पण्डितराज ही थे, अपनी टीका में इस बात का दिग्दर्शन करते हैं कि तपस्या से कृश मयूर ने वाराणसी (काशी) में शास्त्र और काल के शास्त्रार्थ के समय सब को परास्त किया था और पहला पुरस्कार प्राप्त किया था। इस शास्त्रार्थ में अनेक राजाओं के राजपण्डित सम्मिलित हुए थे। उदाहरण इस प्रकार है—

"पुरा किल शरच्चन्द्रखण्डमण्डितकपालकपालितारकप्रह्लादानचारितक्षेत्रक्षीणकलेवरो वाराणस्यामशेषशास्त्रविचारसंग्रामवेदवेदान्तादि—विधावित्तचेतनमहीकृतान्तेवासिमटजिताशेषब्रह्माण्डभाण्डोदर·········मुण्डमण्डन विद्वद्गणवैरी रीतित्रयान्वितकवितारयाजित कविराजराजिकाव्यसुजातगर्वः तप:खर्वीकृताशेषतपोधनो महामहोपाध्याय श्रीमन्मयूरभट्टः ।"

---

1. मयूर की संस्कृत कविताएँ; कैकेनबोस, पृ० ७–८

सूर्यशतक के तीसरे टीकाकार जयमङ्गल का कहना है कि मयूर सभा में सरस्वती के अवतार ही थे। इनके मुख कमल से निकला कविता रूपी सरस्वती सभा में इसी प्रकार लोगों को प्रसन्न करती थी, जिस प्रकार एक नर्तकी प्रसन्न करती है। इनका कहना है—

> "भक्तमयूरवक्त्राब्ज-पदविन्यासशालिनी।
> नर्तकीव नरीनर्त्ति सभा मध्ये सरस्वती॥"

मयूर के सम्बन्धी

मयूर और बाण के परस्पर सम्बन्ध के विषय में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। ऊपर दी हुई मधुसूदन की टीका से यह बात सिद्ध होती है कि बाण मयूर और मयूर जामाता थे। पर सूर्यशतक के टीकाकार भट्ट यज्ञेश्वर और प्रबन्ध चिन्तामणि के रचयिता मेरुतुङ्गाचार्य बाण और मयूर के सम्बन्ध के विषय में दो परस्पर विरुद्ध कथाएँ लिखते हैं। भट्ट यज्ञेश्वर लिखते हैं—

"पुरा किल श्री विक्रमार्क समयादष्टसप्तत्युत्तर सहस्र सम्मितेषु १०७८ संवत्सरेषु व्यतीतेषु संप्राप्तोदयस्य श्रीमद्भोजराजस्य समास्थारत्न दीपो महाकविर्मयूरो धारानगरीमधिवसति स्म। तस्य च भगिनीपतिः कादम्बरीगद्यप्रबन्धनिर्माता बाणकविः परममित्रमासीत्।"[1]

अर्थात् "प्राचीन काल में विक्रमीय संवत् १०७८ में श्रीमान भोज राजा की सभा के रत्नस्वरूप महाकवि मयूर धारा नगरी में रहते थे। उनके भगिनी-पति (बहनोई) गद्य प्रबन्ध कादम्बरी के रचयिता बाण कवि बड़े मित्र थे।"

इस सन्दर्भ के अनुसार मयूर साले और बाण बहनोई थे। पर ठीक इसके विरुद्ध मेरुतुङ्गाचार्य का कहना है कि मयूर भावुक (भगिनी-पति) और बाण साले थे। उनका कथन इस प्रकार है—

"अथ मयूरबाणाभिधानौ भावुकशालकौ पण्डितौ निजविद्वत्तया मिथः स्पर्धमानौ नृपसदसि लब्धप्रतिष्ठावभूताम्।"[2]

उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों से यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि बाण और मयूर में परस्पर क्या सम्बन्ध था। पर यह अवश्य सत्य है कि मयूर ने कुष्ठ रोग से निवृत्त होने के लिये सूर्यशतक लिखा। कुष्ठ रोग का कारण बहन अथवा दुहिता का शाप ही कहा जाता है, इसलिये मयूर ही बाण के साले अथवा श्वशुर थे, यह अधिक सत्य प्रतीत होता है।

---

१. झलकीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ८

२. प्रबन्ध चिन्तामणि, मुद्रित, पृ. १०४.

उपर्युक्त सम्बन्ध के सिवा इस बात की भी सम्भावना की जाती है कि मयूर को एक पुत्र भी था जिसका नाम शङ्कुक था और जिसकी कविता में प्रसिद्धि थी। शार्ङ्गधर की पद्धति में[1] सूक्तिमुक्तावलि में[2] और काव्यप्रकाश की झलकीकार की टीका में[3] यह कहा गया है कि नीचे दिया हुआ एक पद्य "शङ्कुक मयूर-सूनु" का है। पद्य शार्दूलविक्रीडित छन्द में इस प्रकार है—

> "दुर्वारा स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरो मनोऽप्युत्सुकम्
> गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्॥
> स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमी
> सोढव्याः सखि साम्प्रतं कथममी सर्वेऽग्नयो दुःसहाः॥"

इस पद्य के समय के विषय में, जिसका रचयिता मयूर का पुत्र कहा जाता है, इतना ही कहा जा सकता है कि यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है और इसलिये सन् १०५०-११०० के पूर्व ही का होगा। यह ध्यान रखना चाहिए कि शङ्कु नाम के दो और कवि हो गये हैं जो बहुधा इस पद्य के निर्माता हो सकते हैं। इनमें से एक का वर्णन राजतरङ्गिणी[4] में आया है। ये भुवनाभ्युदय नामक एक कविता के रचयिता हैं। इनका समय जेकब ने सन् ८१६ ईस्वी रखा है[5] और इसलिये यह शङ्कु मयूर के पुत्र नहीं हो सकते। सुभाषितावलि[6] में इस पद्य के साथ साथ और अनेक पद्य इनके नाम से कहे गए हैं। शार्ङ्गधर की पद्धति में एक पद्य इनके नाम में दिया है और काव्यप्रकाशकार ने इनको एक आलङ्कारिक माना है[7]।

एक तीसरे शंङ्कु भी कवि थे जिनका नाम ज्योतिर्विदाभरण[8] में आया है। ये विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक थे। वह पद्य इस प्रकार है—

> धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंह शंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिः नव विक्रमस्य॥

मयूर के पुत्र नवम शताब्दी में या विक्रमादित्य के समय में नहीं रखे जा सकते। यदि 'दुर्वारा" आदि पद्य के निर्माता मयूर के पुत्र हों, तो ये उपर्युक्त

१. शार्ङ्गधर पद्धति न. ३७५..
२. पिटर्सन की सुभाषितावलि, न० ११५६.
३. झल्कीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६८६.
४. दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित कल्हण की राजतरङ्गिणी, ४. ७०५.
५. ज० आर० एग० एस० सन् १८९७, पृ० २८७
६. पिटर्सन की सुभाषितावलि, पृ० १२७
७ झलकीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६८६.
८. ज्योतिर्विदाभरण (२२, ८, १०, १८)

दोनों नहीं हो सकते। इस समय तक जितना ज्ञान प्राप्त है उससे इस विषय में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता।

मयूर के धार्मिक विचार

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि मयूर श्री हर्षवर्धन के समकालीन और उनकी सभा के पण्डित थे। हुएनसङ्ग के अनुसार जो भारत में सन् ६२९ ६४५ तक रहे थे हर्षवर्धन के समय में भारत में तीन धर्म अथवा मत प्रचलित थे। प्रयाग की बड़ी धार्मिक सभा में पहले दिन बौद्ध धर्म के आचार्य बुद्ध की मूर्ति बनी थी और उनका पूजन हुआ था। दूसरे दिन सूर्य का पूजन और तीसरे दिन महादेव का पूजन हुआ था[1]। इससे विदित होता है कि ये तीन हर्षवर्धन के समय में प्रधान मत थे। अब प्रश्न यह होता है कि मयूर किस मत के अवलम्बी थे। यह सिद्ध है कि मयूर ने सूर्यशतक लिखा और इससे स्पष्ट है कि मयूर सूर्य भगवान् के उपासक थे और वही उनके इष्ट देवता थे।

मयूर के विषय में उपर्युक्त प्रसिद्धि के होते हुए भी एटिंघासन[2] का कहना है कि मयूर जैन मतावलम्बी थे। इस बात का पता नहीं लगता कि किस प्रमाण के आधार पर मयूर के विषय में यह बात कही गई है। जैन पट्टावलि में भी स्पष्ट कहा है— मानतुङ्ग ने राजा को जो मयूर और बाण द्वारा बहकाए जाते थे अपने धर्म की दीक्षा दी॥[3] एक ही प्रमाण के आधार पर किसी को मयूर के जैनी होने का भ्रम हो सकता है। पर सोमदेव नामक एक जैनी ने जो लगभग सन् ९५९ ईस्वी में हुए थे अपने यशस्तिलक में लिखा है—

'उर्वभारविभवभूतिभर्तृहरिभर्तृमेण्ठकण्ठगुणाढ्यव्यासभासवोस कालिदासबाणमयूरनारायणकुमारमाघराजशेखरमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये सर्वजनप्रसिद्धेषु तेषूपाख्यानेषु च कथं तद्विषया महती प्रसिद्धिः।'[4]

अर्थात् उर्व भारवि भवभूति भर्तृहरि भर्तृमेण्ठ कण्ठ गुणाढ्य व्यास भास वोस कालिदास बाण मयूर नारायण कुमार माघ राजशेखर आदि महाकवियों के ग्रन्थों में कहीं-कहीं हाँ आवश्यक हुआ है और भरत के लिखे काव्य के अध्याय में और सब जनों में प्रसिद्ध भिन्न भिन्न कथाओं में उस सम्बन्ध की बड़ी प्रसिद्धि है।

---

१ इम्पीरियल गजटियर जिल्द २ पृ० २९५ ९६

२ एटिंघासन का हर्षवर्धन पृ ९३

३ इण्डियन ऐण्टिक्वेरी जिल्द २ पृ २५२ क्लेट का लेख।

४ काव्यमाला यशस्तिलक जिल्द २ पृ ११३

इस लेख में भी कहीं यह नहीं लिखा है कि भारवि, भवभूति, मयूर आदि जैनी थे; केवल उनके ग्रन्थों में कहीं कहीं जैन धर्म की प्रसिद्धि का वर्णन किया गया है। एवं यह अच्छी तरह विदित है कि भर्तृहरि, गुणाढ्य, कालिदास, राजशेखर आदि कट्टर ब्राह्मण थे। इस ग्रन्थ में यह लिखने का विशेष कारण यह है कि यशोधर के जैन मत ग्रहण करने पर उनकी माता ने बड़ा विरोध किया; और इसी लिये कोई जैनी उनको समझाने और बहकाने के लिये इतने कवियों का नाम ले रहा है। वस्तुतः यह ग्रन्थ एक जैनी द्वारा लिखा जाने के कारण कदापि प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता। जब तक कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता, तब तक एटियामन का ऐसा कहना दुःसाहसमात्र है।

बाण और मयूर की प्रतिद्वन्द्विता

यह बात पूर्व ही कही गई है कि श्रीहर्ष की सभा में बाण पण्डित थे। मयूर की कविता किसी कविमण्डल में सुनकर हर्ष को उनको देखने की उत्कट इच्छा हुई और मयूर को उनके देश से बुलवा भेजा। मयूर श्रीहर्ष की सभा के नवीन पण्डित हुए। इनकी प्रसिद्धि जनता में और राज दरबार में भी बहुत थी। यह बात बाण को बड़ी खटकती थी कि एक नया आया हुआ मनुष्य उसके बराबर, बहुधा उससे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर ले। यह बात स्पष्ट रीति से पद्मगुप्त के नवसाहसाङ्क चरित और मेरुतुङ्गाचार्य्य की प्रबन्धचिन्तामणि से सिद्ध है। नवसाहसाङ्क चरित में यह पद्य मिलता है—

> "स चित्रवर्णविच्छित्ति हारिणोरवनीपतिः।
> श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥"[1]

"जैसे पृथ्वी के उस स्वामी (सिन्धुराज) ने अपने नाना अक्षरों की रचना से आकर्षण करनेवाले बाण और नाना रङ्गों की रचना से आकर्षण करनेवाले मोर का संघर्ष किया, वैसे ही श्रीहर्ष ने नाना शब्दों की रचना से आकर्षण करनेवाले बाण और मयूर का संघर्ष (अपने राज्य में) किया"।

मेरुतुङ्गाचार्य्य ने भी प्रबन्ध चिन्तामणि में लिखा है कि मयूर और बाण में परस्पर स्पर्धा थी। यह बात मयूर के सम्बन्ध विषयक लेख में ऊपर कही गई है।

शास्त्रार्थ में मयूर की हार

सूर्यशतक के टीकाकार जगन्नाथ के लेख से यह दिखलाया जा चुका है कि मयूर ने काशी में सब पण्डितों को शास्त्र और काव्य में परास्त किया था। पर

---

१. पद्मगुप्त का नवसाहसाङ्क चरित, वी. एस्. इसलामपुरकर; बम्बई; १८९५

वेदान्त और जैन ग्रन्थों से प्रमाण मिलते हैं कि आध्यात्मिक विषयक ग्रन्थों में मयूर की हार हुई थी। शङ्कर-विजय नामी वेदान्त का ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी के माधवाचार्य्य ने लिखा है। इसमें श्रीशङ्कराचार्य्य जी के दिग्विजय का वर्णन है। कथा इस प्रकार प्रारम्भ होती है कि देवतागण मनुष्यों को बौद्ध धर्म्म ग्रहण करते हुए देखकर महादेव के पास गए। उन्होंने श्री शङ्कराचार्य्य का अवतार ग्रहण किया और समस्त भारतवर्ष में भ्रमण करके बौद्ध धर्म्म का नाश किया। इन जीते हुए लोगों में बाण और मयूर का भी नाम आता है। पद्य इस प्रकार है—

"स कथाभिरवन्तिपु प्रसिद्धान् विबुधान् बाणमयूरदण्डिमुख्यान्।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान् निजभाष्य-श्रवणोत्सुकांश्चकार॥"[1]

इस पद्य से यह बात सिद्ध हुई प्रतीत होती है कि श्री शङ्कराचार्य्य ने बाण, मयूर, दण्डी आदि को परास्त किया था।

इस पद्य पर काशीनाथ त्र्यम्बक तेलङ्ग का कहना है कि 'बाण, मयूर, दण्डी दार्शनिक प्रसिद्ध नहीं हैं' और 'इसलिये इनको न परास्त किया होगा'[2]। पर केवल इतना ही कहना पर्य्याप्त नहीं है। ब्यूलर का कहना है कि माधवाचार्य्य का शङ्करविजय ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिखा गया था। यह ग्रन्थ भी शङ्कराचार्य्य की केवल दिगन्त कीर्त्ति का वर्णन करता है, और इसलिये इसमें ये सभी घटनाएँ सत्य नहीं हैं। इस घटना के सत्य न होने का दूसरा कारण यह है कि बाण और मयूर का समय सातवीं शताब्दी का पूर्व भाग है और श्री शङ्कराचार्य्य जी का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग और नवम शताब्दी का पूर्व भाग है[3]। इसलिये आठवीं नवीं शताब्दी के श्री शङ्कराचार्य्य जी सातवीं शताब्दी के बाण और मयूर को परास्त नहीं कर सकते।

उपर्युक्त समालोचना के होते हुए भी यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि बाण और मयूर कुछ दार्शनिक भी अवश्य प्रसिद्ध थे। दार्शनिक होने के कारण ही श्री माधवाचार्य्य ने इनका श्री शङ्कराचार्य्य द्वारा परास्त होना लिखा है। अस्तु घटना भी एक दम निर्मूल नहीं कही जा सकती।

ऊपर यह दिखाया गया है कि मयूर का दार्शनिक बातों में परास्त किया जाना जैन ग्रन्थों से भी प्रमाणित होता है। श्री चन्द्रप्रभ सूरि के लिखे हुए प्रभावकचरित में, जो लगभग सन १२५० ईस्वी में लिखा गया होगा, श्री मान

1 ऑफ़्रेट का कैटेलोगस कोडिकम संस्कृत बिब्लियोथिकाई, पृ २५८
2 तेलङ्ग, न्याय कुसुमाञ्जलि का समय, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, १८७२, पृ २९९.
3 के बी पाठक, शङ्कराचार्य्य का समय, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी (१८८२) पृ १७५.

तुङ्गसूरि की कथा मिलती है। जब श्रीहर्ष की सभा के दो पण्डितों, मयूर और बाण, ने अपने अपने अध्यात्म बल से सूर्य और चण्डी की स्तुति करके अपना अपना कुष्ठ रोग और हाथ पैर ठीक कर लिए, तब—

"प्राह मन्त्री यदि स्वामी शृणोति प्रोच्यते तत. ॥
जैन श्वेताम्बराचार्य्यो मानतुङ्गाभिध सुधी।
महाप्रभावसम्पन्नो विद्यते तावके पुरे॥
चेत्कुतूहलमस्ति तदाहूयत तं गुरुम्।
चित्ते यो यादृशं कार्य्यं यादृशं पूर्यते तथा॥
इत्याकर्ण्य नृप प्राह तं सत्पात्रं समानय।"[1]

अर्थात्— मन्त्री ने कहा कि यदि महाराज सुनते हों तो कहते हैं कि आपके नगर में श्वेताम्बराचार्य्य मानतुङ्ग नाम का बड़ा तेजस्वी जैन विद्वान रहता है। यदि इच्छा हो तो उस गुरु को बुलाया जाय। आपके चित्त में जैसा कार्य्य उत्पन्न होगा वैसी ही उसकी पूर्त्ति होगी। इतना सुनकर राजा ने कहा कि इस सत्पात्र को ले आओ।'

जैन विद्वान् श्रीमानतुङ्ग के आने पर राजा ने प्रार्थना की—

'नृप प्राह द्विजन्मान कीदृक् सातिशया क्षितौ॥
एकेन सूर्यमाराध्य स्वाङ्गाद्रोगा वियोजित।
अपरश्चण्डिकासेवावशाल्लेभे करक्रमौ॥
भवतामपि शक्तिश्चेत्काप्यस्ति यतिनायका।
तदा कश्चिच्चमत्कारं पूज्या दर्शयताधुना॥
इत्याकर्ण्यापि ते प्राहुर्न गृहस्था वयं नृप।
धनधान्य-गृह-क्षेत्र-कलत्रापत्यहेतवे॥
राजरंजन विद्यासिर्लोकाक्षेपादिका क्रिया।
यद्विद्ध्म परं कार्य्यं शासनार्थं यद न॥
इत्युक्ते प्राह भूपालो निगडैरयं यंत्र्यताम्।
आपादमस्तकं तत्र निवेश्य प्रबद्धिति॥
तताऽपवरकै राजपुरुषै पुरुषस्तदा।
निगडेज चतुश्चत्वरिंशत्संख्यैरयोमयै॥'[2]

× × ×

वृत्तं भक्तामर इति प्रयुं प्राहैकमानस।
ट्रुत्य निगड तत्र त्रुटितापति तत्क्षणात्॥

---

१ निर्णयसागर में छपा प्रभावकचरित, पृ १८८ श्लोक १२४ २६
२ निर्णयसागर में छपा प्रभावकचरित पृ १८८, श्लोक १३०—३८.

प्राक्संख्यया च वृत्तेषु भणितेषु द्रुतं ततः ।
श्रीमानतुङ्गसूरिश्च मुक्तलोमुक्तलोऽभवत् ॥
स्वयमुद्घटिते द्वारयंत्रे संयमसंयत ।
सदानुच्छृङ्खल श्रीमानुच्छृङ्खल वपुर्ययौ ॥
अन्त संसदमागत्य धर्मलाभं नृपं ददौ ।[1]

× × ×

परं श्रीमन् गुणाम्भोधे प्रशाधि वसुधामिमाम् ।
जैनधर्मं इलाक्षेम परीक्ष्य परिपालय ॥
अथोवोचन्महीपाल पांथो जैनाहते पथि ।
अदर्शनाद्दियत्कालं पूज्याभ्यां वंचिता वयम् ॥
अहो मयामलोमौऽभूद् ब्राह्मणा एव सत्कला ।
देवान्संतोष्य यै स्वीयो दर्शित प्रत्ययो मम ॥
विपद्शनावहंकारारान्नैतानुपरतौ क्वचित् ।
दर्पायैव न बोधाय विद्या सा मतिभ्रम ॥
येषां प्रभाव सर्वातिशायी प्रशम ईदृश ।
सन्तोषश्च तदाद्यातो धर्म्म शुद्ध परीक्षया ॥
तन्मया भवतामेवोपदेश संविधीयते ।
अत परं कटुद्रव्य त्यक्त्वा स्वाद्यं हि गृह्यते ॥[2]

उपर्युक्त जैन कथा से यह बात सिद्ध होती है कि श्री हर्ष को श्रीमानतुङ्ग का ,भक्तामर स्तोत्र' द्वारा निगड़ बन्धन से मुक्त हो जाना मयूर और बाण के सूर्यशतक और चण्डीशतक द्वारा मुक्त हो जाने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुआ । मयूर और बाण को अहंकार था । वे परस्पर विवाद करते थे । पर श्री मानतुङ्गाचार्य परम सन्तोषी थे । इसी से श्रीहर्ष ने श्री मानतुङ्ग का उपदेश ग्रहण किया और बहुधा जैन धर्म्म स्वीकार कर लिया ।

मयूर के कुष्ठ रोग की कथाएँ

मयूर के कुष्ठ रोग का वर्णन विशेष करके जैनियों की कथाओं में और काव्यप्रकाश की टीकाओं में मिलता है । कथाएँ परस्पर बहुत बातों में भिन्न हैं और कहीं कहीं कथाओं का कोई भाग एक दूसरे से नहीं मिलता । अनेक कथाओं में कम से कम इस बात की समानता अवश्य है कि कवि अपने सम्बन्धी

१ निर्णयसागर में छपा प्रभावकचरित पृ १८९ श्लोक १४०-४२
२ निर्णयसागर में छपा प्रभावकचरित पृ० १८९; श्लोक १४८-५३.

दूसरे कवि के घर पर रात्रि के समय गया। दूसरा कवि अपनी स्त्री का मान भंग कर रहा था और उसी सम्बन्ध में एक श्लोक के तीन चरण उसने बनाए थे। चौथा चरण बनाने को ही था कि पहले कवि ने चौथे चरण की पूर्ति कर दी। दूसरे कवि के पारस्परिक रस में भंग हो गया और स्त्री ने तुरन्त शाप दिया कि तुम कोढी हो जाओ। पहला कवि कोढी हो गया और इसी रोग से निवृत्त होने के लिये उसने सूर्य की स्तुति सौ श्लोकों में की और सूर्यशतक का निर्माण किया।

(१) भक्तामरस्तोत्र के एक टीकाकार और सूर्यशतक के टीकाकार भट्ट यशेश्वर ने मयूर को भोज राजा का समकालीन लिखा है। भक्तामरस्तोत्र के टीकाकार ने कथा इस प्रकार दी है—

"पुरामरावतीजयिन्यां श्रीउज्जयिन्यां पुरि वृद्धभोजराजा पूज्योऽधीतशास्त्रपूरो मयूरो नाम पण्डितः प्रतिवसति स्म। तज्जामाता बाणः। सोऽपि विचक्षण। द्वयोरन्योन्यं मत्सरः। उक्तं "न सहन्ति इक्कमिक्कं न विणा चिट्ठन्ति इक्कमिक्केन। रासह वसह तुरङ्गा जूआरी पण्डियडिम्भा। अन्येद्युः विवदमानौ नृपेणोक्तौ। पण्डितौ युवां काश्मीरान् गच्छतम्, तत्र भारती यं पण्डितमधिकं मन्यते स एवोत्कृष्टः।"[1]

ब्यूलर ने इसका और इसके आगे के अंश का भी अनुवाद इस प्रकार दिया है[2]

"पूर्व काल में अमरावती को जीतनेवाली उज्जयिनी में वृद्ध भोजराज से पूजित, सब शास्त्र पढ़े हुए मयूर नाम के पण्डित रहते थे। उनके जामाता बाण थे। वे भी चतुर थे। दोनों में परस्पर डाह थी; क्योंकि यह कहा गया है कि गधे, बैल, घोड़े, जुआरी, पण्डित और बदमाश एक दूसरे को सह नहीं सकते, एक दूसरे के बिना रह भी नहीं सकते। एक दिन वे लड़ रहे थे। राजा ने उनसे कहा कि आप लोग काश्मीर जायँ। वही सब से श्रेष्ठ है जिसको सरस्वती, जो वहाँ रहती हैं, अधिक पंडित निश्चित करें। उन दोनों ने सामान लेकर यात्रा के लिये प्रस्थान किया। वे काश्मीर को जानेवाले मार्ग पर आए। उन्होंने पीठ पर बोझ लादे हुए पाँच सौ बैलों को देखकर एक हाँकनेवाले से पूछा कि यह सब क्या है? हाँकनेवाले ने उत्तर दिया कि यह सब प्रणव की टीका है। फिर उन्होंने ५०० बैलों के बाद २००० बैलों का झुण्ड देखा। यह देखकर कि ये सब

---

१. The Sanskrit Poems of Mayura, p 21

२ बाण भट्ट का चण्डीशतक, इण्डियन ऐन्टिक्वेरी (१८७२) पृ. ११३.

ग्रन्थ की नई नई टीकाएं हैं, उनका अहंकार जाता रहा। वे किसी स्थान पर एक साथ सो रहे थे। देवी सरस्वती ने मयूर को जगाकर 'शतचन्द्र नभस्तल' इस समस्या पूर्ति करने के लिये दी। इन्होंने थोड़ा उठते हुए नमस्कार किया और इस प्रकार पूर्ति की—

"दामोदरकराघातविह्वलीकृतचेतसा ।
दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥"

"दामोदर के हाथ के आघात से घबराए हुए चाणूरमल्ल ने आकाश शतचन्द्रयुक्त देखा।"

बाण को भी उसी प्रकार वही समस्या पूर्ति करने के लिये दी। बड़े गर्व के साथ उन्होंने इस प्रकार पूर्ति की—

"तस्यामुत्तुङ्गसौधाग्रविलोलवदनाम्बुजै: ।
विरराज विभावर्यां शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥"

"उस रात्रि को प्रासाद के उच्च शिखर पर चञ्चल मुखकमलवाली नायिकाओं के कारण आकाश शतचन्द्रयुक्त शोभायमान होता था।"

सरस्वती ने कहा कि तुम दोनों कवि हो और शास्त्रों के ज्ञाता हो, पर बाण इतने उच्च कोटि के नहीं हैं, क्योंकि उनको अहंकार है। मैंने तुम्हें प्रबन्ध की टीकाओं का भार दिखा दिया है। कौन ऐसा है जिसने देवी सरस्वती का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया हो! यह भी कहा गया है कि किसी को भी अहंकार न हो कि मैं ही इस युग में पंडित हूं और दूसरे मूर्ख हैं। ज्ञान की अधिकता केवल आपेक्षिक है।

इस प्रकार सरस्वती ने दोनों में मित्रता करा दी। उज्जयिनी आने पर वे दोनों अपने अपने घर गए। वे दोनों एक एक करके राजा के सामने गए। यह भी कहा गया है कि मृग, मृग ही के साथ रहते हैं, गाय गाय के साथ, घोड़े, घोड़े के साथ, मूर्ख, मूर्ख के साथ और विद्वान्, विद्वान् के साथ। समान गुण दोष रहने पर ही मैत्री होती है।

एक दिन बाण का अपनी स्त्री के साथ प्रेम युद्ध हो रहा था। स्त्री मान करके बैठी थी और मानभंग करना नहीं चाहती थी। रात्रि अधिकतर इसी प्रकार व्यतीत हो गई। मयूर जी प्रातःकाल के समय घूम रहे थे उस स्थान पर आ गए। खिड़की में से पति पत्नी का शब्द सुनकर वे ठहर गए। बाण अपनी पत्नी के पैरों पर गिर पड़े और कहने लगे कि हे मानिनि, मेरा यह दोष क्षमा करो, फिर मैं तुम्हें क्रुद्ध होने का अवसर न दूंगा। पत्नी ने पायलेववाले पैरों से लात मारा। मयूर जी खिड़की के नीचे खड़े थे, पायलेव का शब्द सुनकर

और पति का निरादर देखकर बहुत दुःखित हुए। बाण ने एक नया श्लोक तैयार किया—

> "गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
> प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
> प्रणामान्ते मानं त्यजसि न यथा क्रुधमहो
> कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते सुभ्रु कठिनम्॥"

"हे पतले शरीरवाली स्त्री, रात्रि प्राय बीत गई, चन्द्र मानो अस्त हो गए, यह प्रदीप मानों निद्रा के वश में होकर अपना सिर हिला रहा है। तुम प्रणाम के अनन्तर भी मान नहीं छोड़ती हो, इससे प्रतीत होता है कि तुम क्रुद्ध हो। हे सुन्दर भौंवाली, स्तनों के निकट होने के कारण तुम्हारा हृदय भी कड़ा है।"

यह सुनकर मयूर ने कहा कि उसको सुन्दर भौंवाली न कहकर क्रोधी चण्डी कहो, क्योंकि वह क्रुद्ध है। यह तीक्ष्ण शब्द सुनकर उस पतिव्रता स्त्री ने लड़की का चरित्र वर्णन करनेवाले अपने पिता को यह कहकर शाप दिया कि तुम मेरे मुँह के पान का रस स्पर्श करके कोढ़ी हो जाओ। उसी क्षण कोढ़ के दाग उसके शरीर पर दिखाई पड़ने लगे। प्रातःकाल बाण पूर्ववत् दरबार में वरक की भाँति कपड़े पहन कर गया और मयूर को लक्ष में रखकर श्लेष से उसे वर कोढ़ी कहा।

राजा इस बात को समझ गया और मयूर के दाग को देखकर उसको घर भेज दिया। मयूर सूर्य्य के मन्दिर में गए, बैठे और सूर्य्य पर ध्यान लगाकर "जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधत" इत्यादि सौ श्लोकों से सूर्य्य की स्तुति की।

'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणिन्' इत्यादि छठे श्लोक का पाठ करते ही संसार के कार्यों की ओर दृष्टि रखनेवाले सूर्य भगवान् प्रकट हुए। मयूर ने उनको प्रणाम किया और कोढ़ से छुड़ा देने के लिये उनसे प्रार्थना की। सूर्य्य भगवान् ने उत्तर दिया कि मुझे भी एक शाप के कारण पैर में कुष्ठ है। मैंने घोड़े के रूपवाली रत्नादेवी के साथ उसकी इच्छा के प्रतिकूल दुष्ट संसर्ग किया था। इस पर भी मैं तुम्हें अपनी एक किरण देकर पतिव्रता स्त्री के शाप से मुक्त कर दूंगा। इतना कहकर आकाश के मणि अन्तर्ध्यान हो गए। एक किरण से मयूर के कुष्ठ के दाग नष्ट हो गए। सब मनुष्य आनन्द मनाने लगे। राजा ने भी उनका सत्कार किया। बाण को मयूर की कीर्त्ति पर डाह हुई और अपने हाथ पैर कटवा दिए और दृढ़ प्रतिज्ञा करके "मामाशीर्विभ्रम" आदि सौ श्लोकों से चंडी की स्तुति की। प्रथम श्लोक की छठी मात्रा का उच्चारण करने पर चण्डिका प्रकट हुईं और उनके हाथ पैर ठीक हो गए।"

कथा के शेष भाग में इस बात का वर्णन है कि जैन धर्म्म के धर्म्मात्मा पुरुष भी अलौकिक कार्य्य कर सकते हैं। इसीलिये मानतुङ्गसूरि ने भी अपने को ४४

जंजीरों से बाँध दिया, फिर उनसे मुक्त होने के लिये भक्तामरस्तोत्र की रचना की और मुक्त हो गए।

(२) सूर्यशतक के टीकाकार भट्ट यज्ञेश्वर ने मयूर के कुष्ठ रोग का कारण इस प्रकार लिखा है[1]—

"पुरा किल श्रीविक्रमार्कसमयादष्टसप्तत्युत्तरसहस्रसम्मितेषु १०७८ संवत्सरेषु (१०२२ खिस्ताब्देषु) व्यतीतेषु संप्राप्तोदयस्य श्रीमद्भोजराजस्य सभासद्मरत्नदीपो महाकविर्मयूरो धारानगरीमधिवसति स्म। तस्य च भगिनीपतिः कादम्बरीगद्यप्रबन्धनिर्माता बाणकवि परममित्रमासीत्। अथ कदाचिन्मयूरकविर्निशः प्रान्ते संप्राप्तप्रबोध कतिचित्पद्यानि कथयाञ्चके। तानि चातीव सरससरमणीयान्याकलय्य तदानीमेवोत्कटसमुत्कण्ठायशान्निजसुहृदे बाणकवये निवेदयितुमनास्तदावासभवनमभिजगाम तत्र च बाणकविर्निजवल्लभां मयूरस्वसारं मानकलुषितां प्रसादयंस्तत्कालकल्पितं 'गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव। प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव। प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुध महो। इति पाद्योनं पद्यं पठित्वा चरमचरणसंगतिं कल्पयंस्तावदेव पापठ्याञ्चक्रे। अत्रावसरे घनस्तनितस्येव गम्भीरस्य बाणकविभाषणस्य श्रवणेन खिन्नशान्तःकरणो मयूरकविः स्वप्रतिभाप्रवाहं निरोद्धुमक्षमस्तत्पदेऽपेक्षितं सुसंगतं चतुर्थचरणं "कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनं" इत्येवं रूपं केकानिनादमिव मन्द्रमधुरस्वरेणोदीरयामास। तच्छ्रुत्वा सलज्जनुपस्तूर्णं बाणो लक्ष्यमिवायमपि बाणं कविर्निजभ्रातृतोऽन्वर्थतासमर्थनाय इव लीलासदनो झटिति विनिर्गत्य प्राणाधिकप्रियं सुहृद्वरं मयूरकविं समाजगाम। ततोऽस्या बाणवनितायाः रसभङ्गजनितमनःक्षोभवशया पातिव्रत्यप्रभावेणाचिरादेव शापतः स मयूरकविः कुष्ठरोगकवलितसर्वाङ्गः संवृत्तः। अथास्य पापरोगस्य समूलमुन्मूलनाय शतसंख्याकवृत्तमयपद्यघटितकाव्यबन्धेन भगवन्तं भास्करदेवं स्तुत्वा तत्प्रसादमहिम्ना प्रनष्टपापरोगः कनकरुचिरगात्रोऽयं मयूरकविः संबभूवेत्येवं तात्पर्यक इतिहासो मेरुतुङ्गाचार्यकृतप्रबन्धचिन्तामण्यादिग्रन्थे स्थितः इति।"

उपर्युक्त कथा का सारांश यह है कि विक्रमीय संवत् १०७८ (१०२२ ईस्वी) में श्रीमान् भोजराजा की सभा के ज्योतिस्वरूप महाकवि मयूर धारा नगरी

---

[1] झलकीकर का काव्यप्रकाश पृ ८०

में रहते थे। उनके बहनोई कादम्बरी ग्रन्थ के निर्म्माता बाण कवि बड़े मित्र थे। किसी समय मयूर कवि रात्रि के अन्तिम भाग में जाग गए और उन्होंने कुछ पद्यों की रचना की। ये पद्य बड़े सरस हैं, यह समझकर उनके मन में बड़ी उत्कट इच्छा अपने मित्र बाण कवि को दिखाने की हुई और वे उनके घर गए। वहाँ बाण अपनी प्रिया (मयूर की बहन) के प्रणयमान की शान्ति कर रहे थे; और उस समय एक पद्य के इस आशय के तीन चरणों की रचना करके बार-बार पाठ कर रहे थे कि हे पतले शरीरवाली स्त्री, रात्रि प्रायः बीत गई, चन्द्र क्षीण हो रहा है, निद्रा के वश में दीप अपना सिर हिला रहा है, प्रणाम के अनन्तर भी तुम मान नहीं छोड़तीं। इस अवसर पर बाण कवि की गम्भीर कविता सुनकर मयूर से नहीं रहा गया और इस प्रकार चतुर्थ चरण की पूर्ति कर दी कि स्तनों के पास होने के कारण, हे चण्डि, तुम्हारा हृदय भी कठोर है। यह सुनते ही बाण झट अपने घर से बाहर निकल आए। बाण की स्त्री का रसभंग हो गया और उसने बहुत क्रुद्ध होकर अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से मयूर को शाप दिया कि तुम कोढ़ी हो जाओ। मयूर को तुरन्त सर्वाङ्ग में कुष्ठ हो गया। इस पाप रोग से जल्द से मुक्त होने के लिये मयूर ने सौ सुन्दर श्लोकों में सूर्य भगवान् की स्तुति की। इस स्तुति के प्रभाव से उनका कुष्ठ अच्छा हो गया और उनका शरीर सुन्दर सोने के समान हो गया।

उपर्युक्त कथा झलकीकर ने अपने काव्यप्रकाश की टीका में दी है और कथा के अन्त में उनका कहना है कि यह इतिहास मेरुतुंगाचार्य्य के प्रबन्ध-चिन्तामणि से लिया गया है। पर आश्चर्य है कि प्रबन्धचिन्तामणि की मुद्रित प्रति में इस इतिहास का कोई भाग नहीं मिलता। कथा भी कहीं कहीं एक दम उलटी है। मालूम होता कि इसी प्रति से टानी ने भी अपना अनुवाद किया है, क्योंकि टानी का अनुवाद इस प्रति की कथा से अक्षरशः मिलता है। मुद्रित प्रति में पूरी कथा इस प्रकार है—

"अथ मयूरबाणाभिधानौ भावुकश्यालकौ पण्डितौ निजविद्वत्तया मिथः स्पर्धमानौ नृपसदसि लब्धप्रतिष्ठावभूताम्। कदाचिद्बाण-पण्डितो जामिमिलनाय तद्गृहं गतो निशि द्वारप्रसुप्तो भावुकेनानु-नीयमानां जामिं निशाम्य तत्र दत्तावधान इत्यशृणोत् ॥

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानं त्यजसि न तथापि क्रुधमहो
इति भूयो भूयस्तेन त्रिपदीमुदीर्यमाणामाकर्ण्य
कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्।

इति भ्रातृमुखात्तूर्यं पदमाकर्ण्य क्रुद्धा सा सत्रपा च कुष्ठी भवेति तं भ्रातरं शशाप। इति पतिव्रतातत्प्रभावात्तदात्वप्रभृति रोगोऽभूत। प्रात शीतरक्षाविह्नितनुर्नृपसमायातो मयूरेण मयूरेणैव कोमलगिरा वरकोढीति तं प्राकृतशब्दे प्रोक्ते चतुरश्चक्रवर्ती नृपो बाणं सविस्मयं प्रेक्ष्यमाणस्तेन प्रस्तावान्तरे देवताराधनोपायश्चेतस्यवतारयाञ्चक्रे। बाणस्तु सापत्रपस्तत उत्थाय नगरे (नगर ?) सीमनि स्तम्भमारोप्य खदिराङ्गारपूर्णमध कुण्ड विधाय स्तम्भाग्रवर्तिनि सिक्कके स्वयम धिरुढ सूर्यस्तुतौ प्रतिकाव्यमान्ते सिकपदं छुरिकया छिन्दन् पञ्चभि काव्यैस्तेन पञ्चसु पदेषु छिन्नेषु सिक्काग्रे विलग्न षष्ठेन काव्येन प्रत्यक्षीकृत भानुस्तत्प्रसादात्तत्र सञ्जातचारुकाञ्चनकाय अन्य स्मिन्नहनि स सुवर्णवर्णनाथलिप्ताङ्ग संवातसितदिव्यवसन सभा जगाम। तद्वपु पार्श्वं पश्यता नृपेण सूर्यवरप्रसादं मयूरे विज्ञापयति बाणो बाणनिभया गिरा तं मर्मणि विव्याध। यदि देवताराधनं सुकरं तदा त्वमपि किमपीदृक् चित्रमाविकुरु। इत्यभिहिते तेन मयूरेण तं प्रति प्रतिवच सदधे। निरामयस्य किमायुर्वेदविदा तथापि तव वच सत्यापयितुं निजपादौ च पाणी छुर्या विदार्यं त्वया षष्ठे काव्ये सूर्यं परितोषितोऽहं तु पूर्वस्य काव्यस्य षष्ठेऽक्षरे भवानी परितोष यामीति प्रतिश्रुत्य सुखासनमासीनश्चण्डिकाप्रसादपश्चाद्भागे निविष्टो माद्राक्षीयित्रममिति षष्ठेऽक्षरे प्रत्यक्षीकृतचण्डिकाप्रासादात्प्रत्यग्र थमानवपु पल्लव स्वसन्मुख च तत्प्रासादमालोक्याभिमुखागतैर्नृ पतिप्रमुखराजलोकै कृतजयजयारवो महता महेन पुरं प्राविक्षत्। एतस्मिन्नवसरे मिथ्यादृशां शासने विजयिनि सम्यग्दर्शनद्वेषिभि कैश्चित्प्रधानपुरुषैर्नृपोऽभिदधे। यदि जैनमते कश्चिदीदृक्प्रभावाविर्भाव प्रभवति तदा सिताम्बरा स्वदेशे स्थाप्यन्ते ना चेन्निर्वास्यन्ते इति तद्वचनानन्तरं श्रीमानतुङ्गाचार्यास्तत्राकार्यं निजदेवतातिशयं कमपि दर्शयन्तु इति राज्ञा भणितं। ते प्राहु। मुक्तानामस्मद्देवतानामत्र कोऽतिशय समवति तथापि तत्किङ्कराणा सुराणा प्रभावाविर्भाव कोऽपि विश्वचमत्कारकारी दृश्यत इत्यभिधाय चतुश्चत्वारिंशता निगडैर्निजमङ्गं नियमितं कारयित्वा तन्नगरवर्तिन श्रीयुगादिदेवस्य प्रासादपाश्चात्यभागे स्थितो भक्तामरेति नवं स्तवं कुर्वन् प्रतिकाव्य मग्नैकैकनिगड श्रृंखलासंख्ये काव्ये पर्याप्तस्तत्राऽभिमुखीकृतप्रासाद शासनं प्रभावयामास।[1]

---

१ प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० १०५–१०८

उपर्युक्त कथा का सारांश इस प्रकार है—

मयूर और बाण दो पण्डित थे। मयूर बहनोई और बाण साले थे। उन दोनों में अपने अपने पण्डित्य के कारण निरन्तर डाह बनी रहती थी; और दोनों राजा की सभा में सम्मान के पात्र थे। एक दिन बाण रात्रि के समय अपनी बहन के घर गए और जब कि वे द्वार के निकट लेटे हुए थे, उन्होंने सुना कि उनकी बहन के पति उन की बहन का मान भंग कर रहे हैं। उनके शब्द सुनते हुए उन्होंने ये पंक्तियाँ सुनीं—

रात्रि प्राय व्यतीत हो गई है और दुर्बल अङ्गवाला चन्द्रमा अस्त हो रहा है। निद्रा के वश में दीपक अपना सिर हिला रहा है। प्रणाम से मान का अन्त हो जाता है, पर हाय, तुम अपना क्रोध नहीं शान्त करतीं।

जब बाण ने ये पंक्तियाँ कई बार सुनीं, तब उन्होंने चौथी पंक्ति भी जोड़ दी—

हे चण्डि, स्तनों के निकट होने के कारण तुम्हारा हृदय भी कठोर है।

जब मयूर की स्त्री ने अपने भाई के मुँह से यह चौथा चरण सुना, तब वह बड़ी क्रुद्ध और लज्जित हुई और यह शाप दिया कि तुम कोढ़ी हो जाओ। उसके पातिव्रत धर्म्म में पूर्ण दृढ़ होने के कारण बाण को तुरन्त कोढ़ हो गया। दूसरे दिन प्रातःकाल वह राजा की सभा में गए। उनका शरीर शीत रक्षा के कारण ढँका था। उस समय मयूर ने मयूर की तरह कोमल वाणी से वर कोढ़ी कहकर ताना मारा। चतुर राजा ने आश्चर्य के साथ बाण की ओर देखा। इसके अनन्तर बाण ने देवता का आराधन करना मन में निश्चय किया और लज्जित होकर नगर की सीमा पर खंभा गाड़कर उसके नीचे खदिर की लकड़ी के कोयलों से आग तैयार की। स्तम्भ के ऊपर छींका रखकर स्वयं उसमें बैठ गए और सूर्य की स्तुति के प्रत्येक पद्य के अनन्तर एक-एक डोरी चाकू से काटते गए। छींके पर लटके हुए, पाँच पद्यों के अनन्तर पाँच डोरियाँ कट जाने पर, छठे पद्य के पढ़ने के अनन्तर सूर्य भगवान् प्रत्यक्ष हुए और उनके प्रसाद से उसी समय उनका शरीर सोने के समान लाल हो गया। दूसरे दिन बाण सुगन्धि चन्दन लगाकर और शुभ वस्त्र पहन कर राजसभा में गए। बाण ने अपने स्वस्थ शरीर हो जाने का कारण कह सुनाया। मयूर कारण सुनते ही कह बैठे कि यह केवल सूर्य भगवान् का प्रसाद है; इसमें बाण की कोई विशेष कुशलता नहीं है। इतना सुनते ही बाण ने बाण की तरह तीक्ष्ण शब्दों में कहा कि यदि इसमें कोई कुशलता नहीं है, तो तुम भी कुछ ऐसा ही कर दिखाओ। मयूर ने कहा कि मुझे क्या आवश्यकता है! तब भी तुम्हारी बात मानने के लिये अपने दोनों हाथ और पैर काट कर प्रथम श्लोक की षष्ठ मात्रा के पाठ मात्र से ही चण्डी को प्रसन्न करूँगा। इस तरह प्रतिज्ञा करके मयूर ने चण्डिका के मन्दिर के पिछले

भाग में सुखपूर्वक बैठकर 'माश्राशीर्विभ्रम' इस तरह चण्डी शतक का पाठ करना आरम्भ किया। छठे अक्षर का पाठ करते ही चण्डी प्रकट हुईं और उनका अंग प्रत्यंग सुन्दर कर दिया। इसके अनन्तर राजा और अन्य प्रमुख लोगों ने जयजयकार किया और बड़े उत्सव के साथ मयूर को नगर में लिवा ले गए। इस तरह बाण, मयूर आदि आस्तिक-वादियों को जीत सन कर नास्तिकों में से एक ने राजा से कहा कि जैन मत में भी यदि ऐसा कोई प्रभाव वाला हो, तो उसको अपने देश में रखिए नहीं तो निकाल दीजिए। इतना कह कर श्रीमानतुङ्गाचार्य्य को वहाँ बुलाया। उन्होंने कहा [redacted] हमारे देवता तो मुक्त हैं। उनका क्या प्रभाव दिखाया जाय। पर उनके सेवक देवतागण का ससार को आश्चर्य में डालनेवाला कोई प्रभाव दिखाया जा सकता है। इतना कहकर मानतुंगाचार्य्य ने अपने को ४४ जंजीरों से बाँध डाला और उस नगर के श्री युगदेव के मन्दिर के पिछले भाग में बैठकर भक्तामर नामक नवीन स्तोत्र का पाठ करना आरम्भ किया। इस स्तोत्र के एक एक श्लोक से एक एक जंजीर कटती गई और स्तोत्र के समाप्त होने पर वे सब बन्धनों से मुक्त हो गए। इस तरह श्रीमानतुङ्गाचार्य्य ने अपना प्रभाव दिखा दिया।

(३) सूर्य्य शतक के टीकाकार मधुसूदन ने उपर्युक्त कथा कुछ भिन्न रूप में लिखी है। उनकी कथा के अनुसार मयूर राजा भोज की सभा में नहीं थे और न उनके कुष्ठ रोग हो जाने का कारण चतुर्थ चरण की पूर्ति था। उनका कहना है कि मयूर राजा हर्ष की सभा के पण्डित थे और उन्होंने अपनी लड़की के सौन्दर्य का वर्णन आठ श्लोकों में किया था जो मयूराष्टक के नाम से प्रसिद्ध है। इस वर्णन के कारण लड़की ने शाप दिया और उनको कुष्ठ हो गया। मानतुङ्ग की कथा का वर्णन भी उनकी कथा में नहीं है।

(४) भक्तामर स्तोत्र के एक टीकाकार भी मयूर के कुष्ठ का कारण अपनी लड़की की सुन्दरता का वर्णन करना लिखते हैं।

उपर्युक्त तीसरी कथा से यह बात सिद्ध होती है कि सातवीं शताब्दी में मानतुङ्ग सूरि की कथा कल्पित है और वह तीसरी शताब्दी में हो हुए थे। इस कथा में राजा भोज की जगह राजा हर्ष का होना प्रमाणित करता है कि मधुसूदन ने जैनियों के प्रभाव में आकर यह कथा नहीं लिखी है।

(५) ऊपर लिखा जा चुका है कि मयूर का वर्णन जैनियों की कथाओं और काव्य प्रकाश की टीकाओं में आने का कारण यह है कि काव्य प्रकाश में मम्मट ने स्वयं लिखा है कि काव्यों के पढ़ने से दुःख की निवृत्ति होती है और उदाहरण में उन्होंने लिखा है कि मयूर ने सूर्य्य की स्तुति की जिससे उनके दुःखों की निवृत्ति हुई। उनका लेख है— आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थ निवारणम्।'[१]

१. झलकीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ संस्करण १८

(६) काव्य प्रकाश के टीकाकार ने नरसिंह मनीषा में इस प्रकार लिखा है—

"मयूरनामाकवि श्लोकशतेनादित्यमुपश्लोक्य कुष्ठरोगान्निस्तीर्ण इति जनश्रुति "।[1]

"मयूर नाम के कवि सौ श्लोकों से आदित्य की स्तुति करके कुष्ठ रोग से निवृत्त हुए, ऐसी जनश्रुति है।"

(७) काव्य प्रकाश के दूसरे टीकाकार ने सुधासागरी में कुष्ठ निवृत्ति का कारण नीचे लिखे अनुसार बतलाया है। इसमें प्रबन्ध चिन्तामणि के छींके का वर्णन दिखाई पडता है।

"उक्तश्च सुधासागरकारैरपि—"पुरा किल मयूरशर्म्मा कुष्ठी कवि' क्लेशमसहिष्णु सूर्यप्रसादेन कुष्ठान्निस्तरामि प्राणान् वा त्यजामीति निश्चित्य हरिद्वार गत्वा गङ्गातटे अत्युन्नतरुशाखावलम्बि शतरज्जु-शिक्यमधिरुह्य सूर्यमस्तौषीत् अकरोच्चैकैकपद्यान्ते एकैकरज्जुच्छेदम्। एवं क्रियमाणकाव्यपरितुष्टो रवि सद्य एव नीरोगां रमणीयाश्च तत्तनुमकार्षीत्। प्रसिद्धश्च तन्मयूरशतकं (सूर्यशतकापरपर्यायम्) इति।[2]

"सुधासागरकार ने भी कहा है—प्राचीन काल में मयूर शर्म्मा कोढी कवि क्लेश को न सहन करके 'कोढ से निवृत्त हूँगा या प्राण त्याग दूंगा" इस प्रकार निश्चय करके हरिद्वार गए और गङ्गाजी के तट पर बडे ऊँचे पेड की शाखा से लटकनेवाले सौ डोरियों से बधे हुए छींके पर चढकर सूर्य की प्रार्थना करने लगे। एक एक पद्य के अन्त में एक एक डोरी काटने लगे। इस प्रकार किए जानेवाले काव्य से सन्तुष्ट होकर सूर्य भगवान् ने तुरन्त उनकी देह नीरोग और सुदर बना दी। वही (काव्य) मयूरशतक या सूर्यशतक के नाम से प्रसिद्ध है।"

(८) सूर्यशतक के टीकाकार जगन्नाथ का विलक्षण ही मत है। उनका कहना है कि मयूर को एक पतिव्रता स्त्री के या अपनी लडकी के शाप से कुष्ठ रोग नहीं हुआ था। यह केवल उनके पूर्व जन्मों के कर्मों का फल था। इन्होंने यह भी नहीं लिखा है कि सूर्यशतक के पाठ से कुष्ठ रोग की निवृत्ति हो गई। मयूर ने चाहा अवश्य था कि सूर्यशतक के पाठ से कुष्ठ रोग की निवृत्ति हो जाय। यह एक स्वतन्त्र लेख प्रतीत होता है जिसमें जैनियों के कथाभाग का बहुत कम अंश मिलता है। बहुधा यह कथा सत्य भी है। उनका उल्लेख इस प्रकार है—

१ झलकीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८

२ झलकीकर का काव्यप्रकाश, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८

"श्रीमन्मयूरभट्टः पूर्वजन्मदुरदृष्टहेतुकगलितकुष्ठजुष्टोग.......क्षमो बान्धवस्कन्धावलम्बी भगवत्सूर्यमन्दिरसंकीर्णद्वारावलम्बनाशक्तः तत्पश्चादुपविष्टः पूर्वजन्मदुरदृष्टसृष्टकुष्ठरोगापनोदनेप्सुः बान्धवाशीर्वादव्याजेन रश्मिराजिस्थमण्डल ... ...मेव भगवन्तं स्तौति जम्भारातीभेति।"[1]

जैन कथाओं की समालोचना

उपर्युक्त सब कथाएँ प्रायः कल्पित और दन्तकथाएँ प्रतीत होती हैं। प्रथमतः, मानतुङ्ग लगभग तीसरी शताब्दी में उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं और बाण और मयूर सातवीं शताब्दी में। मयूर के विषय में पहला लेख काव्य प्रकाश में मिलता है जो लगभग ११ वीं शताब्दी में लिखा गया है। दूसरा लेख जैनियों के प्रभावकचरित आदि ग्रन्थों में है जो लगभग १२५० ई० में लिखा गया है। कोई विशेष ऐतिहासिक सामग्री न रहने के कारण यह सम्भव है कि कथाओं का बहुत सा भाग पाँच सौ वर्ष में कल्पित हो गया हो और केवल दन्त कथा के आधार पर लिखा गया हो। कथाओं में इतनी भिन्नता प्रतीत होती है कि किसी सत्य बात का निकालना कठिन है।

दूसरे, प्रभावक चरित, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि ग्रन्थ जैनियों ने लिखे हैं, जिनमें उन्होंने अपने धर्मध्वज श्री मानतुङ्ग की कीर्ति का वर्णन किया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि श्री मानतुङ्ग अन्य सब कवियों से आध्यात्म बल में बढ़कर थे और इसी लिये सम्भव है कि मयूर और बाण की कथा की कल्पना की गई हो। जितने प्रमाण मिलते हैं, उनके आधार पर किसी सत्य बात का निर्धारित करना कठिन है।

सूर्य्यशतक आदि ग्रन्थ लिखने के विशेष हेतु

अब प्रश्न यह है कि मयूर, बाण आदि के विषय में ये कथाएँ क्यों कल्पित की गईं। ब्यूलर ने बाण के चण्डीशतक के प्रथम पद्य के तृतीय चरण 'इत्युद्यत्कोपकेतु' प्रकृतिमवयवान् प्रापयन्त्येव देव्या' को लक्ष्य में रखकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है[2] कि यही चरण बाण की कथा का बीज है। इस चरण में कहा गया है कि देवी अपने अवयव प्राकृतिक अवस्था में ले आना चाहती हैं। यदि देवी के विषय में यह शब्द न रख कर कवि के विषय में ही

१. Har Prasad Sastri—Notices of Sanskrit Manuscripts, Second Series, Vol I. P 411. and 412, Cal 1900

२. Buhler - On the Chandisataka of Banabhatta, I, A. Vol I, p 115

रखें जायँ, तो यह कल्पना करनी होगी कि स्वयं कवि अपने अवयवों को प्राकृतिक अवस्थामें ले आना चाहते हैं, और प्राकृतिक अवस्था में ले आना ही सिद्ध करता है कि कवि के अवयव पहले प्राकृतिक अवस्था में नहीं थे। इसी प्रकार बाण के विषय में इस कथा की कल्पना की गई कि पहले इनके हाथ पैर कटे हुए थे और देवी की स्तुति से वे प्राकृतिक अवस्था में आ गए।

इसी रीति पर यदि मानतुङ्ग के भक्तामरस्तोत्र और मयूर के सूर्यशतक के विषय में विचार किया जाय, तो दोनों कवियों की दन्तकथाओं के बीज उनके स्तोत्रों से ही मिल जाते हैं। भक्तामरस्तोत्र का ४२ वाँ श्लोक इस प्रकार है—

आपादकण्ठमुरुशृंखलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति॥

'जिनके अङ्ग कण्ठ से पैर तक भारी जञ्जीरों से बँधे हैं और जिनके जघे करोड़ों भारी कड़ियों से जकड़े हैं, वे मनुष्य यदि तुम्हारे नाम रूपी मन्त्र का निरन्तर स्मरण करें, तो वे तुरन्त स्वयं सब बन्धनों के भय से मुक्त हो जाते हैं।"

उपर्युक्त पद्य से यह धारणा की जा सकती है कि कवि स्वयं ऐसी ही जञ्जीरों से वेष्टित था और उनसे मुक्त होने के लिये उन्होंने भक्तामरस्तोत्र का निर्म्माण किया था।

इसी प्रकार सूर्यशतक के विषय में भी विचार किया जा सकता है। इस शतक का छठा पद्य, जिससे मयूर के कुष्ठ रोग की निवृत्ति कही जाती है, यह बात प्रायः सिद्ध कर देता है कि कवि स्वयं ऐसी ही आपत्ति में पड़ा था और इससे निवृत्त होने के लिये उसने सूर्यशतक लिखा। छठा पद्य इस प्रकार है—

"शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्तेः
दत्तार्घाः सिद्धसंघैः विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्"

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सूर्यशतक के लिखने का मुख्य कारण श्रीहर्ष के समय में सूर्य भगवान् के पूजन की प्रधानता थी। हर्ष के शिलालेखों से और बाण के हर्षचरित से यह बात सिद्ध होती है कि हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन और उनके पूर्वज परम आदित्य भक्त थे। हर्षचरित में इस विषय का यह वर्णन है—

निसर्गतः एव च स नृपतिः आदित्यभक्तो बभूव। प्रतिदिनमुदये दिनकृतः स्नातः सितदुकूलधारी धवलकर्पटप्रावृतशिराः प्राङ्मुखः

स्निनौ जानुभ्यां स्थित्वा कुंकुमपङ्कानुलिप्ते मण्डलके पद्मरागपात्रीनिहितेन स्वहृदयेनेव सूर्यानुरक्तेन रक्तकमलषण्डेन अर्घ्यं ददौ।"

प्रभाकरवर्धन 'स्वभावत' सूर्य के भक्त थे। प्रतिदिन सूर्योदय के समय व स्नान करते थे आदि"।[1]

पहले यह लिखा जा चुका है कि प्रसिद्ध चीनी बौद्ध यात्री हुन सांग हर्ष के समय में भारतवर्ष आए थे और वे स्वयं प्रयाग में पाँच पाँच वर्ष पर होनेवाले धर्मोत्सव में सम्मिलित हुए थे। उन्होंने लिखा है कि इस उत्सव में तीन दिन तीन प्रतिमाओं का पूजन हुआ था। पहले दिन बुद्ध का, दूसरे दिन सूर्य का और तीसरे दिन शिव का। इससे भी सिद्ध होता है कि हर्ष के राज्य में सूर्य के पूजन का विशेष प्रचार था और बहुधा सूर्यशतक हर्ष के आदेश से ही लिखा गया होगा।

सूर्यशतक के एक टीकाकार अन्नयभट्ट इस शतक के लिखने का कारण इस प्रकार देते हैं—

"मयूरो नाम महाकवि अन्तःकरणादिसर्वाशयनिवृत्तिसिद्धये सर्वजनोपकाराय च आदित्यस्य स्तुतिं श्लोकशतेन प्रणीतवान्।"

'मयूर नाम के कवि ने अन्तःकरण की सम्पूर्ण वासनाओं की निवृत्ति के लिए और सब मनुष्यों के उपकार के लिए सौ श्लोकों में सूर्य की स्तुति निर्माण की।"

इस प्रकार सूर्यशतक लिखने का प्रयोजन देना बहुत साधारण है और ऐसा कारण प्रायः सभी स्तोत्रों के निर्माण में दिया जा सकता है। इससे इस शतक लिखने के किसी विशेष प्रयोजन का पता नहीं लगता। सूर्यशतक के १०१ श्लोक में भी इसी प्रकार का कारण दिया है —

"श्लोका लोकस्य भूत्यै शतमिति रचिता श्रीमयूरेण भक्त्या
युक्तश्चैतान् पठेद्यः सकृदपि पुरुषः सर्वपापैर्विमुक्तः।
आरोग्यं सत्कवित्वं मतिमतुलबलं कान्तिमायुःप्रकर्षं
विद्यामैश्वर्यमर्थं सुतमपि लभते सोऽत्र सूर्यप्रसादात्।"

"श्रीमयूर ने लोगों के कल्याण लिए भक्ति से सौ श्लोक रचे। जो कोई भक्तियुक्त होकर एक बार भी इन्हें पढ़ेगा, वह सब पापों से मुक्त हो जायगा और आरोग्य, सत्कविता, बुद्धि, अनुपम बल, शोभा, दीर्घायु, विद्या, ऐश्वर्य, धन और पुत्र भी सूर्य के प्रसाद से प्राप्त कर लेगा।"

मयूर और भोजप्रबन्ध

बल्लालसेन ने १६ वीं शताब्दी में भोजप्रबन्ध लिखा। इस ग्रन्थ के दो विभाग हैं। प्रथम भाग में राजा भोज के अपने पितृव्य मुञ्ज के स्थान पर

---

१ हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास अंग्रेजानुवाद, पृ० २५१

सिंहासन पर आने का वर्णन है। राजा भोज की सभा में अनेक कवि अपने अपने पद्य सुनाते थे और पारितोषिक लेकर चले जाते थे। राजा भोज ने अपने नगर में यह घोषणा कर दी थी कि यदि कोई मेरा प्यारा भी मूर्ख हो, तो वह मेरे नगर के बाहर निकाल दिया जाय, और कुम्भकार भी यदि विद्वान् हो, तो मेरे नगर में रहे। इस घोषणा का प्रभाव यह हुआ कि राजा भोज के नगर में एक भी मूर्ख न रह गया और धीरे धीरे उनकी सभा में ५०० कवि हो गए जिनका सत्कार करना ही उनका प्रधान धर्म्म था। इन पाँच सौ कवियों में प्रधान कवि इस प्रकार गिनाए गए हैं—

"ततः क्रमेण पञ्चशतानि विदुषां वररुचिबाणमयूररेफण-हरिशङ्कर कलिङ्गकर्पूरविनायकमदनविद्याविनोदकोकिलतारेन्द्रमुखाः सर्वशास्त्रविचक्षणाः सर्वे सर्वज्ञाः श्रीभोजराजसभामलंचक्रुः।"[1]

उपर्युक्त कवियों में बाण और मयूर का भी नाम आया है। ऐसे ही अनेक स्थानों में मयूर का नाम लिया गया है। कहते हैं कि एक बार केवल धोती पहने हुए एक अपरिचित कवि ने राजा भोज की सभा में आने की अनुमति माँगी। आते ही वह बैठ गया और एक पद्य पढ़ सुनाया। भोज ने नाम पूछा, कवि ने पद्य में ही अपना नाम क्रीड़ाचन्द्र बताया। कालिदास ने क्रीड़ाचन्द्र की बहुत प्रशंसा की और उसके कवित्व की योग्यता का समर्थन किया। इसके अनन्तर क्रीड़ाचन्द्र ने कई पद्य प्रशंसा में पढ़ा जिससे राजा का ध्यान दान की ओर आकृष्ट हो। उनमें से एक यह भी है—

"जायते जातु नामापि न राज्ञां कवितां विना।
कवेस्तद्व्यतिरेकेण न कीर्त्तिः स्फुरति क्षितौ॥"

यह पद्य सुनकर मयूर ने भी यह पद्य कह सुनाया—

"ते वन्द्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः।
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये च काव्ये प्रकीर्त्तिताः॥"

भोज ने इसके अनन्तर क्रीड़ाचन्द्र को कई गाँव और बीस हाथी दिए।[2] इसी प्रकार की अनेक कथाएँ मयूर के सम्बन्ध में भोजप्रबन्ध में उल्लिखित हैं। भोजप्रबन्ध के पढ़ने से साधारणतः यह बात प्रतीत होगी कि जितने कवि भोजप्रबन्ध में उल्लिखित हैं, वे सब भोज राजा की सभा के पण्डित थे; पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि भोजप्रबन्ध केवल राजा भोज की कीर्त्ति स्थापित करने के लिये ऐसी कथाओं से भरा है जो ऐतिहासिक

१. भोजप्रबन्ध, जीवानन्द पृ. २०.

२ भोजप्रबन्ध; जीवानन्द (१८७२) पृ. ३१-३२.

दृष्टि से उस समय कभी नहीं घटित हुई थीं। धारा के राजा भोज ११ वीं शताब्दी हुए थे। पर उनकी सभा में ऐसे अनेक कवियों का वर्णन है जो नसे उन्हें शताब्दी पूर्व उत्पन्न हुए प्रमाणित होते हैं। भारवि छठी शताब्दी में, में, माघ सातवीं शताब्दी में, कालिदास पाँचवीं शताब्दी में इस भारत भूमि को अलङ्कृत करते थे। इसी प्रकार मयूर भी सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के समय उनकी सभा के कवि थे और इसलिये वे कदापि राजा भोज की सभा के कवि नहीं हो सकते। यह बात तो स्पष्ट ही है कि जिस मयूर का वर्णन यहाँ किया जा रहा है, वे सातवीं शताब्दी में ही थे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भोजप्रबन्ध एक बिलकुल अप्रामाणिक ग्रन्थ है और इतिहास की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि भोजप्रबन्ध में मयूर का नाम कई बार आया है, इसलिये ११ वीं शताब्दी में अवश्य कोई मयूर राजा भोज का समकालीन था। इस प्रश्न पर यह विचार करना आवश्यक है कि ऐसे अनेक कवियों के नाम भोजप्रबन्ध में आये हैं जो उस समय कदापि सिद्ध नहीं होते। यह कहना कि यह सब कालिदास आदि महाकवि प्रसिद्ध कालिदास से इतर ही थे, दुस्साहस मात्र है। वस्तुतः राजा भोज का महत्त्व बढ़ाने के लिये ही बल्लालसेन ने सब महाकवियों को वहीं एकत्र कर दिया है। इसी लिये उपर्युक्त सिद्धान्त ही ठीक है कि इतिहास की दृष्टि से भोजप्रबन्ध का कोई महत्त्व नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि सूर्यशतक के टीकाकार ने बाण और मयूर को उज्जयिनी के राजा भोज की सभा का पण्डित कहा है, और प्रबन्धचिन्तामणि की काव्यप्रकाश की टीका में दिए हुए पाठ से भी यह प्रतीत होता है कि मयूर धारा के राजा भोज की सभा के कवि थे। इसलिये कोई राजा भोज धारा और उज्जयिनी में अवश्य सातवीं शताब्दी में रहे होंगे। पर इस समय तक जितने ऐतिहासिक ग्रन्थ और लेख देखे गए हैं, उनसे यह कहीं सिद्ध नहीं होता कि राजा भोज धारा और उज्जयिनी में उस समय थे। अवश्य ही यह जैनियों के मन की कल्पना है जिससे उन्होंने हर्ष के स्थान पर भोज का नाम दे दिया और सातवीं शताब्दी के मयूर के प्रसङ्ग में एक ओर से तीसरी शताब्दी के मानतुङ्ग को और दूसरी ओर से ११ वीं शताब्दी के राजा भोज को लाकर बैठा दिया। इस सबंध में ब्यूलर का लेख बहुत सत्य प्रतीत होता है कि चरित और प्रबन्ध लिखने का उद्देश्य जैन जाति का महत्त्व बढ़ाना और जैन धर्म की शक्ति और कीर्ति में मनुष्यों का विश्वास दिलाना है, या जहाँ धर्म से विषय कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वहाँ जैनियों को केवल रोचक कथा सुनाना है। विशेषकर यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि प्राचीन और

नवीन कथाओं में भी सब मनुष्य ऐतिहासिक है, यद्यपि यह बहुधा भूल हुई है कि जिस समय जो पुरुष उत्पन्न हुए हैं, उनका वर्णन उस समय न करके, या तो उनका वर्णन उनसे पूर्व समय में किया है या उनसे और भविष्य में किया है या उसके सम्बन्ध में एक दम अविश्वसनीय बातें कह दी हैं, तथापि ऐसी भूल प्राय कभी हुई नहीं मालूम होती कि किसी एक दम कल्पित व्यक्ति का वर्णन कर दिया गया हो। प्राय प्रत्येक नई खोज में मिले हुए लेख या प्राचीन लिखित लेखों का कोई समह या अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ इस बात का समर्थन करते हैं कि उन्होंने ऐसे ही पुरुष का वर्णन किया है जिनका सचमुच अस्तित्व रहा है'।"

मयूर के लिखे हुए ग्रन्थ

(१) मयूराष्टक

मयूर ने बहुत करके सब से पहले आठ श्लोक लिखे हैं जिनको मयूराष्टक कहते हैं। इसमें मयूर ने किसा युवती का सौन्दर्य्य वर्णन किया है। यह युवती जैन टीकाकारों के मन्तव्यानुसार मयूर की लड़की ही थी। इस अष्टक की अधिक प्रसिद्धि का कारण यह है कि इसी अष्टक द्वारा अपनी लड़की का सौन्दर्य वर्णन करने के कारण मयूर को कुष्ठ रोग हो गया था जिसकी निवृत्ति के लिये उन्होंने सौ श्लोकों में सूर्य की स्तुति की थी। इन सौ श्लोकों को सूर्य शतक कहते हैं। इन्हीं कारणों से यह सिद्ध होता है कि सूर्य शतक लिखने के पहले मयूर ने मयूराष्टक लिखा था।

क्वैकेनबोस लिखते हैं[२] कि इसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति टुबिङ्गन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध थी। यह प्रति भूर्जपत्र पर लिखी हुई थी, जिसका एक एक पत्र ७½ इंच लंबा और ६½ इंच चौड़ा था और प्रत्येक पृष्ठ में १६ पंक्तियाँ थीं। लेख शारदा लिपि में था और उसके लिखने का समय १७ वीं शताब्दी हो सकता है। मयूराष्टक भूर्जपत्र के एक पूरे पृष्ठ पर और दो टुकड़े टुकड़े पृष्ठों पर लिखा गया है। इस प्रति में पत्र के कट जाने से पहला और छठा ये दो पद्य पूरे नहीं लिखे हैं। पहला, दूसरा और चौथा पद्य स्रग्धरा छन्द में लिखा गया है और बाकी शार्दूलविक्रीडित में। यह अष्टक हरि और हर को समर्पित किया गया है और अन्त में 'इति श्री मयूराष्टकं समाप्तम्" लिखा कर इसे समाप्त किया गया है।

१ यह भाग प्रबन्ध चिन्तामणि की भूमिका पृ ७ में टानी ने ब्यूलर के जर्मन लेख से उद्धृत किया है।

२ The Sanskrit Poems of Mayura, P 69

इस कविता का विषय एक युवति के सौन्दर्य्य का वर्णन है। इसमें रस शृङ्गार है और श्लेष द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है कि जिस युवती का वर्णन है, उसको यह अवश्य बुरा लगा होगा। मयूर की और कविताओं की रीति के तरह इसकी भी रीति है। मयूर ने श्लेष का उपयोग सूर्य शतक में भी किया है और शृङ्गार रस प्राय मयूर के और दूसरे श्लोकों में भी पाया जाता है।

अन्यत्र मुद्रित न होने के कारण पाठकों के मनोरंजन के लिये नीचे मयूराष्टक के आठों श्लोक दिए जाते हैं[1]—

ॐ नमः श्रीहरिहराभ्याम्

एषा का प्रस्तुताङ्गी प्रचलितनयना हंसलीला व्रजन्ती
द्वौ हस्तौ कुङ्कुमार्द्रौ कनकविरचिता ऊ ।
ऊं (गा) गेगता सा बहुकुसुमयुता बद्धवीणा हसन्ती
ताम्बूलं वामहस्ते मदनवशगता गुह्यशाला प्रविष्टा ॥ १ ॥
एषा का भुक्तमुक्ता प्रचलितनयना स्वेदलग्नाङ्गवस्त्रा
प्रत्यूषे याति बाला मृग इव चकिता सर्वतः शङ्कयन्ती।
केनेदं वक्त्रपद्मं स्फुरदधररसं षट्पदेनेव पीतं
स्वर्गे केनाद्य भुक्तो हरनयनहतो मन्मथ कस्य तुष्ट ॥ २ ॥
एषा का स्तनपीनभार-कठिना मध्ये दरिद्रावती
विभ्रान्ता हरिणी विलोलनयना संत्रस्तयूथोद्गता।
अन्त स्वेदगजेन्द्रगण्डगलिता संलीलया गच्छति
दृष्ट्वा रूपमिदं प्रियङ्गगहनं वृद्धोऽपि कामायते ॥ ३ ॥
वामेनावेष्टयन्ती अविरलकुसुमं केशभारं करेण
प्रभ्रष्टं चोत्तरीयं रतिपतितगुणा मेखला दक्षिणेन।
ताम्बूलं चोद्वहन्ती विकसितवदना मुक्तकेशा नरागा
निष्क्रान्ता गुह्यदेशे मदनवशगता मारुतं प्रार्थयन्ती ॥ ४ ॥
एषा का नवयौवना शशिमुखी कान्ताऽपथी गच्छति
निद्राव्याकुलिता विघूर्णनयना संपक्वबिम्बाधरा।
केशैर्व्याकुलिता नखैर्विदलिता दन्तैश्च खण्डीकृता
केनेदं रतिराक्षसेन रमिता शार्दूलविक्रीडिता ॥ ५ ॥
एषा का परिपूर्णचन्द्रवदना गौरीमृगा क्षोभिनी
लीला मत्तगजेन्द्र हंसगमना ए ·· ।
नि श्वासाधरगन्धशीतलमुखी वाचा मृदूल्लासिनी
स श्लाघ्य पुरुष स जीवति वरो यस्य प्रिया हीदृशी ॥ ६ ॥

---

१ The Sanskrit Poems of Mayura pp 72—78

एषा का जघनस्थली-सुललिता प्रोन्मत्तकामाधिका
भ्रूभङ्गं कुटिलं त्वनङ्गधनुषः प्रख्यं प्रभाचन्द्रवत् ।
राकाचन्द्रकपोलपङ्कजमुखी क्षामोदरी सुन्दरी
वीणीदण्डमिदं विभाति तुलितं वेलद्भुजं गच्छति ॥ ७ ॥
एषा का रतिहावभावविलसच्चन्द्राननं बिभ्रती
गात्रं चम्पकदामगौरसदृशं पीनस्तनालम्बिता ।
पद्भ्यां सञ्चरती प्रगल्भ-हरिणी संलीलया स्वेच्छया
किञ्चैषा गगनांगना भुवितले सम्पादिता ब्रह्मणा ॥ ८ ॥

इति श्रीमयूराष्टकं समाप्तम् ॥

(२) सूर्यशतक

मयूर का मुख्य काव्य सूर्यशतक है। इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। इसके नाम से ही मालूम होता है कि इसमें सूर्य की स्तुति सौ श्लोकों में की गई है। कवि या टीकाकार ने एक और श्लोक जोड़ दिया है जो इस बात की घोषणा करता है कि "श्रीमयूर ने भक्ति से सौ श्लोक लोगों के कल्याण के लिये बनाए। जो कोई पुरुष इन्हें एक बार भी मन लगाकर पढ़ेगा, वह सब पापों से छूट जायगा और इस संसार में वह सूर्य के प्रसाद से आरोग्य, सत्कवित्ता, बुद्धि, अनुपम बल, शोभा, आयु, विद्या, ऐश्वर्य, धन और पुत्र भी प्राप्त करेगा।" यह श्लोक ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

इस काव्य का मुख्य विषय सूर्य की स्तुति है। इसके सौ श्लोकों में से १-४३ तक सूर्य की किरणों का वर्णन और स्तुति है, ४४-४९ तक रथ खींचने वाले घोड़ों के रथ का वर्णन है। ५०-६१ तक उसके सारथि अरुण का वर्णन है, ६२-७२ तक रथ का वर्णन है, और ७३-८० तक सूर्य के बिम्ब का वर्णन है। ९१, ९२ और ९३ में सूर्य की तुलना शिव, विष्णु और ब्रह्मा से की है, ८८ वें श्लोक में सूर्य को सब देवताओं से बढ़कर सौभाग्य और सम्पत्ति देनेवाला कहा है। ८५, ९५ और ९६ श्लोकों में पृथ्वी की वह अवस्था वर्णित है, जब कि सूर्य भगवान् प्रकाशमान रहते हैं, और ९४ वें श्लोक में सूर्य का सार्वभौम महत्त्व वर्णित है।

सूर्यशतक की रीति गौडी और गुण ओज है। इसमें अनुप्रास प्रायः प्रत्येक श्लोक में है। कितने ही श्लोकों में एक एक अक्षर लगभग पचीस पचीस बार आया है। उदाहरणार्थ—छठे श्लोक में घ २३ बार, १२वें श्लोक में च २६ बार, ३३ वें श्लोक में म २९ बार, ३६ वें श्लोक में घ २० बार, ९४ वें श्लोक में द २५ बार और श २७ बार, तथा ९८ वें श्लोक में ग २५ बार आया है।

सूर्यशतक में यमकों की भी संख्या कम नहीं है। प्रत्येक श्लोक में यमक

दिखाई पड़ता है। ३८ वें श्लोक में प्रत्येक चरण के पहले दो अक्षर और अन्तिम तीन अक्षर दोहराए गए हैं।

सूर्यशतक में अर्थालङ्कारों की भी कमी नहीं है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, दीपक, तुल्ययोगिता, विरोध, श्लेष आदि अलङ्कार अनेक स्थल पर दिखाई देते हैं जिनसे काव्य की भाषा अत्यन्त सरस और ओजस्विनी हो गई है।

सूर्यशतक स्रग्धरा छन्द में लिखा गया है और स्रग्धरावृत्त में लिखे गये स्तुतिकाव्यों में नितान्त प्रौढ, उदात्त तथा आदिम काव्य है।

मयूर के १७ अन्य पद्य

मयूराष्टक और सूर्यशतक को छोड़कर १७ ऐसे पद्य और मिलते हैं जो सुभाषितावलि, शार्ङ्गधर पद्धति, पद्यावलि, सूक्ति मुक्तावलि, पद्यामृत तरंगिणी, सार-समुच्चय, सुभाषित-रत्नकोष सदुक्ति कर्णामृत आदि ग्रन्थों में मयूर के नाम से दिए गए हैं। ये १७ पद्य भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गए हैं। इनमें से सात पद्यों की एक कविता सब से अधिक रुचिकर है। यह कविता पासा खेलते हुए शिव और पार्वती की वक्रोक्ति के रूप में दी गई है। कविता इस प्रकार है—

विजये कुशलस्त्र्यक्षो न क्रीडितुमहमनेन सह शक्ता।
विजये कुशलोऽस्मि न तु त्र्यक्षोऽक्षद्वयमिदं पाणौ ॥ १ ॥
किमसे दुरोदरेण प्रयातु यदि गणपतिर्न तेऽभिमतः।
क प्रद्वेषि विनायकमहिलोक किन्न जानासि ॥ २ ॥
वसुरहितेन क्रीडा भवता सह कीदृशी [illegible] जिह्रेषि।
किं वसुभिर्निमग्नोऽमून् सुतसुतानेव पश्य पुरः ॥ ३ ॥
चन्द्रग्रहणेन विना नाऽस्मि रमे किं प्रवर्त्तयस्येवम्।
दैत्यैर्यदि दयितमिदं तन्निक्नाहूयतां राहुः ॥ ४ ॥
[illegible] राहो शितदंष्ट्रे भयकृति निकटस्थिते रतिः कस्य।
यदि नेच्छसि संत्यक्त सम्प्रत्येवैष दापहि ॥ ५ ॥
आराधयसि मुधा किन्नाऽहं अभिज्ञा किल त्वदङ्कस्य।
दिव्य वर्षसहस्र स्थित्वेति न युक्तमभिधातुम् ॥ ६ ॥
इत्थं पशुपतिपेशलपाशक लीलाप्रयुक्त वक्रोक्ते।
हर्षचशातरलतारकमाननमव्याद् भवान्या च ॥ ७ ॥[1]

एक पद्य मयूर के संरक्षक हर्ष के सम्बन्ध में है और उसमें बहुधा हर्ष की किसी विजययात्रा का वर्णन है। पद्य इस प्रकार है—

---

1 पेटर्सन वल्लभदेवकी सुभाषितावलि १२३–१२९

भूपालाः शशिभास्करान्वयभुवः के नाम नासादिता
भर्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वां देव मन्यामहे।
येनाङ्गं परिमृश्य कुन्तलमथाऽकृष्य व्युदस्यायतं
चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुना कांच्याङ्करः पातितः ॥[1]

तीन और पद्यों के विषय "गाय और उसका बच्चा", 'धानी' और गर्दभक्रीड़ा' हैं। इनमें प्राय शब्दों का आडम्बर है और ये स्वभावोक्ति अलङ्कार से विभूषित हैं। पद्य क्रम से इस प्रकार हैं—

आहत्याहत्य मूर्ध्ना द्रुतमनुपिबतः प्रस्नुतं मातुरूधः
किञ्चित्कुब्जैकजानोरनवरतचलच्चारु पुच्छस्य धेनुः।
उत्कर्णं तर्णकस्य प्रियतनयतया दत्तहुङ्कारमुद्रा
विस्रंसत्क्षीरधाराधवलधवल मुखम्याऽङ्गमातृप्ति लेढि ॥[2]
संविष्टो ग्रामदेव्याः कटघटित कुटीकुड्य-कोणैकदेशे
शीते संयाति वायौ हिमकणिनि रणद्दन्तपंक्तिद्वयाग्रः।
पान्थः कन्थां निशीथे परिकुथित जरत्तन्तुसन्तानगुर्वीं
ग्रीवापाश्वाग्रजानुग्रहण चटचटत्कर्पटां प्रावृणोति ॥[3]
आघ्रायाघ्राय गन्धं विकृतमुख पुरो दर्शयन् दन्तपंक्तिं
धावन्नुन्मुक्तनादो मुहुरपि रभसाऽकृष्टया पृष्ठलग्नः।
गर्दभ्याः पार्श्वघातद्विगुणित-सुरतप्रीतिराकृष्टशिश्नो
वेगादारुह्य मुह्यन्नवतरति खरः खण्डितेच्छश्चिराय ॥[4]

वियोग के समय की एक कहावत के रूप में बारहवाँ पद्य इस प्रकार है—

अनुदिनमभ्यासदृढे सोढुं दीर्घोऽपि शक्यते विरहः।
प्रत्यासन्नसमागममुहूर्त-विघ्नोऽपि दुर्विषहः ॥[5]

अन्य बचे हुए पाँच पद्यों में से चार पुराणों की कथाओं से सम्बन्ध रखते हैं। उनके नाम इस प्रकार दिए जा सकते हैं—१ त्रिपुरासुर के नगर का दाह २ उमा का क्रोध, ३ नरसिंह के नख और ४ श्रीकृष्ण का स्वप्न। पद्य क्रम भी इस प्रकार हैं—

---

१ वल्लभदेवकी सुभाषितावलि श्लोक २५१५
२ शार्ङ्गधरपद्धति श्लो० ५९७.
३. शार्ङ्गधरपद्धति श्लो० ३९४७.
४. वल्लभदेव की सुभाषितावलि श्लो २४२
५. सुभाषितावलि २०४५

संध्यानांशुकपल्लवेषु तरलं वेणीगुणेषु स्थितं
मन्दं कञ्चुकसन्धिषु स्तनतटोत्सङ्गेषु दीप्तार्चिषम् ।
आलोक्य त्रिपुराचरोधनवधूवर्गस्य धूमध्वजं
हस्तन्यस्तशरासनो विजयते देवो दयार्द्रेक्षणः [1] ॥

अन्यस्यै सम्प्रतीयं कुरु मदनरिपो स्वाङ्गदानप्रसादम्
नाहं सोढुं समर्था शिरसि सुरनदीं नापि सन्ध्यां प्रणन्तुम् ।
इत्युक्त्वा कोपविद्धां विघटयितुमुमामात्मदेहप्रवृत्तां
रुन्धानः पातु शम्भोः कुचकलशहठस्पर्शकृष्टो भुजो वः [2] ॥

भक्त्रोतस्तरङ्गभ्रमिषु तरलिता मांसपङ्के लुठन्त
स्थूलास्थिग्रन्थिभङ्गैर्धवलबिसलता भ्रासमाकल्पयन्त ।
मायासिंहस्य शौरेः स्फुरदरुण हृदम्भोज-संश्लेष-भाज
पायासुर्दैत्यवक्षस्थल कुहरसरो-राजहंसा-नखा वः [3] ॥

शम्भो स्वागतमास्यतामित इतो वामेन पद्मोद्भव
क्रौञ्चारे कुशलं सुखं सुरपते वित्तेश नो दृश्यसे ।
इत्थं स्वप्नगतस्य कैटभरिपोः श्रुत्वा यशोदा गिरः
किं किं बालक जल्पसीत्यनुचितं थूथूकृतं पातु वः [4] ॥

इन पद्यों की भाषा तथा भाव दोनों सूर्यशतक के अनुरूप हैं। मेरी दृष्टि में स्रग्धरावृत्त का काव्य में सफल प्रयोग करने वाले प्रथम कवि मयूर भट्ट ही हैं। इनको आदर्श मान कर अनेक कवियों ने शतक काव्यों की रचना में इस वृत्त को तथा इनकी प्रौढोदात्त वर्णनमयी शैली को अपनाया है। यह मयूर के लिए कम गौरव की बात नहीं है।



१ सदुक्तिकर्णामृत—१ १५. २
२ सदुक्तिकर्णामृत—१ २८. ५
३ सदुक्तिकर्णामृत—१. ४१. २.
४ सदुक्तिकर्णामृत—१ ५२ १.

(१४)

हर्ष (हर्षवर्धन)

संस्कृत-साहित्य-संसार में महाराज विक्रमादित्य तथा महाराज हाल (शालिवाहन) के समान ही महाराज हर्ष की भी ख्याति है। इनके विद्याप्रेम तथा कवियों के आश्रयप्रदान से साधारण पाठक अवश्य परिचित होंगे। महाकवि बाणभट्ट ने इनकी ही आश्रयरूपा शीतल छाया में रहते हुए अनुपम गद्य-काव्यों का निर्माण किया है। बाण ने इनकी ही कीर्ति का वर्णन 'हर्ष-चरित' में विस्तरशः किया है। संस्कृत भाषा प्रेमियों के हृदय-पटल पर कम-से-कम इस आश्रयदान के महान् कार्य से महाराज हर्ष का नाम सदा के लिए अमिट रूप से अंकित हो गया है, परन्तु महाराज हर्ष इनसे भी बढ़कर थे। वे न केवल गुणग्राहक थे, परन्तु स्वयं गुणी थे। न केवल विद्याप्रेमी थे, बल्कि स्वयं विद्वान् थे। न केवल कवियों के कल्पतरु थे, बल्कि स्वयं कवि थे। अतएव संस्कृत साहित्य संसार महाराज हर्ष के नाम पर मुग्ध है। वह उसे केवल आश्रयदाता की दृष्टि से नहीं देखता, बल्कि ('हर्षो हर्षः') 'कविताकामिनी के हर्ष' रूप में सदैव स्मरण करता है।

जीवनवृत्त

सौभाग्यवश इस महाकवि-कल्पतरु का काल तथा जीवनवृत्त देदीप्यमान ज्ञान-रवि की प्रखर किरणों से चमक रहा है। साहित्य-संसार में इनका काल इतनी समुचित रीति से निश्चित है कि अन्य संस्कृत कवियों के काल के पौर्वापर्य का ज्ञान इसकी सहायता से ठीक तरह से निश्चित हो सकता है। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा ह्वेन्त्साङ्ग के यात्राविवरण से हर्ष की अधिकांश जीवन घटनायें पूर्णतया ज्ञात हैं।

ये 'हूण-हरिण केसरी' **प्रभाकरवर्धन** तथा **यशोमती** के पुत्र थे। ये अपने पिता के दूसरे लड़के थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम **राज्यवर्धन** था। **'राज्यश्री'** नाम की इनकी बहिन सुयोग्य विदुषी थी। बाल्यकाल में इन्हें समुचित शिक्षा दी गई थी। पिता ने पंजाब में रहनेवाले हूणों को पराजित करने के लिए राज्यवर्धन को तथा इन्हें भेजा। राज्यवर्धन आगे जाकर शत्रुओं का विनाश कर रहे थे, इधर हर्षवर्धन आखेट आदि मनोरंजन के साथ-साथ शत्रुओं का पीछा कर रहे थे। इतने में पिता की अस्वस्थता के दुःखद समाचार को

लिए हुए एक दूत आया। राजधानी लौट आने पर हर्ष ने पूज्य पितृदेव को मृत्युशय्या पर पाया। प्रभाकरवर्धन ने हर्षवर्धन को 'निरवशेषता शत्रवो नेया' का उपदेश देकर इस असार संसार से विदाई ली। मंत्रियों के कहने पर ज्येष्ठ-भ्राता के आगमन में कुछ विलम्ब जानकर हर्षवर्धन ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। कुछ समय के अनन्तर राज्यवर्धन ने आकर शासनभार अपने ऊपर लिया, परन्तु इन्हें शासन-सुख का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। मालव-नरेश ने राज्यश्री के पति मौखरी राजा ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को कारागार में डाल दिया। राज्यवर्धन ने मालव-नरेश पर चढ़ाई की, उसे मार डाला, अपनी भगिनी के कारावास के दुःखमय जीवन का अन्त किया, परन्तु वह स्वयं ही गौड़ीय नरेश शशांक की कुटिल नीति का शिकार बन गया। शशांक ने विश्वास दिलाकर राज्यवर्धन को मार डाला। हर्ष के हृदय में भ्रातृवध के समाचार सुनकर प्रतिहिंसा की प्रबल अग्नि प्रज्वलित हो उठी। हर्षवर्धन ने यथासमय शशांक का विनाश कर बंगाल को अपने राज्य में मिला लिया। रिक्त सिंहासन की बागडोर हर्षवर्धन ने अपने सुदृढ़ तथा अनुभवी हाथों में ली। इनकी राजधानी स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) में थी। इनका समृद्ध राज्यकाल ६०६ ई० से लेकर ६४७ ई० तक था। हर्षवर्धन ने दिग्विजय की श्लाघनीय प्राचीन प्रथा को पुनरुज्जीवित किया। उसने बंग, आसाम तथा वल्लभी राज्यों को जीत कर समग्र उत्तरीय भारत पर एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। दक्षिण में भी उसकी विजय-वैजयन्ती फहराती; परन्तु चालुक्यनरेश प्रबल-प्रतापी पुलकेशी द्वितीय ने इसकी मनस्कामना को सर्वथा ध्वस्त कर दिया। वास्तव में हर्ष ने जर्जरित हिन्दू साम्राज्य की कीर्ति कौमुदी को पुनः विकसित किया। वह टिमटिमाती हुई हिन्दू सभ्यता का अन्तिम देदीप्यमान दीपक था।

इसी हिन्दू-सम्राट् के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग बौद्ध-धर्म-विषयक जिज्ञासा तृप्ति के लिये भारत में आया था। ह्वेनसाङ्ग का हर्षवर्धन ने बड़ा स्वागत किया। उसके सत्सङ्ग से हर्षवर्धन बुद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का प्रेमी बन गया तथापि उसके विचार बड़े उदार थे। वह शिव तथा विष्णु का केवल आदर ही न करता था; परन्तु समय-समय पर उनकी पूजा अर्चा में सहस्रों रुपये व्यय भी करता था। ह्वेनसाङ्ग के संसर्ग से वह बौद्धदर्शन का अच्छा ज्ञाता हो गया था।

हर्षवर्धन की दानशीलता सर्वदा के लिए एक श्लाघनीय वस्तु है। इधर के इतिहास में ऐसे दानशील राजा बहुत कम हुए हैं। ऐसी दानशीलता की प्रशंसा शतमुख से करनी चाहिये। वह प्रयाग में माघ तथा फाल्गुन में एक

पंचवार्षिक समारोह किया करता था। यहाँ विद्वानों का, बौद्धभिक्षुओं का, ब्राह्मण साधुओं का, ब्राह्मणों का तथा अनाथ, लूले, लंगड़ों का बड़ा समारोह होता था। यह बड़ा मेला ढाई मास तक रहता था। हर्षवर्धन इस मेले में पाँचों साल की सम्पत्ति दान कर देता था। अपने निजी धन के दान की भी नौबत आ जाती। वह अपने वस्त्र, आभूषण, मुकुटमणि तक ब्राह्मणों को दान दे देता था। हुएनसांग ने हर्षवर्धन की दानसामग्री का उल्लेख किया है। बौद्ध-भिक्षुओं को एक सौ अशर्फियाँ एक मोती तथा वस्त्राभरण दिये जाते थे। एक मास तक ब्राह्मणों तथा जैन-साधुओं को दान दिया जाता था, अनाथों को भोजन कराया जाता और वस्त्र बाँटा जाता था। दानोत्सव के अनन्तर हर्षवर्धन एक साधारण गृहस्थ का सा जीवन व्यतीत करता था। उसके दान को देखकर सम्पत्ति को मृत्पात्र शेष बनानेवाले रघु की पवित्र स्मृति हठात् हृदय पटल पर चित्रित हो जाती है। ह्वेन्साग के आगमन काल से मिलाने पर भी हर्षवर्धन का वही समय ठहरता है जो ऊपर निश्चित किया गया है। उसने ६०६ ई० में राज्य पाया और ६४८ ई० में इस असार संसार से, साहित्य संसार को शोक सागर में निमग्न कर, वह सदा के लिए कूच कर गया।

सभा पण्डित

महाराज हर्षवर्धन केवल वीर लक्ष्मी के उपासक ही न थे वरन् ललित कलाओं से आपको अत्यन्त प्रेम था। आपकी सभा को अनेक गुण और गौरव से युक्त विद्वान् सर्वदा सुशोभित किया करते थे। आपकी सभा में अनेक विद्वान् रहते थे यह बात किसी भी ऐतिहासिक से छिपी नहीं है।

बाणभट्ट—आप हर्ष की सभा के एक अनुपम रत्न थे, जिन्होंने हर्ष की कीर्ति का रमणीय वर्णन अपने 'हर्षचरित' नामक गद्यकाव्य में किया है। बाणभट्ट ही ने रसिक जनों के हृदय को हरण करने वाली अद्वितीय कथा 'कादम्बरी' का भी निर्माण किया है। यह बात तो सुप्रसिद्ध ही है कि भगवती के स्तोत्ररूप 'चण्डीशतक' के भी रचयिता बाणभट्ट ही हैं।

मयूरभट्ट—आप महाराज हर्ष की सभा के दूसरे कविरत्न थे। यह सुना जाता है कि असाध्य कुष्ठरोग से पीड़ित होकर इस महाकवि ने सूर्य का स्तुति में सूर्यशतक' नामक काव्य को स्रग्धरा वृत्त में बनाया। काव्य प्रकाश में मम्मटाचार्य द्वारा 'आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्'—सूर्य से मयूरादि की तरह रोग से विमुक्त होना—इस प्रासंगिक संकेत से मयूरभट्ट की काव्य-करण-चातुरी की व्यंजना से प्रशंसा सहृदय हृदय संवेद्य है। पंडित समाज में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि ये महाकवि बाणभट्ट के श्वशुर थ।

दिवाकर—ये भी हर्ष की सभा में थे। सुना जाता है कि आपका जन्म नीच (चाण्डाल) जाति में हुआ था, परन्तु आप अपनी गुणगरिमा से बाण और मयूर के समान ही राजा के आदरपात्र थे। इस बात को राजशेखर ने सरस्वती के प्रभाव को दिखलाते हुए क्या ही अच्छे ढंग से कहा है—

> अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
> श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

दशवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले महाकवि पद्मगुप्त ने अपने 'नवसाहसाङ्क चरित' नामक महाकाव्य में महाराज हर्ष की सभा में बाण और मयूर की उपस्थिति का वर्णन इस प्रकार से किया है —

> सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
> श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥

यह सम्भव है कि दूसरे कवि और पण्डितों ने श्रीहर्ष की सभा को अलङ्कृत किया हो। इतिहास के प्रेमी पण्डित अच्छी तरह से जानते ही हैं कि महाराज श्रीहर्ष ने इन सब कवियों को भूमि और द्रव्य देकर इनका सम्मान किया।

महाराज हर्ष केवल कवि और पण्डितों के आश्रयदाता और गुणग्राही ही न थे, बल्कि उन्होंने स्वयं भी अनेक रमणीय और सरस ग्रन्थों की रचना कर सरस्वती के विपुल भण्डार को भरा है। इस बात को हम अच्छी तरह से कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास की यह सरस सूक्ति 'निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च' महाराज हर्ष के विषय में अच्छी तरह से चरितार्थ होती है।

इस भारतवर्ष में विक्रमादित्य, शूद्रक, हाल प्रभृति अनेक विद्या के उपासक राजा हो गये हैं, परन्तु उन सब में ये महाराज हर्ष (हर्षवर्धन) अद्वितीय हैं। महाकवि पीयूषवर्ष जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव नाटक में महाराज हर्ष को कविता-कामिनी का हर्ष (हर्षो हर्षः) कहा है। उन्होंने बाणभट्ट के साथ हर्ष का नामोल्लेख भी किया है। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में उत्पन्न होनेवाले सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' नामक पुस्तक में श्रीहर्ष को, सरस्वती को हर्ष प्रदान करने के कारण, 'गीर्हर्ष' कहकर प्रशंसा की है —

> श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु, नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
> 'गीर्हर्ष' एष निजसंसदि येन राज्ञा, सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥

इसी तरह से दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमत' नामक ग्रन्थ में 'रत्नावली' का नाम लेकर सङ्केत किया है। यह पुस्तक किसी राजा के द्वारा बनाई गई है और उसके निर्माता महाराज हर्ष हैं, ऐसा कहते हुए उन्होंने उनको (हर्ष को)

काव्य-चातुरी की अत्यन्त प्रशंसा की है। इत्सिङ नाम का चीनी बौद्ध परिव्राजक अपने धर्म ग्रन्थों को पढ़ने की इच्छा से हर्ष की मृत्यु के बाद भारतवर्ष में आया था। उसने अपने यात्रा विवरणात्मक ग्रन्थ में महाराज हर्ष को 'नागानन्द' नाटक का रचयिता होना स्पष्ट ही लिखा है। उसने यह लिखा है —"राजा शिलादित्य (हर्ष) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की आख्यायिका को नाटक रूप में परिणत किया और उस नाटक का संगीतादि सामग्री के साथ नटों के द्वारा अभिनय कराया।" इस प्रमाण से स्पष्ट हो है कि महाराज हर्ष ने 'नागानन्द' नाटक का निर्माण किया था। परन्तु इन प्रमाणों के होते हुए भी जो लोग महाराज हर्ष के ग्रन्थ रचयिता होने में सन्देह करते हैं वे बाणभट्ट के इस कथन पर विचार कर अपने सन्देह को दूर कर लें। श्री बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में दो बार राजा (श्रीहर्ष) की काव्य-रचना-चातुरी की प्रशंसा की है। "राज्ञा समापणेषु परित्यक्तमपि मधु वर्षन्त, काव्यकथास्वपीतामृतमुद्वमन्तमिति" यह पूर्वोक्त बाणभट्ट का कथन हर्ष की काव्य चातुरी को प्रकट कर रहा है। 'अस्य कवित्वस्य वाचो न पर्याप्तो विषयः' इस प्रकार से बाणभट्ट ने हर्ष की काव्यरचना की चतुरता को स्पष्ट ही प्रकट किया है। इन ऊपर लिखित प्रमाणों से हमें पूर्ण विश्वास होता है कि महाराज हर्षवर्धन अच्छे कवि थे, कविता करने में खूब दक्ष थे।

श्रीहर्ष के तीन ग्रन्थ मिलते हैं—रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका। साहित्य-संसार में रत्नावली के रचयिता के सम्बन्ध में बड़ा आन्दोलन हो चुका है। इस बड़ी गड़बड़ी का मूल कारण मम्मट के काव्यप्रकाश का एक वाक्यांश है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में अर्थप्राप्ति भी एक प्रयोजन माना है—हजारों महाकवि कविता देवी की पूजाकर लक्ष्मी के कृपापात्र बन गये हैं। उदाहरणार्थ धावकादि ने हर्षवर्धन से असंख्य धन पाया (श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्)। कतिपय काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इससे यह अर्थ निकाला है कि धावक ने रत्नावली की रचना हर्षवर्धन के नाम से करके असंख्य सम्पत्ति पायी। बस क्या

---

१ संस्कृत-साहित्य केवल इसी उल्लेख को छोड़कर धावक के विषय में कुछ भी नहीं जानता। ऐतिहासिक खोज ने भी धावक की सत्ता पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। बहुतों का कथन है कि धावक नामक कोई कवि हुआ ही नहीं। कतिपय विद्वान् 'धावक' तथा 'बाण' को एक ही व्यक्ति मानते हैं। दोनों नामों का अर्थ तो एक ही है। सम्भवतः आशुगामी 'बाण' के लिये 'धावक' का उपमान प्रदान किया गया था। परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना है। अभी तक धावक की सत्ता, जीवन तथा कविता के विषय में हमलोग अज्ञान-सागर के अन्धकारमय तल में केवल गोते लगा रहे हैं।

था ? काव्य-जगत् में एक प्रचण्ड आँधी आ गई। अधिकारा यूरोपियनों ने रत्नावली को धावक की रचना मान ली। काव्यप्रकाश के किसी-किसी काश्मीरी प्रति में धावक के स्थान पर बाण का नाम उल्लिखित है। इसके आधार पर कितने ही विद्वान् बाणभट्ट पर ही रत्नावली के कर्तृत्व का भार आरोपित करते हैं। परन्तु ये सब आधुनिक विद्वानों की अनिश्चित कल्पनायें हैं।

काव्य प्रकाश के उल्लेख का यही आशय है कि श्रीहर्ष ने बड़ी भारी सम्पत्ति कवियों को दे डाली। श्रीहर्ष जैसे उदाराशय तथा महादानी नरेश के लिये यह बात असम्भव नहीं जान पड़ती। जब असंख्यों ब्राह्मण, भिक्षु, तथा जैनों का आदर होता तथा उनको प्रशंसनीय दान मिलता, तब गुणग्राही हर्ष के लिये उसकी कीर्तिलता को पल्लवित करनेवाले कवियों को दान देने में—आदर करने में—भला संकोच कैसे हो सकता है। काव्यप्रकाश के उल्लेख का प्रकरण गम्य तात्पर्य यही है। अनेकों अर्वाचीन तथा प्राचीन कवियों ने श्रीहर्ष के समीचीन कवि समाश्रय की शतशः प्रशंसा की है। अभिनन्द कवि ने मम्मट के कथन को दुहराया है:—

श्रीहर्षो वितताार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्।

एक दूसरे काव्यमर्मज्ञ ने ठीक ही लिखा है —

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां,
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनागृमन्ये परिम्लानताम्॥

भावार्थ है कि हर्षने बाणभट्ट को हजारों दिग्गज तथा असंख्य सम्पत्ति दे डाली परन्तु आज उनका नामोनिशान नहीं है, परन्तु बाण ने हर्ष की कीर्ति को काव्यरूप में जो जड़ दिया वह कराल काल के फेरे में पड़कर भी मलिन नहीं हो सकती।

इससे स्पष्ट है कि ये सब उल्लेख हर्ष के आश्रयदान तथा कवि सत्कार को लक्षित करते हैं। हर्ष की स्वयं दर्शन में अच्छी गति थी। वह ह्वेनसांग के संसर्ग से बौद्ध दर्शन का एक अभिज्ञ पण्डित बन गया था। ऐसे उदार, दानी तथा विद्वान् सम्राट् के ऊपर अपने नाम से काव्य गढ़ाने की कालिमा पोतना काव्य जगत् में अत्यन्त कलुषित कार्य है—गर्हणीय व्यापार है। उसका अपने आश्रित कवियों से सहायता लेना असम्भवनीय कार्य नहीं प्रतीत होता; परन्तु उसको इन नाटकों के कर्तृत्व से वंचित करना हर्ष के महान् गुणों की हीनता दिखलाना है।

एक क्षण के लिये बाण या धावक को रत्नावली का कर्ता मान भी लिया जाय, परन्तु नागानन्द तथा प्रियदर्शिका का कर्तृत्व हर्ष से सम्बद्ध है। कोई

भी आलोचक बाणभट्ट को नागानन्द का कर्ता मानने को उद्यत नहीं है। सर्व सम्मति से इस नाटकत्रय की रचना हर्ष की लेखनी से हुई है। अतएव रत्नावली के कर्तृत्व को बाण पर आरोपित करना निन्दनीय जान पड़ता है। पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि इन तीन नाटकों की रचना स्वयं सम्राट् हर्षवर्धन ने की है।

(१) रत्नावली—चार अङ्कों में समाप्त एक नाटिका है। नाटिका का नायक प्रसिद्ध वत्सराज उदयन है, तथा नायिका लंकाधीश की राजपुत्री सागरिका है। इन दोनों के प्रेमपूर्ण उद्वाह की रोचक कहानी नाटक के रूप में वर्णित है। नाटिका का मूल गुणाढ्य की बृहत्कथा जान पड़ती है क्योंकि कथास रित्सागर से यह कथानक मिलता जुलता है। इस नाटिका पर कालिदास के मालविकाग्निमित्र की छाया स्पष्ट झलक रही है।

(२) प्रियदर्शिका—इसका रोचक कथानक भी उदयन के जीवन चरित से सम्बन्ध रखता है। यह प्राय रत्नावली जैसा ही है।

(३) नागानन्द—इसमें जीमूतवाहन नामक राजकुमार का गरुड़ से नागों को बचाने के लिये आत्मसमर्पण करने की करुणाजनक कहानी मनोहर शब्दों में अभिनीत हुई है। इसकी नान्दी में भगवान बुद्ध की स्तुति की गई है। स्पष्ट है कि हर्ष बुद्धधर्म के मानने वाले थे। कुषाण कालीन बौद्ध नाटकों को छोड़कर संस्कृत-साहित्य में यही ऐसा नाटक है जिसमें बुद्ध की स्तुति की गई है।

कविता

हर्ष की कविता प्रसाद तथा माधुर्य से परिपूर्ण है। रसमय वर्णन भी खूब मिलते हैं। स्थल विशेष पर प्रकृति के सुन्दर दृश्योंको मनोहर शब्दों में चित्रित किया है। रत्नावली के आरम्भ में होलिकोत्सव का अच्छा वर्णन है। हर्षवर्धन की संगीत की अभिज्ञता बड़े ऊँचे दर्जे की थी। इन नाटकों में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

कवि ने चरित्रों का चित्रण खूब सुन्दरता के साथ किया है। रत्नावली में वत्सराज का धीरललित स्वभाव मनोरंजक ढंग से दिखलाया गया है। नागानन्द के नायक जीमूतवाहन के रूप में श्रीहर्ष ने एक आदर्श परोपकारी नायक की सृष्टि की है। जीमूतवाहन पिता की सेवा करने के लिये राज्यसिंहासन को लात मार कर जंगल में चला जाता है और नागों की रक्षा करने के लिये अपने प्राणों को भी अर्पण कर देता है। ऐसा आदर्श चरित्र नाटकों में बहुत कम निबद्ध पाया जाता है। नागानन्द की रचना कर हर्ष ने संसार के सामने एक उच्च आदर्श रखने का यत्न किया है। जीमूतवाहन का धीरोदात्त चरित्र बड़ी सुन्दरता से दिखाया गया है।

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे॥

राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर यह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है ? उदय से यह अपनी जड़ता क्या नहीं प्रदर्शित करता ? इसके उदय होने की जरूरत ही क्या थी ? तुम्हारा मुख क्या कमल की शोभा को नहीं नष्ट कर देता ? क्या वह नेत्रों को आनन्द नहीं देता ? देखे जाने से ही क्या वह कामवासना को प्रबल नहीं बनाता ? चन्द्रमा के जो कार्य विदित हैं वे तो तेरे मुख में भी विद्यमान हैं। यदि अमृत धारण करने के कारण चन्द्रमा को गर्व है, तो क्या तेरे बिम्बाधर में सुधा नहीं है ? तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने फिर चन्द्रमा के उदय लेने की जरूरत। यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है।

वासोऽर्थं दययेव नातिपृथवः कृत्तास्तरूणां त्वचो
भग्नालक्ष्यजरत्कमण्डलु नभः स्वच्छं पयो नैर्झरम्।
दृश्यन्ते त्रुटितोज्झिताश्च बटुभिर्मौञ्ज्यः क्वचिन्मेखला
नित्याकर्णनया शुकेन च पदं साम्नामिदं पठ्यते॥

कवि तपोवन का वर्णन कर रहा है। यहाँ पहनने के लिये दया के कारण वृक्षों से थोड़े ही छाल छीले गये हैं। आकाश की तरह स्वच्छ झरने के जल में फेंके गये गये टूटे पुराने कमण्डलु दीख पड़ते हैं। कहीं कहीं मूँज की बनी मेखलायें दिखाई पड़ती हैं जिन्हें टूट जाने के कारण विद्यार्थियों ने फेंक दिया है। यह सुग्गा भी प्रतिदिन सुनने के कारण वेदों का मन्त्र पढ़ रहा है। अतः यह निश्चय ही तपोवन है।

मधुरमिव वदन्ति स्वागतं भृंगशब्दै-
र्नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः।
मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टीः किरन्त
कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि॥

यहाँ वृक्षगण भौरों के गुञ्जार से हमारा स्वागत करते हुये जान पड़ते हैं। अपने सिरों को फल के भार से झुकाकर ये मानो हमें प्रणाम कर रहे हैं। जान पड़ता है कि फूलों की वर्षा कर ये हमें अर्घ्य दे रहे हैं। अहा! इस आश्रम के वृक्ष भी अतिथियों की पूजा करने के ढंग सीख गये हैं।

नागानन्द की विशिष्ट प्रस्तावना

उपक्रम

देववाणी संस्कृत सभी भाषाओं में शीर्षस्थानीय है—यह समस्त विद्वत्समाज को विदित है। अखिल विश्व में अन्य कोई भी भाषा ऐसी नहीं है जिसकी तुलना इस अमरवाणीसे की जा सके। इसमें इसकी प्राचीनता भी अन्यतम हेतु है। संस्कृतभाषा ही निखिल भूमण्डल की समस्त भाषाओं में प्राचीनतम है। ऐसा सभी भारतीय एवं इतर देशीय विपश्चिज्जनों का मत है। इसकी प्रधानता में अनेक कारण हैं। इस भाषा में अध्यात्मप्रतिपादक तथा अधिभूतनिदर्शक विषयों का समुचित सन्निवेश है। धर्म के साक्षात्कर्त्ता ऋषियोंके द्वारा दृष्ट मन्त्रावलियों से समन्वित विश्वकल्याण के निमित्त प्रकाशित चारों वेद इसी भाषा में हैं। इसी भाषा में समाधिनिष्ठ सूक्ष्मदर्शी मनीषियों के जानने योग्य औपनिषद तत्त्व उल्लिखित हैं। सुरभारती से ही विकसित होने वाले दर्शन तत्त्व आज भी समस्त तत्त्वज्ञों, दार्शनिकों को आश्चर्यान्वित कर रहे हैं। अध्यात्म के साथ ही साथ व्यवहार का प्रदर्शन तथा वर्णन भी संस्कृतभाषाके ग्रन्थोंमें भरा पड़ा है। अधिक क्या कहें? हमारी देवभाषा संस्कृत में, कोई ऐसा ऐहिक अथवा पारलौकिक विषय नहीं है जिसका रम्य प्रतिपादन न किया गया हो, ऐसा हम निश्चयेन कह सकते हैं।

गीर्वाणवाणी में निबद्ध सभी लोगों का प्रिय एक और विषय है जिसकी अन्य भाषा में निबद्ध साहित्य समता भी नहीं कर सकते, उनके उत्कृष्ट होने की चर्चा ही दूर है। वह, सहृदय जनोंके कर्णकुहरों में पीयूषप्रवाह करनेवाला और हृदय को अलौकिक आनन्दवारिधि का आप्लावन करने वाला सब का प्रिय विषय, काव्य है। अन्य भाषाओं में ग्रथित साहित्य में भी सरस काव्य भरे पड़े हैं, इसमें किसी भी विद्वान का वैमत्य नहीं है, किन्तु संस्कृत काव्यों में शब्दमाला की जो अद्भुत कमनीयता दृष्टिगोचर होती है और अर्थों में भावपूर्ण, सरस एवं सहृदयों को अनिर्वचनीय आनन्द देनेवाले जो तत्त्व अनुभूत होते हैं वे उनमें दुष्प्राप्य हैं। यह सम्मति सभी संस्कृत काव्य के परिशीलन करने वाले विवेचकों की है। हर्षकी बात है कि इसी संस्कृतके एक काव्यग्रन्थ की आलोचना करने का अवसर आज प्राप्त हुआ है।

नाटक-विचार

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' यह काव्य का सामान्य लक्षण किया है। काव्य दृश्य और श्रव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

'दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।'

ऐसा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी कहा है। इनमें से प्रधानतया सहृदयों के हृदय को आवर्जित करने वाले सुनने योग्य काव्य को **'श्रव्यकाव्य'** कहते हैं और दर्शकों के नयनरञ्जन के साथ-साथ हृदयरञ्जन करनेवाला काव्य **'दृश्यकाव्य'** कहा जाता है। यहाँ पर श्रव्यकाव्य का वर्णन अप्रासङ्गिक है अतः दृश्य काव्य पर ही नीचे विचार किया जायगा।

दृश्य काव्य ही नाट्य कहा जाता है। काव्य में निबद्ध पात्रों की धीरोदात्तादि अवस्थाओं के आङ्गिक आदि चार प्रकार के अभिनयों द्वारा अभेद प्रतीति कराने वाले अनुकरण को नाट्य कहते हैं। दृश्य होने के कारण यही नाटक 'रूप' भी कहलाता है। नट में रामादि नायक की अवस्थाओं का आरोप पाया जाता है। अतः इस नाट्य को 'रूपक' भी कहते हैं। नाट्य रस पर आश्रित है। इसके दश भेद किये गये हैं। धनञ्जय ने अपने दशरूपक में कहा है —

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम्॥
नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति॥'

नाट्यशास्त्रमें भी —

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः।
ईहामृगं च विज्ञेयं दशनाटकलक्षणम्॥

ये दश भेद परिगणित हैं।

इन रूपकों में अनुकरण की दृष्टि से समानता है, किन्तु वस्तु, नेता और रस के आधार पर पारस्परिक भेद हैं। 'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः'। ऐसा धनञ्जय ने भी कहा है।

अधिक सहृदय-हृदयावर्जक तथा विशाल होने के कारण नाटक ही सब रूपकों में प्रधान है। भावार्थदीपिका से उद्भासित प्रस्तुत नागानन्द नामक रूपक भी नाटक है। साहित्यदर्पणकार ने नाटक का लक्षण इस प्रकार किया है —

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्। विलासर्ध्यादि···

नाटकीय वस्तु की परीक्षा के अवसर पर नाटक में कैसी वस्तु का उपन्यास किया जाय यह विचार आवश्यक है। पुराण इतिहास में प्रख्यात वस्तु का नाटक में उपन्यास किया जाय अथवा कविकल्पनाप्रसूत अप्रख्यात वस्तु का? प्रख्यात वस्तु वाले नाटक का लक्षण करते हुए श्रीभरतमुनि ने नाटकीय वस्तु की प्रख्यातता

स्पष्ट शब्दों में कहा है। इसी मत के अनुसार धनञ्जय ने अपने दशरूपक में 'तत्रप्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम्।' और विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्' लिखा है।

रामायण महाभारतादि में प्रसिद्ध कथावस्तु का नाटक में निबन्धन करना समुचित है—इसमें कोई विवाद नहीं है।

ग्रन्थकर्त्ता का निर्णय

शास्त्रमर्यादा के अनुसार कवि ने नागानन्द की प्रस्तावना में अपना नाम लिया है। इससे इतना तो स्पष्ट हो है कि इसका कर्त्ता कोई हर्ष नामक महान् राजा था और अभिनेताओं ने इसका प्रयोग सामन्त राजाओं के मनोरञ्जन के लिए इन्द्रध्वज महोत्सव में किया था। श्रीहर्ष का जन्म किस काल में, कहाँ और किस कुल में हुआ था? इस पर अब प्रमाणों के सहित विवेचन करते हैं।

संस्कृत साहित्य में हर्ष नामक पाँच कवि हैं। एक श्रीहर्ष तो काव्यप्रदीप के रचयिता-गोविन्दठक्कुर का छोटा भाई था। दूसरा श्रीहीर का पुत्र नैषधमहाकाव्य का निर्माता था। तीसरा काश्मीरमण्डल का राजा था जिसकी रानी के चित्तरञ्जन के लिए सोमदेव ने कथासरित्सागर का प्रणयन किया था। चौथा, धारा नगरी के संस्थापक विद्वज्जन-कल्पद्रुम भोज का पितामह और मुञ्ज महीपति का पिता था। पाँचवाँ, स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) का नृपति था जिसके चरित को लेकर श्रीबाणभट्टने हर्षचरित नामक गद्यकाव्य बनाया। किन्तु अनेक प्रमाणों के बल पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि थानेश्वर का अधिपति ही नागानन्द का निर्माता था।

धनिक अपने भाई धनञ्जय के साथ दशवीं विक्रमशताब्दी में मुञ्ज महीपति की सभा में था। वह उस सभा का सभापति था। उसने अपने दशरूपावलोक में नागानन्द का उल्लेख किया है। काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में (८५५-८८३ ई०) रहने वाले **आनन्दवर्धनाचार्य** ने अपने ध्वन्यालोक में रत्नावली और नागानन्द का उल्लेख किया है। विक्रम के नवम शतक में काश्मीर के महाराजा श्री जयापीड का मन्त्री **दामोदरगुप्त** ने भी **कुट्टनीमत** में रत्नावली के अभिनय के उल्लेख के साथ ही साथ उसकी एक प्रसिद्ध [1]आर्या भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत की है। इन प्रमाणों से इतना निश्चित हुआ कि रत्नावली और नागानन्द का कर्त्ता महाराज श्रीहर्ष किसी प्रकार भी नवम शतक से अर्वाचीन नहीं ठहराये जा सकते।

---

१ उदयनगान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥ रत्नावली १।२४

गोविन्द ठक्कुर का छोटा भाई श्रीहर्ष १५ वीं शताब्दी में था और वह राजा भी नहीं था। इसी प्रकार नैषधकार श्रीहर्ष भी भूमिपाल नहीं था, अपि तु कान्यकुब्जेश्वर श्रीजयचन्द्र का सभापण्डित था। यह स्वयं अपने ग्रन्थ में उसने लिखा है—'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते य कान्यकुब्जेश्वरात्'। काश्मीर देश के राजा ने ११४६ वि० स० से ११५८ तक राज्य किया था। राजा मुञ्ज के पिता ने १० वीं शताब्दी में उज्जयिनी में राज्य किया था। ये चारों भी नवम विक्रम शतक से अर्वाचीन नहीं है। इसलिए नागानन्द का कर्त्ता इनमें से कोई भी नहीं हो सकता। अत इन चारों के अतिरिक्त थानेश्वर के भूपाल श्रीहर्ष ने ही नागानन्द की रचना की है, इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं।

इन प्रबल प्रमाणों के होते हुए भी जिनका संशय अभी दूर नहीं हुआ उनसे हमारा अनुरोध है कि वे चीनी यात्री इत्सिङ्ग की अधोलिखित उक्ति को पढ़ें —

King Siladitya (i. e. Harsa) versifed the story of Bodhi Sattva Jimuta Vahana (ch. 'Cloud borne') who surrenderd himself in place of a Naga. This version was set to music (lit. String and pipe) He had it performed by a band accompanied by dancings and actings and thus popularised it in his time. —It-sing's 'Records of the Buddhistic Religion' Translated by Takaknsu

अर्थात् राजा शीलादित्य (हर्ष) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन जिसने एक नाग के बदले आत्मसमर्पण किया था—की कथा का कविताओं में वर्णन किया। यह वर्णन संगीत में बद्ध किया गया। उसने इसका नृत्य और अभिनयपूर्वक नटों के समुदाय के द्वारा प्रदर्शन कराया था और इस प्रकार अपने समय में ही इसे प्रसिद्ध कर दिया।

महाराज श्रीहर्ष

ये महाराज श्रीहर्ष भारतीय इतिहास में हर्षवर्धन के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके पिता प्रभाकरवर्धन और माता यशोमती देवी थी। ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन ६६२ वि० स० में पिता के देहावसान के पश्चात् राज्य के अधिकारी हुये। उसी समय इनकी बहन-राज्यश्री का पति ग्रहवर्मा मालव-नरपति के द्वारा मारा गया। राज्यवर्धन ने मालवनरपति पर आक्रमण करके उसे वश में कर लिया परन्तु गौड़नरेश शशाङ्क ने किसी प्रकार धोखा देकर राज्यवर्धन की जीवनलीला समाप्त कर दी। तत्पश्चात् हर्षवर्धन ६७२ वि० स० में राज्यसिंहासन पर आरूढ हुए और अखिल भारत पर शासन करने लगे। उनके राज्यकाल में भी रत माता नितान्त प्रसन्न थी।

जिस वर्ष वे राज्यसिंहासनासीन हुए उसी वर्ष से उन्होंने 'हर्ष संवत्' नामक प्रसिद्ध संवत् की स्थापना की। उन्होंने दिग्विजय के लिए महती सेना का संघटन किया। उस सेना से यह नरपति महाशक्तिशाली हो गया और ५ वर्षों के भीतर ही भारत के सभी उत्तरीय भाग को जीतकर उन राज्यों के राजाओं को अपने अधीन कर लिया। फिर ये 'महाराजाधिराज' की उपाधि से अलङ्कृत हुए। इनके राज्यकाल—३५ वर्षों—में राज्य सब प्रकार से समृद्ध और सुखी था।

इन्होंने उत्तर भारत पर तो विजय पा ही ली थी, अब दक्षिण के देश को भी जीतने के लिए अपने साथ बहुत बड़ी सेना लेकर प्रस्थान कर दिया, किन्तु चालुक्यवंशीय द्वितीय पुलकेशी ने इनका मार्ग बन्द कर दिया। इन्हें विवश होकर लौटना पड़ा। इन्होंने वलभी नरेश द्वितीय ध्रुवसेन को भी पराजित कर अपने वश में कर लिया। इस प्रकार क्रम से हिमालय से लेकर नर्मदापर्यन्त और आसाम से लेकर सौराष्ट्र तक समस्त सामन्तमण्डल को अपने वशीभूत करके श्रीहर्ष ने प्रजाओं को अत्यन्त सुखी बना दिया, अपने नाम को भी अन्वर्थ कर दिया। श्रीविक्रमादित्य के समान ही इनके राज्य में प्रजा सब प्रकार से समृद्ध थी।

हर्षचरित में बाणभट्ट ने भी श्रीहर्ष के चरित का इस प्रकार वर्णन किया है— सोऽयं सुजन्मा सुगृहीतनामा, तेजसां राशिः, चतुरुदधिकेदारकुटुम्बी, भोक्ता ब्रह्मस्तम्भफलस्य, सकलादिराजचरितजयज्येष्ठमल्लो देवः परमेश्वरो हर्षः। एतेन च खलु राजन्वती पृथिवी। चित्रमिदमत्यमरं राजत्वम्। अपि चास्य त्यागस्यार्थिनः, प्रज्ञायाः शास्त्राणि, कवित्वस्य वाचः, सत्त्वस्य साहसस्थानानि, उत्साहस्य व्यापाराः, कीर्तेर्दिङ्मुखानि, अनुरागस्य लोकहृदयानि, गुणगणस्य संख्या, कौशलस्य कला, न पर्याप्तो विषयः। अस्मिंश्च राजनि यतीनां योगपट्टकाः, पुस्तककर्मणां लोकविग्रहाः षट्पदानां दानग्रहणकलहाः, वृत्तानां पादच्छेदाः, अष्टापदानां चतुरङ्गकल्पना, पन्नगानां द्विजगुरुद्वेषाः, वाक्यविदामधिकरणविचाराः—(हर्षचरित पृ. ७३ ७८)

बाणभट्टने इनका विजयवर्णन भी किया। इसमें इनका प्रबल पराक्रम देखिये—अस्य बह्न्याश्चर्याणि श्रूयन्ते। तथाहि—अत्र बलजिता निश्चलीकृताश्चलन्तः कृतपक्षाः क्षितिभृतः। अत्र प्रजापतिना शेषभोगिमण्डलस्योपरि क्षमा कृता। अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीकृता। अत्र बलिना मोचितभूभृद्वेष्टनो मुक्तो महानागः। अत्र देवेनाभिषिक्तः कुमारः। अत्र स्वामिनैकप्रहारपातितारातिना प्रख्यापिता शक्तिः। अत्र नरसिंहेन स्वहस्तविशसितारातिना प्रकटी-

कृतो विक्रमः। अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गायाः गृहीतः करः। अत्र लोकपालेन दिशां मुखेषु परिकल्पिता लोकपालाः सकलभुवन-कोशश्च अग्रजन्मनां विभक्त इति। (हर्षचरित, तृतीयोच्छ्वास पृ. ९०-९१, निर्णयसागर)

प्रसिद्ध चीनी यात्री **ह्वेन्सांग** भी श्रीहर्ष के ही राज्यकाल में बौद्धधर्म के अध्ययन के लिए भारत में आया था। नालन्दा में बौद्ध धर्म का सम्यक् अध्ययन करके उसने बहुत समय तक श्रीहर्ष की सभा को विभूषित किया। उसने श्रीहर्ष की प्रजा की समृद्धि तथा राजा की प्रजावत्सलता की अपने यात्रा विवरण ग्रन्थ में प्रशंसा की है। उसके वर्णन से पता चलता है कि श्रीहर्ष अत्यन्त उदार थे। प्रयाग में गङ्गा यमुना के सङ्गम पर पाँच वर्षों के पश्चात् एक महान् दानयज्ञ का आयोजन करके उसमें अपना सभी संगृहीत धन वे ब्राह्मण, श्रमण और दरिद्रों में वितरण कर देते थे। उनके पास केवल मृत्पात्र ही अवशिष्ट रह जाता था। वे भगवान् त्रिलोचन और सूर्य के भक्त थे। किन्तु ह्वेन्सांग के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि वे तथागत धर्म में भी बहुत श्रद्धा रखते थे। इस बात का पुष्टीकरण नागानन्द में भगवान् बुद्ध की मारविजय की ओर संकेत करने वाली नान्दी में भी होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी आस्था वैदिक और बौद्ध दोनों धर्मों में थी। यह बात श्रीहर्ष के ग्रन्थों के विवेचक विद्वानों से छिपी हुई नहीं है।

काल–निर्णय

श्रीहर्ष का आविर्भाव काल का निर्णय ऊपर के वर्णन से किया जा सकता है। परन्तु यह कहा जा चुका है कि ६६३ वैक्रमाब्द (६०६ ई०) में वे राज्यसिंहासनासीन हुए। सं ७०४ में उनका निधन हो गया, ४१ वर्ष तक इन्होंने राज्य किया। इस प्रकार ७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही इनका स्थिति–काल निश्चित होता है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री **इत्सिंग** हर्ष की मृत्यु के तुरन्त बाद ही आया था। उसने अपने यात्रा–विवरणात्मक ग्रन्थ में स्पष्टतया हर्ष को नागानन्द का रचयिता कहा है। उसका कहना है—'राजा शीलादित्य (श्रीहर्ष) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की आख्यायिका को नाटक के रूप में परिणत कर दिया और संगीत आदि सामग्री से युक्त करके नटों से इसका अभिनय भी कराया।' श्रीहर्ष के ग्रन्थकर्तृत्व में अब भी जिन्हें सन्देह है वे बाणभट्ट की उक्ति पर ध्यान दें। बाणभट्ट ने दो बार हर्षचरित में राजा की काव्य-व्याकरण की चातुरी की प्रशंसा की है—

'राज्ञां संभाषणेषु परित्यक्तमपि मधु वर्षन्तं, काव्यकथास्वपीतामृतमुद्वमन्तमिति' (ह० च० पृ० ७१) इस कथन से हर्ष की अलौकिक काव्य-

प्रतिभा विदित होती है। **'यस्य कवित्वस्य वाचो न पर्याप्तो विषयः'** बाणभट्ट के इस वाक्य से भी महाराज हर्ष की काव्यरचना की पटुता ज्ञात होती है। (ह० च० पृ० ७८) इन प्रमाणों से तो अब श्रीहर्ष की काव्यरचना और नागानन्द के कर्तृत्व में लेशमात्र भी संशय नहा रह जायगा, यह हमारा निश्चय है।

रत्नावली का रचयिता धावक कवि नहीं था। काव्यप्रयोजन का वर्णन करते हुए श्री मम्मट ने **'काव्यम् अर्थकृते'** कहकर दृष्टान्तरूप में **'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्'** कहा है। इसपर काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकार यह अर्थ करते हैं कि *'रत्नावली को रचना करके श्री धावक कवि ने हर्ष से अत्यन्त धन पाया था।'* टीकाकारों की इस व्याख्या पर थोड़ी भी श्रद्धा नहीं होती, क्योंकि ऊपर इसके विरोधी प्रबल प्रमाण दिए जा चुके हैं। किसी किसी काव्यप्रकाश में 'श्रीहर्षादेर्बाणभट्टादीनामिव धनम्' ऐसा पाठभेद मिलता है जिसका अर्थ पाश्चात्य विवेचकों ने किया है कि बाण ने रत्नावली की रचना की थी। किन्तु विचारने पर इनकी भी व्याख्या अयुक्त ठहरती है, क्योंकि उपर्युक्त प्रमाणों से किसी के मन में ऐसा संशय नहीं हो सकता। मम्मटकृत उल्लेख यही सिद्ध करता है कि 'वह कवियों का धन का दाता था।' कविवर बाणभट्ट के प्रति उनकी दानशीलता अनेक जगह स्मरण की गई है :—

यावदस्य स्वयमेव गृहीतस्वभावः पृथिवीपतिः प्रसादवानभूत्। स्वल्पैरेव चाहोभि परमप्रीतेन प्रसादजन्मनो मानस्य प्रेम्णो विस्रम्भस्य द्रविणस्य नर्मणः प्रभावस्य च परां कोटिम् अनीयत नरेन्द्रेण।

—हर्षचरित

श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्। (सुभाषितावली)
हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्॥

—सारसमुच्चय

श्रीहर्ष के विरचित ग्रन्थ

महाराज श्रीहर्ष के प्रणीत तीन ग्रन्थ हैं। संस्कृत साहित्य-संसार में सर्वत्र सुविख्यात और सहृदयों के मानस को रञ्जित करने वाले इन ग्रन्थों ने भला किस सुरभापाप्रेमी के कर्णकुहरों का स्पर्श नहीं किया? तीनों ग्रन्थ ये हैं—(१) **प्रियदर्शिका नाटिका, (२) रत्नावली नाटिका और (३) नागानन्द नाटक।** इन ग्रन्थों के अध्ययन करने पर शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये एक ही कवि

के प्रणीत हैं। तीनों में पदों का समान विन्यास, अर्थों की समानता और रचना पद्धति में भी साम्य दृष्टिगोचर होता है। कई पद्य तो ऐसे हैं जो तीनों में एकरूप से उद्धृत हुए हैं। इससे तीनों का एक कविकृतत्व बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। यदि यह सिद्धान्त किसी को स्वीकृत नहीं है तो वे प्रियदर्शिका और रत्नावली के साथ नागानन्द के शब्दों और भावों के साम्य को देखें और [illegible] सिद्धान्त पर विचार करें।

प्रियदर्शिका और रत्नावली दोनों में वत्सराज उदयन का एक ही चरित है जिसका मूल बृहत्कथा है। इन दोनों में रत्नावली, वस्तुविन्यास और भावप्रदर्शन की दृष्टि से इतनी मनोहर है कि वह प्रियदर्शिका [illegible] कहीं बढ़ी चढ़ी है। इसीलिए संस्कृत-साहित्य में इसकी इतनी ख्याति हो गई है। दामोदरगुप्त ने कुट्टनीमत में रत्नावली के अभिनयक्रम का वर्णन किया है। यही कारण है कि धनिक ने भी दशरूपावलोक में पञ्चसन्धि और इनके अवान्तर भेदों के लिए प्रायः रत्नावली से ही उदाहरण लिए हैं। इससे भी रत्नावली की लोकप्रियता व्यक्त होती है।

प्रियदर्शिका रत्नावली तथा नागानन्द ये तीनों रूपक एक ही अभिन्न ग्रन्थकार की कृतियाँ हैं—इसका निःसन्दिग्ध प्रमाण इन ग्रन्थों की अन्तरंगपरीक्षा है और वही ग्रन्थकार श्रीहर्ष ही थे। इन तीनों में प्ररोचना के निमित्त एक ही पद्य 'श्रीहर्षो निपुणः कविः' आता है। यह प्रियदर्शिका तथा रत्नावली में एक समान [illegible] आता है। नागानन्द में केवल 'वत्सराजचरितम्' के स्थान पर 'सिद्धराजचरितम्' पाठ आता है। अन्य श्लोक तथा शाब्दिक साम्य इतना अधिक है कि यह एक कर्तृत्व होने से ही सम्भव है। कतिपय साम्य का प्रदर्शन किया जा रहा है—

नागानन्द	प्रियदर्शिका
(१) अद्याहं वसन्तोत्सवे आदि (प्रस्तावना का आरम्भ)	बिल्कुल समान
(२) श्रीहर्षो निपुणः कवि आदि श्लोक	बिल्कुल एक
(३) व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना (१।४)	बिल्कुल वही २।१०
(४) कन्यका हि निर्दोषदर्शना भवन्ति (अङ्क १)	निर्दोषदर्शना खल्वियम् अङ्क २
(५) अये मध्यमध्यास्ते नभस्तलस्य भगवान् सहस्रदीधिति अङ्क १	अये कथं नभोमध्यमध्यास्ते भगवान् सहस्रदीधिति (अङ्क २)
(६) शारदातपजनितोऽयं सन्ताप (अङ्क २)	वही (अङ्क २)
(७) मधुमथनो वक्षःस्थलेन लक्ष्मी (अङ्क ३)	वही ( )

नागानन्द	प्रियदर्शिका
(८) पदशब्द इव श्रूयते (अङ्क २)	वही (अङ्क २)
(९) हो हो भो सम्पूर्णा मनोरथा (अङ्क २)	वही (पूर्णा)
(१०) तद् यावदहमपि दीर्घिकायाम् (अङ्क ३)	वही
(११) सरब्ध इव लक्ष्यसे (अङ्क ३)	वही (१ अङ्क) प्रहृष्ट इव
(१२) अन्त पुराणा विहितव्यवस्य (४।१)	वही श्लोक (३।३)

नागानन्द	रत्नावली
(१) चन्दनलतागृह का दृश्य (अंक २)	वही दृश्य (अङ्क १)
(२) न्याय्ये वर्त्मनि योजिता प्रकृतय (पद्य १।७)	वही पद्य (१।६)
(३) भगवन् कुसुमायुध मम पुन-रनपराद्धाया अपि अबलेति कृत्वा प्रहरन् न लज्जसे । अङ्क २	...स्त्रीजन प्रहरन् कथ न लज्जसे (अङ्क २)
(४) सखि, अतोऽपि मे सन्तापोऽधिकतरं बाधते—अङ्क २	वही—अङ्क २
(५) भो वयस्य प्रच्छादय इमा चित्रगतां कन्यकाम्—अङ्क २	प्रच्छादय चित्रफलकम्—अङ्क २
(६) हञ्जे दुर्जनीकृतास्मि अनेन चित्रफलक दर्शयता—अङ्क २	आर्यपुत्र, अमात्ययौगन्धरायणेन एतावन्त कालं दुर्जनीकृतास्मि-अङ्क ४
(७) 'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते-नालापमाभाषिता (श्लोक, ३।४)	प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता (पद्य, ३।९)
(८) मर्मे कथमनभ्रा वृष्टि —अङ्क ५	वही—अङ्क ३

नागानन्द नाटक

हमारा प्रस्तुत रूपक नागानन्द नामक नाटक ही है। इसकी नाटकीय वस्तु न केवल अतीव सरस है, अपि तु प्राणिमात्र के कल्याणार्थ उत्कृष्टतम परोपकार मत की कथा से सम्पन्न है। नाटक का सस्कृतरूपकों में विशिष्ट स्थान है। सस्कृत में अनुरागमूलक शृङ्गाररसप्रधान नाटक अधिकतर मिलते हैं। किन्तु प्रस्तुत नाटक में कवि ने शृङ्गार का गौण रूप दिखाकर दयावीर की ही प्रधानता का वर्णन किया है। यह तो विदित ही है कि सस्कृत के नाटकों में दया वीररस का प्रदर्शन अत्यल्प है।

सभी प्राणियों की प्रवृत्तियां प्रायः स्वार्थमूलक ही हुआ करती हैं। अन्य नाटकों में स्वार्थनिवेदक विषयों का विविध प्रकार से प्रतिपादन देखा जाता है, परन्तु इस नाटक में पूजनीय श्रीहर्षकवि ने समस्तजनों के परमकल्याण के लिए निःश्रेय फल को देने वाले और परहितसम्पादक पवित्र चरित्र का चित्रण किया है। यह अन्य सभी प्रचलित संस्कृत नाटकों की अपेक्षा नागानन्द का वैशिष्ट्य है। यद्यपि इस नाटक में बौद्धमत की विशेषतः जातकगत कथा का ही निबन्ध किया गया है, तथापि इसमें कवि ने परोपकारार्थ अपनी देह की आहुति देने वाले नायक (जीमूतवाहन) को गौरी के प्रसाद से पुनर्जीवित दिखाया है। इस प्रकार वैदिक और बौद्ध इन दोनों धर्मों का प्रशस्त समन्वय, जो उस युग के अनुकूल था, नागानन्द नाटक की सम्मानित विशिष्टता है।

(१) वस्तुपरीक्षण

गरुड़ ने नागों को खाना छोड़ दिया जिससे उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ, यही इस ग्रन्थ (नागानन्द) के नामकरण का हेतु है। यह कथा रामायण-महाभारतादि में उपलब्ध नहीं है तथापि प्राचीनकाल में बहुत प्रसिद्ध था, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। गुणाढ्य विरचित बृहत्कथा ही इसका मूल है, यह बृहत्कथा के संस्कृतानुवादों से स्पष्ट है।

महाकवि गुणाढ्य प्रतिष्ठानपुर के अधिपति-सातवाहन-की सभा में रहते थे। प्रथम शतक ही इनका स्थितिकाल है। ऐसी मान्यता है कि पैशाची भाषा में एक लाख श्लोकों में लिखी हुई उनकी बृहत्कथा अद्भुत अर्थवाली थी।

भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्।

ऐसा दण्डी ने भी कहा है।

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥

यह बाणभट्ट ने और अपने ग्रन्थों में धनञ्जय, त्रिविक्रम और गोवर्धनाचार्य आदि ने बृहत्कथा की स्तुति एवं प्रशंसा की है। खेद की बात है कि बृहत्कथा की एक भी पङ्क्ति विद्वज्जनों के कौतूहल को शान्त करने के लिए आज तक उपलब्ध न हो सकी। किन्तु हर्ष इसलिए अवश्य है कि सम्पूर्ण बृहत्कथा के संस्कृत में तीन अनुवाद हैं।

प्रथम अनुवाद बुधस्वामी का 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' है। द्वितीय अनुवाद महाकवि क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी है। क्षेमेन्द्र कवि का जन्म काश्मीर नरेश अनन्तराज के राज्यकाल (१०२८-१०८० सन) में काश्मीर में ही

हुआ था। बृहत्कथामञ्जरी में बृहत्कथा का सार अतिसंकुल भाषा में निबद्ध है। तृतीय अनुवाद है कथासरित्सागर। इसके रचयिता सोमदेवभट्ट थे। ये भी उसी समय और उसी देश में हुए थे। अनन्तराज की रानी के प्रोत्साहन से इन्होंने बृहत्कथा के अनुसार न अधिक संक्षिप्त और न अधिक विस्तृत किन्तु हृदयाकर्षक उपर्युक्त ग्रन्थ का निर्माण किया।

बुधस्वामी तो क्षेमेन्द्र से भी प्राचीन थे, किन्तु दुर्भाग्यवश, श्लोकसंग्रह का कुछ ही अंश आजतक उपलब्ध हो सका है। अतः श्लोकसंग्रह में नागानन्द की आख्यायिका का स्वरूप कैसा था यह नहीं कहा जा सकता। मंजरी और सरित्सागर में यद्यपि कथावस्तु अभिन्न है तथापि कहीं कहीं वैचित्र्य भी है। इसलिए दोनों में से जीमूतवाहन की आख्यायिका विद्वानों की सुविधा के लिए हिन्दी अनुवाद के रूप में दी गई है।

बृहत्कथामञ्जरी में जीमूतवाहन की कथा

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर रत्नमय प्राकारवाले काञ्चनपुरी नामक एक नगरी थी, जिसके अधिपति विद्याधरपति जीमूतकेतु थे। उनका अनन्त यश सारी पृथ्वी पर फैला हुआ था। विद्याधरेन्द्र की परमसुन्दरी कन्या कनकवती उनकी भार्या थी। उनके पुत्र का नाम था जीमूतवाहन जो सकल गुण सम्पन्न था तथा कल्पवृक्ष के प्रसाद से कनकवती के ही गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

जीमूतवाहन के त्यागजनित यश का गान स्वर्ग में देवतालोग भी करते थे। तपस्या के लिए वन में जाने के समय इनके पिता ने इन्हें राजगद्दी देकर सकल सिद्धिदायक कल्पवृक्ष भी दे दिया था। किन्तु इन्होंने सभी सांसारिक पदार्थों को क्षणभंगुर समझ कर वह कल्पवृक्ष याचकों को दे दिया। कल्पद्रुम भी समस्त जगत् को, क्षण भर में, सुवर्ण से भरपूर करके अन्तर्हित हो गया। जीमूतवाहन के इस अभूतपूर्व त्याग से तीनों लोक आश्चर्यचकित हो गये।

जीमूतवाहन को कल्पद्रुम से रहित जानकर उनके प्रतिपक्षी सामन्तों ने आपस में मिलकर उनके राज्य को हड़प लेना चाहा, किन्तु जीमूतवाहन ने स्वयं ही उन परिपन्थियों की चेष्टा जानकर राज्य से अपनी स्पृहा हटा ली और माता-पिता के साथ तपस्या करने के लिए समस्त सिद्धिदायक सिद्धमण्डल से सेवित मलयाचल पर जाकर उनकी सेवा में आनन्द से अपना समय बिताने लगे।

किसी समय जीमूतवाहन अपने विज्ञानी मित्र मधुकर के साथ उपवन में स्वच्छन्द विहार कर रहे थे। कुसुमकरन्द कानन में पहुँचकर उन्होंने अत्यन्त सुगन्धवाली लतायें देखीं वहाँ आकाशचारी नारीजनों के नूपुर झनन-युक्त चरणों के आघात से पुष्पित होने वाले लाल लाल अशोक और विद्याधर की स्त्रियों के गण्डूष जल से पुष्पित होने वाले सुन्दर बकुल आदि मनोरम द्रुम थे। वहाँ विविध

समीर का विलास था जो दर्शकों के लिए वशीकरणमन्त्र सिद्ध हो रहा था। उड़ते हुए भ्रमरमण्डल को मेघ समझ कर मयूरियाँ नृत्य में मस्त हो जाती थीं और किन्नरियों के कोमल गान भी वहाँ होते रहते थे। उसी कुसुममकरन्द कानन में राजकुमार ने लहराती पताकावाला कैलास शिखर सा उच्च गौरी का शुभ प्रासाद देखा जिसके भीतर उन्हें वीणास्वन से मिश्रित चित्ताकर्षक गीत ध्वनि सुनाई पड़ी। कौतूहलवश उन्होंने वहाँ जाकर देखा कि समस्तभुवन की सारभूत परम लावण्यवती एक कन्या गा-बजा रही है। उसे देखकर राजकुमार के नयन हँसने लगे। वह तन्मय हो गया और कामाभिभूत होकर चचल भी हो गया। इधर लावण्यनलिनी की आँखें भी राजहंस के ऊपर पड़ीं नहीं कि लज्जा से मुड़ गईं। उसके अङ्गों में कम्प, रोमाञ्च और स्वेद हो आये। वह कुसुमशर के वश में थी। जीमूतवाहन ने उसे मौन देखकर उसकी सखी से पूछा—'यह ललित कृति कुलभूषण किसकी कन्या है?' सखी ने उसका मधुर आशय समझ लिया, कहा—'आप महापुरुष के दर्शन से इसका मन तो नाच रहा है, किन्तु वाणी नहीं निकल रही है। यह लज्जा निकेतन कन्या बोलने के लिए ललना (प्रौढ स्त्री) की तरह कैसे प्रगल्भ हो सकती है।' सखी ने उस कन्या का और मधुकर ने जीमूत वाहन का परिचय दिया।

जीमूतवाहन अपनी प्रियतमा को आँखों से पाते हुए आनन्दविभोर होकर कहने लगा कि यही इस जन्म का फल है। भला इसके दृष्टिपात और अनुग्रह को कौन सर्वोत्कृष्ट न मानेगा? इस तरह कह ही रहे थे कि प्रतीहारी ने आकर राजकुमारी को उसकी माँ का सन्देश दिया और राजकुमारी अपनी माँ के पास चली गई। प्रियतम से दूर रहने की इच्छा न रहने पर भी चली गई, विवश थी। किन्तु अब सिद्धपति की कन्या विरहानल के कठोर संताप से क्लान्त रहने लगी। आर्द्रवसन, शीतल हार, सरोरुह, चन्द्रकान्त आदि किसी वस्तु से उसका ताप शान्त न हो सका। उल्टे, वे वस्तुएँ उसे उद्दीप्त ही करती थीं। राजकुमारी अपनी सखी से कहने लगी—'हे सखी, तुम सब बातें जानती हो, अब तुम्हीं बतलाओ मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसे कहूँ। काम ने तो मेरी यह अवस्था कर दी है। उस युवक राजकुमार को किसकी क्या पड़ी है। वह किसकी सुनेगा। यदि उससे कहूँ कि 'मैंने तुम्हें समझ लिया है', तो इससे प्रगल्भता। 'यहाँ आओ' कहने में आज्ञा का घमड, 'तुम मेरे प्रिय हो', कहने में निर्लज्जता और 'मैं नहीं जी रही हूँ' कहने में अनौचित्य प्रकट होता है। यदि कहूँ कि 'तुम्हारी प्रिया हूँ' तो यह कोई जानता नहीं है। 'आ रही हूँ' कहना भी अनुचित है। 'कामार्त हूँ' यह कथन भी चपलता है। सखी, कुछ भी समझ में नहीं आता कि उसे क्या कहूँ, केवल मरण ही शरण प्रतीत होता है। इस प्रकार सखी से अनेक प्रकार की बातें करते-करते उसके नयनों में जल भर आया।

उधर जीमूतवाहन भी वियोगदाह से परेशान था। गौरी उद्यान में इन्दुमुखी की याद कर कर के उसकी विचित्र हालत हो गई थी। वह शय्या पर बैठा था। और मधुकर उसे ढाढस बँधा रहा था। इसी बीच मलयवती वहीं आ पहुँची और विरहव्यथा के असह्य होनेके कारण गौरी आश्रम के पास ही तरुलताओं के बीच में फाँसी लगाने की तैयारी भी कर डाली। फिर बहुत विलाप कर करके गौरी से प्रार्थना करने लगी कि 'जीमूतवाहन ही दूसरे जन्म में मेरे स्वामी हों।' ये बातें मधुकर के कान में पड़ीं। वह राजकुमार को तत्क्षण घटनास्थल पर बुला लाया। राजकुमार ने भी द्रुम लताओं की आड़ में छिपकर सब कुछ देखा, सुना। भगवती गौरी ने मलयवती की करुण पुकार सुनी, प्रकट हुई और बोली—'पुत्रि! दुःसाहस न करो। चक्रवर्ती जीमूतवाहन अवश्य तुम्हारा पति होगा।' इस प्रकार देवी से वर पाकर मलयवती फूली नहीं समाई। उसने आँखें खोलीं तो देखा कि जीमूतवाहन सामने ही खड़े हुए हैं। अब तो उसके हर्ष और लज्जा का ठिकाना न रहा। ठीक उसी समय चेटिका भी वहाँ पहुँच गई। उसने सूचना दी—'आप पिताकी आज्ञा से जीमूतवाहन के साथ आप के विवाह महोत्सव की तैयारी हो चुकी है।' यह सुनते ही राजकुमारी शीघ्र वहाँ से चली गई। जीमूतवाहन भी पिता के पास चले गये। फिर दोनों का परिणयसंस्कार हुआ और कुछ काल में ही अपनी प्रेयसी के भाई मित्रावसु को जीमूतवाहन ने अत्यन्त प्रेमभाजन बना लिया।

एक दिन मित्रावसु के साथ भ्रमण करते हुए समुद्रतीर पर पर्वतशिखर सी ऊँची नागोंकी हड्डियों की ढेर देख कर उन्होंने मित्रावसु से पूछा 'यह क्या है?' मित्रावसु ने कहा—'जब गरुड़ ने बड़े-बड़े सर्पों को खाना शुरू कर दिया, तब वासुकी भयभीत हुआ और इससे अधिक नाश देखकर उसने उस दिन से प्रतिदिन एक नाग भेजकर उसकी भूख मिटाना स्वीकार किया। पर्वत के समान यह अस्थिराशि उसी गरुड़ की जठराग्नि से भस्मीभूत नागों की है।' मित्रावसु यह कहकर पिता की आज्ञा पाकर चला गया, किन्तु जीमूतवाहन सर्पों की इस महान् विपत्ति से व्याकुल होकर संसार की असारता पर विचार करने लगा। इतने में ही उसने देखा कि एक वृद्धा पुत्र के सान्त्वना देनेपर भी अपने पुत्र के मुख को देख देख कर फूट-फूट कर रो रही है—'हा पुत्र! मेरी आँखों की ज्योति! हा शङ्खचूड! तुम्हारा यह सुकुमार शरीर गरुड़ की वज्रतुल्य चोंच के प्रहार को कैसे सह सकता है? नागराज ने डरकर तुम्हें गरुड़ के लिए भेज दिया। अब तुम्हें कौन बचाएगा।' वृद्धा का यह विलाप सुन राजकुमार को बहुत दया आई। उसने कहा—'माँ, मैं इसकी रक्षा करूँगा, चिन्ता न करो। संसार में परोपकार बड़े भाग्य से मिलता है।' वृद्धा उसीको गरुड़ समझकर डर गई। किन्तु राजकुमार ने कहा—'डरो मत। मैं गरुड़ नहीं हूँ। मैं विद्याधर हूँ। अपनी देह से गरुड़ की

भूख मिटाकर तुम्हारे पुत्र की रक्षा करूंगा।' श्रद्धा ने कहा—'तुम शङ्खचूड़ से भी अधिक प्रिय हो। सैकड़ों कल्पों तक अपनी सौम्य देह की रक्षा करो।' यह देख शंखचूड़ भी अत्यन्त विस्मित हुआ, कहा—'आप किसके प्रिय नहीं हैं। हमारी तरह असंख्य लोग उत्पन्न होते और मरते हैं, किन्तु कौस्तुभतुल्य आप जैसे व्यक्ति का कहाँ बार-बार उद्भव होता है; तृण के लिए हम रत्न का विक्रय नहीं करेंगे।' जीमूतवाहन ने कहा—'तुम्हारे प्राण त्यागने से तुम्हारी जननी भी जीवित नहीं रह सकती। अतः मेरे शरीर से दोनों की रक्षा करो।' ऐसा कह वह शङ्खचूड़ के पैरों पर गिर पड़ा। इन बातों से शङ्खचूड़ अत्यन्त दुःखित हुआ और विवश होकर किसी प्रकार अपनी माता के सहित वहाँ से चला गया।

निश्चित समय पर गरुड़ आनेवाला था। इसके पहले ही राजपुत्र कालवस्त्र ओढ़कर वध-शिलापर बैठ गया और सोचने लगा—'इसी प्रकार प्राणियों के उपकार के लिए मेरा बार-बार जन्म हो'। इसी समय अत्यन्त भयानक वेग से गरुड़ वहाँ आ पहुँचा। उसने महावीर जीमूतवाहन के चूड़ामणि-युक्त मुकुट को हटाकर उसके शरीर को मुख में पकड़कर आकाश में गोल घुमाया। इस प्रक्रिया से रक्त से लथ-पथ चूड़ारत्न मलयवती की गोद में जा गिरा और शिरीष-लता पर वज्रपात हो गया। उसने जीमूतकेतु से सब बातें कहीं और जीमूतकेतु अपनी विद्या के प्रभाव से सब कुछ जानकर अपनी भार्या और पुत्रवधू के साथ उस सौपर्णी शिला के पास गया। इसी समय शङ्खचूड़ भी वहाँ आ पहुँचा और देखा कि गरुड़ उसको आकाश में ले जाकर खा रहा है। वह उसके वध का कारण अपने को ही मानकर अत्यन्त शोक से दग्ध हो गया और इस विपत्ति से छुड़ाने के लिये अपने प्राणों को भी त्यागने का दृढ़ निश्चय उसने कर लिया। इधर गरुड़ को भी विस्मय हुआ कि यह महापुरुष कैसा धैर्यवान् है कि जिसके अङ्गों के भक्षण करने पर भी प्रसन्न है, रोमाञ्च हो रहा है। गरुड़ ने पूछा—'तुम कौन हो।' तुम्हें परिचय की क्या आवश्यकता है, अपनी भूख मिटाओ—उत्तर मिला। इसी बीच शङ्खचूड़ बोल उठा—इनके वक्षस्थल पर स्वस्तिक चिह्न है। ये विद्याधरेन्द्र जीमूतवाहन हैं। इनके साहस को नहीं देखते। देखो मेरी दोनों जिह्वाओं को। तुम्हारा भक्ष्य नाग तो मैं हूँ। मेरी देह में तो मांस और शोणित है। तुम दूर क्यों खड़े हो गये। तुम्हें तृप्ति नहीं हुई है। मुझे खाओ—इस प्रकार गरुड़ से बार बार कहकर शङ्खचूड़ ने अपना शरीर उसके सामने फैला दिया।

इसी समय जीमूतवाहन के माता-पिता के साथ मलयवती भी वहाँ पर आ पहुँची। वह अपने पति के शरीर को अस्थि-शेष-मात्र देखकर शोक से मूर्च्छित हो गई। जीमूतवाहन के माता-पिता भी अपने पुत्र की इस स्थिति को देखकर गिर पड़े। तार्क्ष्य ने उन्हें बहुत आश्वासन दिया। जीमूतवाहन का जीव क्षण भर के लिए उस अस्थि-शेष शरीर में था। उसने अपनी माँ से कहा—'माँ, इस

क्षण-भङ्गुर संसार में विनश्वर शरीर के लिए क्यों शोक करती हो। ऐसे परोपकार के लिए जीवन की आहुति देने का अवसर बड़े भाग्य से मिलता है।' यह कह उसने प्रसन्नता-पूर्वक अन्तिम सास ले ली। अब, मलयवती ने भी मरने का निश्चय कर लिया, किन्तु वहाँ साक्षात् भक्तवत्सला गौरी ने प्रकट होकर सुधावृष्टि से उसके पति को जीवित कर दिया और उसे चक्रवर्ती की श्री से विभूषित कर अन्तर्हित हो गई। देवों और गन्धर्वों ने जीमूतवाहन की खूब पूजा की। गरुड़ ने भी प्रसन्न होकर जीमूतवाहन के कहने पर सभी नागों को अभय-दान दे दिया। *जीमूतवाहन प्रसन्न होकर अपनी पत्नी के साथ अपने स्थान को लौट गया।*

कथासरित्सागर में जीमूतवाहन की आख्यायिका

भगवान् शिव की दोनों कान्ताओं गौरी और गङ्गा के जन्मस्थान–हिमालय–के अत्यन्त उत्तुङ्ग शिखर पर काञ्चनपुर नामक नगर है। वह अपनी अद्भुत छटा से ऐसा प्रतीत होता है मानो सहस्रांशु सूर्य की धरोहर रखी हुई रश्मिराशि हो। उसके अधिपति विद्याधरेन्द्र जीमूतकेतु थे। उनके उपवन में परम्परा से *ही कल्पवृक्ष था जिसके प्रसाद से उन्हें बोधिसत्त्व के अंश से संभूत पुत्ररत्न प्राप्त* हुआ। पुत्र का नाम जीमूतवाहन रखा गया।

जीमूतवाहन दानवीर, महासत्त्व, सभी प्राणियों पर अनुकम्पा करने वाला तथा गुरुओं की सेवा में निरत रहने वाला था। राजा जीमूतकेतु ने युवावस्था आने पर उसका राज्याभिषेक भी कर दिया। युवराज से एक दिन सचिवों ने नम्रतापूर्वक कहा—'देव, सभी मनोरथों को सिद्ध करनेवाला सुरतरु सदा ही आप का पूज्य है। इसके रहते इन्द्र भी हमें बाधा नहीं पहुचा सकते, औरों को कौन कहे।' *युवराज ने सोचा कि कल्पवृक्ष को* पाकर भी मेरे पूर्वजों ने अपूर्वफल न चाहा, केवल पैसों के ही पाले पड़े रहे, अतः मैं अवश्य अपने मनोरथ को उससे सफल कराऊंगा। यह निश्चय कर उसने अपने माता-पिता को सेवा-शुश्रूषा से परितुष्ट किया और उनसे निवेदन किया-'तात, आप जानते ही हैं कि समस्त प्रपञ्च जल-तरङ्ग के समान चञ्चल है। क्षणिक प्रकाश करके विलीन हो जाने वाली सन्ध्या, विद्युत् और लक्ष्मी को कब किसने स्थिर देखा है? इस ससार में अनश्वर वस्तु तो केवल परोपकार ही है। अतः पूर्वजों के सुरक्षित इस कल्पवृक्ष को मैं परोपकार की सिद्धि में लगाना चाहता हूँ।' यह सुनकर पिता ने उसे 'एवमस्तु' कह कर आज्ञा दे दी।

जीमूतवाहन ने कल्पवृक्ष से समस्त पृथ्वी की दरिद्रता दूर करने की प्रार्थना की। कल्पवृक्ष ने वैसा ही किया, पश्चात् देवलोक चला गया।

जीमूतवाहन ने सभी प्राणियों के कल्याण के लिए अलौकिक त्याग किया। इससे तीनों लोक में उसकी अमर कीर्ति व्याप्त हो गई। किन्तु उसके गोत्रज-

बन्धुओं ने मिलकर उसके राज्य को युद्ध द्वारा छीन लेना चाहा। यह उसे बुरा लगा। उसने अपने पिता से कहा—इस तुच्छ शरीर के लिए हमें युद्ध करना उचित नहीं है। मुझे राज्य का भी लोभ नहीं है। अतः हम लोग कहीं दूसरी जगह चलें। उसके पिता को यह सुझाव अच्छा लगा। जीमूतवाहन तथा उसके माता पिता मलयपर्वत को चले गये। वहाँ आश्रम बनाकर वे रहने लगे। जीमूतवाहन अपने माता पिता की सेवा में सदा संलग्न रहने लगा। वहां सिद्धराज विश्वावसु के पुत्र मित्रावसु से उसकी मैत्री हो गई।

एक दिन जीमूतवाहन घूमता घामता उपवन में गौरी मन्दिर को देखने के लिए आया। वहां उसने एक सुन्दरी कन्या देखी। वह सखियों के साथ बैठी हुई गिरिजा की आराधना में वीणा बजा रही थी। उसके कलाकौशल से मुग्ध हरिण इस तरह निःस्पन्द खड़े थे, मानो उस सुन्दरी की आँखों के लावण्य से व ञ्चित हों। सुन्दरता के कारण उसके प्रत्येक अवयव में स्रष्टा की कारीगरी की पराकाष्ठा झलकती थी। देखते ही देखते उसने आखों के रास्ते राजकुमार के हृदय में प्रवेश कर उसके चित्त को चुरा लिया और स्वयं अनुराग से विह्वल हो गई। उसकी वीणा के स्वर भी बिगड़ने लगे।

जीमूतवाहन के पूछने पर उसकी सखी ने बतलाया—'इनका नाम मलयवती है। ये मित्रावसु की भगिनी तथा विश्वावसु की पुत्री हैं।' उस सखी ने साथ में आये हुए मुनिकुमार से राजकुमार का भी परिचय पाकर महानुभाव अतिथि के आतिथ्य के लिए माला आदि सामग्री मंगवायी। वह माला जीमूतवाहन ने ही प्रेम से भरकर मलयवती के गले में डाल दी। राजकुमारी ने भी नील कमल के सदृश विस्तृत एवं स्नेह-घन नयनों के कटाक्ष से मानो उसे नीलनलिन मय माला ही पहना दी। इस प्रकार दोनों में मौन स्वयंवर हो गया। इसी बीच एक चेटी के द्वारा उस सिद्धकन्या की माँ ने उसे बुला लिया। अपनी माँ की आज्ञा पाकर अनिच्छापूर्वक भी उसे जाना ही पड़ा। जीमूतवाहन भी अपने आश्रम को चला गया।

मलयवती अपनी माँ का दर्शन करके प्राणेश के विरह से व्याकुल होने के कारण शय्या पर जा गिरी। वह वियोगजनित सन्ताप से अत्यन्त पीड़ित थी। दिन आँसू बहाते-बहाते बीता। शीतल वायु, चन्दन, कमल दल आदि वस्तुओं के उपचार से उसका सन्ताप बढ़ता ही गया कम न हुआ। शय्या पृथिवी अथवा सखी की गोद, कहीं पर भी उसे चैन न मिला। सन्ध्या होने पर अपने प्रिय के पास लज्जा के कारण दूती भी न भेज सकी। किसी प्रकार रात भी सूर्य के बिना कमलिनी की तरह उसे व्याकुलता में बितानी पड़ी।

जीमूतवाहन के लिए भी उस सिद्धकन्या के बिना जीना दूभर हो गया। रात्रि के अंतिम प्रहर तक विरह की जिस असह्य व्याकुलता में उसे रहना पड़ा

उसे वह रात्रि भी न समझ सकी। किन्तु प्रात होते ही वह पुन गौरीमन्दिर में पहुँच गया। वहाँ उसके मित्र मुनिकुमार ने उसे बहुत ढाढस दिलाया। मलयवती भी अकेली ही घर से निकलकर एकान्त उपवन में आ गई और अपने प्रिय के बिना कष्ट से व्याकुल होकर प्राण-त्याग करने के लिए उद्यत हो गई। यद्यपि जीमूतवाहन भी वहीं था, तथापि उसका रहना मलयवती को विदित न था। अत, उसने गौरी से प्रार्थना की—'हे देवि, यदि इस जन्म में जीमूतवाहन मेरे स्वामी न हो सके तो दूसरे जन्म में अवश्य हों।' ऐसी प्रार्थना करके उसने अपने आँचल को भी मृत्युपाश बना लिया और 'प्राणनाथ जीमूतवाहन विश्वविख्यात कारुणिक होकर भी तुमने मेरी रक्षा न की'—ऐसा उलाहना देकर ज्यों ही उसने गले में आत्महत्या के लिए पाश लगाया आकाश में देवी की वाणी सुनाई पड़ी—'पुत्रि, दु साहस न करो। विद्याधरेन्द्र चक्रवर्ती जीमूतवाहन तुम्हारा पति होगा।' यह सब राजकुमार ने भी सुना और मुनिकुमार के साथ अपनी प्रिया के सामने पहुँच गया। मुनिकुमार ने उस बाला से कहा—'ये ही तुम्हारे देवीदत्त पति हैं।' जीमूतवाहन ने उसी क्षण उसके गले से मृत्युपाश हटाया।

यह सब हो ही रहा था कि एक सखी ने आकर राजकुमारी से कहा—'सखि, तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो। तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो गया। आज ही तुम्हारे पिता और भाई ने आपस में सलाह की है कि जीमूतवाहन से श्रेष्ठ वर कोई नहीं मिल सकता। अत तुम्हारा परिणय उन्हीं के साथ होगा। मित्रावसु इसी के लिए, अभी, जीमूतवाहन के आश्रम की ओर गया है। चलो, हम भी घर चलें।' ऐसा कह वह राजकुमारी को अपने साथ ले गई।

जीमूतवाहन भी अपने आश्रम पहुचने पर मित्रावसु से अपनी अभीष्ट-सिद्धि सुनकर गद्गद हो गया। मित्रावसु ने उसके माता पिता से स्वीकृति लेकर धूम धाम के साथ दोनों को पाणिग्रहण संस्कार द्वारा एक सूत्र में बाँध दिया। दोनों का जीवन अब सुखमय हो गया।

एक दिन जीमूतवाहन मित्रावसु के साथ घूमते घामते समुद्र तट पर पहुँच गया। वहाँ अनेक बड़ी बड़ी अस्थिराशियाँ देखकर उसे विस्मय हुआ। मित्रावसु से पूछा—'ये हड्डियों को ढेर किनकी हैं?' प्रश्न सुनते ही मित्रावसु का हृदय करुणा से अत्यन्त भर गया। फिर उसने पूरा वृत्तान्त कह सुनाया—

प्राचीन काल में नागमाता कद्रु ने गरुड की माता विनता को जुए में छल से हराकर दासी बना लिया। किन्तु पीछे गरुड ने अपनी माता को उसके जाल से मुक्त भी कर लिया तथापि उसने कद्रु से वैर ठानना न छोड़ा। उसने उसके पुत्रों-नागों का विनाश करना आरम्भ कर दिया। वह जब मन चाहे पाताल लोक में जाकर कुछ नागों को खा जाता, कुछ को मसल देता और कुछ तो अपने आप

डर कर मर जाते। इस स्थिति से नागराज वासुकि अत्यन्त घबराया। उसने सोचा कि इस प्रकार तो सर्वनाश हो जायगा। अतः इससे बचने के लिए और गरुड़ को प्रसन्न करने के लिए उसने एक प्रतिज्ञा की—'खगेन्द्र, मैं तुम्हारे आहार के लिए दक्षिण समुद्र के पुलिन पर एक नाग प्रतिदिन भेज दिया करूंगा। एक साथ सबको विनष्ट कर देने से तुम्हारा कौन स्वार्थ सिद्ध होगा ?'

यह समझौता गरुड़ ने मान लिया। उसी दिन से वह प्रतिदिन वासुकि के भेजे हुए नागों का भक्षण करता आ रहा है। ये हड्डियाँ उन्हीं भक्षित नागों की हैं जिनको कालक्रम से पर्वत शिखर के समान ऊंची ढेर बन गई है।

इस वृत्तान्त को सुनकर दयावीर जीमूतवाहन को अत्यन्त मनोव्यथा हुई, कहा—'क्या वासुकि इतना नपुंसक हो गया जो अपने हाथ से ही अपनी प्रजा शत्रुओं को भेंट कर देता है। सहस्र-मुख वाला होकर भी उसके एक भी मुख से 'तार्क्ष्य, पहले मुझे खाओ' ऐसा न निकला ? इस निर्घृण निर्बल ने तार्क्ष्य की अभ्यर्थना करके अपने कुल का विनाश क्यों स्वीकार कर लिया ? आश्चर्य, कृष्ण के अधिष्ठान से परिपूत वीर तार्क्ष्य भी ऐसा महापाप करता है।' यह कहकर उस महासत्त्व ने विचार किया-'मैं यदि अपनी यह भौतिक देह जो अत्यन्त असार है, गरुड़ को समर्पित कर एक भी नाग की जीवनरक्षा कर सका तो मेरा शरीर-धारण सार्थक हो जायगा।' इस प्रकार विचारों में वह मग्न ही था कि एक भृत्य के द्वारा पिता के आह्वान का सन्देश पाकर मित्रावसु ने जीमूतवाहन से अनुमति ली और घर चला गया।

उसके चले जाने पर अपने मनोरथ को पूर्ण करने के अभिप्राय से वह अकेला ही वहाँ पर घूमता रहा। थोड़ी देर में उसने दूर से ही किसी का करुण क्रन्दन सुना। वहाँ जाकर उसने उत्तुङ्ग शिलातल के समीप एक सुन्दर किन्तु दुःखित पुरुष को देखा जो एक रोती हुई वृद्धा को लौटने के लिए अनुनय-विनय कर रहा था। जीमूतवाहन की जिज्ञासा बढ़ी 'यह कौन है ?' उस वृद्धा का आर्त विलाप सुनते वह खड़ा रहा। वह रो-रोकर कह रही थी-'हा शंखचूड़, हा पुत्र, तुम्हारे पिता की वृद्धावस्था तुम्हारे बिना कैसे बीतेगी ? तार्क्ष्य के भक्षण से होने वाली पीड़ा को तुम कैसे सहोगे ? इतने बड़े नागलोक में विधाता और वासुकि को क्या मुझ हतभागिनी का इकलौता पुत्र ही मिला ?' इस प्रकार माँ के मर्मविदारक विलाप को देखकर शंखचूड़ ने कहा—'माँ, तुम रो-रोकर मेरे दुःख को और न बढ़ाओ गरुड़ के आने का समय हो चला है। मेरा अन्तिम प्रणाम लो और घर लौट जाओ।'

'हाय मैं मर गई। मेरे पुत्र को कौन बचाएगा ?' वृद्धा चारों ओर देख-देख कर क्रन्दन करने लगी। बोधिसत्त्वांश जीमूतवाहन ने यह सब देखा-सुना।

उस वृद्धा और युवक के परस्पर संवाद से दोनों का परिचय भी मिल गया। उसने सोचा—'अपने शरीर से यदि मैं इस आर्त की रक्षा न कर सका तो मेरा जन्म और जीवन निष्फल ही है।' ऐसा सोचकर वह वृद्धा के समीप पहुंचा और हर्षपूर्वक बोला—'माता जी, तुम्हारे पुत्र की रक्षा मैं करूंगा। इतना कहना ही था कि वृद्धा उसे ही गरुड समझ कर डर गई, कहने लगी—'तार्क्ष्य, मेरे पुत्र को मत खाओ, छोड दो।'

शंखचूड़—माँ, यह तार्क्ष्य नहीं है, डरो मत। कहा यह चन्द्र के समान शीतल और आह्लादक और कहाँ वह भयङ्कर गरुड।

जीमूतवाहन—माँ, मैं विद्याधर हूँ। तुम्हारे पुत्र की रक्षा करने आया हूँ। अपने शरीर को वस्त्र से ढककर मुझे गरुड को समर्पित कर दूंगा। तुम अपने पुत्र को लेकर घर चली जाओ।

शंखचूड़ की वृद्धा माँ—ऐसा नहीं हो सकता। तुम भी मेरे पुत्र के समान हो।

जीमूत—(हठपूर्वक) तुम्हें मेरा मनोरथ भङ्ग नहीं करना चाहिए।

शंखचूड़—महासत्व, वस्तुत इस पर आपकी अत्यन्त दया है, अपने शरीर के लिए मैं आपको कष्ट न होने दूंगा। पाषाण की रक्षा के लिए रत्न का व्यय कौन करता है? ससार में आप जैसे महापुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं।

इस प्रकार शङ्खचूड ने खूब प्रतिवाद किया और अपनी माँ से भी लौट जाने की प्रार्थना की। 'गरुड के आने तक मैं समुद्र तट पर भगवान् गोकर्ण के दर्शन करके आ रहा हूँ।' ऐसा निवेदन कर उसने अपनी माता को प्रणाम किया और दर्शनार्थ चला गया।

उनके चले जाने पर जीमूतवाहन सोचने लगा—'उसके लौटने के पहले ही यदि तार्क्ष्य यहाँ पहुँच जाय तो मेरा अभीष्ट (परोपकार) सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार विचारों की उधेड़बुन में वह लगा ही हुआ था कि बहुत जोरों से हवा चलने लगी और वृक्ष भी कम्पित हो गये। इससे उसे गरुड के आगमन की सूचना मिल गई, क्योंकि वह हवा पक्षिराज के पखों की ही थी। वह वध्य-शिला पर बैठ गया। इतने में तार्क्ष्य भी आ गया और चोंच मारकर उसे उठा ले गया। उसकी देह से रक्त की धारा बहने लगी। शिर पर लगा हुआ रत्न भी उखड कर गिर पडा। खगेश्वर उसे मलयाचल की चोटी पर ले जाकर खाने लगा। तथापि महादयालु युवराज की 'इसी प्रकार परोपकार के लिए मेरी देह का उपयोग हो। परोपकार के बिना मैं स्वर्ग-मोक्ष भी नहीं चाहता' यही इच्छा हो रही थी। इस अलौकिक त्याग से प्रसन्न होकर देवता भी आकाश से पुष्पवृष्टि करने लगे।

इधर जीमूतवाहन के शिर से गिरा हुआ रत्न उसकी पत्नी मलयवती के आगे जा गिरा। मलयवती अपने पति के चूडारत्न को देख शोक से व्याकुल हो गई। जीमूतकेतु ने अपनी सिद्धविद्या के प्रभाव से सभी का पता लगाकर झट घटनास्थल पर पहुंचने के लिए प्रस्थान कर दिया।

गोकर्ण के दर्शन करके जब शङ्खचूड लौटा तो वहाँ जीमूतवाहन को न पाकर तथा शिलातल को रुधिर से आर्द्र देखकर अत्यन्त विषण्ण एवं चिन्तित हो गया। तुरन्त वह उसे खोजने के लिये आगे बढ़ गया।

इधर गरुड को तब बहुत विस्मय हुआ जब अङ्गों के भक्षण करने से घोर पीड़ा होने पर भी उसने जीमूतवाहन को प्रसन्नमुख पाया। उसने पूछा—'तुम कौन हो जो इस प्रकार पीड़ा होने पर भी तुम्हारे मुखमण्डल पर प्रसन्नता झलक रही है, शरीर में रोमाञ्च हो आया है। निःसन्देह, नाग नहीं, कोई महात्मा मालूम होते हो।' उत्तर मिला—'गरुत्मन्, परिचय की आवश्यकता क्यों हो गई? तुम्ह अपनी भूख मिटाने से मतलब। मैं नाग ही हूँ। मेरी देह में मांस-शोणित है। खाओ, रुक क्यों गये।'

'नाग मैं हूँ। देखो, मेरी दो जीभें हैं। यह नाग नहीं है। इसकी सौम्य आकृति को नहीं देखते, यह विद्याधर है।' इस प्रकार बीच में ही पहुँचकर शङ्खचूड ने बतलाया। तभी समय जीमूतवाहन की पत्नी और माता-पिता पहुँच गये। जीमूतवाहन के अङ्गों को गरुड के द्वारा भक्षित देखकर वे अपार शोक सागर में डूबकर क्रन्दन करने लगे। उन्होंने कहा-'वैनतेय! तुमने बिना विचारे ही महान् अनर्थ कर डाला।'

यह सुन वैनतेय का चित्त अत्यन्त खेद से व्याप्त हो गया। वह अपनी मूढ़ता और भूल पर बहुत पछताया—'हाय, अविवेक से मैंने बोधिसत्त्व के अंश से सम्भूत महात्मा की भी हत्या कर दी। इसके प्रायश्चित्त के लिये अब अग्नि में भस्म होने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है।' इस प्रकार जब वह चिन्तित था तभी समय जीमूतवाहन ने अपने बन्धुओं को देखते हुए पीड़ा के कारण इस पाञ्चभौतिक शरीर का त्याग कर दिया।

जीमूतवाहन के इस संसार में न रहने से उसके माता-पिता शोकसंविग्न होकर विलाप करने लगे। शङ्खचूड इस काण्ड का कारण अपने को समझ अपनी घोर-निन्दा करने लगा। मलयवती आँसू-भरे नयनों से अन्तरिक्ष की ओर देखकर पहले प्रसन्न की हुई देवी गौरी को उलाहना देने लगी—'देवि, तुमने ही तो वर दिया था कि भावी चक्रवर्ती विद्याधरेन्द्र तुम्हारा पति होगा। कहाँ गया वह तुम्हारा वरदान? तुम भी आज झूठ बोलनेवाली ही निकलीं।'

'पुत्रि, मेरी बात झूठी नहीं हो सकती।' भगवती अम्बिका ने प्रत्यक्ष होकर कहा। उपरान्त अपने कमण्डलु से अमृत लेकर जीमूतवाहन के निष्प्राण शरीर पर

सींच दिया। वह तत्काल जी उठा। उसका सौन्दर्य पहले से भी बढ़ गया। उसे संबोधित करती हुई देवी ने कहा—'मैं तुम्हारे त्याग और परोपकार से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अत एव तुम्हें कल्पपर्यन्त चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त करती हूँ।' यह कह देवी अन्तर्हित हो गई। गगन से सुमन बहुत बरसे। देव-दुंदुभियाँ बज उठीं।

तार्क्ष्य—तुमने अपनी आश्चर्यजनक उदारता का चित्र ब्रह्माण्ड की भित्ति पर लिख दिया। मैं बहुत प्रसन्न हूँ, वर माँगो।

जीमूतवाहन—यही वरदान चाहता हूँ कि आज से नागों को खाना छोड़ दो और सभी मृत नाग पुनः जीवित हो जावें।

तार्क्ष्य ने 'एवमस्तु' कहकर सभी मृत नागों को अमृत के प्रभाव से फिर जिला दिया। सुर, मुनि, नाग, सब विद्याधर और अन्य सब लोगों ने जीमूतवाहन के इस अद्भुत चरित को सुनकर अपूर्व एवं अपार आनन्द का अनुभव किया। उसकी सहधर्मिणी मलयवती और उसके माता-पिता की खुशी का ठिकाना ही नहीं रहा।

(१) कथावस्तु की तारतम्य-परीक्षा

बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर की कथाओं के साथ नागानन्दीय वृत्त की तुलना करने पर 'श्रीहर्ष को बृहत्कथा परिचित थी।' इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं रह जाता। तथापि इस नाटक और बृहत्कथा की वस्तुओं में अनेक स्थलों पर पार्थक्य दिखाई देता है। उन स्थलों की समीक्षा से यही विदित होता है कि कवि ने मूलकथा को रस के अनुकूल बनाने के लिए ही थोड़ा बहुत परिवर्तन किया है। ये परिवर्तन नीचे दिए जाते हैं।

(१) जीमूतवाहन जगत्-कल्याण के लिए कल्पद्रुम का दान कर देता है। और 'कल्पद्रुमके विना मुझे दरिद्र जानकर प्रतिपक्षी सामन्त मेरे राज्यको आक्रान्त कर देंगे।' इस भय से अपने माता-पिता के साथ ही मलयपर्वत पर चला जाता है—ऐसी मूल कथा है। किन्तु नाटक में पिता के वन चले जाने पर उनकी सेवा के लिए ही सुख-सम्पन्न राज्य को छोड़ कर वह वन चला जाता है। मूल से नाटक में ऐसा परिवर्तन कर श्रीहर्षदेव ने माता-पिता के प्रति नायक की गाढ भक्ति दिखलाई है।

(२) मूलग्रन्थ में, नायक गौरी-मन्दिर जाता है। वहां मलयवती को देखकर उसकी आँखें चार होती हैं, उसकी सखी से नायिका का पूरा परिचय भी पा लेता है और नायक का परिचय नायिका को भी मिल जाता है। किन्तु नाटक में गौरी मन्दिर में मलयवती का साक्षात्कार अकस्मात् एक तापस के प्रवेश से विच्छिन्न

हो जाता है और जीमूतवाहन को उसका नाम भी विदित नहीं हो पाता। फलतः (परिचय न होने के कारण ही) द्वितीय अङ्क में मलयवती के विवाह का प्रतिषेध और इससे उसके प्राण-परित्याग का उद्योग प्रतिपादन करके कवि ने मर्मस्पर्शी नाटक कला की निपुणता दिखाई है।

(३) मूल में, मलयवती को उसकी माता छुड़ा लेती है, किन्तु नाटक में कौशिक नामक कोई तापस कुलपति।

(४) मूलग्रन्थ बृहत्कथामञ्जरी में, अपने उत्तरीयको पाश बनाकर मलयवती जब प्राणत्याग करने के लिए उद्यत होती है तब 'पुत्रि! ऐसा दुःसाहस न करो। चक्रवर्ती तुम्हारा पति होगा।' इस आकाश-वाणी द्वारा भगवती गौरी उसे रोक लेती है। नाटक में, स्वयं नायक ही घटनास्थल पर उपस्थित होकर उसे फाँसी से बचा लेता है। कवि की यह रस के अनुकूल सुन्दर वस्तुविन्यास पद्धति है।

(५) मूलकथा में विट और चेटीके नाम भी नहीं मिलते, अतः नागानन्द के तृतीय अङ्क की हास्य रस की सभी बातें कवि की अपनी कल्पनाएँ हैं। श्री हर्ष ने हिंसा से विराग और परोपकारव्रत की पराकाष्ठा दिखाने के लिए ही मातङ्ग के आक्रमण के वृत्तान्त को निबद्ध किया है।

(६) मूल में, नायक का चूडामणि मलयवती की गोद में गिरता है और जीमूतकेतु (नायक का पिता) अपने अलौकिक सामर्थ्य से पुत्र की स्थिति जान लेता है, नाटक में जीमूतकेतु के ही पैरों पर वह गिरता है। ऐसा करके कवि ने नायक को पिता का सेवा-परायण दिखाया है।

(७) मूल में केवल मलयवती ही आत्महत्या के लिए उद्यत होती है, किन्तु नाटक में रसवृद्धि के लिए नायक के माता-पिता, मलयवती और शङ्खचूड सभी मरने के लिए उद्यत होते हैं।

(८) मूल में, नागों की हिंसा छोड़ने के पश्चात् गरुड कोई प्रायश्चित नहीं करता किन्तु नाटक में सुपर्ण नागों का भक्षण छोड़कर प्रायश्चित भी करता है। वह अपयश दूर करने के लिए इन्द्रलोक से अमृत बरसाता है जिससे जीमूतवाहन और सब मृत नाग जीवित हो जाते हैं।

(९) मूल कथा में 'वर' का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

(१०) मूल कथा में नायक को पुष्पमाला अर्पण की जाती है, परन्तु नाटक में सखी के द्वारा केवल स्वागत किया जाता है।

(११) मूल में चित्र बनाने की घटना का उल्लेख नहीं है।

(१२) मित्रावसु के द्वारा जीमूतवाहन से विवाह के लिए प्रस्ताव का निर्देश नहीं पाया जाता।

(१३) विनता और कद्रू की कथा मूल में होने पर भी नाटक में स्थान नहीं पाती।

(१४) मातङ्ग के द्वारा आक्रमण की कथा (तृतीय अङ्क) मूल में उपलब्ध नहीं है।

(१५) मूलकथा में जीमूतवाहन का पिता अपनी अलौकिक शक्ति से अपने पुत्र के ऊपर घटने वाली दुर्घटना का पता पाता है। नाटक में इस अतिमानवी घटना का उल्लेख नहीं है। 'शङ्खचूड' उसे इसका परिचय कराता है।

इन परिवर्तनों के तात्पर्य तीन हैं। (१) अनाटकीय वस्तुओं में रसपरिपोष के लिए आवश्यक परिवर्तन करके अपना कला-चातुर्य दिखाना तथा सब घटनाओं का नाटकीयत्व दिखलाना आवर्जक है। (२) जीमूतवाहन के चरित्र को उदात्त बनाना। (३) नायक के पिताको अलौकिक शक्ति का अभाव दिखला कर नाटकीय घटनायें यथार्थता से मण्डित दिखलाई गई हैं।

(२) नेतृविचारः

रूपक का प्रधान पात्र नेता कहा जाता है। उसमें कुछ सामान्य गुण और कुछ विशिष्ट गुण होते हैं। सामान्य गुण ये हैं—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

नागानन्द का नायक विद्याधरचक्रवर्ती जीमूतवाहन है। वह नायक के इन सभी गुणों से युक्त है। माता-पिता की सेवा के लिए समृद्ध राज्य को भी छोड़ कर बनवासी होना, जनता की गरीबी दूर करने के लिए कल्पवृक्ष का भी दान कर देना, मधुर और उदारवचनों से प्रजा को प्रसन्न रखना, विख्यात विद्याधरेन्द्र के वंश में जन्म, बलवत्ता, यौवन, संगीतकला का मर्मज्ञ होना और नागों के लिए अपने प्राण को त्याग देना—इन सभी गुणों से भूषित होने के कारण इस नाटक का नायक अत्यन्त आदर्श नायक है।

जीमूतवाहन का स्वरूप

नायक चार प्रकार के होते हैं धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत। इनमें से जीमूतवाहन धीरोदात्त ही है—क्योंकि यह शोक-क्रोध से अनभिभूत अन्तःकरण वाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील होने पर भी आत्म-

प्रशंसा न करने वाला और दृढ़व्रत किन्तु अहंकार-रहित है। दशरूपक में इसका लक्षण है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थन ।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो' धीरोदात्तो दृढव्रतः ॥

गरुड जब नायक की देह का भक्षण कर रहा था, उस समय भी नायक कहता है—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ॥

यह रही उसकी महासत्त्वता। प्रत्येक जन्म में वह केवल परोपकार के लिए देह धारण करना चाहता है—

संरक्षता पन्नगमद्य पुण्यं मयार्जितं यत् स्वशरीरदानात् ।
भवे भवे तेन ममैव भूयात् परोपकाराय शरीरलाभ ॥

क्षणदेह के लिए जीवहिंसा करनेवाले पुरुषों को वह जड़ कहता है—

सर्वाशुचिनिधानस्य जरत्तृणलघीयस ।
शरीरकस्यापि कृते मूढा' पापानि कुर्वते ॥

इस नाटक में, पहले राज्य छोड़कर वनवास करते हुए पितृ-सेवा में नायक की तत्परता दिखाकर इसको शमप्रधानता का वर्णन किया गया है अत यह धीर प्रशान्त नायक है—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्राणियों की जीवन-रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे देने का उत्साह वर्णन करने में ही कवि का सरम्भ गोचर होता है। अतएव धनिक ने जीमूतवाहन को धीरप्रशान्त न मानकर धीरोदात्त ही माना है। इसकी सिद्धि के लिए उनके दिए हुए युक्त तर्क पूर्ण हृदयग्राही हैं। अत' वे हिन्दी के रूप में नीचे दिए जाते हैं—

नागानन्द आदि नाटकों में जीमूतवाहन आदि नायकों को धीरोदात्त क्यों कहा जाता है? धीरोदात्त नायक में उदात्तता प्रधान गुण है। उदात्तता का तात्पर्य उस वृत्ति से है जो सबसे बढ़कर उत्कृष्टता प्रकट करती है। यह उदात्तता तभी सभव है जब नायक में विजिगीषुत्व हो। किन्तु जीमूतवाहन में तो वह है नहीं। जैसे—'तिष्ठन् भाति पुरो भुवि यथा' (नागा० १।६) और 'पित्रो- विधातुं शुश्रूषां'(नागा० १।४)। इन उदाहरणों से जीमूतवाहन में शमप्रधानता तथा दयालुता के कारण वीतरागता तथा शान्तता ही है। इसके अतिरिक्त हर्षवर्धन की कथा वस्तु में कुछ दोष दिखाई देता है। इस तरह राज्य-सुख आदि में निरभिलाष नायक को ले आकर मलयवती के साथ उसके अनुराग का वर्णन करना अनुचित प्रतीत होता है। धीरप्रशान्त की परिभाषा—सामान्य गुणयुक्त

ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त नायक हैं—भी मिथ्या है। अत यह परिभाषा ठीक तरह से धीरप्रशान्त की विशेषता को व्यक्त नहीं कर पाती। वास्तविक स्थिति यह है कि बुद्ध, युधिष्ठिर, जामूतवाहन आदि के नाम तथा इनके वृत्तान्त शान्तरस का आविर्भाव करते हैं। अत इन्हें शान्तकोटि में ही मानना ठीक होगा।

'उदात्त' की परिभाषा—इस शङ्का का समाधान—**'सर्वोत्कर्षवृत्ति'** यह उदात्तता का तात्पर्य जोमूतवाहन आदि में तो घटता ही है। 'विजिगीषुता' एक ही प्रकार की तो होती नहीं। विजिगीषु उसे कहते हैं जो शौर्य, त्याग, दया आदि गुणों से दूसरों को जीत लेता है। उसे विजीगीषु नहीं कह सकते जो दूसरों का अपकार करके धन छीनने में ही प्रवृत्त है। ऐसा मानने पर चोर-डाकुओं को भी धीरोदात्त मानना पड़ेगा। अत यह ठीक नहीं है। राम आदि धीरोदात्त नायकों में जगत्पालकत्व गुण पाया जाता है। क्योंकि वे दुष्टों के निग्रह में प्रवृत्त हैं। वैसे प्रसंगवश उन्हें राज्य आदि का भी लाभ हो जाता है। जीमूतवाहन तो प्राणों को देकर भी परोपकार में व्यस्त रहता है। अत वह उदात्त ही नहीं, किन्तु उदात्ततम है। आपने जो 'तिष्ठन् भाति' यह उदाहरण देकर जीमूतवाहन को विषयपराङ्मुखता सिद्ध की है, वह सत्य है। वस्तुत सुख-तृष्णाओं में निरभिलाष व्यक्ति ही विजिगीषु होता है। जैसे दुष्यन्त के लिए कहा गया है—

> स्वसुखनिरभिलाष खिद्यसे लोकहेतो
> प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
> अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
> शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥

मलयवती के अनुराग का वर्णन जो शान्तरस के उपयुक्त नहीं है, वह इस बात का द्योतक है कि नायक शान्त नहीं है, प्रत्युत उसकी शान्तनायकता का निषेध करता है। शान्तता का अर्थ है अहंकारशून्यता। यह विप्र आदि में ही रुकता है। परिभाषामात्र से ही वे शान्त नहीं माने जाते हैं।

बुद्ध की करुणा निष्काम है तथा जीमूतवाहन की सकाम। अत दोनों में भेद है। इसलिए जीमूतवाहनादि धीरोदात्त ही हैं।

पात्र परीक्षण

जीमूतवाहन—नागानन्द का यही नायक है। शोभन गुणों का निकेतन, परोपकार तथा आत्मत्याग की उज्ज्वल मूर्ति जीमूतवाहन संस्कृतनाटक के इतिहास में एक अविस्मरणीय पात्र है। आरम्भ से ही वह भव्य गुणों का आगार

प्रतीत होता है। वह महान् दानी है। उसके कुल में 'कल्पवृक्ष' एक धरोहर के रूप में बहुत प्राचीन काल से चला आता था। उसने उसका प्रजा के हित के निमित्त दान कर दिया। लोभ से पराङ्मुख वह इतना अधिक है कि वह पिता के द्वारा दिये गये न्यायप्राप्त राज्य को भी अस्वीकार करता है और उसे अपने अमात्य के हवाले कर स्वयं अपने पिता के आश्रम में चला जाता है। पितृभक्ति उसके जीवन में ओतप्रोत है। राज्य को लात मारकर वह पिता की सेवा के लिए जंगल में चला जाता है। मलयवती के प्रणय में उसकी मानवता उद्बुद्ध होती है और पाठकों को स्फुट प्रतीत होती है कि वह मानव तथा मनुष्योचित भाव और भावनाओं से प्रेरित होने वाला जीव है। वह धीरप्रशान्त न होकर धीरोदात्त है और इसकी पुष्टि में अभिनवगुप्त ने इस प्रणय के प्रसंग को महत्त्व दिया है। मेरी दृष्टि में इस परिणयव्यापार से उसके आत्मत्याग की भावना चरम उत्कर्ष तक पहुंच जाती है। सच्चा त्यागी वह होता है जो प्रलोभनों को दबाकर, अपने पैरों के तले कुचल कर आगे बढ़ता है। अपने क्षुद्र स्वार्थ को परमार्थ की वेदि पर बलिदान देने वाला ही सच्चा परोपकारी माना जाता है। जीमूतवाहन के जीवन में माता पिता की सेवा की भावना का प्राधान्य होना स्वाभाविक है परन्तु नवोढा का परित्याग कर विपत्ति में अपने को झोंक देना उसकी त्यागवृत्ति का चरम उत्कर्ष है। शंखचूड की माता का करुण क्रन्दन वह सह नहीं सकता और गरुड के लिए अपने को भक्ष्य बनाते उसे असीम आनन्द हो रहा है। उसका धैर्य तथा साहस भी उच्च कोटि का है, क्योंकि जब शरीर से खून की धारा बह रही है तथा शक्ति क्षीण होती जाती है, तब भी वह गरुड से डपट कर कहता है कि अभी हमारे शरीर में मांस है। सो तुम खाने से विरत क्यों हो गये ? यह उक्ति आत्मबल की द्योतिका है। परोपकार का तो वह जीवित पुतला है जो निष्काम भाव से केवल नागों के मङ्गल और कल्याण के लिए अपने प्रिय प्राणों की बलि देने से तनिक भी विचलित नहीं होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जीमूतवाहन वास्तव में एक आदर्श आत्मत्यागी और धीर, उदात्त तथा महनीय नायक है जिसका औदार्य प्रत्येक युग तथा देश के लिए प्रेरणा देनेवाली वस्तु है। श्रीहर्ष के शब्दों में उसके गुणों का यह साराश बड़ी उत्तमता से अंकित किया गया है—

> निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
> क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता।
> हतं सत्यं सत्यं व्रजतु च कृपा क्वाद्य कृपणा
> जगत् जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ॥

—नागानन्द ५।३०

मलयवती—इस नाटक की नायिका मलयवती एक आदर्श हिन्दू नारी है। वह सुन्दरी है तथा सौन्दर्य की दृष्टि से उसकी शोभा अनुपम है। वह अपने सम्बन्धियों से विशेष प्रेम रखती है। वह संगीत में बड़ी प्रवीण है और इसीलिए जीमूतवाहन उसके वीणावादन से नितान्त चकित और चमत्कृत हो उठता है। वह गौरी की भक्त उपासिका है और अपनी भक्ति के द्वारा वह उसे प्रसन्न करती है और शोभन वर पाने का शुभ आशीर्वाद पाने में समर्थ होती है जो आगे चल कर ठीक निकलता है। वह नायक से सच्चा प्रेम करती है और जब उसे उसकी अस्वीकृति का पता चलता है तो उसका आत्माभिमान इतना क्षुब्ध हो उठता है कि वह अपना जीवन ही समाप्त करने पर उतारू हो जाता है। जीमूतवाहन के हाथों उसका बन्धन उन्मुक्त होता है और अपने हार्दिक भाव की परिणति परिणय में पाकर वह प्रसन्न होती है। सास तथा श्वसुर की सेवा में वह अपना समय बिताती है। इस दुर्घटना का पता उसे बहुत पीछे लगता है और वह मूर्च्छा से बेहोश हो जाती है। यह मूर्च्छा बहुत देर तक चलती है और उसके आन्तरिक प्रेम के उत्कर्ष के कारण ही वह दीर्घकालीन होती है। अन्त में वह सुखी होती है। इस प्रकार मलयवती उस नारी की प्रतिनिधि है जो सुखी तो है, परन्तु साथ ही साथ वह प्रेमी के लिए नाना क्लेशों को सहती भी है।

(ग) रसविचार

नाटक का प्रधान विषय रस ही है, वीर हो अथवा शृङ्गार। अङ्गी रस एक होता है और अन्य रसों की भी अङ्ग के रूप में नियोजना करे—ऐसा शास्त्रकारों का नियम है। अतः इस रूपक में अङ्गी रस वीर ही है। अन्य रस अङ्ग हैं। नाट्यशास्त्र में वीर रस का लक्षण है—

> उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात्।
> विविधपदार्थविशेषात् वीररसो नाम सम्भवति ॥
> स्मृतिधैर्यवीर्यशौर्योत्साहपराक्रमप्रभावैश्च।
> वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥

धनञ्जय के मत से वीररस तीन प्रकार का है—दयावीर, युद्धवीर और दानवीर। जैसे—

> वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
> मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः।
> उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
> त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥

विश्वनाथ के मत में तो इसके चार प्रकार हैं—दयावीर, युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर। वीर चाहे चार प्रकार का हो अथवा तीन प्रकार का हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है, दोनों मतों में दयावीर तो माना ही गया है। यह दयावीर ही इस नाटक का अभिमत प्रधान रस है। शङ्खचूड के प्राणों की रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी त्यागने में जीमूतवाहन का जो उत्साह है वह इसका स्थायीभाव है। यह गरुड के भक्ष्य शङ्खचूड आलम्बन विभाव और अपने पुत्र के नाम पर छाती पीट-पीट रोने वाली वृद्धा माँ के आर्तनाद आदि उद्दीपन विभावों से विभावित होता है। फिर वही स्थायीभाव—

शयितेन मातुरुदरे विश्रब्धं शैशवेन यत् प्राप्तम्।
लब्धं सुखं मयास्य वध्यशिलायास्तदुत्सङ्गे ॥
शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ॥

इत्यादि महासत्त्वता के व्यञ्जक अनुभावों से अनुभव योग्य होकर और—

ग्लानिर्नाधिकपीयमानरुधिरस्याप्यस्ति धैर्योदधे
मांसोत्कर्तनजा रुजोऽपि वहतः प्रीत्या प्रसन्नं मुखम्।
गात्रं यत्र विलुप्तमेव पुलकस्तत्र स्फुटो लक्ष्यते
दृष्टिर्मय्युपकारिणीव निपतत्यस्यापकारिण्यपि ॥ —५।१५

इत्यादि स्थलों में वर्णित ग्लानि-राहित्य, प्रीति, हर्ष आदि व्यभिचारिभावों से पुष्ट होकर वही (उत्साह) दयावीर रस कहलाता है।

इस में शान्त रस भी है। निर्वेद इसका स्थायीभाव है, माता-पिता का वनगमन आदि विभाव और 'आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तन्नास्ति कश्चिद् गुणः।' इत्यादि स्थलों पर अनुभाव हैं। इसी प्रकार शृङ्गाररस भी इसमें है। रति स्थायी भाव, मलयवती आलम्बन विभाव, उनकी अलौकिक वीणावादन की कला और सौन्दर्य आदि उद्दीपन विभाव और मनोगत प्रेम को व्यक्त करने वाले वचन अनुभाव हैं। इस रस के अनुकूल दोनों का प्रणय परिणय भी है। अतः रसिक जनों के चित्त [redacted] लोकातीत आनन्द से चमत्कृत कर देने वाला शृङ्गार रस भी है। ये दोनों शान्त और शृङ्गार अङ्गी वीररस के अङ्ग ही हैं। इसलिए ये प्रधान न होकर गौण ही हैं।

रसविरोध का परिहार

शान्त और शृङ्गार रस की निरन्तर योजना से रस-विरोध होता है। नागानन्द के प्रथम अङ्क में शान्तरस के अनन्तर शृङ्गाररस की योजना की गई है, अतः दोनों में विरोध की सम्भावना होती है—यह आशंका युक्त नहीं है, क्योंकि—

एकाश्रयत्वनिर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो न्यस्यः सुमेधसा ॥

यह ध्वन्यालोककार का और 'रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः।' यह काव्यप्रकाशकार का मत है। इसलिए यहाँ पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि शान्त और शृङ्गार के मध्य में 'अहो गीतम्, अहो वादित्रम्' इत्यादि वचनों से 'विस्मय स्थायीभाव से अद्भुतरस का प्रतिपादन मध्य में करके मलयवती के प्रति शृङ्गार का निबन्धन किया गया है।

इसी प्रकार तृतीय अङ्क में विट और चेटजनों की चेष्टाओं और वचनों से अभिव्यक्त शृङ्गाररस भी अङ्गीरस का अङ्ग ही होता है, प्रधान नहीं। शान्त और शृङ्गार के विरोध के इसी परिहार का प्रतिपादन ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य ने भी किया है।

नागानन्द की समीक्षा

रत्नावली के बाद अपनी रमणीयता के कारण सहृदयों के अन्तःकरण में स्थान पाने वाला नाटक नागानन्द है। रसविरोध—परिहार की मीमांसा करते हुए मम्मट ने काव्यप्रकाश में, आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में और अभिनवगुप्त ने लोचन में नागानन्द को उदाहरण के रूप में उल्लिखित किया है और इसके शान्त और शृङ्गार रस में जो विरोध प्रतीत होता है उस पर विचार भी किया है। इससे पता चलता है कि प्रसिद्ध प्रवीण आलंकारिक आचार्यों के बीच इसकी कितनी ख्याति थी।

इस रूपक में, रस के अनुकूल वर्णों का ही विन्यास किया गया है। कवि की काव्यपटुता वहाँ पर अधिक दीखती है जहाँ उसने शृङ्गाररस के वर्णन करने में मधुर वर्णों का और उद्धत वस्तु के वर्णन करने में विकट वर्णों का प्रयोग किया है। इसका अर्थचमत्कार रसिकजनों के चित्त को लुभाने वाला है। रस का सविधान भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। निम्नलिखित करुण रस के काव्य को पढ़कर भला ऐसा कौन पाषाण-हृदय है जो न रो पड़े।

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
शमः क्षान्तिं वोढुं क इह ? विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ॥

इस पद्य के एक बार पढ़ने से ही भवभूति का मालतीमाधव-वाला श्लोक जो इसी की छाया पर है किसे याद नहीं आता है?

असारं संसारं, परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं, मरणशरणं बान्धवजनम्।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः॥

इसी तरह श्रीहर्ष ने काव्यप्रणयन में सर्वत्र सरस रीति अपनायी है और नाटक के निबन्धन में तो ये अतिकुशल हैं ही।

प्रथम अङ्क में, तपोवन के विराद वर्णन को पढ़कर शान्त रस में किसका मन मग्न नहीं हो जाता?

द्वितीय अङ्क में, मलयवती और जीमूतवाहन के सरस प्रणय-परिणय के प्रेक्षण से किसका हृदय ललित रस से भर कर नाचने नहीं लगता?

तृतीय अङ्क में, लाल कपड़ों से अपनी देह को ढके हुए विदूषक को चेटी समझकर शेखरक मनाने लगता है। इस दृश्य से किस सहृदय के हृदय और होंठ हास्य रस का पान कर हँस नहीं पड़ते?

चतुर्थ अङ्क में, पुत्रवध के भय से 'हा पुत्र! हा शङ्खचूड़!!' पुकार-पुकार कर व्याकुलता से विलाप करने वाली शङ्खचूड़ की जननी का आर्तक्रन्दन किस के अन्तःकरण को शोकाकुल नहीं कर देता?

इसी प्रकार पञ्चम में भी जीमूतकेतु, मलयवती और वृद्धा की जो अनिष्ट-आशङ्का से करुणदशा होती है उसे देखकर कौन नहीं दुःखसागर में निमग्न होगा। मलयशिखर पर जीमूतवाहन के शरीर के मांस को खाते खाते जब गरुड़ थक गया, तब अपनी देह को खाने के लिए पुनः प्रार्थना करने वाले जीमूतवाहन को देखकर उसके परोपकार व्रत से उसका उदार चरित्र और प्रभाव किसके मन में घर नहीं बना लेता?

श्रीहर्ष में पात्रों के चरित्र-चित्रण की अद्भुत क्षमता है। आत्रेय की सदा हास्य में अभिरुचि, जीमूतकेतु का पुत्रवात्सल्य, शंखचूड़ की वृद्धा जननी का निश्छल सुतस्नेह, मलयवती का प्राकृतिक अनुराग—ये सभी चीजें कवि ने आरम्भ से लेकर अन्त तक बड़ी कुशलता से निभाई हैं, इस नाटक को पढ़ते-पढ़ते यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है।

श्रीहर्ष का नायक हमारे सामने सर्वथा आदर्शरूप में आता है। यह आदर्श दयावीर अपने पूर्व पुरुषों के समृद्धराज्य को भी छोड़कर माता-पिता की परिचर्या के लिये वन में चला आता है और आर्तजनों के लिए अपने प्राणों को भी आहुति देने में नहीं हिचकता। जीमूतवाहन के चरित्र को परोपकार व्रत तथा अहिंसा धर्म से संवलित करके कवि ने ऐसा पवित्र बना दिया है कि इसकी महत्ता से प्रत्येक व्यक्ति का चित्त उदार भावों से भर जाता है, उन्नत हो जाता है।

नागानन्द में सुभाषित

नागानन्द में आये हुए कुछ मुख्य सुभाषित नीचे दिए जाते हैं।

(१) रत्नाकराद् ऋते कुतश्चन्द्रलेखायाः प्रसूतिः।
(२) कीदृशो नवमालिकया विना शेखरकः।
(३) वन्द्याः खलु देवताः।
(४) निर्दोषदर्शना हि कन्यकाः।
(५) जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया।
(६) स्वाङ्गैरेव विभूषितासि वहसि क्लेशाय किं मण्डनम्।
(७) किं मधुमथनो वक्षःस्थलेन लक्ष्मीम् अनुद्वहन् निर्वृतो भवति।
(८) आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः।
(९) समागमो भवति पुण्यवताम्। —२।१४
(१०) स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धे पापं विशङ्क्यते स्नेहात्। —४।१
(११) एकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः। —३।१८
(१२) शरीरनाम्नि का शोभा सदा बीभत्सदर्शने। —४।२३
(१३) भूयात् परोपकाराय शरीरलाभः। —४।२६
(१४) शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते। —४।७

नागानन्द की विशिष्टता

अब यह विचार करना आवश्यक है कि संस्कृत साहित्य में नागानन्द की क्या विशिष्टता है। लोगों की वृत्तियाँ अधिकतर स्वार्थप्राय ही होती हैं, अतः लोकचरितों को लेकर विरचित रूपकों में स्वार्थपूर्ण लोकवृत्तों का होना स्वाभाविक है। किन्तु नागानन्द रूपक में अन्य रूपकों की इस सामान्यरीति को छोड़कर कवि हर्षवर्धन ने अन्य ही वृत्ति का उपनिबन्धन किया है जो लोककल्याणार्थ अहिंसा और परोपकार से युक्त होती है। जीमूतवाहन सुख और धन धान्य से सम्पन्न राज्य को त्याग कर अपनी जननी और जनक की सेवा में लग जाता है। अत नायक आदर्श पुत्र है। पश्चात्, वह पीड़ितों की पुकार सुनकर अपने माता-पिता को भी छोड़कर, अपनी लावण्यमूर्ति नव परिणीता को भी परवाह न कर एक सर्प (जैसे तुच्छ प्राणी) की रक्षा के लिए दुनियाँ की सबसे प्रिय वस्तु प्राणों को भी गरुड़ को समर्पित कर देता है। इससे परोपकार का प्रकर्ष और अहिंसा

की पराकाष्ठा की दृष्टि से भी नायक आदर्शनायक है। 'अहिंसा परमो धर्म' यह सिद्धान्त केवल सिद्धान्त के रूप में न रहकर, इस रूपक में, व्यवहार रूप में आया है। अन्य नाटकों में प्राय शृङ्गारविलास ही पाया जाता है किन्तु श्रीहर्ष ने इसमें दयावीर रस का सुन्दर उपन्यास किया है।

नाटक की एक और भी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। श्रीहर्ष के समय में भारतीय जनता वैदिक धर्म को मानती ही थी, किन्तु उस समय भगवान् बुद्ध के चलाये हुए बौद्धधर्म का भी सार्वत्रिक प्रचार हो चुका था, ऐसा इतिहासज्ञों का कहना है। नागानन्द में कवि ने वैदिक और बौद्ध दोनों धर्मों का सुन्दर समन्वय किया है। जीमूतवाहन तो बोधिसत्त्व ही था। उसकी कथा भी विद्याधरजातक में निबद्ध है जिसका आश्रय बौद्धधर्म ही है, किन्तु वैदिकधर्म की भी छटा कवि ने दिखलाई है। प्रथम अङ्क में मलयवती वैदिकधर्म की देवता गौरी को वीणावादन से प्रसन्न करती है और फलत देवी से इष्टप्राप्ति की आशा करती हुई दिखाई देती है। इस प्रकार पञ्चम अङ्क में अमोघदर्शना भगवती गौरी की प्रार्थना करते ही उसके प्रसाद से नायक चैतन्ययुक्त हो जाता है और विद्याधरों की अत्यन्त सम्मान्य चक्रवर्ती-पदवी भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार निबन्धन करके महाकवि ने वैदिक और बौद्ध दोनों धर्मों का मनोरम समन्वय किया है।



गद्य कवीना निकषं वदन्ति

बाणभट्ट

संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। संस्कृत महाकवियों में आपका स्थान अतीव उन्नत है। संस्कृत गद्य के तो आप आचार्य हैं। 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' प्रसिद्ध ही है—गद्य कवियों की कसौटी है। जो कवि इस कसौटी पर खरा उतरा वही सच्चा कवि है—उसकी कविता सचमुच सुवर्णमय है। बाणभट्ट गद्य लिखने की इस कसौटी पर कसे जाने पर पूरे उतरे हैं। उनकी कादम्बरी संस्कृत साहित्य में गद्यकाव्य का आदर्श है। पीछे के कवियों ने उसी का अनुकरण गद्य लिखने में किया है सोड्ढल की 'उदयसुन्दरीकथा' तथा धनपाल की 'तिलकमञ्जरी' आदि गद्य ग्रन्थ इसी को सामने रख कर लिखे गये हैं। मराठी भाषा में आदर्श कथा होने के कारण कथामात्र को कादम्बरी के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं सुप्रसिद्ध बाणभट्ट की यहाँ संक्षेप में चर्चा की जायगी।

आत्म-कथा

सौभाग्यवश बाणभट्ट ने आत्म-कथा लिखकर साहित्यसंसार पर खूब ही कृपा की है। प्राचीन महाकवियों पर अपने वृत्तान्तों के नहीं लिखने का—ऐतिहासिक दृष्टि न रखने का—आरोप करनेवाले विद्वानों को हर्षचरित में वर्णित बाणभट्ट की आत्मकथा मुँहतोड़ उत्तर दे रही है। कादम्बरी के प्रारम्भ में भी बाणभट्ट ने अपने वंश का संक्षेप में वर्णन किया है।

बाणभट्ट के पूर्वज सोन नद पर प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे। यह स्थान सम्भवतः आरा जिले में था। बाण का कुल प्राचीन काल से ही धर्म तथा विद्या के लिये प्रख्यात था। इनका जन्म वात्स्यायन गोत्र में हुआ था। बाण के प्राचीन पूर्वज का नाम 'कुबेर' था। वे कर्मकाण्ड में प्रकाण्ड विद्वान थे। इनके घर पर वेदाध्ययन के लिये विद्यार्थियों का जमघट लगा रहता था। बाण ने तो यहाँ तक लिखा[1] है कि उनके घर पर ब्रह्मचारी लोग शंकित होकर यजुर्वेद तथा सामवेद गाया करते थे, क्योंकि सब वेदों का अभ्यास करने वाले, मैनाओं के साथ साथ पिंजड़ों में बैठे हुए, तोते उनको पद पद पर टोका करते थे। कुबेर के चार पुत्रों में पाशुपत सबसे छोटे थे। उनके पुत्र अर्थपति हुए। अर्थपति से

1 जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणा बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः ॥

चित्रभानु उत्पन्न हुए। यह भी सकल शास्त्र में पण्डित थे। उन्होंने यज्ञ धूम से उत्पन्न हुई कीर्ति को सकल दिगन्तों में फैलाया। इन्हीं चित्रभानु से बाणभट्ट का जन्म हुआ। थोड़ी ही उम्र में बाण के माता तथा पिता उन्हें अनाथ बनाकर इस असार संसार से चल बसे।

बाणभट्ट के पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी। किसी सुयोग्य अभिभावक के न होने से बाण एक आवारा लड़का निकला। बुरे बुरे साथियों के साथ वह आखेट आदि दुर्व्यसनों में लिप्त रहा। उसे देशाटन का बड़ा शौक था। कुछ साथियों के साथ वह देशाटन को निकला। बुद्धि विशारद, सांसारिक अनुभव तथा उदार विचार के साथ वह घर लौटा। लोग उनका उपहास करने लगे। अचानक एक दिन हर्ष के चचेरे भाई कृष्ण के एक दूत ने आकर बाण को एक पत्र दिया। पत्र में लिखा था कि श्रीहर्ष कितने लोगों ने तुम्हारी चुगली खाई है, राजा तुमसे नाराज हो गये हैं। अतएव शीघ्र यहाँ चले आओ। बाण श्रीहर्ष के पास गये। राजा ने पहले तो बाण की अवहेलना की, परन्तु पीछे उनकी विद्वत्ता पर प्रसन्न होकर बाण को आश्रय दान दिया। बाण ने बहुत दिनों तक हर्ष की सभा को सुशोभित किया। अनन्तर अपने घर लौट आये और लोगों के हर्ष के चरित पूछने पर बाण ने हर्षचरित की रचना की।

इससे स्पष्ट है कि बाण लड़कपन में बुरी संगत के कारण कुछ अव्यवस्थित से थे, परन्तु विद्वत्ता के प्रभाव से श्रीहर्ष के अत्यन्त प्रियपात्र बन गये। बस, बाण की आत्म कथा इतनी ही है। संक्षेप में बाण का जीवन दरिद्रता में नहीं बीता, बल्कि उनके पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी। हर्ष के आश्रय पाने से उनकी सम्पत्ति और भी बढ़ी। उन्होंने अपना जीवन एक सम्पन्न व्यक्ति के समान बिताया। बाण का यह जीवन साधारणतया निर्धनता में समय बिताने वाले संस्कृत कवियों के जीवन से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है।

बाणतनय

बाणभट्ट ने हर्षचरित में अपने पुत्रों के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। सम्भवतः उस समय तक कोई लड़का नहीं हुआ होगा। परन्तु उनके पुत्र के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। क्योंकि बाणभट्ट ने कादम्बरी पूरा नहीं बना पाई थी कि उनका देहान्त हो गया। पीछे उनके पुत्र ने इसकी पूर्ति की। यही कादम्बरी का उत्तरार्ध है। ऐसा निस्पृह तथा पितृभक्त पुत्र साहित्य संसार में शायद ही कोई दूसरा मिल सके। उत्तरार्ध के आरम्भ में बाणतनय ने लिखा है—

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य प्रारब्ध एष च मया न कवित्वदर्पात्॥

पिता जी के स्वर्गवासी होने पर यह कथा-प्रबन्ध भी उनके वचन के साथ ही संसार में विच्छिन्न हो गया। इसके समाप्त न होने से सज्जनों के दुःख को देखकर ही मैंने इसे आरम्भ किया है, कवित्व के घमंड से नहीं। यह तो पिता जी का ही प्रभाव है कि उनके गद्य की भाँति मैं लिख सका हूं, नहीं तो कादम्बरी (शराब) का स्वाद लेकर मैं बिल्कुल मतवाला सा हो गया हूँ, मुझे कुछ आगे पीछे नहीं सूझता—

गद्ये कृतेऽपि गुरुणा तु तथाक्षराणि यन्निर्गतानि पितुरेव स मेऽनुभावः ।

× × ×

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ।
भीतोऽस्मि यन्न रसवर्णविवर्जितेन तच्छेषमात्मवचसाप्यनुसंदधानः ॥

ऐसे सिद्धहस्त पुत्र का साहित्य संसार नाम तक नहीं जानता। डाक्टर ब्यूलर ने इनका नाम भूषण भट्ट बतलाया था, परन्तु इधर की खोज से इनका नाम 'पुलिन' या 'पुलिन्दभट्ट' सिद्ध होता है। कादम्बरी की शारदा लिपि में लिखित किसी प्रति की पुष्पिका में यही नाम मिलता है। इसकी प्रामाणिकता मुञ्ज के समय (१० वीं सदी के अन्त) में लिखित धनपाल की तिलकमंजरी से सिद्ध होती है—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन् ।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानः पुलिन्द्रकृतसन्निधिः ॥

इस पद्य में श्लेषालंकार के द्वारा बाण के पुत्र का नाम 'पुलिन्ध्र' बतलाया गया है।

ज्ञात नहीं कि बाणभट्ट के कितने बेटे थे। उत्तरार्द्ध कादम्बरी के रचयिता पुलिनभट्ट के विषय में हमारा ज्ञान बिल्कुल सच्चा है परन्तु अन्य किसी पुत्र के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। एक प्रसिद्ध किम्वदन्ती के आधार पर बाणभट्ट के कई पुत्रों का होना सिद्ध होता है। किम्वदन्ती है कि जब बाण मृत्यु शय्या पर पड़े हुये थे, तब कादम्बरी को समाप्त करने की चिन्ता उन्हें सतत सताया करती था। उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाया और उनके साहित्यिक ज्ञान तथा प्रतिभा की परीक्षा करनी चाही। उन्होंने पुत्रों से 'आगे सूखा काठ पड़ा हुआ है' इस वाक्य का संस्कृत में अनुवाद करने को कहा। उनके ज्योतिषी पुत्र ने इस वाक्य का 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' यह कटुतापूर्ण नीरस अनुवाद किया, परन्तु उनके योग्य साहित्यज्ञ रसिक पुत्र ने 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः'—सरस तथा मधुर अनुवाद कर अपनी मनोहर रचना शैली का प्रमाण पिता को दिया। पिता दूसरे पुत्र की कवि प्रतिभा देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे ही कादम्बरी

को समाप्त करने का भार सौंपा। पिता की इस अन्तिम इच्छा की पूर्ति अपनी योग्यता से उसने खूब ही की।

× × ×

किंवदन्ती

बाण और मयूर

बाण के जीवन वृत्तान्त के विषय में इतना ही ज्ञात है, परन्तु पंडितों में एक किम्वदन्ती प्रचलित है जो बाण का सम्बन्ध तत्कालीन एक महाकवि से स्थापित करती है। किम्वदन्ती यह है कि बाणभट्ट का विवाह महाकवि मयूर की कन्या से हुआ था। एक समय की बात है कि शितांशुमाली अस्ताचल चूडावलम्बी हो रहे थे, प्रभात की वेला थी, शीतल समीर बह रही थी, बाण की पत्नी अभी तक 'मान' किये बैठी थी। प्रभात हो रहा था, तो भी उसके 'मान' का अन्त नहीं हुआ था। बिचारे बाण अपनी दयिता को किसी प्रकार मनाया चाहते थे—प्रसन्न करना चाहते थे। प्रातःकाल के शीघ्र आने तथा मान न छोड़ने की बात बाण ने एक पद्य में निबद्ध की। प्रियतमा को प्रसन्न करने की अभिलाषा से कवि ने तत्काल रचित अपना पद्य सुनाना आरम्भ किया—

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

× × ×

अभी ये तीन ही चरण बनाकर सुना पाये थे कि इतने में मयूर भी बाण से मुलाकात करने को आ पहुँचे। मयूर के कर्णकुहरों में पद्य के ये तीन चरण पड़े। उन्होंने झट अन्तिम चरण यों बनाकर पढ़ सुनाया —

कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम्।

(मुझे तो जान पड़ता है कि कठिन स्तनों के समीप रहने से तुम्हारा हृदय कठिन हो गया है)

बाण को यह चरण सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने मयूर को कुष्ठी हो जाने का शाप दिया। बिचारे मयूर पर विपत्ति आ पड़ी। उन्होंने सूर्य की स्तुति में १०० पद्यों को बनाकर इस महारोग से छुटकारा पाया। यह ग्रन्थ आजकल '**सूर्यशतक**' के नाम से प्रसिद्ध है। क्रुद्ध होकर मयूर ने भी बाण को शाप दिया। बाण ने भगवती दुर्गा की स्तुति बनाकर इस शाप से छुटकारा पाया। ग्रन्थ का नाम 'चण्डीशतक' है।

पूर्वोक्त किम्वदन्ती की सत्यता पर कुछ लोगों को कम विश्वास है। उनका कहना है कि यदि बाण का सम्बन्ध मयूर से होता, तो हर्ष-चरित में आत्म कथा लिखते समय वे उसका उल्लेख अवश्य करते। परन्तु हर्ष के आश्रित होने से इन दोनों महाकवियों में घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत दिनों तक रहा होगा। यदि इनमें वैवाहिक सम्बन्ध भी रहा हो तो क्या आश्चर्य है? इस किम्वदन्ती का उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। अतः इसमें कुछ न कुछ सत्यता अवश्य प्रतीत होती है।[1]

समकालीन कवि और पण्डित

बाण का समय संस्कृत साहित्य के लिये बड़े महत्त्व का है। उस समय विद्वानों तथा कवियों का अच्छा जमघट था। 'सूर्यशतक' के कर्ता **मयूर** कवि का आविर्भाव इसी समय में हुआ था। 'मानतुङ्ग' नामक भक्त जैनाचार्य भी इसी समय में हुये थे। इनका 'भक्तामरस्तोत्र' जैनियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये दोनों महाकवि श्रीहर्ष के आश्रय में ही रहते थे। परन्तु थानेश्वर से दूर, गुजरात की राजधानी वलभी में श्रीधरसेन के राज्यकाल में भट्टिकाव्य के कर्ता, **भट्टिस्वामी** का आविर्भाव भी इसी शताब्दी में हुआ था। कुछ विद्वानों की सम्मति में गौतम न्यायसूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले प्रसिद्ध विद्वान् **उद्योतकर** का जन्म भी इस शताब्दी में हुआ था। दण्डी ने भी बाण के कुछ ही पीछे 'दशकुमार चरित' तथा 'काव्यादर्श' की रचना की। अतः स्पष्ट है कि बाण का समय संस्कृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय है।

आविर्भाव-काल

हर्षवर्धन के सभापण्डित होने से बाणभट्ट का समय ईसा की ७ वीं सदी में सिद्ध होता है। बाण का समय संस्कृत कवियों की ऐतिहासिक क्रम व्यवस्था के लिये बड़ा उपयोगी है। यही एक ऐसा निश्चित समय है जिससे पूर्व तथा उत्तरवर्ती कवियों का समय ठीक तरह नियत किया जा सकता है। यदि बाण के हर्ष के समकालिक सिद्ध होने की बात न भी ज्ञात होती, तथापि बाणभट्ट का सातवीं सदी में आविर्भाव होना परवर्ती कवियों के उद्धरणों से अवश्यमेव सिद्ध हो जाता है।

सबसे पहिले वामन (७७९-८१३ ई०) ने 'काव्यालङ्कारसूत्र' में कादम्बरी के एक लम्बे समास वाले गद्य को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट ही बाणभट्ट का

---

1 बाण तथा मयूर के सम्बन्ध में मयूर के प्रसंग में पूर्व विचार किया गया है। उसे देखना चाहिए।

प्राचीनता सिद्ध होती है। अतएव बाण का काल निश्चित रूप से सातवीं सदी है।

ग्रन्थ

बाणभट्ट की लेखनी से अनेक ग्रन्थ रत्नों की उत्पत्ति हुई जिनमें से कतिपय रत्न ही साहित्य के जौहरीको देखने को मिले। सम्भवतः इनकी बहुत सी अमूल्य रचना नष्ट हो गई है। सूक्तिसंग्रहों तथा अलकार-ग्रन्थों में इनके नाम से कितने ही सुन्दर पद्य मिलते हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में बाण का एक पद्य उद्धृत किया है जो कादम्बरी की विरहावस्था के वर्णन में लिखा गया है। इससे यह अनुमान निकालना स्वाभाविक है कि बाण ने पद्य में भी कादम्बरी की कथा लिखी थी। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त सूक्तिसंग्रहों में बाण के नाम से उद्धृत बहुत से पद्य इनके ज्ञात ग्रन्थों में नहीं मिलते जिससे इनकी अन्य रचनाओं की सत्ता के विषय में अनुमान किया जा सकता है।

अब इनकी प्रसिद्ध रचनाओं का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जायगा :—

(१) चण्डी-शतक—इसमें भगवती की स्तुति सौ श्लोकों में की गई है। यह पूरा शतक स्रग्धरा वृत्त में है। कविता बड़ी सुन्दर है। ओजोगुण की रमणीयता देखने योग्य है। भगवती चण्डी के अनुरूप ही पद विन्यास की अद्भुत योजना है। कहा जाता है कि मयूरभट्ट के शाप से अपने को बचाने के लिए बाण ने यह श्लाघनीय स्तुति लिखी थी।

(२) हर्ष-चरित—संस्कृत साहित्य में यह सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। इसमें आठ उच्छ्वास हैं। पहले दो उच्छ्वासों में बाणभट्ट ने अपना विस्तृत परिचय दिया है। अनन्तर शेष उच्छ्वासों में महाराज हर्षवर्धन का चरित दिया गया है। "ओज: समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"—उस काल में गद्य का जीवन समास बहुलता माना जाता था। इसी साहित्यिक नियम के अनुसार इस गद्य काव्य की रचना की गई है। यह बाण का पहला गद्य ग्रन्थ है। इसमें इनकी कविता शैली उतनी मँजी, साफ सुथरी नहीं है।

(३) कादम्बरी—यह बाणभट्ट की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग है और यह बाण की रचना है। उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पिता के मर जाने पर इस अंश की रचना कर पुलिन्दभट्ट ने कादम्बरी की पूर्ति की। कादम्बरी संस्कृत गद्य साहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। भाषा और भाव-शब्द और अर्थ—दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्य काव्य में लक्षित

होता है। वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूछी जाय? कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहसप्रेमी शबर सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन, जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभा रहा है। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अंक में विहार करनेवाली कलभाषिणी वीणा की तरह मञ्जुवादिनी, स्निग्धहृदया, महाश्वेता की विरहविधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं अलौक सामान्य सौहर्यों का अनुभव करनेवाली गन्धर्वराज कन्या सरस-हृदया, कमनीय कलेवरा, कादम्बरी की प्रेममयी कथा अनाओं के चित्त चञ्चरीक को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। सर्वत्र ही अलङ्कारों का मधुर झङ्कार कानों को सुख दे रहा है—रागात्मिका वृत्ति की सुभग व्यंजना हृदय को खिला रही है। सच तो यह है अलङ्कार तथा रस के मधुर मिलन में—भाषा तथा भाव के परस्पर सम्पर्क में—कल्पना तथा वर्णना से अनुरूप सघटन में—कादम्बरी संस्कृत साहित्य में अनुपम है—अद्वितीय है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देनेवाली कादम्बरी है—मीठी मदिरा है। पुलिन्दभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।

(४) **पार्वती परिणय**—यह एक सुन्दर नाटक है जिसमें शिव पार्वती के विवाह की पवित्र कथा का वर्णन है। इस नाटक के ऊपर कालिदास के कुमारसम्भव की अधिक छाया पड़ी जान पड़ती है। बहुत से विद्वान् इसे बाण की रचना नहीं मानते, प्रत्युत सत्रहवीं शताब्दी में वर्तमान बाणभट्ट नामधारी किसी दाक्षिणात्य कवि की।

(५) **मुकुट ताडितक**—नलचम्पू की टीका में जैन विद्वान् चन्द्रपाल तथा गुणविजयगणि ने इस नाटक ग्रन्थ को बाण की रचना बतलाया है तथा उसमें से एक पद्य उद्धृत किया है जो आगे उद्धृत किया जायगा। परन्तु इसके अतिरिक्त मुकुट ताडितक नाटक का कहीं अन्यत्र नाम नहीं सुना जाता। अभी तक यह उपलब्ध भी नहीं हुआ है।

समीक्षा

बाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे। इनका गद्य काव्य कादम्बरी अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। प्राचीनकाल में ही समालोचकों की दृष्टि बाणभट्ट की मधुर कविता पर पड़ी था। गोवर्धनाचार्य बाणभट्ट को वाणी का साक्षात् अवतार मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता

प्राप्त करने के लिये शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी उसी भाँति पद्यरूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप धारण किया—

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ।

एक अन्य आलोचक की सम्मति में बाणभट्ट गम्भीर धीर कविता रूपी विन्ध्याटवी में विहार करने वाले कवि कुञ्जरों के गण्डस्थल को फाड़ने वाले सिंह हैं—

सा सर्वंश गभीरधीरकवितावित्थ्याटवीचातुरी
सचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः ।

बाणभट्ट की काव्य शैली को पाञ्चाली रीति कहना चाहिये। पाञ्चाली में अर्थ के अनुरूप ही शब्दों की गुम्फना होती है। जैसे सरस अर्थ तत्समान ही सुकुमार वर्ण विन्यास। कादम्बरी में शब्द तथा अर्थ की सुन्दर अनुरूपता प्रत्येक सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट करती है। बाण की कविता में ललित पद विन्यास है रचनाशैली सुन्दर है तथा नये नये अर्थों का मनोहर विनिवेश है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते ।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥

धर्मदास ने बाणभट्ट की भारती की प्रशस्त प्रशंसा इन सुन्दर शब्दों में की है—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

आशय है कि बाण की कविता रुचिर वर्ण तथा पद से युक्त है। यह रस भाव से परिपूर्ण है और तरुणी नायिका की तरह यह रसिकों के हृदय को हरण करती है। वास्तव में बाण की वाणी ऐसी ही है। विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया गया है। विकट विन्ध्याटवी के वर्णन करने में कवि ने विकट पदों का यथेच्छ व्यवहार किया है। उधर महाश्वेता के विरह वर्णन करने में तदनुरूप सुकुमार वर्णों का विन्यास किया गया है। संस्कृत भाषा के ऊपर कवि का अखण्ड आधिपत्य है। भाषा ऐसे धारा प्रवाह से बहती है कि कहीं भी इसमें विषमता लक्षित नहीं होती।

अलङ्कारों की छटा कादम्बरी में खूब देखने में आती है। उपमायें एक से एक बढ़िया उपलब्ध होती हैं चमत्कारी श्लेष और सुन्दर परिसंख्यायें अधिकता से मिलती हैं। सुन्दर अर्थों की कमनीयता अतीव मनोहारिणी है।

बाण की कविता मौलिक अर्थों की खान है, उसमें अर्थों का पिष्टपेषण नहीं दिखाई पड़ता। सर्वत्र नवीन अर्थ है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन करने में बाणभट्ट की निपुणता ऊँचे दर्जे की है; स्थान स्थान पर नये रंगों को भरकर कवि ने प्रत्येक चित्र को अतीव विचित्र बना डाला है। अच्छोद सरोवर का रमणीय रूप-वर्णन किसे मुग्ध नहीं कर देता? महाश्वेता की मनोहर मूर्ति का जीता जागता शब्द चित्र किसके हृदय को स्पर्श नहीं करता? बाण की कविता 'रसभाववती' है। रस का पूर्ण विकाश सर्वत्र उपलब्ध होता है। महाश्वेता के वर्णन में करुणविप्रलम्भ का तथा कादम्बरी के चित्रण में सम्भोग शृङ्गार का वैभव दिखलाया गया है।

बाण प्रतिभाशाली कवि थे। उनकी कल्पना विश्वव्यापिनी थी। बाण की रचना शैली इतनी सुन्दर है तथा शब्द सम्पत्ति इतनी अधिक है कि इनकी कविता के सामने अन्य कवियों की पद रचना केवल चपलता की सूचना देती है। किसी आलोचक ने क्या ही अच्छा कहा है :—

> हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
> भवेत् कवि कुरंगाणां चापलं तत्र कारणम्॥

बाणभट्ट गद्य-काव्य के सम्राट् हैं। सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' बाण के पूर्व ही रची थी परन्तु 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्ध' होने के अतिरिक्त उसमें और कौन सा चमत्कार है? क्या उसमें सुभग रसमयी कविता का दर्शन हो पाता है? सुबन्धु ने प्रत्येक अक्षर में श्लेष दिखाने का प्रयत्न किया है, नवीन अर्थ की कल्पना करने का नहीं। बाणभट्ट के पीछे होनेवाले दण्डी की कविता में कादम्बरी जैसी चमत्कृति कहाँ? सचमुच महाकवि बाणभट्ट संस्कृत गद्य के परम प्रवीण लेखक हैं—अद्वितीय कवि हैं।

बाण की कविता के नमूने यहाँ दिये जायँगे :—

> कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला-
> स्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।
> मनस्तु साधु ध्वनिभिः पदे पदे
> हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥

दुष्ट लोग बन्धन शृंखला—बाँधने की जंजीर—की तरह कर्ण-कटु शब्द करते हैं और मलदायक हैं—लोहे की जंजीर शरीर को काला बना देती है; उसी प्रकार दुष्ट लोग भी निन्दाओं से दूसरों को काला बनाते हैं। परन्तु सज्जन पद पद पर सुन्दर शब्दों से मणि-जटित नूपुर की तरह मन हरण किया करते

है। खलों की शृंखला से तथा सज्जनों की मणिनुपूर से दी गई उपमा अत्यन्त चमत्कारिणी है।

का वा सुखाशा साधुजननिन्दितेष्वेवंविधेषु प्राकृतजनबहुमतेषु विषयेषु भवतः। स खलु धर्मबुद्ध्या विषलतावनं सिञ्चति, कुवलयमालेति निस्त्रिंशलतामालिङ्गति, कृष्णागुरुधूमलेखेति कृष्णसर्पमवगूहते, महारत्नमिति ज्वलन्तमङ्गारमभिमृशति, मृणालमितिदुष्टवारणदन्तमुसलमुन्मूलयति, मूढो विषयोपभोगेष्वनिष्टानुबन्धिषु यः परिपातविरसेषु सुखबुद्धिमारोपयति।

पुण्डरीक महाश्वेता के लिए प्रेम से पागल हो गया है उसका परम मित्र कपिञ्जल इस व्रत भंग के लिए उसको झिड़क रहा है। वह कहता है कि सज्जनों के द्वारा निन्दित, साधारणजनों के अत्यन्त अभीष्ट इन विषयों के सेवन करने में भला सुख की आशा की जा सकती है? जो मूर्ख सदा अनिष्ट पैदा करनेवाले, *परिणाम में विरस होने वाले विषयोपभोगों में सुख बुद्धि आरोप करता है*, वह तो धर्म बुद्धि से विष-लता के वन को सींचता है। नील कमलों की माला समझकर तलवार को गले लगाता है। काले अगुरु की धूमरेखा के भ्रम में वह जहरीले काले साँप को छूता है। कीमती बड़े रत्न के विचार से वह जलते हुए अंगार को स्पर्श करता है। सफेद मृणाल समझकर वह दुष्ट हाथी के दन्तप्ररोह को उखाड़ना चाहता है। आशय है कि बाहरी मनोहर रूप से ठगा गया मनुष्य जिस तरह अपनी ही हानि करता है, उसी प्रकार विषयभोग को सुख मान लेने वाले मनुष्य की दुरवस्था होती है।

बाणभट्ट राजा चन्द्रापीड का वर्णन कर रहे हैं :—

यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितं, वयःपरिणामे द्विजपतनम्, उपवनचन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतव्यसनं, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोग, कपीनां श्रीफलाभिलाषः मूलानामधोगतिः।

यहाँ महाभारत में शकुनि का वध था (अन्यत्र कहीं चिड़ियों का वध नहीं होता था), वायु-जन्य प्रलाप पुराण (वायु पुराण) में था (वायु के झोंक में कोई बक बक नहीं करता था), *द्विजों दाँतों का गिरना बुढ़ापे में होता था*, (द्विज लोग जातिच्युत नहीं थे क्योंकि वे सदा सदाचारी होते थे), जड़ता उपवन के चन्दनों में थी, अन्यत्र नहीं। भूतिमत्ता (भस्मधारण) अग्नियों में थी, अन्यत्र नहीं। गीत सुनने का व्यसन मृगों को था (यह बुरा व्यसन और किसी को न था), नाचने के समय मयूरों के पाँख गिरते थे (और किसी को किसी के लिए पक्षपात न था)। भोग पन्नग-साँपों को था। मनुष्यों में

भोग नहीं था। वानरगण श्रीफल के अभिलाषी थे, अन्यजन लक्ष्मी के फलों के इच्छुक न थे। अधोगति (नीचे जाना) जड़ों में थी, मनुष्यों में नहीं।

सुभाषित ग्रन्थों में अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं जो अब तक किसी भी बाणभट्ट के ग्रन्थ में नहीं मिलतीं। ऊपर कहा गया है कि नलचम्पू के जैन टीकाकार गुणविनयगणि ने मुकुटताडितक नाटक से बाण का एक पद्य उद्धृत किया है। वह पद्य यहाँ दिया जाता है—

आशाः प्रोज्झितदिग्गजा इव गुहाः प्रध्वस्तसिंहा इव
द्रोण्यः कृत्तमहाद्रुमा इव भुवः प्रोत्खातशैला इव।
विभ्राणा क्षयकालरिक्तसकलत्रैलोक्यकष्टां दशां
जाता क्षीणमहारथाः कुरुपतेर्देवस्य शून्याः सभाः॥

दिग्गजों से विरहित दिशाओं की तरह, जिनसे सिंह नष्ट हो गये हैं ऐसी गुफाओं की तरह, जिनमें बड़े बड़े वृक्ष काट डाले गये हैं ऐसी पर्वत की द्रोणी—उपत्यका—के समान, जिनसे पहाड़ उखाड़ डाले गये हैं ऐसे भूमिभाग के सदृश, प्रलय काल में त्रिलोकी का शून्य अवस्था को धारण करनेवाली कुरुराज की सभायें शून्य हो गई हैं क्योंकि वे वीर महारथी आज बिल्कुल नष्ट हो गये हैं। इस पद्य में सुन्दर उपमाओं की लड़ी देखने ही लायक है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में कादम्बरी का विरहदशा का वर्णन करनेवाले इस पद्य को बाणभट्ट का बतलाया है—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥

मोतियों का हार, जल से भींगा कपड़ा, कमलिनी के पत्ते हिमबिन्दुओं को चुवाने वाली शीतद्युति चन्द्रमा की प्रभा और चन्दन—ये वस्तुएं जिस कामरूपी अग्नि के सरस (गीले तथा रसमय) इन्धन हैं, भला वह कामाग्नि किस प्रकार बुझे? गीले लकड़ियों की आग भला कैसे बुझ सकती है? बुझने के लिये सूखे इंधन चाहिये। अपनी मनोभवाग्नि को शान्त करने के लिए कादम्बरी ने नलिनीपत्र, चन्दन आदि सरस पदार्थों को धारण कर रखा है। उद्दीपन वस्तुओं से क्या कभी काम ज्वाला शान्त हो सकती है? नहीं, कभी नहीं।

एकैकातिशयालयः परगुणज्ञानैकवैज्ञानिकाः
सन्त्येते धनिनः कलासु सकलास्वाचार्यचर्याचणाः।
अप्येते सुमनोगिरां निरमनात् विस्मयत्यहो श्लाघया
धूते मूर्धनि कुण्डले कपणतः क्षीणे भवेतामिति।

—सुभाषितावलि

कोई कविजी किसी कंजूस की कार्ति कथा सुना रहे हैं। क्या सुनने ही लायक है। आपका कहना है कि इस जगत् में एक से एक बढ़कर धनिक लोग मिलेंगे जो स्वयं सकल कलाओं में आचार्यता धारण करने से प्रख्यात हैं तथा दूसरों के गुणों को अच्छी तरह से जानते हैं, उनकी कद्र करते हैं। परन्तु विद्वानों के वचनों को सुनने वाले ऐसे कुछ कंजूस भी हैं जो उनकी प्रशंसा करने में इसलिए डरते हैं कि कहीं सिर हिलाने पर कानों के कुंडल रगड़ से घिस न जाँय। वाह! क्या ही अच्छा कहा! कविजी को कुछ देने की तो क्या ही अलग रही—रुपया पैसा देने की बात तो जुदी रही, यहाँ तो काव्यों की प्रशंसा करने में भी कंजूसी है। बड़ी अनूठी सूक्ति है?

चण्डीशतक का एक पद्य भवानी की प्रशंसा में यहाँ दिया जाता है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोजराज ने इसे उद्धृत भी किया है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती व शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥
—चण्डी शतक ६६

इस प्रशंसनीय पद्य में शब्दसौन्दर्य देखने ही योग्य है। शब्दरम्यता अतीव समुचित है। भवानी की प्रशस्त प्रशंसा है।

बाणभट्ट के काव्यगुरु

अपनी बाल्यावस्था का वर्णन करते समय बाण ने, अपनी शिक्षा-दीक्षा के विषय में, विशेष रूप से, नहीं कहा है, परन्तु हर्षवर्धन से साक्षात्कार होने पर आपने अपने विद्या-वैभव की सूचना दी है। बात यह थी कि इनकी स्वच्छन्दचारिता की कहानी हर्ष के कानों तक पहुँच चुकी थी, और हर्ष के कान किसी ने, बाण के विरुद्ध, खूब भर रखे थे। अतः जब ये दरबार में हाजिर किये गये, तब उपस्थित सभ्य मान्य पुरुषों के समक्ष ही, इनके प्रति अप्रतिष्ठा के भाव दिखलाते हुए, महाराजा हर्ष ने कह डाला —"महानयं भुजङ्गः"—यह बड़ा भारी भुजङ्ग (परस्त्री लम्पट) है। इस अनुचित वचन के कथन ने बाण को मर्माहत कर डाला। ये नितान्त दुःखी हुए। हृदय में विचारने लगे कि क्या कारण है कि महाराज ने मेरे विषय में, अनुचित शब्दों का प्रयोग किया है? बचपन में मेरा उचित रीति से उपनयन संस्कार किया गया, तदनन्तर अच्छे गुरु के पास रहकर मैंने वेद वेदाङ्गों का अध्ययन किया, सदाचार से जीवन बिताया। परन्तु फिर भी ये महाराज "भुजङ्ग" कह कर मेरा परिचय दे रहे हैं। बाणभट्ट के इस अनुताप-मिश्रित वचन से पता चलता है कि, बालकपन में इन्हें वेद वेदाङ्ग की शिक्षा मिली थी परन्तु किस गुरु के पास रहकर इन्होंने विद्याध्ययन किया था (जिसका

प्रत्यक्ष फल हमें "कादम्बरी" के प्रणयन में मिलता है), इससे हम नितान्त अनभिज्ञ हैं। यदि यहीं पर बाण अपने गुरु के नाम तथा जीवनवृत्त से हमें परिचित करा दिये रहते, तो अत्यन्त आनन्द का विषय होता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। बाण ने केवल अपने अध्ययन की सामान्य चर्चा करके ही इससे अपना पिण्ड छुड़ाया; गुरु का परिचय नहीं दिया। यदि ऐसा होता, तो हम अनेक काल्पनिक सिद्धान्तों का अन्दाजा लगाने से बिलकुल बच जाते।

"हर्षचरित" के अनन्तर विरचित "कादम्बरी" के आरम्भ में बाण की आत्मकथा का किंचित उपक्रम हमें मिलता है। आरम्भ के पद्यों में बाणभट्ट ने अपने वंश का थोड़ा-सा परिचय दिया है, जो किसी अंश में हर्षचरित के वर्णन की पूर्ति करता है। डाक्टर पिटर्सन "कादम्बरी" के इन आरम्भिक पद्यों को बाणनिर्मित कहने में सन्देह करते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है; क्योंकि महाकवि क्षेमेन्द्र ने (जो संस्कृत की कवि मण्डली से खूब परिचित थे), इसी का "जयन्ति बाणासुरमौलिलालिताः" वाला पद्य बाण का बतलाया है। अतः इन पद्यों को हम, बाण विरचित होने के, प्रमाण मान सकते हैं। सौभाग्यवश इसी उपोद्घात के चौथे पद्य में हम बाण के काव्यगुरु का किंचित् परिचय पाते हैं। वह पद्य नीचे दिया जाता है—

"नमामि भर्वोश्चरणाम्बुजद्वयं
सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम्।
समस्तसामन्तकिरीटवेदिका—
विटंक पीठोल्लुलितारुणांगुलि ॥"

इस पद्य में बाण ने "भर्चु" के पादपङ्कज को प्रणाम किया है। यह पद्य देव नमस्कार के अनन्तर तथा खल वर्णन के पहले आया है। अतः इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह बाण के गुरु का नाम होगा। टीकाकार भानुचन्द्र भी इसे गुरु का ही नाम बतलाते हैं। टीकाकार ने "भर्वो." के स्थान पर "मत्सोः" पाठान्तर का उल्लेख किया है। अतः टीकाकार के अनुसार बाण के काव्यगुरु का नाम "भर्चु" या "भत्सु" था। इस सामान्य उल्लेख के अतिरिक्त बाण-रचित ग्रन्थों में कहीं भी इनका विशेष वर्णन नहीं मिलता।

अब इस विषय की जानकारी के लिये संस्कृत के सूक्ति-संग्रहों पर दृष्टि डालनी चाहिये। इन संग्रहों में अनेक कवियों के नाम तथा श्लोक संगृहीत हैं, जिनकी जानकारी के लिये हमारे पास कोई भी उपयुक्त साधन नहीं है। सबसे प्राचीन सूक्तिग्रन्थ—सदुक्तिकर्णामृत—में "भर्चु" कवि का नाम मिलता है तथा उनकी एक रचना भी दी हुई है। शार्ङ्गधर पद्धति में "भर्चु" नामक कवि के दो श्लोक उपलब्ध होते हैं। सुभाषितावलि में "भत्सु" नामक कवि के तीन पद्य संगृहीत

मिलते हैं, जिनमें से दो पद्य तो वे ही हैं, जिन्हें शार्ङ्गधर-पद्धति में "भर्तु" कवि द्वारा रचित बतलाये गये हैं। अत इन सुप्रसिद्ध तीन सूक्तिग्रन्थों के अवलोकन से इस कवि के तीन भिन्न भिन्न नाम उपलब्ध होते हैं—भर्तु, भर्तु तथा भर्थु। ये अभिधान एक ही नाम के भिन्न-भिन्न रूपान्तर प्रतीत होते हैं। अत इनका निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि, "भर्तु" नामक कवि की प्रसिद्धि, प्राचीन काल में, पर्याप्तमात्रा में थी। ये ही, कविवर भानुचन्द्र के कथनानुसार, महाकवि बाण भट्ट के गुरु थे।

प्राचीन काल में "भर्तु" की रचना की खूब प्रशंसा होती थी, इसके लिये हमारे पास यथेष्ट प्रमाण भी उपलब्ध हैं। इन पद्यों में "आहूतोऽपि सहायैः" वाला श्लोक संस्कृत साहित्य में, विशेष आदर के साथ उद्धृत है। आनन्द वर्धनाचार्य ने इस श्लोक को "ध्वन्यालोक" में (पृ० ३८) उदाहरण के तौर पर उदाहृत किया है, तथा इसके ऊपर निम्नलिखित आलोचनात्मक टिप्पणी भी दी है—"अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ "आहूतोऽपि" इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरण सामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम्"। आनन्दवर्धन संस्कृत साहित्य के विज्ञ आलोचक हैं। उनके द्वारा किसी कवि के पद्य को, उदाहरण रूप में देने से हम उस कवि के रचना-सौष्ठव को भली भांति समझ सकते हैं। परन्तु इस भावपूर्ण पद्य पर, आनन्द के पहले भी, आलोचकों की दृष्टि पड़ी थी, क्योंकि भट्ट उद्भट ने इस पद्य को अपने अलङ्कारग्रन्थ में "विशेषोक्ति" के उदाहरण में, उद्धृत किया था। यद्यपि आजकल प्रकाशित "काव्यालङ्कारसारसंग्रह" में यह श्लोक नहीं मिलता, तथापि अभिनवगुप्ताचार्य के कथन से प्रतीत होता है कि, उद्भट ने इसे उद्धृत किया था। पूर्वोक्त वाक्य पर टीका करते समय अभिनवगुप्त, अपने "लोचन" में, लिखते हैं—"शीतकृता खल्वार्तिरत्र निमित्तमिति भट्टोद्भट। × × न त्वौद्भटे नैवाभिप्रायेण ग्रन्थो व्यवस्थित इति मन्तव्यम्।" लोचनकार का अभिप्राय यह है कि, भट्टोद्भट इस श्लोक में उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति ही मानते हैं परन्तु आनन्द यहाँ अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति ही मानते हैं। भट्टोद्भट का मत मानने से आनन्द के कथन का अर्थ नहीं लग सकता। अत भट्टोद्भट के प्राचीन मत को यहा छोड़ना पड़ेगा। भट्टोद्भट का स्थितिकाल नवीं सदी का आरम्भिक काल है। सन् ८०० ईस्वी के लगभग वे विद्यमान थे। अत "भर्तु" का यह श्लोक इतना प्रसिद्ध हुआ कि, अपनी रचना के दो सौ वर्षों के भीतर ही भीतर उदाहरण के लिए उपयुक्त समझा गया और इसके अलङ्कार के विषय में मत वैषम्य उपस्थित हो गया। इस विवरण से प्राचीन काल में, "भर्तु" के पद्यों की प्रशस्त प्रसिद्धि सूचित होती है।

बाणभट्ट के गुरु होने से 'भर्तु' का स्थितिकाल सन् ६०० ईस्वी के आसपास ठहरता है।

"भर्वु" किस प्रान्त के रहने वाले थे? इस प्रश्न के उत्तर के विषय में हम कुछ अन्दाजा लगा सकते हैं। कादम्बरी से जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है, उसमें 'भर्वु' का वर्णन करते समय कहा गया है कि, मौखरि राजा लोग अपने शिरोभूषण को इनके पैर पर रख कर उनकी पूजा करते थे, और समस्त सामन्त नरेशों के किरीट में लगे हुए मणियों की रगड से उनके पैर की अगुलिया लाल हो गयी थीं। इस प्रकार मौखरियों के द्वारा 'भर्वु' की पूजा प्रतिष्ठा किये जाने की सूचना हमें, उक्त वर्णन से, मिलती है। दुःखकी बात है कि आज हम मौखरियों के विषय में बहुत कम जानते हैं, परन्तु एक समय था, जब इनकी तूती समग्र उत्तरी भारत में, बोलती थी, जब प्रभाकरवर्धन जैसे बडे राजा लोग, इनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अत्यन्त उत्सुक दीख पडते थे।

ये मौखरि नरेशगण उत्तरीय भारत में, "वर्धन" नरेशों के अभ्युदय के पहले अतीव प्रभावशाली थे। हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन ने अपनी विदुषी कन्या राज्यश्री का विवाह ग्रहवर्मा नामक मौखरि के साथ किया था। ये लोग सब प्रकार से श्रेष्ठ थे। इनका मूल स्थान कहाँ था? इस विषय में ऐतिहासिकों में, बडा मतभेद दिखाई पड़ता है। अधिक ऐतिहासिक मौखरियों का मूल, बिहार प्रान्त के गया जिले में बतलाते हैं। यदि यह बात सच्ची निकले, तो बाण के गुरु का निवासस्थान, इधर ही, पूरब की ओर, हो सकता है। बाण का जन्मस्थान प्रीतिकूट नामक ग्राम, सोनभद के किनारे, था। लेखक का अनुमान है कि 'भर्वु' का भी वासस्थान बाण के जन्मस्थान से विशेष दूर न रहा होगा। गया जिले में, छठी शताब्दी में, मौखरियों की स्थिति थी। इस ऐतिहासिक घटना से पूर्वोक्त अनुमान की कुछ पुष्टि भी होती है। कुछ भी हो, हम इतना कहने में तो नहीं हिचकते कि बाणभट्ट के समान इनके काव्यगुरु भी पूरब के रहनेवाले थे, और, तत्कालीन माननीय मौखरि नरेशों के दरबार में इनका खूब आदर सत्कार होता था। अतः "भर्वु" कवि अपने समय (छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध) के एक प्रतिष्ठित विद्वान् प्रतीत होते हैं, जिनके प्रति आदर दिखलाने में केवल सामन्त लोग ही अपना गौरव नहीं समझते थे, बल्कि तत्कालीन भारताधिपति मौखरि नरेश भी उनका सत्कार कर अपने को गौरवशाली बनाते थे। क्या यह दुःखका विषय नहीं है कि हम ऐसे राजमान्य लब्धप्रतिष्ठ कवि की रचनाओं से सर्वथा वञ्चित हैं? यदि इनके सुयोग्य शिष्य बाणभट्ट ने इनके नाम का सादर समुल्लेख नहीं किया होता, तो हमें इनके नाम का भी पता नहीं चलता इन की सुप्रतिष्ठा की कथा तो, सर्वदा के लिये, अतीत के अन्धकार में विलीन हो गयी होती।

"भर्तु" की कविता बिल्कुल उपलब्ध नहीं है। केवल चार पद्य, सूक्ति ग्रन्थों में, उद्धृत किये गये मिलते हैं, जिन में तीन तो निःसन्देह इन्हीं के हैं, परन्तु चौथे पद्य में सन्देह है। ये ही पद्य इनकी रचना के अवशिष्ट अंश हैं। इनका भावानुवाद भी यहां प्रस्तुत किया जाता है।

१

"कामं प्रियानपि प्राणान् विमुञ्चन्ति मनस्विनः।
इच्छन्ति न त्वमित्रेभ्यो महतीमपि सत्क्रियाम्॥"

यह श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में "भर्तु" नाम से तथा सुभाषितावलि (नं० ४१२) में "भरक्षु" नाम से दिया गया है। इसमें उदारजन की प्रशंसा है। मनस्वी लोग अपने प्यारे प्राणों को भले छोड दें, परन्तु अपने शत्रुओं से बडा भी सत्कार नहीं चाहते। शत्रुओं के हाथ से वे लोग सत्कार ग्रहण करेंगे? चाहे प्राण भले ही निकल जाय, पर इससे क्या? वे अपने प्रण तो तनिक भी नहीं छोडते।

२

"आहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति॥"

हेमन्त के वर्णन में यह पद्य दोनों सूक्तिग्रन्थों (नं० १२७, ९४, नं० १८३८) में उद्धृत है। हेमन्त की ऋतु है। कडाके का जाडा पड रहा है। संगी साथियों ने बाहर जाने का विचार किया है। नायक भी जाने को तैयार है। प्रातःकाल संगी लोग, उसे जगाने के लिये, आते हैं। आकर उठने के लिये, पुकारते हैं। मैं आया, लो मैं आया, यह कहकर वह निद्रा छोड़, बैठ भी जाता है। पथिक की जाने की प्रबल इच्छा भी है, परन्तु करे, तो क्या करे? वह अपने संकोच को शिथिल नहीं कर रहा है। जाडे की रातों में आनन्द के साथ अपनी प्रियतमा के साथ शयन करनेवाला नायक, प्रातःकाल में, उसके भुजबन्धन से अपनेको कैसे अलग कर सकता है? उससे वह छुट्टी मांगने में अत्यन्त संकोच का अनुभव कर रहा है। इस सुप्रसिद्ध पद्य के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। संकोची पथिक का यह जीता जागता चित्र है। वास्तवमें यह पद्य अनूठा है।

३

"विकल्परचिताकृतिं सततमेव तामीक्षसे
सदा समभिभाषसे समुपगूहसे सर्वदा।
प्रमोदमुकुलेक्षणं पिबसि पाययस्याननं
तथापि च दिवानिशं हृदय हे किमुत्कण्ठसे!!"

कोई विरही अपने हृदयसे कह रहा है—"हे मेरे हृदय! लगातार संकल्प करने से—चिन्तन करने से—उस प्रियतमा की आकृति को तूने बनाया है, और

उसे तू सदा देख रहा है, उससे बोल रहा है, और उसका आलिङ्गन कर रहा है! आनन्द के कारण जिसके नेत्र बन्द हो गये हैं, ऐसी प्रियतमा के मुख को तू पीता है, चुम्बन करता है, और, अपने मुख का भी चुम्बन कराता है। कल्पित प्रियतमा के साथ इतने आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु क्या कारण है कि रात-दिन तू उत्कण्ठित रहता है! सयोग की तेरी समग्र इच्छाएँ पूर्ण हो रही हैं। अत उत्कण्ठा का कोई स्थान नहीं है, परन्तु आश्चर्य है कि, तू भी व्याकुल होता है!" यह सुन्दर पद्य सदुक्तिकर्णामृत में (न० २४५५) 'भर्तु' नाम से दिया गया है।

४

'नीवारप्रसवाग्रमुष्टिकवलैर्यो वर्धित शैशवे
पीतं येन सरोजपत्रपुटके होमावशेषं पय ।
तं दृष्ट्वा मदमन्थरालिवलयव्यालुप्तगण्डं गजं
सोत्कण्ठं सभयं च पश्यति मुहुर्दूरे स्थितस्तापस ।।

हाथीका वर्णन है। लडकपन में नीवार धान की मुठ्ठी भर-भर कर कौर देकर जो बढाया गया था, जिसने कमल के पत्त के दोने में होम से बचे जल को पिया था, मद से मन्थर भ्रमर समूह से आच्छादित गण्डस्थलवाले उसी हाथी को देख कर तपस्वी दूर पर खडा होकर उत्कण्ठा तथा डरके साथ, देख रहा है। परिचित होने से उत्कण्ठा है, परन्तु उसे मदमत्त देख कर डर लगता है। अत उसके पास फटकने की हिम्मत उसमें नहीं है। केवल दूर पर ही खडा होकर देख रहा है।

यह 'पद्य, सुभाषितावलि (न० ६२७) में, गजवर्णन में उद्धृत किया गया है, परन्तु उससे पूर्व ही क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्यविचारचर्चा" (पृ० १२९) में इसे राजपुत्र मुक्तापीड का बतलाया है, और इसे भयानक रस के अनौचित्य प्रदर्शन के अवसर पर उद्धृत किया है।

"अत्र गजस्याघातकविकृतचेष्टानुवर्णनाविरहिततया स्थायिभावस्य भयानुभाववर्जितस्य केवलं नाममात्रोदीरणेन च भयानकरसोचितसंभ्रमाभावादुपचितमौचित्यं न किञ्चिदुपलभ्यते।"

आशय यह है कि, इस पद्य में भयानक रस की उचित सामग्रीका अभाव विद्यमान है। केवल गज का नाम ले लेने से ही तो भयानक रस नहीं हो सकता। अत इसमें भयानक रस का किञ्चिन्मात्र भी औचित्य उपलब्ध नहीं होता। इस पद्य को क्षेमेन्द्र मुक्तापीड की रचना बतलाते हैं, जो काश्मीर के नरेश राजा ललितादित्य का ही अपर नाम था। ऐसी परिस्थिति में किसी निर्णायक प्रमाण के अभाव में हम इसके कर्ता के विषय में कुछ ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सकते।

दण्डी

अवंतिसुंदरी-कथा

दक्षिण भारत प्राचीन संस्कृत पुस्तकों का सुरक्षित गृह है। उत्तरीय भारत में विधर्मी मुसलमानों के भयंकर उपद्रवों के कारण प्राचीन पुस्तकों का पता बहुत कम लगता है, परन्तु दक्षिण में जहाँ ऐसे उपद्रव कम हुए थे, अभी तक प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं। हाल ही में मालाबार प्रदेश में दो हस्त-लिखित पुस्तकों की उपलब्धि हुई है, जो संस्कृत साहित्य के इतिहास के लिये अत्यन्त महत्व की प्रतीत होती हैं। अब ये पुस्तकें गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। पहली पुस्तक बड़ी बुरी दशा में पाई गई है। न तो यह पूर्ण है और न कहीं ग्रंथकार ही का नाम-निशान पाया जाता है। हाँ, इसके आरम्भ में हर्ष-चरित की तरह प्राचीन कवियों का वर्णन श्लोकों में पाया गया है। शेष भाग गद्य में लिखा गया है, परन्तु ग्रंथ पूर्ण नहीं हुआ है दूसरे ग्रंथ के आधार पर इसका नाम 'अवन्तिसुन्दरी कथा' तथा रचयिता महाकवि दण्डी माने गए हैं।

दूसरा ग्रंथ कुछ अच्छी दशा में प्राप्त हुआ है। यह प्राय अनुष्टुप् छंदों में रचा गया है, पर सर्गान्त में भिन्न भिन्न वृत्त भी हैं। ग्रंथ के आदि के छ परिच्छेद तो बिल्कुल ही शुद्ध तथा पूर्ण पाए गए हैं, पर सप्तम परिच्छेद खण्डित है। यह भी पहले ग्रंथ की तरह पूरा तो नहीं है, परन्तु इतना त्रुटित भी नहीं है कि समग्र ग्रंथ के विषय को समझने में किसी तरह की बाधा हो। रचयिता का नाम इसमें भी लुप्त है। अनुमान की निर्बल भित्ति पर अवश्य ही ग्रंथकार के विषय में कुछ कहा जा सकता है। ग्रन्थ के प्रत्येक सर्गान्त में भारवि के 'लक्ष्मी' शब्द की भाँति 'आनन्द' शब्द सर्वदा प्रयुक्त हुआ है। भोज के शृङ्गारप्रकाश में सर्गान्त में 'आनन्द' शब्द का प्रयोग करनेवाले 'शूद्रक कथा' के रचयिता 'पञ्चशिख' का उल्लेख पाया जाता है[1]। तो क्या इस शब्द प्रयोग-साम्य से पञ्चशिख इसके रचयिता माने जा सकते हैं? ग्रंथकार के विषय में ऐतिहासिक सामग्री की कमी भले ही हो, परन्तु ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से उसके संबध में बहुत कुछ पता लगता है। सौभाग्यवश ग्रंथ का नाम 'अवन्तिसुन्दरी

---

1 Ramkrishna Kavi–Avanti sundari katha of Dandi, proceedings of second oriental Conference. p. 193

कथासार' दिया गया है, जिससे यह पहले ग्रन्थ का छन्दोबद्ध सारांश प्रतीत होता है। इसके पहले परिच्छेद में दण्डी के पूर्वजों का वर्णन किया गया है। इस उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की चर्चा आगे की गई है।

भारवि और दंडी

संस्कृत महाकाव्यों में किरातार्जुनीय का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। इसके रचयिता महाकवि 'भारवि' हैं, जिनकी अर्थ-गाम्भीर्यमयी कविता का आस्वादन कर प्रत्येक सहृदय अपने को कृतकृत्य समझता है। साहित्यिक दृष्टि से हम भारवि के विषय में समग्र ज्ञातव्य विषयों से परिचित हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक भारवि का समय गाढ़ अन्धकार के आवरण से ढका हुआ है। भारवि का सबसे पहला उल्लेख दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के ऐहोल के शिलालेख में मिलता है, जो ६३४ ई० का लिखा हुआ है।[1] इस उल्लेख से इतना ही ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारवि की प्रसिद्धि खूब हो चली थी, इनका नाम महाकवि कालिदास के साथ लिया जाता था तथा ये भी उनके समान उन्नत साहित्यिक स्थान पाने के पूरे अधिकारी थे। परन्तु इससे भारवि के आविर्भाव काल का यथोचित पता नहीं लगता। ६३४ ई० के कितने वर्ष पहले भारवि ने भारत भूमि की शोभा बढ़ाई थी, यह ठीक-ठीक उपर्युक्त लेख से ज्ञात नहीं होता। एक दूसरे शिलालेख से भी भारवि का समय अनिश्चित ही रह जाता है। यह शिलालेख[2] पश्चिमी गंगावंशी राजा दुर्विनीत के समय का है। इसमें स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि राजा दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग की टीका की। इस उल्लेख से यथाकथंचित भारवि का समय निर्णीत भी किया जा सकता था, परंतु डा० फ्लीट जैसे प्रामाणिक पुरातत्ववेत्ताओं की सम्मति में यह लेख बिल्कुल जालसाजी है; इसमें कुछ भी ऐतिहासिकता नहीं[3]। ऐसी स्थिति में भारवि के विषय में ठीक ठीक कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता।

---

१. येनायोजि नवेश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

२. श्रीमत्कोङ्गणि महाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण पुन्नाडराज स्कंदवर्माप्रियत्रिकाजन्मना ....

......शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्डकथेन किरातार्जुनीये पञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।

Mysore Archaeological Report 1916 p 36

३. डा० फ्लीट ने पश्चिमी गंगावंशियों के दानपत्रों के संबंध में जो कुछ

परन्तु अब इस प्रश्न के निर्णायक साधन की उपलब्धि हुई है, जिससे न केवल भारवि के समय का ठीक ठीक निश्चय हो जाता है, वरन् उनके कुटुम्ब तथा पारिवारिक जीवन पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह साधन है दण्डिकृत यही 'अवन्तिसुन्दरीकथा' तथा इसका पद्यबद्ध 'अवंतिसुन्दरी कथासार' नामक संक्षिप्त सारांश। इस दूसरी पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में महाकवि दण्डी की कई पीढ़ियों का इतिहास दिया हुआ है। यह वर्णन इतिहास की दृष्टि से बहुमूल्य है। इससे भारवि के विषय में पक्की ऐतिहासिक बातों का पता लग जाता है।

इनसे जान पड़ता है 'भारवि' किरातार्जुनीय के रचयिता का उपनाम मात्र था। इनका असली नाम था—दामोदर। इनके पूर्वज पश्चिमोत्तर देश (गुजरात) के सर्वश्रेष्ठ नगर आनन्दपुर में निवास करते थे।[1] वहाँ से किसी कारणवश वे लोग नासिक हट आए तथा कालांतर में अचलपुर (संभवतः आधुनिक एलिचपुर) में अपना निवास नियत किया। इन्हीं कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणों में नारायण स्वामी नामक पंडित हुए थे जिनके मेधावी पुत्र हमारे कविवर भारवि हैं। पहले पहल भारवि ने राजकुमार विष्णुवर्धन की सभा को सुशोभित किया और उनके कृपा-

---

उद्गार प्रकट किए हैं, वे बहुधा हठधर्मी से पूर्ण हैं, अतएव वे ज्यों के त्यों मानने योग्य नहीं हैं।

१ अस्त्यानन्दपुर नाम प्रदेशे पश्चिमोत्तरे।
आर्यदेशशिरोरत्नं यत्रासन् बहवो नृपा ॥
ततोऽभिनि सृता काचिन् कौशिकश्रमतति ।
मुरलीकादिवायाती पुण्यतीर्थसरस्वती ॥
नासिक्यभुनावीरमुक्त्यामूलदेवनिवेशिताम्।
प्राप्याचलपुर ··· रोमधि वसत्यसौ ॥
तस्या नारायणस्वामी नाम्ना नारायणोदरात्।
दामोदर इति श्रीमान् आदिश्चा बाभवन् ॥
स मेधावी कविर्विद्वान् भारविः प्रभवं गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ॥
× × ×
स दुर्विनीत नामासीन् अन्वर्थाभिधानवान् तस्यान्तिके वसत्ययं ।···॥
× × ×
अने कश्रीमुआरूपकरोदमुमात्मसात् ।
× × ×
अस्ति प्रासादविस्तारप्रस्तव्योमान्तरा पुरी।
काञ्चीपुराख्या कल्याणी ककुभां कुम्भजन्मन ।

भाजन हुए थे। यह राजकुमार दक्षिण के इतिहास में कुब्ज विष्णुवर्धन[1] के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह प्रथमत अपने ज्येष्ठ भ्राता प्रसिद्ध महाराज पुलकेशी द्वितीय का प्रतिनिधि बनकर महाराष्ट्र का शासन करता था। ६१६–१७ ई० के आसपास यह महाराष्ट्र ही में रहता था, क्योंकि इस वर्ष में इसने अपने भ्राता के प्रतिनिधि रूप से एक ताम्रशासन जारी किया था।[2] अनन्तर इसने तैलिंगाना में आकर वेंगी में एक नवीन राज्य की स्थापना की जो इतिहास में पूर्वीय चालुक्य (Eastern Chalukya, of Vengi) के नाम से परवर्तीकाल में खूब प्रसिद्ध हुआ। जब यह केवल राजकुमार था तभी महाराष्ट्र में इससे भारवि का परिचय हुआ था। अनन्तर इसने आखेट के अवसर पर कविवर से मास खाने के लिये आग्रह किया। कवि ने इसके आश्रय की अवहेलना कर दुर्विनीत राजा के यहाँ आसन जमाया। इस नाम का राजा पश्चिमी गंगावंशीय नरेशों में अत्यंत प्रसिद्ध था जिसने 'शब्दावतार' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की। इस राजा का समय सातवीं सदी का प्रथम चतुर्थ भाग माना जाता है। यह सरस्वती के वरदपुत्रों का आश्रयदाता ही नहीं था वरन् स्वयं भी सरस्वती का उपासक था। यह संस्कृत के अतिरिक्त पैशाची का भी ज्ञाता जान पड़ता है, क्योंकि इसने गुणाढ्य रचित प्रसिद्ध बृहत्कथा का अनुवाद देवभारती संस्कृत-में किया था। यह भारवि का आश्रयदाता अवश्य था इसकी यथोचित पुष्टि इस घटना से होती है कि इसने स्वयं किरातार्जुनीय के सब से कठिन, अर्थ गंभीर तथा श्लेष प्रधान पन्द्रहवें सर्ग की सुबोध टीका लिखी थी। इसने अवश्य ही भारवि के सहवास से किरात का उचित मथन किया था तभी तो सर्वक्लिष्ट सर्ग की टीका लिखने को उद्यत हुआ। अतएव यदि हम कह कि भारवि ने ६२०–२५ तक इसकी सभा की शोभा बढ़ाई तो अनुचित न होगा। अनन्तर अत्यन्त आग्रह

तस्या अभे बुधनात सध्वस्ताखिलपल्वल
पल्लवेषु महीपाल विहविष्णु रिति श्रुत ।

१ उक्त पुस्तक में उल्लिखित नरेंद्र विष्णुवर्द्धन चालुक्य पुलकेशी द्वितीय के भाई कुब्ज विष्णुवर्द्धन से कोई भिन्न राजा होना चाहिए क्योंकि इसी लेख में ऊपर जो अवतरण दिया है, उसमें विष्णुवर्द्धन को 'नरेंद्र' कहा है, न कि कुमार। दूसरी बात यह भी है कि जब वह सतारे के आस पास के प्रदेश पर अपने भाई की ओर से शासन कर रहा था, उस समय के अपने दानपत्र में वह अपने को 'युवराज' लिखता है। तीसरी बात यह भी है कि यदि भारवि पुलकेशी के समय में ही जीवित होते तो उनकी कालिदास के समान प्रसिद्धि उसी समय में नहीं हो सकती थी।

२ Satara Grant, Indian Antiquay Vol XIX. p. 303

करने पर भारवि काञ्ची के पल्लव नरेश सिंहविष्णु के पास आकर रहने लगे। काञ्ची के पल्लव राजा सदा से विद्याप्रेमी होते आए हैं। विद्वानों को आश्रय देकर इन्होंने संस्कृत साहित्य का अत्यन्त उपकार किया है।

सिंहविष्णु तो इस वंश का प्रसिद्ध विद्याप्रेमी राजा है। इसी के सुयोग्य पुत्र महेंद्र विक्रमवर्मा ने 'मत्तविलास' नामक प्रहसन की रचना की है।[1] यदि वास्तव में महेंद्रविक्रमवर्मा भारवि के आश्रयदाता का पुत्र हो तो यह मानने में आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती कि इसने संभवत भारवि से विद्या का अभ्यास तथा कविता का अध्ययन किया होगा। सिंहविष्णु का समय ६२० ई० से ६२७ ई० तक माना जाता है। सम्भवत राज्य के अन्तिम भाग में ही भारवि का इस पल्लव राजा के साथ साक्षात्कार हुआ था।

पूर्वोक्त वर्णन का सारांश यही है कि भारवि की जन्मभूमि महाराष्ट्र प्रदेश है। हिमालय का वर्णन करने से इन्हें उत्तरीय भारत में घसीट लाना उचित नहीं। इनके आविर्भाव का समय छठी शताब्दी का प्रथम चतुर्थ भाग है। ५१० ई० के आस पास ये महाराष्ट्र में विष्णुवर्धन के आश्रय में थे। ६२० ई० के समीप कर्नाटक में गंगावंशीय दुर्विनीत की सभा में रहे तथा ६२५ ई० में तेलगु प्रांत में पल्लव नरेश सिंहविष्णु की सभा की शोभा बढ़ाते थे तथा काञ्ची में ही अपना निवास स्थान बनाकर रहने लगे थे। इसी ऐतिहासिक तथ्य की उपलब्धि हुई है।

दंडी का जीवन वृत्तान्त

दंडी के विषय में इस कथा से निम्नलिखित बातों का पता लगता है।

कविवर भारवि के तीन लड़के हुए जिनमें 'मनोरथ' मध्यम पुत्र था[2]। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें 'वीरदत्त'

---

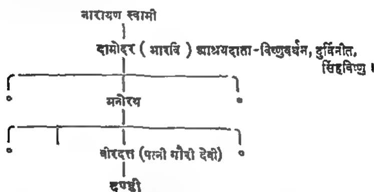
१ यह प्रहसन 'अनन्तशयन ग्रन्थावली' में ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सूत्रधार कहता है —

भवति श्रूयताम्। पल्लवकुलतिलकधरणिमण्डलकुलपर्वतस्य श्रीमद्दिमानुरूप दानविभूतिपरिभूतराजराजस्य श्रीसिंहविष्णुवर्म्मणः पुत्रः शत्रुपक्षदुर्दमनिग्रहपरः परहितपरतन्त्रतया महाभूतसधर्मा महाराजश्रीमहेंद्रविक्रमवर्मा नाम।

२ मनोरथाह्वयस्तेषां मध्यमो वंशवर्धनः
ततस्तनूजाश्चत्वारः सम्बुद्धेर्दा इवाभवन्।
श्रीवीरदत्त इत्येषां मध्यमो वंशवर्धनः
मवीदानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवत्प्रिया॥

सब से छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम 'गौरी' था। इन्हीं से कविवर दंडी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता पिता मर गए थे। ये काञ्ची में निराश्रय हो रहते थे। एक बार जब काञ्ची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काञ्ची छोड़कर जंगलों में इधर उधर भटकते फिरते थे। अनन्तर शहर में शांति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे।

संक्षेप में महाकवि दण्डी का वंशवृक्ष अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर नीचे दिया जाता है:—



इससे स्पष्ट है कि महाकवि दण्डी भारवि के प्रपौत्र थे।[1] इस वर्णन से (यद्यपि यह बहुत ही थोड़ा है) दण्डी के अन्धकारमय जीवन पर

ततः कथंचित् सा गौरी द्विजाधिपशिखामणेः
कुमारं दण्डिनामानं व्यक्तशक्तिमजीजनत्।
स बाल एव मात्रा च पित्रा चापि व्ययुज्यत॥

१. भारवि और दण्डी के इस सम्बन्ध के विषय में अब सन्देह होने लगा है। जिस श्लोक के आधार पर भारवि के साथ दण्डी के प्रपितामह दामोदर की एकता मानी जाती थी उस श्लोक में नये पाठ भेद मिलने से इस मत को बदलना पड़ा है। नया पाठ नीचे दिया जाता है—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम्
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने।

पहला पाठ प्रथमान्त 'भारवि' था, अब उसके स्थान पर द्वितीयान्त 'भारविं' मिला है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि भारवि की सहायता से दामोदर की मित्रता विष्णुवर्धन के साथ हो सकी। अतः दामोदर दण्डी के प्रपितामह थे, भारवि नहीं। इस नये पाठ-भेद से दोनों के समय निरूपण के विषय में किसी तरह का परिवर्तन आवश्यक नहीं है।

प्रकाश की एक धाड़ी किरण पड़ती है। भारवि का सम्बन्ध उत्तरीय भारत से न होकर दक्षिण भारत से है। हिन्दुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक कांजीवरम्) इनकी जन्मभूमि थी। इनका जन्म एक अत्यन्त शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ [redacted] भारवि की थी चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन [redacted] बिल्कुल निश्चित है। काञ्ची के पल्लव नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे।

इस ग्रन्थ से दक्षिण भारत की एक किम्वदन्ती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम० रंगाचार्य ने एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दण्डी ने काव्यादर्श की रचना की थी। काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुणवाचस्पति की सम्मति में दण्डी ने निम्नलिखित प्रहेलिका में काञ्ची के पल्लव नरेशों की ओर इङ्गित किया है—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपा ॥

—पृ० ३०, श्लोक ११४

अतएव दण्डी को काञ्ची के पल्लव नरेश के आश्रय में मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती।

दंडी का समय

दण्डी के आविर्भाव काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। अलङ्कारसाहित्य के इतिहास में इससे बढ़कर विवाद का विषय और कोई नहीं है। भामह के काव्यालङ्कार में दंडी के सिद्धान्तों से अनेक समानता तथा विभिन्नता होने से यह प्रश्न और भी उलझन में पड़ गया है। अभी तक इसका निश्चय नहीं हो सका है। कोई भामह के पहले मानकर उन्हें छठी शताब्दी के आरम्भ का ग्रन्थकार मानते हैं तो कोई भामह के अनन्तर मानकर सातवीं सदी में रखते हैं। इस विवाद के निर्णय में अवन्तिसुन्दरी-कथा कितनी सहायता दे सकती है इसका कुछ विचार किया जाता है।

नवम शताब्दी के ग्रन्थों में दंडी का नामोल्लेख पाये जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघाली भाषा के अलङ्कार ग्रन्थ **'सियबस लकर'** (स्वभाषालङ्कार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है[1]। इसका रचयिता **राजा सेन प्रथम,** महावंश के अनुसार ८४६ ६६ तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नडी भाषा के अलङ्कार ग्रन्थ **'कविराजमार्ग'** में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है।

---

१ डाक्टर बारनेट—जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०५।

इस ग्रन्थ के संस्कारक श्री के० बी० पाठक ने इसकी भूमिका में स्पष्ट दिखलाया है कि इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से हूबहू नकल किए गए हैं या कहीं कहीं कुछ परिवर्तित रूप में रखे गए हैं। हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण दंडी से अक्षरशः मिलते हैं। ग्रन्थ के लेखक **अमोघवर्ष** का समय ८१५ के आसपास माना जाता है। अतएव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनंतर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती।

यह तो दंडी के काल की अन्तिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिए। यह निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दण्डी की ही मौलिक रचना नहीं हैं। उनमें प्राचीनों के पद्य भी सन्निविष्ट हैं। 'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीति सुभगं वचः' में दंडी ने साफ तौर पर—'इति' शब्द के प्रयोग से यहां जाना जाता है—कालिदास के प्रसिद्ध पद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' से उद्धरण पेश किया है। अतः इनके कालिदास के अनन्तर होने में तो सन्देह का स्थान ही नहीं है; परन्तु अन्य भाव-साम्य से ये बाणभट्ट के अनन्तर के भी प्रतीत होते हैं।

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।

काव्यादर्श के इस पद्य में पिटरसन तथा याकोबी की सम्मति में कादम्बरी में चन्द्रापीड़ को शुकनास द्वारा दिए गए उपदेश की छाया देख पड़ती है। आगे दिखलाया जायगा कि दण्डी ने मयूर भट्ट के साथ बाण की भी प्रशस्त प्रशंसा की है[1] तथा कथा में 'कादम्बरी' का वर्णन भी बाण की प्रसिद्ध कथा के बिलकुल अनुरूप है। अतः लेखक की सम्मति में दण्डी को बाणभट्ट (७ वीं सदी का पूर्वार्द्ध) के अनन्तर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती। प्रो० पाठक की राय में काव्यादर्श में निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य हेतु का विभाग वाक्यप्रदीप के कर्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के अनुसार किया गया है[2]। कहा गया है कि भामह-दंडी का प्रश्न अभी तक अनिश्चित दशा में है; तथापि लेखक का विश्वास है कि दंडी का समय भामह के अनंतर है। भामह ने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण को उद्धृत न कर दिङ्नाग कृत लक्षण को दिया है। अतएव यदि भामह धर्मकीर्ति (६४४–७०) से पूर्व माने जाँय, तो स्पष्ट है कि दंडी का समय सातवीं सदी का अंत तथा आठवीं का प्रारंभ माना

---

१. भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः। व्यहारेषु जहौ लीलां न मयूर...।

२. पाठक—इंडियन ऐण्टिक्वेरी १९१२ ई०।

जा सकता है। इसी स्थान पर अवन्तिसुन्दरी कथा की अमूल्य सहायता का यथेष्ट अनुभव होता है। ऊपर दिए गए सिद्धान्त को यह बात अच्छी तरह से प्रमाणित कर रही है। यह भी दिखाया गया है कि दंडी भारवि की चौथी पीढ़ी में हुए थे। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये कम से कम २० वर्ष भी मानें, तो भी दंडी का समय भारवि से करीब अस्सी वर्ष के अनन्तर ठहरता है। भारवि यदि सातवीं सदी के आरंभ में विद्यमान थे, तो दंडी उस सदी के अन्त तथा आठवीं के आरंभ में होंगे। ऊपर दिखाया गया है कि इस समय को निश्चित मानने से संस्कृत साहित्य की निश्चित घटनाओं से किसी प्रकार का विरोध नहीं पड़ता। काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंह-वर्मा द्वितीय (जिसका विरुद अथवा उपनाम राजवर्मा था) मान लें, तो किसी प्रकार की अनुपपत्ति उपस्थित नहीं होती। प्रो॰ आर॰ नरसिंहाचार्य[1] तथा डाक्टर बेल्वल्कर[2] ने भी इन दोनों को एकता मानकर दंडी का समय सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध बतलाया है। शैवधर्म के उन्नायक पल्लवराज नरसिंह वर्मा का समय ६९०–७१५ माना जाता है[3] जो दंडी के लिये निश्चित किए गए समय से यथेष्ट अनुरूपता रखता है।

दंडी के ग्रंथ

राजशेखर के 'त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः' के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ प्रतीत होती हैं। ये तीन प्रबंध कौन हैं? इस प्रश्न का भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से उत्तर दिया है। अवन्तिसुन्दरी कथा की उपलब्धि से तो यह प्रश्न और भी विकट हो गया है। काव्यादर्श के विषय में प्रत्येक प्रकार का निश्चय है कि यह दण्डी की रचना है। दशकुमार चरित के विषय में भी अभी तक निश्चय ही था, परन्तु अब यत्र तत्र सन्देह की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। श्री अगाशे को शृङ्गार रस के कुछ अश्लील वर्णनों तथा काव्यादर्श में वर्णित काव्यदोषों की दशकुमार में उपलब्धि से विश्वास है कि यह ग्रंथ दण्डी रचित नहीं है[4]। परन्तु यदि बाहरी दृष्टि से अश्लील तथा रतिवर्णन से ग्रन्थकार के विषय में संदेह हो रहा है, तो कुमार का अष्टम सर्ग न तो कालिदास विरचित होगा और न नैषध का अष्टादश सर्ग श्रीहर्ष कृत। अवन्तिसुन्दरी कथा दशकुमार

---

१ Indian Antiquary 1912 p 90

२ Notes on काव्यादर्श II chapter pp. 176-77.

३. G. Dubreul Ancient History of the Deccan p 70.

४. Indian Antiquary 1915, Intro to Daskumar Charit (B S S.)

के पूर्वार्द्ध में वर्णित कथा के अनुरूप है। अतः कथा को दण्डी की असली रचना मानने से दशकुमार के पूर्वार्द्ध में सन्देह होने लगा है। यह सन्देह आज का नहीं है। बहुत पहले विल्सन तथा दिपलूणकर शास्त्री[1] को भी शब्दों की निरुक्ति तथा कथा के पूर्वापर के कई अंशों में विरोध होने से यह सन्देह होने लगा था कि उत्तर-पीठिका तो वास्तव में असली है, परन्तु पूर्व पीठिका दण्डी की नहीं। के० बी० लक्ष्मणराव का कहना है[2] कि असली रचना कथा ही है, परन्तु समयानन्तर किसी कारण से वह शीघ्र ही लुप्त हो गई और उसी कथा के आधार पर किसी ने पीछे से पूर्व पीठिका जोड़कर समग्र कथा का सिलसिला जारी रखा। इसी कारण कथा तथा पूर्वपीठिका में उल्लिखित अवन्तिसुन्दरी के आख्यान की अनेक घटनाओं में भिन्नता दिखाई देती है। जो हो, कथा को दण्डी की दूसरी रचना मानने में कोई सन्देह नहीं। तीसरे ग्रन्थ के विषय में मतभेद है। डाक्टर पिशल ने मृच्छकटिक को ही दण्डी की तीसरी रचना बताया था। पिटर्सन तथा याकोबी ने 'छन्दोविचिति' के ही तीसरी रचना होने का अनुमान किया था, परन्तु 'सा विद्या नौर्विविक्षूणाम्' में छन्दोविचिति को दण्डी ने ही विद्या कहा है, ग्रन्थ नहीं। अतएव यह ग्रन्थ न होकर छन्दशास्त्र का द्योतक है[3]। इसी प्रकार 'कलापरिच्छेद' को भी ग्रन्थ मानना उचित नहीं। सौभाग्यवश भोजराज इसके लिये हमारी सहायता करते हैं। उन्होंने अपनी 'शृंगार प्रकाशिका'[4] में दण्डी के 'द्विसन्धान' नामक काव्य से निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्द्धनः।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः॥

धनञ्जय कवि का द्विसन्धान काव्य प्रकाशित हुआ है, परन्तु इसमें यह पद्य

१. संस्कृत कविपंचक (मराठी) पृ०-२२६-७

२. दण्डीची अवन्तिसुन्दरी कथा विविधज्ञानविस्तार, वर्ष ५४, अंक ८ (१९२१ अगस्त)

३. Dr. Belvelkar-Notes on काव्यादर्श Chapter 1st.

४. इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की उपलब्धि अभी हाल में दक्षिण भारत में हुई है। यह मद्रास गवर्नमेंट के ग्रंथ संग्रहालय में सुरक्षित है। कहा जाता है कि अलंकार शास्त्र पर इससे बड़ा और दूसरा ग्रन्थ नहीं है। इसमें लगभग ३० हजार श्लोक हैं और 'प्रकाश' नाम से ३६ प्रकरण हैं। इसी में भोज ने 'शृंगारमेव रसनात् रसमामनाम' (एकावली) में वर्णित शृङ्गार की प्रधानता के सिद्धांत का वर्णन यथेष्ट रूप में किया है। इस महामूल्य ग्रंथ के पूर्ण प्रकाशन से अलंकार-शास्त्र की अनेक नई बातों का पता लगने की आशा है।

नहीं मिलता। यह कहना कठिन है कि 'दिसन्धान' का निश्चित विषय क्या है। सम्भवतः वह रामायण तथा महाभारत का सम्मिलित आख्यान होगा।

पूर्व-कवि प्रशंसा

अवन्तिसुन्दरी कथा की छंदोबद्ध भूमिका संस्कृत साहित्य के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऐसे प्राचीन कवियों के नाम आए हैं जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता; और यदि मिलता भी है, तो उससे कुछ अपूर्व साहित्यिक बातों का सन्निवेश इसमें पाया जाता है। प्रथमतः 'सुबन्धु' नामक कवि के विषय में इन्हीं का यह पद्य है:—

सुबन्धुः किल निष्क्रान्तो बिन्दुसारस्य बंधनात्
तस्यैव हृदयं भित्त्वा वत्सराज..........॥

यद्यपि यह श्लोक खण्डित है तथापि इससे सुबंधु के विषय में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि होती है। सुबंधु का संबंध बिंदुसार और वत्सराज के साथ किसी न किसी प्रकार से था। उपलब्ध वासवदत्ता के रचयिता सुबंधु इससे भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि वासवदत्ता का समय कालिदासीय शाकुन्तल[1] तथा कामसूत्र के कर्त्ता वात्स्यायन[2] (ई० पाँचवीं सदी) के स्पष्ट उल्लेख से पंचम शताब्दी के आसपास माना जाता है। नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने नाट्यायित (एक नाटक के भीतर अनेक नाटक) के उदाहरण में सुबंधु रचित 'वासवदत्ता नाट्यधार' का उल्लेख किया है तथा कुछ अंश को उद्धृत भी किया है। वामन की काव्यालंकार-वृत्ति में उल्लिखित एक पद्यखण्ड[3] में चन्द्रगुप्त के पुत्र 'चन्द्रप्रकाश' का नामोल्लेख पाया जाता है। वामन की वृत्ति से यह भी ज्ञात होता है कि उसके प्रधान सचिव (मंत्री या मित्र) वसुबंधु (या सुबंधु) थे। इस पद्यांश पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है तथा अभी तक वह अनिश्चित है। स्मिथ ने एम० पेरी की सम्मति मानकर 'चन्द्रप्रकाश' से समुद्रगुप्त का आशय निकाला है तथा वसुबंधु को चौथी सदी में मानकर उसी महान् गुप्त नरेश की सभा में उन्हें रखा है[4]। परन्तु हरप्रसाद शास्त्री तथा आर० नरसिंहाचार्य ने जितनी हस्तलिखित प्रतियों की परीक्षा की है, उन सब में 'सुबन्धु' ही पाठ मिलता है।

१. विफलमेव दुष्यन्तस्य कृते दुर्वाससः शापमनुबभूव शकुन्तला।
२. कामसूत्रविन्यास इव मल्लनागघटितकान्तारसामोदः।
३. सोऽयं सम्प्रति चंद्रगुप्ततनयश्चंद्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः।
आश्रयः कृतधियामित्यस्य वसुबंधुसाचिव्योपक्षेपपरतया साभिप्रायत्वम्।
४. Early History of India (Third Edition) p 334

परन्तु वासवदत्ता के लेखक केवल एक ही सुबंधु की जानकारी से उस पाठ में विद्वानों को विश्वास नहीं था; क्योंकि सुबंधु का समय पाँचवीं शताब्दी के बाद ही माना जाता है और उस समय में किसी चन्द्रगुप्त-तनय के साथ उसका संबंध ठीक नहीं बैठता। परन्तु 'वासवदत्ता नाट्यधार' के कर्ता सुबंधु के इस ऐतिहासिक उल्लेख से ऊपर का पाठ अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि चंद्रगुप्ततनय बिंदुसार ही था जिसकी सभा में सुबंधु जैसे 'कृतधी' विद्वान् उपस्थित रहते थे[१]। सुबंधु तथा वत्सराज के नाम दर्शक रूप में पाए जाते हैं। अतः इस श्लोक में वर्णित सुबंधु 'वासवदत्ता नाट्यधार' के रचयिता प्रतीत होते हैं और चंद्रगुप्त मौर्य के पुत्र के समसामयिक होने के कारण इनका समय २८० ई० पू० के आसपास जान पड़ता है।

गुणाढ्य तथा चौर-शास्त्र के आचार्य मूलदेव के उल्लेख के अनन्तर महाकवि शूद्रक के विषय में यह श्लोक है—

> शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया।
> जगद् भूयोऽप्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शूद्रक न केवल महाविजयी राजा थे, वरन् संसार को चकित करनेवाले महाकवि भी थे। अभी तक मृच्छकटिक प्रकरण के कर्ता रूप में शूद्रक का नाम प्रसिद्ध था; परन्तु अब 'पद्मप्राभृतक' नामक भाण भी शूद्रक के नाम से उपलब्ध हुआ है। अवन्तिसुन्दरी कथा में भी शूद्रक की विजय-वार्ता वर्णित है। पूर्वोक्त पद्य के 'वाचा स्वचरितार्थया' से प्रतीत होता है कि शूद्रक ने कविता में अपने जीवन की ही घटनाओं का वर्णन किया है। तो क्या मृच्छकटिक का विजयी आर्यक शूद्रक ही है? अन्य भी अनेक उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वान् लोग शूद्रक को ही विक्रमीय सम्वत् का संस्थापक मानने लगे हैं[२]।

महाकवि भास के विषय में लिखा है—

> सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः
> परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः।

---

१. Rangnath Saraswati- Vasubandhu or Subandhu. Proceedings and Transactions of Second Oriental Conference Pp. 203-13.

२. Mythic S. J. Vol. XIII No. 1.

इससे स्पष्ट है कि भास ने अनेक नाटकों की रचना की थी परन्तु भास के नाम से प्रकाशित नाटकों के रचयिता के विषय में इससे कुछ नई सामग्री नहीं मिलती।

सेतुबन्ध प्राकृत महाकाव्य के कर्ता प्रवरसेन के विषय में यह श्लोक पाया जाता है —

सेतुकृतेण तिष्ठन्तो लोके सद्वस्तुदर्शिन ।
षट्पञ्चाशत्प्रमाणस्थं भता न कविपुंगवा ॥

जान पड़ता है कि सेतुबन्ध केवल एक कवि की रचना नहीं है, बल्कि अनेक कवियों ने इसके निर्माण में सहायता दी है। 'सेतुबन्ध' की हस्तलिखित प्रति में 'वाकाटकानां महाराजस्य प्रवरसेनस्य कृतौ' लिखा हुआ है जिससे प्रवरसेन स्पष्टतः वाकाटकों का राजा प्रतीत होता है। प्रवरसेन द्वितीय ने कादम्ब नरेशों को हराकर विदर्भ तक अपनी शक्ति बढ़ाई थी। उनका समय ४२० ई० के आसपास माना जाता है।

कालिदास की मधुर कविता का वर्णन इसके अनन्तर किया गया है —

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषशा गिर
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ।

किसी नारायण के विषय में नई सामग्री का पता निम्नलिखित पद्य से लगता है —

व्याप्तुं पदत्रयेणापि यशक्तो भुवनत्रयम् ।
तस्य काव्यत्रयं व्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम् ॥

पद्य में नारायण के तीन प्रबन्धों का उल्लेख है। सम्भवत 'वेणी-संहार' उनमें से एक होगा। परन्तु अन्य दो काव्यों का पता अभी तक नहीं लगा है। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के द्वारा वेणीसंहार के कई श्लोक ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किए गए हैं। वामन ने भी अपनी काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में न केवल इससे पद्य ही उद्धृत किया है वरन् 'पतित वेत्स्यसि क्षितौ' में पदभग के द्वारा 'वेत्स्यसि' शब्द की सत्य प्रतीयमान व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धि का भी यथेष्ट निराकरण किया है। इससे जान पड़ता है कि वामन के समय में, ८वीं सदी के अन्त में, भट्टनारायण की कविता विशेष आदर के साथ देखी जाती थी तथा उनके प्रयोग प्रामाणिक माने जाते थे। अब क्या में उल्लेख होने से उसका समय निश्चय पूर्वक निर्धारित किया जा सकता है। दण्डी के इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि नारायण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भाग है। वे धर्मकीर्ति और भट्टबाण के समकालीन जान पड़ते हैं।

अनन्तर बाणभट्ट तथा मयूरभट्ट का वर्णन एक ही पद्य में किया गया है—

भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः ।
व्याहारेषु जहौ लीला न मयूर............ ॥

राजशेखर ने अपनी कवि-प्रशंसा में बाण और मयूर को हर्षवर्धन (६०६-६४७ ई०) का समकालीन बतलाया है[1]। पद्मगुप्त के 'नवसाहसांकचरित' से इसकी पुष्टि होती है। बाणभट्ट की इस प्रशंसामयी सूचना से निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि दण्डी का आविर्भाव काल बाण के अनन्तर है। इसके द्वारा ऊपर सिद्ध किए गए दण्डी के समय की यथेष्ट पुष्टि होती है। यही क्यों, कथा में कादम्बरी की आख्यायिका भी पूर्ण रूप से वर्णित है। दण्डी ने कादम्बरी की प्रत्येक घटना का वैसा ही वर्णन किया है जैसा बाण ने पूर्वार्द्ध कादम्बरी में। परन्तु कादम्बरी कथा के उत्तरार्द्ध की पूर्ति दण्डी ने अपनी उर्वरा कल्पना शक्ति से की है। इस कारण बाणभट्ट के सुपुत्र पुलिन्दभट्ट द्वारा पूरित उत्तरार्द्ध कथा से इसके कुछ अंश बिल्कुल ही भिन्न हैं। कादम्बरी-कथा की समानता से भी दण्डी का काल बाण के अनन्तर पूर्ण रूप से निश्चित होता है—इसमें सन्देह करने का लेशमात्र भी स्थान नहीं है।

ग्रन्थ का विषय

ऊपर लिखा जा चुका है कि अवन्तिसुन्दरी कथा का वही विषय है जिसका वर्णन दशकुमार-चरित की पूर्वपीठिका में किया गया है। कथासार इसी कथा का छन्दोबद्ध सारांश है। कथा में वररुचि, शूद्रक, कादम्बरी आदि की अनेक उपकथाएँ भी निबद्ध हैं जिससे यह ग्रन्थ बृहत्कथा के ढङ्ग पर रचा गया प्रतीत होता है। पंपाल (जंपाल) ने काव्यादर्श की टीका में अवन्तिसुन्दरीकथा नामक आख्यायिका का उल्लेख किया है और वल्लभदेव की सुभाषितावलि से विभिन्न एक अन्य सुभाषितावलि में दण्डी के नाम से व्यास के विषय में वही पद्य पाया जाता है जो इस कथा के प्रथम परिच्छेद में दिया गया है। इससे भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अच्छी तरह से अनुमित होती है।

दण्डी की रचना शैली बड़ी ओजस्विनी है। उसमें बाणभट्ट के समान ही आनन्द आता है। रचना का ढंग भी उससे बहुत कुछ मिलता जुलता है। परन्तु जहाँ तहाँ अर्थ की कठिनता जान पड़ती है। तथापि इस गद्य काव्य की सुभग रचना एक महाकवि के सर्वथा उपयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं। अभी तो इस ग्रन्थ के सात ही परिच्छेद प्राप्त हुए हैं। शेष भाग का लोप संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास दोनों के लिये विशेष हानिकर हुआ है। निम्नलिखित अंश को ग्रन्थ से उद्धृत किया जाता है:—

---

१. श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः ।

''''''तरङ्गमयी भ्रूपताकयोः, इन्दीवरमयी नयनयुगे, रक्तोत्पलमयी दन्तच्छदे, कुमुदमयी ईषत्स्मितेषु'''अमृतमयी वचसि, प्रसादमयी मनसि, चक्रवाकमयी पयोधरयोः, आवर्तमयी नाभिरन्ध्रे, पुलिनमयी नितम्बतटेषु, पुष्करमयी पादतलयोः, अमर ''पर्मोगायतीर्णा मन्दाकिनीलीलाकरकान्तिरागप्राचुर्याणि पञ्चैव महाभूतस्थाने निधाय निर्मितेव प्रजापतिना, प्रावृडिव घनगम्भीरस्तननाभिरमणी, शरदिव सरसां कान्तिमुद्वहन्ती, हेमन्तवृत्तिरिव प्रालम्बिनी हारमालिनी, शिशिरश्रीरिव नवनवमालिका वसन्तवेलेव चारुभुजगासमुपितवनुलता सर्वर्तुसंसूचितयैव नन्दनस्वभावा ''''देवी वसुमती नाम।

दण्डी के प्रधान ग्रन्थों के नाम पहले दिये जा चुके हैं। काव्यादर्श अलंकार शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। दशकुमार-चरित दण्डी की गद्य रचना का नमूना है। इसमें दश कुमारों के विभिन्न चरित्र का मनोरञ्जक वर्णन है। मुख्य दशकुमार चरित के आरम्भ तथा अन्त में कथाभागों को क्रमानुसार जोड़ने के लिये दो अंश मिलते हैं। पहले को 'पूर्व पीठिका' कहते हैं तथा दूसरे को 'उत्तर पीठिका'। पूर्व पीठिका में पाँच उच्छ्वास है जिनमें चरित के प्रधान पात्र राजवाहन तथा अवन्तिसुन्दरी के विवाह आदि का वर्णन किया गया है। लिखा गया है कि इस पूर्व-पीठिका का मूल हाल में मिली 'अवन्तिसुन्दरी कथा' है। दशकुमार चरित में आठ उच्छ्वास हैं जिनमें कुमारों ने अपने चरित स्वयं वर्णन किये हैं। अन्त में पाँच पृष्ठों की एक छोटी उत्तर पीठिका मिलती है जिसमें कथा का अवसान दिखलाया गया है। उत्तर पीठिका दण्डी की रचना नहीं हो सकती। समय समय पर भिन्न भिन्न लेखकों ने कथापूर्ति के लिये छोटी मोटी पीठिकाएँ लिखी थीं। किसी विनायक नामक विद्वान् ने इसकी पद्य में रचना की है और चक्रपाणि ने गद्य में। इन्हीं पूर्व तथा उत्तर-पीठिकाओं से सवलित आठ उच्छ्वासों में विभक्त आजकल का दशकुमार चरित है।

लेखन शैली

कविवर दण्डी के विषय में प्राचीन आलोचकों की सम्मति है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

अर्थात्—वाल्मीकि के उत्पन्न होने पर संसार में एकवचनान्त कवि की अभिधा हुई। व्यास के होनेपर द्विवचनान्त प्रयोग हुआ। दण्डी के उत्पन्न होने पर कवि का बहुवचन में प्रयोग चला। इस पद्य का आशय है कि संस्कृत साहित्य

में वाल्मीकि आदि कवि हैं। उनके बाद व्यास का कवि श्रेणी में नम्बर आता है। तीसरा नाम दण्डी का है। वाल्मीकि तथा व्यास के समान ही दण्डी को साहित्य में उन्नत स्थान प्राप्त है। दण्डी के पद लालित्य की बड़ी प्रशंसा है—'दण्डिनः पदलालित्यम्'। दण्डी का गद्य अपनी विशेषता रखता है। सुबन्धु के गद्य के समान न तो यह 'प्रत्यक्षरश्लेषमय' है और न बाणभट्ट के गद्य के बराबर 'सरस-स्वरवर्णपद' से सुशोभित तथा साहित्यिक गद्य का आदर्श है। यह बहुत कुछ प्रतिदिन के काम में लाने लायक 'व्यावहारिक' गद्य का नमूना है। यह शैली 'दशकुमार' की कथा के वर्णन के लिये खूब ही उपयुक्त है। पदों में लालित्य भी है। वर्णन भी लम्बे लम्बे समासों में नहीं है। वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं। कथा-वैचित्र्य इस चरित में बहुत ही मनोरंजक है। इनकी कथाओं की जान इनकी विचित्रता है। दशकुमारचरित से उस समय में अनेक प्रचलित सामाजिक प्रथाओं का परिचय भी हमें प्राप्त होता है। दशकुमारचरित के वर्णनों में स्थान-स्थान पर अश्लीलता मिलती है जो सहृदयों के लिए अत्यन्त उद्वेजक है। इस दोष को यदि छोड़ दें तो दशकुमार चरित का गद्य सुन्दर कहा जा सकता है।



माघ

'बृहत् त्रयी' में द्वितीय मान्य काव्य अपनी विशिष्ट काव्य शैली के लिए प्रख्यात 'शिशुपालवध' है। 'मेघे माघे गतं वयः'—किसी प्राचीन आलोचकशिरोमणि की यह उक्ति काव्य की लोकप्रियता का उत्कृष्ट निदर्शन है।

संस्कृत-साहित्य में बृहत्त्रयी—किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित—का बड़ा आदर है। अनेक महाकाव्यों के होने पर भी पण्डित लोग विशेषतः इन्हीं के अध्ययन में समय बिताते हैं। संस्कृत काव्य में व्युत्पत्ति पैदा करने के उद्देश्य से इसका मनन करना आवश्यक है। इसके सम्यक् अध्ययन से न केवल शब्द-कोष में ही वृद्धि होती है, बल्कि नवीन रस-भावभङ्गी का ज्ञान उच्चकोटि का हो जाता है। यदि बृहत्त्रयी का अच्छी तरह मनन किया जाय, तो संस्कृत के अधिकांश महाकाव्यों की भाषा या भाव का ज्ञान पूरी तौर से हो सकता है। इसमें भी शिशुपाल-वध का स्थान बहुत ही ऊँचा है। प्राचीन काल से इसका आदर होता चला आ रहा है; इसके अध्ययन की परम्परा अविच्छिन्न रही है। 'मेघे माघे गतं वयः' इस प्राचीन कथन से हम शिशुपालवध की लोकप्रियता को अच्छी तरह समझ सकते हैं। वास्तव में यह संस्कृत-साहित्य का अनुपम रत्न है। यह पढ़ने और समझने की एक चीज है। परन्तु आजकल अधिकांश विद्यार्थी इसके कुछ अंशों ही के पढ़ने में अपना समय बिताते हैं। समग्र ग्रंथ के पढ़ने का कष्ट नहीं उठाते। विद्वानों की राय में समग्र ग्रंथ को न पढ़ने से महाकवि की योग्यता तथा उत्तमता का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिल सकता।

जीवनवृत्त

शिशुपालवध के कर्ता का नाम 'माघ' है। डॉक्टर याकोबी का मत है कि जिस प्रकार "भारवि" ने अपनी प्रतिभा की प्रखरता सूचित करने के लिए 'भा-रवि' (सूर्य का तेज) नाम रखा, उसी भाँति शिशुपालवध के अज्ञातनामा रचयिता ने अपनी कविता की प्रकृष्ट प्रौढ़ि दिखलाने के लिए 'माघ' नाम धारण किया, क्योंकि माघमास में सूर्य की किरणें ठंढी पड़ जाती हैं। परन्तु, यह कल्पना बिलकुल निर्मूल जान पड़ती है। अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि परवर्ती आलोचकों ने 'भारवि' तथा 'माघ' नामों की निरुक्ति कर माघ को भारवि से बढ़कर बताने का यत्न किया है[1]। शिशुपालवध के कर्ता का नाम ही 'माघ' है,

1. "तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः"।

उपाधि नहीं। माघ की जीवन घटनाओं का पता 'भोजप्रबन्ध' तथा 'प्रबन्ध चिन्तामणि' से लगता है। दोनों पुस्तकों में प्राय एक-सी कहानी दी गयी है। माघ ने ग्रन्थ के अन्त में अपना थोडा परिचय दिया है। इन सबको एकत्रित करने पर माघ के जीवन की मुख्य घटनाएँ संकलित की जा सकती हैं।

माघ के दादा का नाम सुप्रभदेव था। वे महाराज वर्मलात नामक राजा के, जो गुजरात के किसी प्रदेश का शासक था, प्रधान मन्त्री थे। अत: माघ कवि का जन्म एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मणकुल में हुआ। इनके पिता का नाम 'दत्तक' था। ये बडे विद्वान् तथा दानी थे। गरीबों की सहायता में इन्होंने अपने धन का अधिकांश भाग लगा दिया। माघ का जन्म भीनमाल[1] में हुआ था। पिता की दानशीलता का प्रभाव पुत्र पर भी पडा। ये भी खूब दानी निकले। राजा भोज[2] से इनकी बडी मित्रता थी। राजा भोज का इन्होंने अपने घर पर बडे आवभगत से सत्कार किया। धीरे धीरे अधिक दान देने से ये निर्धन हो गये।

तब अपने मित्र भोज के पास आश्रय के लिये आये। 'भोजप्रबन्ध' में लिखा है कि इनकी पत्नी राजा के पास 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदाम्भोजखण्डम्' आदि पद्य को, जो माघकाव्य के प्रभात वर्णन (११ सर्ग) में मिलता है, ले गयी। इस पद्य के लिये राजा ने प्रभूत धन दिया। उसे लेकर माघ पत्नी ने रास्ते में दरिद्रों को बाँट दिया। माघ के पास पहुँचने पर उनकी पत्नी के पास एक कौडी भी न बच रही, परन्तु याचकों का ताँता बँधा ही रहा। कोई उपाय न देखकर दानी माघ ने अपने प्राण छोड दिये। प्रातःकाल भोज ने माघ का यथोचित अग्निसत्कार किया और बहुत दुःख मनाया। माघ पत्नी भी सती हो गई।

माघ के जीवन की यही घटना परम्परया ज्ञात है। न जाने यह सच्ची है या नहीं, परन्तु इतना तो हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि माघ एक प्रतिष्ठित

---

१ यह गुजरात का एक प्रधान नगर था। बहुत दिनों तक यह राजधानी तथा विद्या का मुख्य केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ने ६२५ ई० के आस पास अपने 'ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त' को यहीं बनाया। इन्होंने अपने को 'भीनमल्लाचार्य' लिखा है। ह्वनसाँग ने भी इसकी समृद्धि का वर्णन किया है।

२. यह धारा का प्रसिद्ध राजा भोज नहीं हो सकता। इतिहास इसे असम्भव सिद्ध कर रहा है। अतएव कुछ लोग 'भोज प्रबन्ध' की कथा पर विश्वास नहीं करते। परन्तु इतिहास में कम से कम दो भोज अवश्य थे। एक तो प्रसिद्ध धारानरेश भोज (१०१०-५०) थे और दूसरे कोई सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए। सम्भवत इसी दूसरे राजा के समय में माघ हुए थे। 'भोजप्रबन्ध' ने दोनों भोजों की कथाओं में गडबडी मचा डाली है।

धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। जीवन के सुख की सामग्री इनके पास थी। पिता ने इन्हें शिक्षा दी थी। पिता के समान ही ये दानी तथा उपकारी थे। किसी राजा भोज के यहाँ इनका बड़ा मान था।

समय

माघ के समय निरूपण में बड़ा मतभेद है। कोई इनको सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानता है, तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में। परन्तु एक शिलालेख के आधार पर पहिला समय ज्यादा सम्भव जान पड़ता है। पूर्वोक्त भोज को प्रसिद्ध धारा नरेश मानकर कोई-कोई इन्हें ११ ग्यारहवीं शताब्दी में मानते हैं; परन्तु यह नितान्त अनुचित है। क्योंकि नवीं शताब्दी में होनेवाले आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में माघ काव्य के कई पद्यों को उद्धृत किया है। 'रम्या इति प्राप्तवती पताका' (३।५३) तथा 'त्रासाकुल' परिपतन' (५।२६)—माघ के इन दोनों पद्यों को आनन्द ने उदाहरण के लिए ध्वन्यालोक में दिया है। उतना ही नहीं, 'कविराजमार्ग'[1] नामक एक दूसरे अलंकारग्रंथ में भी माघ का नाम मिलता है।

अतएव यह निश्चित है कि माघ का समय नवीं सदी (८००) से उतर कर नहीं हो सकता है। इसके ऊर्ध्वतर काल को निश्चित करनेवाले एक प्रमाण की उपलब्धि अभी हुई है। डाक्टर कीलहार्न को राजपूताने के वसन्तगढ़ नामक किसी स्थान से वर्मलात राजा का एक शिलालेख मिला है[2]। शिलालेख का समय संवत् ६८२ अर्थात् ६२५ ई० है। शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न-भिन्न लिखा मिलता है। धर्मनाभ, धर्मनाम, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठ भेद पाये जाते हैं। भीन-

---

१. यह ग्रंथ कनडी भाषा में है। इसमें दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर ही अलंकार निरूपण किया गया है। प्रसिद्ध दक्षिणदेशीय राजा अमोघवर्ष (८१४) के समय में नृपतुंग नामक कवि ने इसकी रचना की थी। कनडी भाषा की प्राचीनतम पुस्तक होने के हेतु भी यही यही महत्त्वपूर्ण है।

२. वर्मलात के बसन्तगढ़ शिलालेख का समय विक्रम संवत् ६८२ है। इसका पता नीचे लिखे पद्य से लगता है—

द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे
जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठिपुंगवैः ॥११॥

इस शिलालेख की रचना के नमूने के तौर पर यह पद्य दिया जाता है—

जयति जयत्युद्दमलक्षितवक्षःस्थलसंश्रितश्रियाधारः ।
श्री वर्मलातनृपतिः पतिरवनेरधिकबलवीर्यः ॥

माल के आसपास के प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से डाक्टर किलहार्न 'वर्मलात' को असली पाठ मानकर इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को एक ही मानते हैं। अतः सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास है। अतएव इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग ६५० ई० से लेकर ७०० ई० तक होगा। अर्थात् माघ का आविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्ध है।

इस समय के निरूपण का बाधक एक प्रमाण है जिसका यहाँ खण्डन कर देना समुचित होगा। माघ ने द्वितीय सर्ग के एक पद्य[1] में व्याकरण के प्रधान ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य तथा काशिका वृत्ति के साथ उन्होंने जिनेन्द्रबुद्धि-कृत न्यास नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। ह्वेन्साङ्ग के अनन्तर भारत में आने वाले इत्सिङ्ग नामक चीनी यात्री ने काशिकाकार वामन तथा जयादित्य—का वर्णन किया है, वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि की मृत्यु का उल्लेख किया है, परन्तु जिनेन्द्रबुद्धि जैसे प्रचण्ड बौद्ध विद्वान् के विषय में वह बिल्कुल मौन है। अतः जान पड़ता है कि जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास की रचना उसके जाने के साल (६९५ ई०) तक नहीं की थी। जब इत्सिङ्ग व्याकरण के अन्य ग्रन्थों का उल्लेख कर गया है तो जिनेन्द्रबुद्धि के इतने प्रसिद्ध होने पर उनके उल्लेख करने से वह विरत नहीं होता—अतः जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास की रचना ७०० ई० के आसपास की गई होगी। पूर्वोक्त पद्य पर मल्लिनाथ की टीका से माघ के द्वारा न्यास के उल्लेख (संकेत) किये जाने का हाल मालूम होता है।

जब माघ स्वयं ७०० ई० के आसपास के बने ग्रन्थ का उल्लेख अपने ग्रन्थ में करते हैं तो उनका समय ६५० ई० ७०० ई० तक कैसे माना जा सकता है? परन्तु 'न्यास' ग्रन्थ के उल्लेख से भी यह कहना ठीक नहीं है कि माघ यहाँ जिनेन्द्र बुद्धि के ग्रन्थ का ही उल्लेख कर रहे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि के पहले भी बहुत से न्यास ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। जिनेन्द्रबुद्धि ने ही चुणि, चुल्लि तथा नल्लूर आदि के न्यास ग्रन्थों का उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने, जो न्यास की रचना के पहिले अवश्य हो चुके थे, 'हर्षचरित' में ठीक इसी श्लेष की उद्भावना की है—"कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि"। अतएव हम माघ को निश्चय-पूर्वक जिनेन्द्रबुद्धि के पीछे नहीं मान सकते। बाणभट्ट के समान माघ ने भी इन्हीं

---

1. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ —२।११२।

इस पद्य में माघ ने श्लेष के द्वारा राजनीति की समता शब्द-विद्या (व्याकरण शास्त्र) से की है।

न्यासों की ओर संकेत किया है, न कि जिनेन्द्र-बुद्धि के न्यास की ओर। अतएव माघ का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होना निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

ग्रन्थ

माघ की कीर्तिलता केवल एक ही महाकाव्य शिशुपालवध रूपी वृक्ष पर अवलम्बित है। इसमें कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चेदि-नरेश शिशुपाल के वध की महाभारतीय कथा विस्तार से वर्णित है। महाकाव्य लम्बे-लम्बे बीस सर्गों में समाप्त हुआ है। महाकाव्य का रूप देने के लिये माघ ने इस ग्रन्थ में ऋतुवर्णन आदि अनेक विषयों का संगठन किया है। इन विषयों से कथा में चमत्कार पैदा हो गया है। स्थान स्थान पर राजनीति के विषय में लम्बे-लम्बे व्याख्यान भी दिये गये हैं। अलङ्कारों की नवीनता देखते ही बनती है। माघ ने बड़े प्रयास से श्लेष को बैठाया है। यमक, अनुलोम, प्रतिलोम, एकाक्षर सर्वतोभद्र आदि अनेक चित्रालङ्कारों का इस ग्रन्थ में मधुर सन्निवेश किया गया है। सूक्ति-संग्रहों में अवश्य कई पद्य माघ के नाम से दिये गये हैं[1] जो शिशुपालवध में अनुपलब्ध हैं। अतः कई विद्वानों का अनुमान है कि माघ ने किसी अन्य ग्रन्थ की भी रचना की थी, जिससे ये पद्य सम्भवतः उद्धृत किये गए हैं।

भारवि और माघ

माघ के महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। बहुतों का अनुमान है कि माघ ने साम्प्रदायिक प्रेम से उत्तेजित होकर अपने पूर्ववर्ती 'भारवि' से बढ़ जाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया है। भारवि शैव थे अथवा कम से कम शिव के बड़े भक्त थे। इनका काव्य शिव के वरदान के विषय में है। माघ वैष्णव थे। इन्होंने विष्णु विषयक महाकाव्य की रचना की है। अतएव महाकाव्य में विष्णु के पूर्णावतार श्रीकृष्ण के द्वारा शिशुपाल के मारे जाने का विस्तृत वर्णन है। वह स्वयं अपने ग्रन्थ को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहते हैं। भारवि से बढ़ जाने के लिए माघ ने कुछ भी नहीं उठा रक्खा है। 'किरातार्जुनीय' को अपना आदर्श मानकर भी माघ ने अपने काव्य में बहुत कुछ अलौकिक चमत्कार पैदा कर दिया है। किरात के समान ही माघ काव्य भी मंगलार्थक 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। किरात के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीं' है, उसी प्रकार माघ के आरम्भ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है।

---

1 बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः॥
—औचित्य विचारचर्चा

भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने भी इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्तपद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है। शिशुपालवध तथा किरातार्जुनीय के वर्णन क्रम में भी समानता है। दोनों महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है—किरात में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के पास; माघ में नारद के द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र के सामने। दूसरे सर्ग में राजनीतिक कथन है। किरात में भीम के कथन के अनन्तर व्यासजी के उपदेशानुसार कार्य किया गया है। माघ में भी इसी प्रकार बलराम के मत को न मानकर उद्धव के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने का वर्णन है। अनन्तर दोनों में यात्रा का वर्णन है। ऋतु-वर्णन भी दोनों में है—किरात के चतुर्थ सर्ग में तथा माघ के षष्ठ सर्ग में। पर्वत का वर्णन भी एक समान है—किरात के ५वें सर्ग में हिमालय का तथा माघ के ४ थे सर्ग में रैवतक पर्वत का। अनन्तर दोनों में सन्ध्याकाल, अन्धकार, चन्द्रोदय, सुन्दरियों की जलकेलि—आदि विषयों के वर्णन कई सर्गों में दिये गये हैं। किरात के १३वें तथा १४वें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में बाण के लिए वाद-विवाद हुआ है; माघ के १६वें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि में हुआ है। किरात के १५वें तथा माघ के १९वें सर्ग में चित्र-बन्धों में युद्धवर्णन है। इस प्रकार समता होने पर भी किरात और माघ में बड़ी भिन्नता है। कहीं कहीं भारवि की छाया माघ पर दीख पड़ती है परन्तु माघ की संस्कृत-साहित्य में कुछ ऐसी विशेषता है जो भारवि में देखने को न मिलेगी। इसीलिये रसिकजन माघ के सामने भारवि को हीन समझते हैं—'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः'।

'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'। यह तो सब पण्डित जानते हैं कि माघ में तीनों गुण हैं—उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य। इन तीनों गुणों का सुभग दर्शन हमें माघ की कमनीय कविता में हो रहा है। भारवि की प्रसिद्धि केवल अर्थगौरव के लिए है, परन्तु माघ में इसके साथ-साथ अन्य गुणों की भी उपलब्धि होती है। बहुत से आलोचक पूर्वोक्त वाक्य को माघ भक्त किसी कवि-पण्डित का अविचारित-रमणीय हृदयोद्गार बतलाते हैं, परन्तु वास्तव में पूर्वोक्त आभाणक में कुछ सत्यता है। माघ में कालिदास जैसी उपमाएँ भले न मिलें, परन्तु फिर भी इनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास तो निःसन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। इसीलिए धनपाल का यह कथन कितनी सत्यता से भरा है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा।

जिस प्रकार माघ के ठंडे महीने में सूर्य भगवान् के आतप की सेवा करने पर भी बिचारे कपिलोग पदक्रम रखने में—चलने फिरने में—असमर्थ हो जाते हैं—उत्साहहीन हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार माघ कवि की पदरचना देखकर कवियों का दिल काव्य लिखने में ठंडा पड़ जाता है। पदक्रम (पदरचना) के लिए उनमें उत्साह ही नहीं रहता, चाहे वे भारवि के पदों का कितना ही स्मरण करें, इस कविता कार्य में बिचारे सर्वथा असमर्थ ही रहते हैं। माघ के सामने कविजन की दशा माघ मास के कपिजन जैसी है। यह उक्ति चमत्कारिणी होने पर भी सत्य ही है। माघ के पदविन्यास में कुछ ऐसी ही विशेषता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि नवसर्ग बीत जाने पर माघ में 'नव' (नया) शब्द नहीं मिलता—'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'।

माघ की विद्वत्ता

माघ केवल सरस कवि न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड सर्वशास्त्रतत्त्वज्ञ विद्वान् थे। भारवि में राजनीति पटुता अवश्य दीख पड़ती है, श्रीहर्ष में दार्शनिक उद्भटता अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह उन दोनों कवियों में कहाँ? उनमें भी पाण्डित्य है, परन्तु वह केवल एकाङ्गी है। परन्तु माघ का पाण्डित्य सर्वगामी है—सब शास्त्रों के विषय में है। वेद तथा दर्शनों से लेकर राजनीति तक का विशिष्ट परिचय इनके काव्य में पाया जाता है।

माघ का श्रुति विषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। इष्टिकर्म में आवश्यक सामिधेनी ऋचाओं का उल्लेख किया है (११ सर्ग, ४१ श्लोक)। वैदिक स्वरों की विशेषता भी आपको भलीभाँति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है, इस नियम का उल्लेख मिलता है[1]। एक पद में होनेवाला उदात्त स्वर अन्य स्वरों को अनुदात्त बना डालता है—एक स्वर के उदात्त होने से अन्य स्वर 'निघात' हो जाते हैं, स्वर—विषयक इस प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन माघ ने शिशुपाल के वर्णन में बड़ी सुन्दर रीति से किया है (निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्त स्वरानिव)। चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन माघ के विशिष्ट वैदिकत्व का पर्याप्त परिचायक है[2]।

---

१ सशयाय दधतो सरूपतां दूरभिन्नफलयो क्रियां प्रति।
शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवसमु स्वरेण ते॥ —१४।२४

२ शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽनुवाच्यया।
याज्यया यजनकर्मिणोऽत्यजन् द्रव्यजातमपदिश्य देवताम्॥ —१४।२०

दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञान माघ में दिखाई पड़ता है। साङ्ख्य के तत्त्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। प्रथमसर्ग में नारद ने श्रीकृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है, वह साङ्ख्य के अनुकूल है[1]। योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने में आती है। 'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय' आदि पद में चित्त-परिकर्म, सबीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति—योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं[2]। आस्तिक—वैदिक—दर्शनों की कौन कहे, नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्च कोटि का था। माघ बौद्ध दर्शनों से भी भलीभाँति परिचित थे[3]। वे उसके सूक्ष्म विभेदों के भी ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकार थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति की खूबियाँ खूब ही दिखलायी गयी हैं। प्रत्येक ने अपने मत का समर्थन बड़ी योग्यता से किया है। माघ का ज्ञान नाट्यशास्त्र में भी बड़ा ऊँचा था। उन्होंने नाट्य शास्त्र के विभिन्न अङ्गों की उपमा बड़ी सुन्दरता से दी है[4]। माघ एक प्रवीण वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण

---

१ उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः॥ —१।३३

तस्य साङ्ख्यपुरुषेण तुल्यतां बिभ्रतः स्वयमकुर्वतः क्रियाः।
कर्तृता तदुपलम्भतोऽभवद् वृत्तिभाजि करणे यथर्त्विजि॥ —१४।१९

२ मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषाऽन्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्॥ —४।५५

३ सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम्
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥

—२ सर्ग, २८ श्लोक

इस एक ही पद्य में बौद्ध दर्शन तथा राजनीति के मूल सिद्धान्त वर्णित हैं। जिस प्रकार बौद्धों की सम्मति में केवल पाँच स्कन्धों—रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार—का समूह ही आत्मा है, उसी भाँति राजाओं के लिए भी अङ्गपञ्चक ही सबसे बड़ा मन्त्र है। अङ्ग पाँच होते हैं—१ सहाय, २ साधनोपाय, ३ देशकालविभाग ४ विपत्तिप्रतिकार ५ सिद्धि। राजा यदि अपने कार्यों में इन पाँचों का खयाल रखे तो उसका बड़ा हित होगा।

४ पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः। इस पद्यांश में पूर्वरङ्ग के सच्चे कार्य का उल्लेख किया गया है। पूर्वरङ्ग एक लम्बा चौड़ा धार्मिक कार्य था, जो नाटक के आरम्भ में किया जाता था। भरत नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग का विस्तार के साथ वर्णन है।

के सूक्ष्म नियमों का पालन अपने काव्य में भलीभाँति किया है। व्याकरण के आर्षग्रन्थों का भी उल्लेख उन्होंने पूर्वोदाहृत पद्य में किया है। उन्होंने एक जगह 'परिभाषा' से बड़ी सुन्दर उपमा दी है। इन सबसे माघ के व्याकरण का अखण्ड पाण्डित्य स्पष्ट हो प्रतीत होता है[1]। माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीतशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे। जगह जगह पर संगीत शास्त्र के मूल तत्त्वों का निदर्शन कराया गया है[2]। नीचे के पद्य में कविवर माघ की संगीत शास्त्र विषयक अभिज्ञता पूर्ण रूप से प्रकट हो रही है। इस पद्य में प्रातःकाल के संबोधन समय में पंचम तथा ऋषभ को छोड़कर षड्ज स्वर आलापने का उल्लेख है। महर्षि भरत के अनुसार संगीतशास्त्र में भी यही प्रथा प्रचलित है।[3]

अलंकार शास्त्र में माघ की प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना प्रदेश है। माघ ने राजनीति के गूढ़ तत्त्वों को सम्यक् समझाने के लिए—हृदयङ्गम कराने के लिये—अलङ्कार शास्त्र के नियमों का सहारा लिया है। एक प्रख्यात पद्य में कवि ने रसोत्पत्ति का सुन्दर वर्णन किया है[4]। माघ ने एक सच्चे कवि आलङ्कारिक के ऊँचे पद से शब्द तथा अर्थ दोनों को 'काव्य' माना है[5]।

कहने का सारांश यह है कि माघ एक महान् कवि पण्डित थे। उनका ज्ञान हिन्दू दर्शन, बौद्ध दर्शन, नाट्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि शास्त्रों में बड़ा उत्कृष्ट था। माघ ने अपना सम्पूर्ण ज्ञान कविता कामिनी को अर्पण कर दिया है—उन्होंने कविता की बाँकी छटा को सजाने के लिए समग्र

---

१. निपातितसुहृत्स्वामिपितृव्यभ्रातृमातुलम्।
पाणिनीयमिवाऽऽलोकि धीरैस्तत् समराजिरम्॥ —१९।७५

२. श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।
प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय॥ —११।१

३. प्रभाते सुतरां निन्द्यः ऋषभः पंचमोऽपि च
जनयेत्प्रघनं द्युक्षा पंचत्वं पञ्चमोऽपि च।
पंचमस्य विरोधोयं कथितः पूर्वसूरिभिः
प्रगे प्रगीतो जनयेद्दशनानां विपर्ययम्॥

४. स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः॥ —२।८७

५. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। —२।८६

संस्कृत साहित्य का उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है। माघ की यह विशेषता उन्हें महाकवियों की श्रेणी में उन्नत बना रहा है।

कविता

(१) माघ की कविता शैली अपने ढङ्ग की अनुपम है। माघ की शैली को कृत्रिम न कह अलंकृत' (Ornate) कहना उपयुक्त है। प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में न होकर अलङ्कारों से विभूषित भाषा में प्रकट किया गया है। समासों की बहुलता विकट वर्णों की उदारता', गाढ बन्धों की मनोहरता—हमारे मानस पटल पर आकर नाचने लगती है। इस ओजोगुणमयी कविता का माघकाव्य में सर्वोत्कृष्ट विकाश है। छन्द छोटे हों या बड़े, शैली की असाधारणता सर्वत्र झलक रही है।

(२) माघ ने इस शैली को खूब ही अलंकृत बनाया है। चित्रालङ्कारों से यह शैली चित्रित की गयी है, तथा कहीं कहीं काव्य में कठिनता पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। समग्र उन्नीसवें सर्ग में इन्हीं चित्रालङ्कारों के द्वारा युद्ध का विचित्र वर्णन किया गया है। अनेक छन्दों की रचना केवल दो अक्षरों में की गयी है। उदाहरणार्थ यह पद्य 'ज' तथा 'र' की लपेट में समाप्त किया गया है।

राजराजी रुरोजाजेरजिरेऽजोऽजरोऽरजाः ।
रेजारिजूरजोर्जाजौ रराजर्जुरजर्जरः ॥

—१९।१०२

अर्थालङ्कारों में श्लेष का प्रयोग उत्तम रीति से किया गया है। स्थान स्थान पर मुग्धकारिणी स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षाओं की भी कमी नहीं है।

(३) माघ काव्य के वर्णन—प्राकृतिक या मानुषिक खूब सजीव हैं। प्रत्येक वर्णन में स्वाभाविकता पूरी प्रदर्शित की गई है। कवि की प्रकृति पर्यवेक्षण-शक्ति का पूरा पता इन्हीं स्वाभाविक वर्णनों से भली भाँति लगता है। किसी वस्तु के विस्तार के साथ वर्णन करने की शक्ति भी माघ में विशेषरूपेण दीख पड़ती है। श्रीकृष्ण की यात्रा का वर्णन एक समग्र सर्ग में समाप्त हुआ है। इनमें वास्तविकता भरी पड़ी है। प्रभात वर्णन तथा यात्रा वर्णन से इसकी पुष्टि भली भाँति हो

दण्डी तथा जगन्नाथ की सम्मति में रमणीयार्थक प्रतिपादक शब्द ही काव्य है, परन्तु प्राचीन आलङ्कारिक—भामह, वामन, मम्मट और रुद्रट शब्द तथा अर्थ को काव्य मानते हैं। सच्ची बात भी यही है। काव्य का आदर्श लक्षण यही है—'अदोषौ सगुणौ सालंङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्।

जाती है। रैवतक पर्वत का आलङ्कारिक वर्णन भी बड़ा रोचक है। ऋतु जल-क्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन आलङ्कारिक तथा साम्प्रदायिक है।

रैवतक पर जरा दृष्टि डालिये—कवि ने उसको क्या ही विशाल हाथी का रूप प्रदान किया है —

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा
द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥ —४।२०

प्रातःकाल रैवतक की सुषमा का वर्णन है। ऊपर फैले हुए रज्जुरूपा किरणों से युक्त सूर्यनारायण रैवतक के एक ओर उदय हो रहे हैं और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त हो रहे हैं। जान पड़ता है कि यह रैवतक उस गजेन्द्र की शोभा धारण कर रहा है जिसके दोनों ओर घण्टे लटक रहे हों। इस कल्पना पर मुग्ध होकर प्राचीन समालोचकों ने माघ को 'घण्टामाघ' कहा है। वास्तव में यह कल्पना कवि के उर्वर मस्तिष्क की मनोहर उपज है।

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चै
प्रतिपदमुपहूत केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
ददद्पि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥ —११।४

प्रातःकाल में झपकी लेनेवाले सिपाही का क्या ही खासा स्वाभाविक वर्णन है। चौकीदार अपने समय को बिताकर सोना चाहता है। वह दूसरे पहरेदार को 'जागो' 'जागो' कहकर पद पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जागते हुए भी सो रहा है। नींद के मारे अनर्थक आँय बाँय कुछ शब्द कहता है अवश्य परन्तु फिर भी वह सो जाता है, जागकर भी अपने पहरे पर नहीं जाता। क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है।

परिणतमदिराभं भास्करेणांशुबाणै
तिमिरकरिघटायाः सर्वदिक्षु क्षतायाः ।
रुधिरमिव वहन्त्यो भान्ति बालातपेन
च्छुरितमुभयरोधोवारितं वारि नद्यः ॥ —११।४९

प्रातःकाल के नदीजल का वर्णन है। सूर्यदेव ने किरणरूपी बाणों से अन्धकाररूपी गजघटा को, जो सब दिशाओं में फैली हुई थी, मार डाला है। बाल सूर्य की चमक पड़ने पर नदी का जल बिल्कुल लाल रंग का हो गया है। जान पड़ता है कि अन्धकार रूपी हाथी के शरीर से जो लहू चू रहा है, उसी से यह नदी का जल लाल हो रहा है।

सूर्योदय का वर्णन सुनिये—

> निततपृथुवरत्रा—तुल्यरूपैर्मयूखैः,
> कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
> कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि-
> र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥
>
> —११।४४

चारों ओर फैली हुई, मोटी रस्सियों के समान, किरणों के द्वारा खींचा जाता हुआ, बड़े भारी कलश के समान यह सूर्य दिशारूपी नारियों से समुद्र के जल से निकाला जा रहा है। जिस प्रकार कलश रस्सी की सहायता से बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार पूर्व समुद्र में डूबे हुए सूर्य को दिशायें किरणरूपी रस्सियों से खींचकर निकाल रही हैं। जिस प्रकार घड़े को जल से निकालने के समय बड़ा कोलाहल होता है, उसी तरह प्रातःकाल का चुह चुहाती चिड़िया शोर मचा रही है। वाह री कल्पना की नवीनता! प्रातःकाल के समय पक्षिगण का मनोहर कोलाहल, कर्णपुट को सुख देता है। चारों ओर किरणें फैलाने वाले सूर्य का क्या ही सुन्दर वर्णन है।

> उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
> सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
> विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः,
> परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥ —११।४७

जिस प्रकार आँगन में खेलता हुआ कोई बालक, बुलानेवाली अपनी माता की गोद में, हँसते हुये अपने कोमल हाथों को फैला कर आ गिरता है, उसी प्रकार बालसूर्य (बालक सूर्य) उदयाचल के शिखररूपी आँगनों में घूमता हुआ, मुख के समान कमलों को विकसित करनेवाली कमलिनियों से देखा गया, अपने कोमल करों (किरणों) को फैलाकर, पक्षियों के द्वारा शब्द करनेवाली आकाशरूपी माता की गोदी में लीलापूर्वक गिर रहा है। वाह री कल्पना की बहार! अलङ्कारों की अनुपम छटा! श्लेष तथा अतिशयोक्ति से परिपुष्ट किये गये रूपक की रमणीयता वास्तव में प्रशंसनीय है, आदरणीय है।

> कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
> त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
> उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
> हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥ —११।६४

प्रातःकाल कुमुदवन की शोभा नष्ट हो रही है। कमलों के वन की शोभा बढ़ रही है। उल्लू को शोक हो रहा है और चकवाक आनन्दित होता है।

सूर्य का उदय हो रहा है और चन्द्रमा डूब रहा है। अजीब दशा है। बुरे भाग्यवालों का परिणाम बड़ा विचित्र होता है।

गायों के दूध दुहने का दृश्य देखिये—

प्रीत्या नियुक्ताँल्लिहतीः स्तनंधया
न्निगृह्य पारीमुभयेन जानुनोः ।
वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पयः
चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः ॥ —१२।४०

गायों के बछड़े उनके बामपाद में बँध दिये गये हैं। वे उन्हें प्रेमपूर्वक चाट रही हैं। ग्वाले लोग गायों से अपने दोनों घुटनों पर दुहने का बर्तन रखकर दूध दुह रहे हैं। दूध के दुहे जाने पर घरघों-घरघों की आवाज बढ़ती जाती है। ऐसे ग्वालों को श्रीकृष्ण ने बड़े ध्यान से देखा। क्यों नहीं, श्रीकृष्ण को बचपन से ही यह दृश्य बड़ा प्यारा है। वे तो स्वयं वृन्दावन के गोपाल हैं—

निम्नानि दुःखादवतीर्य सादिभिः
सयत्नमाकृष्टकशाः शनैः शनैः ।
उत्तेरुरुत्तालखुरारवं द्रुताः ,
श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजाः ॥ —१२।३१

घुड़सवार चले जा रहे हैं। आगे कुछ नीची जमीन मिल जाती है। सवार लोग रास को बलपूर्वक खींच लेते हैं, तथा धीरे धीरे इस नीची भूमि को बड़ी कठिनता से पार करते हैं। इसे पार करने पर वे लगाम ढीली कर देते हैं। घोड़ों को दौड़ने के लिये काफी चौड़ी जमीन मिल जाती है तथा वे अब अपने तेज टापों से धूल उड़ाते दौड़े जा रहे हैं। घोड़ों की प्रकृति का क्या ही यथार्थ चित्र है। घोड़ों पर अभ्यस्त चढ़ने वाले माघ के इस वर्णन के पूर्णरूप से साक्षी हैं।

(४) माघ संस्कृतभाषा पर पूरी प्रभुता रखते हैं। उनके काव्य में नवीन शब्दावली सर्वत्र उपलब्ध होती है। "नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते"—माघ के नवसर्गों को पढ़ जाने पर कोई नया शब्द नहीं मिलता—माघ की देववाणी पर प्रभुता के विषय में प्राचीन आलोचकों की यह सर्वमान्य सम्मति है। माघ का शब्दभण्डार वृहत् है। इसकी पुष्टि माघकाव्य जैसे २० सर्गवाले महाकाव्य से पूरी तरह से होती है। माघ की कल्पना भी अप्रतिम है। अलौकिक प्रतिभा के बल पर माघ की कल्पना आकाश-पाताल को एक कर रही है। प्रायः कल्पनाओं में अनूठापन और मौलिकता उपलब्ध होती है। प्रातः वर्णन में माघ की ऐसी अनेक सूझें हैं जो संस्कृत साहित्य में अपनी तुलना नहीं रखती हैं।

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा,
बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणा व्याहरन्ती,
रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव॥

—११।४०

रात बीत गई है। पूर्वसन्ध्या (प्रात काल) आ रही है। जिस प्रकार कमल के समान सुन्दर हाथ पैर वाली आँखों में मनोहर अञ्जन लगाकर कोई बालिका अपने बालमुलभ तोतले शब्दों को कहती हुई अपनी माता के पीछे पीछे दौड़ती है, उसी भाँति पूर्वसन्ध्या—जिसके लाल कमल की श्रेणी ही हाथ पाँव हैं, भ्रमरमालारूपी कज्जल से युक्त कमल ही जिसके नेत्र हैं—पक्षियों के शब्दों से बोलता हुई रात के पीछे पीछे दौड़ती चली आ रही है। वाह! क्या ही अनुरूप रूपक है

अनिमिषमविरामा रागिणा सर्वरात्रं,
नवनिधुवनलीला कौतुकेनातिवीक्ष्य।
इदमुदयसितानामस्फुटालोकसंपत्
नयनमिव सनिद्रं घूर्णते दैपमर्चिः॥

—११।१८

प्रात काल होने पर गृहों के दीपों की शिखा घूम रही है। क्यों? कारण यह है कि दीपक ने रातभर कामी कामिनियों की लगातार होने वाली रति लीला को कौतुक से देखा है। अतएव मन्द कान्त वाले झपते हुये गृहों के नेत्र के समान य दीख पड़ते हैं। बड़ी सुन्दर उपमा है।

रैवतक के वर्णन में माघ ने क्या ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणा विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥

—४।४७

पहाड़ी नदियाँ कल कल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर इसकी गोदी में लोट पोट किया करती हैं। अत ये रैवतक की बटियाँ हैं। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है। कन्या के पतिगृह जाने के समय पिता का हृदय पिघल जाता है वह कितना भी कठोर हो द्रवीभूत अवश्य हो जाता है। 'पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः'। अत रैवतक भी पक्षियों के करुण स्वर से कन्याओं के लिए रो रहा है। ठीक है, पिता का हृदय कोमल होता ही है।

(५) माघ में अलंकार की छटा प्रत्येक रसिकजन के हृदय को आनन्दित करती है। अर्थालंकार की झलक उपर के पद्यों में खूब ही है। काव्य में श्लेष तथा उत्प्रेक्षा लाने में माघ खूब बढ़े चढ़े हैं। शब्दालंकार का भी शोभा अतिशय मनोहारिणी है। अनुप्रास तथा यमक का प्रचुर प्रयोग माघकाव्य में मिलता है। नीचे दिए गए पद्य से इनकी सालंकार भाषा का कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमें पद लालित्य भी खूब है।

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥

—६।२०

इतने गुण होने पर भी माघ की कविता में कुछ दोष हैं। माघ की कल्पनायें अनुपम हैं, उनकी प्रतिभा प्रथम कक्षा की है। इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता। परन्तु माघ के कुछ विचार भारवि से लिए गए हैं। पहिले लिखा गया कि माघकाव्य का आदर्श ग्रन्थ 'किरात' है। इसी भाँति माघ की कितनी ही उक्तियों में भारवि की कुछ छाया दिखाई पड़ती है। भाव समता की कौन कहे, कभी कभी शब्दसमता भी मिलती है। हम दो एक उदाहरणों से उक्त समालोचना को पुष्ट करना चाहते हैं। माघ का पद्य है—

विगतसस्यजिघत्समघट्टयत्कलमगोपवधूर्न मृगव्रजम्।
श्रुततदीरितकोमलगीतकध्वनिमिषेऽनिमिषेक्षणमग्रतः॥

—६।४९

धान की रखवालिन गोपियां गा रही हैं। उनके कोमल गीत के स्वरों को मृगों का समूह कान देकर सुन रहा है। उनके नेत्र चंचल नहीं हैं, व गान सुनने में इतने अनुरक्त हैं कि उन्होंने घास का खाना भी छोड़ दिया है। व चित्रलिखित से हैं। गोपिकायें ऐसे मृगसमूह को मारकर नहीं हटा रही हैं। यह पद्य भारवि के अधोलिखित पद्य का अनुवाद मात्र है। भावों की कौन कहे, कई शब्द भी भारवि से लिए गए हैं। भारवि का पद्य यह है—

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ
सुरक्तगोपीजनगीतनिस्वने।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं
न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम्॥ —४।३३

कालिदास के पद्यों की झलक भी स्थान स्थान पर दीख पड़ती है।

माघ की कविता में दोष होते हुए भी, गुणों की भरमार है। ओजोगुणमयी कविता की रुचिरता इसमें दृष्टिगोचर होती है। परवर्ती अनेक कवियों ने माघ

को अपना आदर्श माना है। रत्नाकर का 'हर विजय' माघ की शैली का सर्वोत्कृष्ट विकास है। प्राचीन आलोचक माघकाव्य के गुणों पर मुग्ध हो गये थे। राजशेखर ने क्या ही सुन्दर कहा है—

कृत्स्नप्रबोधकृद् वाणी, भा रवेरिव भारवे।
माघेनेव च माघेन, कम्प: कस्य न जायते॥

रवि की किरणों के समान भारवि की कविता सबको जगाने वाली है—समग्र ज्ञान को पैदा करने वाली है तथा माघ मास के समान माघ का नाम सुनकर किस कवि को कँपकँपी नहीं बँध जाती?

कवि धनपाल भी 'तिलकमञ्जरी' में राजशेखर का समर्थन कर रहे हैं—)

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवय: कपयो यथा॥

अत्युक्ति की मात्रा छोड़ देने पर यह आलोचना अधिकांश में सच्ची है।



(१८)

कुमारदास

प्रसिद्धि

कविवर कुमारदास के 'जानकीहरण' पर दैव की बड़ी क्रूर दृष्टि रही है। तभी तो इतना सुन्दर होने पर भी यह ग्रन्थ प्रायः नष्ट ही हो गया था। सिंघाली भाषा में किसी समय में इसका अक्षरशः अनुवाद किया गया था, जिसकी सहायता से मूल संस्कृत ग्रन्थ का उद्धार सिंघल के एक विद्वान् भिक्षु ने किया। तदनन्तर दक्षिण भारत में समग्र मूलग्रन्थ की भी उपलब्धि हुई। परन्तु प्राचीनकाल में इनकी कविता लोकप्रिय थी। सुभाषितग्रन्थों में इनकी मधुर कविता के नमूने मिलते हैं। इनकी सूक्तियाँ 'भट्टकुमार' 'कुमार' 'कुमारदास' आदि के नाम से दी गई मिलती हैं। उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्रों की टीका करते समय 'धूसर' शब्द के प्रयोग के लिए जानकी-हरण के एक पद्यांश को उद्धृत किया है—

धूसर ईषत्पाण्डुरः। महिपधूसरितः सरितस्तट इति जानकी-हरणे यमकम्।

कवि-कुलशेखर राजशेखर ने जानकी हरण के कर्ता कुमारदास की प्रशस्त प्रशंसा की है—

> जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
> कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ ॥

इसका तात्पर्य यह है कि रघुवंश (काव्य तथा सूर्यवंश) के होते यदि किसी का सामर्थ्य जानकीहरण (काव्यग्रन्थ तथा सीता का हरण) करने का है, तो केवल कुमारदास तथा रावण का। प्रतापी रघुवंश के रहते रावण के सिवा जनक तनया के हरण करने की योग्यता किस व्यक्ति में थी? उसी प्रकार कालिदास के मनोहर रघुवंश काव्य के रहते उसी विषय पर कुमारदास के अतिरिक्त कौन कवि अपनी लेखनी चला सकता था? इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में जानकीहरण की पण्डितसमाज में प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त थी।

जीवन-चरित

सिंहल की पूजावली से ज्ञात होता है कि राजा मोग्गल्लायन (मौद्गल्यायन) कुमारदास सिंहल में नव वर्षों तक राज्य करके कालिदास की चिता पर आत्म-घात कर मर गया। सिंहलराज्य के पाली इतिहास 'महावंश' में इन्हें मौद्ग-

लादन न पढ़कर मौर्य लिखा हुआ है। महावंश के अनुसार कुमारदास की मृत्यु ५२४ ई० में हुई। कवि कुमारदास तथा सिंहलराज कुमारदास दोनों एक ही व्यक्ति माने गये हैं।

कहा जाता है कि जानकीहरण की कालिदास ने खूब प्रशंसा की, जिसे सुनकर कुमारदास ने कालिदास को सिंहल में बुलाया। कालिदास राजा के आग्रह करने पर लंका गये और वहाँ किसी सुन्दरी के यहाँ इनका आना जाना प्रारम्भ हुआ। दुर्भाग्यवश कालिदास पकड़े गये और मार डाले गये। मित्रकी मृत्यु के कारण प्रेम से विह्वल होकर कुमारदास ने कालिदास की चिता पर आत्मघात कर डाला। लोग कहते हैं कि लंका के दक्षिण प्रान्त में कालिदास का समाधिस्थान है। समाधिस्थान के पड़ोस के भिक्षु कहा करते हैं कि कुमारदास ने अपने मित्र के प्रसन्नार्थ उनकी ही भाषा में एक पहेली पूछी जिसे कालिदास ने बूझ लिया और उसका उत्तर अपनी मातृभाषा में दिया। कुमारदास और कालिदास की समसामयिकता सिंहल की पुस्तकों पर ही निर्धारित है। राजशेखर के उपर्युक्त श्लोक से तो इतना ही ज्ञात होता है कि कुमारदास कालिदास के अनन्तर हुये— परन्तु कितने बाद ? यह बिल्कुल ही अज्ञात है।

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने अनेक दन्तकथाओं का उल्लेख किया है जो साहित्य की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं। एक दन्तकथा यह है कि कुमारदास जन्मान्ध थे।

नन्दरगीकर महाशय ने कुमारदास को सिंहल के राजा कुमारधातुसेन से (यही नाम महावंश में मिलता है) सर्वथा भिन्न माना है। पूजावली और पेरकुम्बासिरित (जो क्रमशः १३ वीं और १६ वीं शताब्दि के बने हुये हैं) प्राचीन इतिहास के विषय में, राजा और कविवर की अभिन्नता सिद्ध करने में, प्रमाण नहीं माने जा सकते। महावंश के सुयोग्य कर्ता विद्वान् महानाम राजा कुमारधातुसेन को जानकीहरण महाकाव्य का कर्ता अवश्य लिखता, यदि वह राजा कुमारदास ही होता। कुमार धातुसेन की दूसरी प्रशंसाओं का होना और महाकाव्य का उल्लेख न होना सिद्ध कर रहा है कि दोनों व्यक्ति भिन्न थे। महावंश के समान प्राचीन किसी सिंघली ग्रन्थ से दोनों की एकता सिद्ध नहीं होती।

समय

यदि कुमारदास छठी सदी में उत्पन्न हुये होते, तो सातवीं सदी के चीनी यात्रियों ने अवश्य ही ऐसे प्रतिभा सम्पन्न बौद्ध कवि का उल्लेख किया होता, परन्तु हुएन्त्साग, इत्सिंग आदि किसी यात्री ने भी कहीं इनका नामोल्लेख नहीं किया है, जिससे सातवीं सदी के बाद के ये सिद्ध होते हैं। उज्ज्वलदत्त को

उणादिसूत्रवृत्ति में तथा भिन्न भिन्न सूक्ति संग्रहों में कुमारदास के नाम से पद्य उद्धृत किये गये हैं। ये सब ग्रन्थ १० वीं और १५ वीं सदी के बीच के हैं।

सिंघलराज के साथ विभिन्नता मानने से कालिदास की मैत्री की घटना बिलकुल गलत सिद्ध हो जायगी। कालिदासका सब से पीछे का काल ४७२ ईस्वी है, जब कुमारगुप्त के शासन काल में वत्सभट्टि ने कालिदास के ऋतुसंहार, कुमार सम्भव और रघुवंश के पद्यों की नकल मन्दसोर के शिलालेख में की है। इस प्रकार कुमारदास और कालिदास का अन्तर अस्सी वर्ष के लगभग पड़ता है जिससे मैत्री सम्बन्धी घटना असत्य प्रतीत होती है।

अतः कुमारदास छठी सदी के सिद्ध नहीं होते, वरन् नन्दरगीकर महाशय की सम्मति में आठवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश और नवीं के पूर्वार्द्ध के बीच किसी समय में इनका जन्म हुआ था। इस समय निर्धारण का मुख्य कारण यह है कि जानकीहरण में कुछ नये शब्द उन्हीं विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त पाये जाते हैं जिन्हें काशिका नामक पाणिनीय अष्टाध्यायी की टीका ने उल्लिखित किया है। सत्यापयति, उष्मिम, आयुतीवल आदि ऐसे ही शब्द हैं। काशिका के सम्मिलित लेखक जयादित्य जिसने प्रथम पांच अध्यायों पर टीका की और वामन जिसने अन्तिम तीन अध्यायों पर टीका पूरी की सातवीं सदी के मध्यकाल में ६३०-५० ई० के आसपास प्रसिद्ध हुये। अतः कुमारदास सातवीं सदी के प्रायः सौ वर्ष बाद हुये क्योंकि सुदूर काश्मीर में लिखे गये नये व्याख्यान को भारत से दूर दक्षिण सिंघल में प्रसिद्ध होने में एक शताब्दी से कम समय न लगा होगा।

माघ की शैली के अनुकरण करने से भी उक्त काल की पुष्टि होती है। भारवि तथा माघ को तन् (विस्तार) धातु बड़ा प्यारा था। इस धातु के भिन्न भिन्न लकारों के रूपों को भारवि ने लगभग साठ बार प्रयुक्त किया है तथा माघ ने पचास बार। इनके अनुकरण से कुमारदास ने अस्सी बार से भी अधिक इनका प्रयोग कर डाला है। जानकीहरण माघ की रीति का अनुकरण करके लिखा हुआ प्रथम ग्रन्थ है। नन्दरगीकर महोदय के इस मत को अब बदलने की आवश्यकता है। कामाधवी नामक ग्रन्थ में (६०० ई० लगभग) कुमारदास के दो श्लोक उद्धृत मिलते हैं जिससे हम उन्हें छ सौ ईस्वी के अनन्तर नहीं ला सकते। फलतः कुमारदास के समय को चतुर्थ शती (कालिदास) तथा षष्ठ शती के बीच में रखना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

कविता

कुमारदास कविवर माघ के समकालीन भले सिद्ध हो जाँय परन्तु जानकी हरण माघकाव्य का अनुकरण कदापि नहीं है। शिशुपालवध के समान चित्र-

काव्य और यमकालंकार की छटा इसमें देखने को भी नहीं मिलती। भवभूति के समान दीर्घ समासों की भी भरमार नहीं है। गौड़ी रीति के विकटाक्षर बन्ध से यह काव्य सर्वथा उन्मुक्त है। काव्य में सुकुमारता तथा प्रसाद गुण से युक्त कविता भरी पड़ी है परन्तु ओज गुण का विस्तार नहीं। इन सब बातों को नन्दरगीकर महाशय भी स्वीकार करते हैं, परन्तु तो भी, न मालूम क्यों, आप कुमारदास को माघ का समकालीन होना मानते हैं। यदि माघ काव्य का सच्चा अनुकरण कोई कहा जा सकता है तो वह काश्मीरके कवि रत्नाकर का हर विजय महा काव्य ही है जिसमें चित्र काव्य की छटा और ओजगुण की विशेषता देखते देखते चित्त थक जाता है, सहृदय पाठक आगे पढ़ने से रुकजाते हैं। परन्तु जानकीहरण में ये बातें नहीं पाई जातीं। सच तो यह है कि कुमारदास ने कालिदास के महाकाव्यों के नमूने पर अपना प्रसिद्ध काव्य लिखा है। हाँ, श्लेषों का प्रयोग जानकीहरण में पाया जाता है परन्तु कालिदास की कविता में नहीं जिससे कुमारदास कालिदास के पीछे के मालूम पड़ते हैं। वर्णनों में कालिदास की स्वाभाविकता की जगह कृत्रिमता झलकती है। उपमा, अर्थान्तरन्यास, रूपक आदि अर्थालंकारों का समुचित निवेश देखने में आता है। अनुप्रास कवि का प्यारा अलङ्कार मालूम पड़ता है। महाकाव्यों की रीति से युद्ध, महल, ऋतु आदि का वर्णन जगह जगह पर बड़े विस्तार से किया गया है। वास्तव में जानकीहरण की कविता कालिदास के प्रसादगुणविशिष्ट कविता के समान है। इसमें थोड़ा ओजगुण भी है जो कालिदास में नहीं पाया जाता।

ग्रन्थ

जानकी हरण कुमारदास की एकमात्र रचना है। यह महाकाव्य है। इसमें २० सर्ग हैं। यह रामायणीय कथा को लेकर लिखा गया है। पहले सर्ग में अयोध्या, राजा दशरथ तथा उनकी महारानियों का वर्णन है। दूसरे सर्ग में बृहस्पति ब्रह्मा से सहायता माँगते समय रावण के चरित का वर्णन करते हैं। तीसरे सर्ग में राजा दशरथ की जलकेलि तथा सन्ध्या का काव्यमय रमणीय वर्णन है। चतुर्थ तथा पञ्चम सर्गों में दशरथ के महल में चार पुत्र पैदा होते हैं और रामजन्म से लेकर ताड़का तथा सुबाहु वध तक की कथायें हैं। षष्ठ सर्ग में राम लक्ष्मण को साथ लिए विश्वामित्र जी जनकपुर पधारते हैं और जनक से उनकी भेंट होती है। सप्तम में राम और सीता का प्रेम तथा विवाह है। अष्टम में उनके विवाहजन्य आनन्द की बातें हैं। नवम में सब भाई अयोध्या लौटते हैं। दशम सर्ग में दशरथ राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय एक लम्बी वक्तृता देते हैं। रामचन्द्र का यौवराज्याभिषेक सर्वसम्मति से किया जाता है। बहुत सी घटनाएँ घटती हैं। सर्ग की समाप्ति के पहले ही जानकी

का हरण हो जाता है। एकादश सर्ग में राम तथा हनुमान की मित्रता का वर्णन है। बालिवध के अनन्तर वर्षा ऋतु का अत्यन्त मनोहर वर्णन मिलता है। द्वादश सर्ग में शरद्काल में सुग्रीव के अन्वेषण कार्य में न लगने पर लक्ष्मण जी उसको झिड़कियाँ सुनाते हैं। सुग्रीव रामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिये उनके पास आता है तथा पर्वत का वर्णन करता है। त्रयोदश में वानरी सेना एकत्र की जाती है। चतुर्दश में वानर लोग समुद्र के ऊपर सेतु बनाते हैं। कवि यहाँ पर सेना के पार जाने का चमत्कारी वर्णन करता है। पन्द्रहवें सर्ग में अंगद जी रावण की सभा में राम के दूत बनकर जाते हैं। सोलहवें में राक्षसों की कमनीय केलियों का वर्णन है। सत्रहवें से लेकर बीसवें सर्ग तक संग्राम का वर्णन है। अन्त में रामचन्द्र रावण पर विजय प्राप्त करते हैं। राम विजय के साथ यह महाकाव्य समाप्त होता है।

राजा दशरथ शिकार खेलने गये। शब्दवेधी बाण मारने में वे बड़े दक्ष थे। मुनिकुमार श्रवण, जो अपने अन्धे माता पिता के हाथ की लकड़ी था, जल लेने के लिये नदी तट आया। घड़े के डूबने की आवाज सुनकर राजा ने हाथी का गर्जन समझ बाण मार दिया। बाण लड़के हृदय में घुस गया। राजा उसके पास गये। उस बालक ने राजा से अपने वध का कारण पूछा। इसी विषय को कुमारदास ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में करुणाजनक वर्णन किया है। इसी प्रसंग के कतिपय पद्य उद्धृत किये जाते हैं।

एकं त्वया साधयतापि लक्ष्यं नीतं विनाशं त्रितयं निरागः।
सचक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ वृद्धौ वने मे पितरावहं च॥

—१।७७

हे राजन्! तुमने एक ही लक्ष्य पर बाण छोड़ा, परन्तु निरपराधी तीन मनुष्यों का नाश कर डाला। मेरी ही आँखों से दृष्टि का काम लेने वाले मेरे बूढ़े माता पिता और मैं—ये तीनों एक ही बाण से मारे गये। मेरे मरने से मेरे माँ-बाप जीते नहीं रहेंगे।

वनेषु वासो मृगयूथमध्ये क्रिया च वृद्धान्धजनस्य पोषः।
वृत्तिश्च वन्यं फलमेषु दोषः संभावितः को मयि घातहेतुः॥

जंगलों में हरिन के झुंडों के बीच मेरा निवास है; वृद्ध अन्धे जनों का पालना मेरा काम है, जंगली फल मेरी जीविका है—इनमें से किसे आप मेरे मारने का कारण समझते हैं?

मतो विनाशो विगतापराधः स्मर्तव्यदृष्टेः पितुरन्धयष्टिः।
इत्येषु किं निष्करुणेन कश्चिद्वध्यभावे गणितो न हेतुः॥

मैं तपस्या करने वाला हूँ, स्वामी रहित हूँ, अन्धे की लकड़ी हूँ—निर्दय होकर तुमने इनमें से किसी को मुझे न मारने के लिए यथेष्ट कारण नहीं समझा। मेरी तपस्या ही का विचार करने से मुझे मारना अनुचित है तिस पर मैं स्वरा बिना किसी अपराध का, तिस पर अन्धे की लकड़ी। क्या मेरा वध कभी उचित है?

तरुत्वचोऽयं कठिना वसानो वनेषु शीतोष्णनिपीतसारः।
क्षस्वादुवन्याशनजीर्णशक्तिः पात्रं कृपायास्तव वध्यभूतः॥

तुमने मुझे मारा है, परन्तु मैं तुम्हारी दया का भाजन हूँ। जंगल में कठिन पेड़ों की छाल पहनता हूँ, सर्दी तथा गर्मी सदा सहता हूँ, रूखे सूखे पत्तों को खाने से बिल्कुल निर्बल हूँ—क्या ऐसे मनुष्य पर दया नहीं की जाती?

जीर्णो जतुन्यासनिरुद्धरन्ध्रः कुम्भश्च मौञ्जी तरुवल्कलञ्च।
पतेषु यन्मां विनिहत्य गम्यं तद् गृह्यतामस्तु भवान् कृतार्थः॥

मेरे पास है हो क्या? जो मुझे मार कर पावोगे। पुराना घड़ा है जिसके छेद लाह से बन्द किये गये हैं, कटि में मौञ्जी है तथा शरीर पर पेड़ की छाल है, मुझे मारकर इनमें जो चाहो लेकर कृतार्थ हो।

साधुः कृपामन्थरमक्षि शत्रौ प्रीत्यर्थसंमीलितमादधाति।
नीचस्तु निष्कारणवैरशीलस्तत्पूर्वसंपादितदर्शनेऽपि॥

सज्जनों का स्वभाव है कि अपने शत्रु के लिये भी उनकी आँखों में दया होती है, उसे सुख के लिए बन्द कर लेते हैं परन्तु दुर्जन अपने पूर्व—परिचित उपकारी के ऊपर भी बिना किसी कारण के वैर करने वाला होता है। अतः तुमने मेरे साथ दुर्जन का व्यवहार क्यों किया?

मैवं भवानेनमदुष्टभावं जुगुप्सतां क्ष्माक्षतसाधुवृत्तम्।
इतीव वाचो निगृहीतकण्ठैः प्राणैररुध्यन्त महर्षिसूनोः॥

पवित्र भाववाले, साधु आचरण करने वाले, राजा की इस प्रकार निन्दा मत करो। मानो इसी अभिप्राय से कण्ठ को पकड़ कर प्राणों ने वचनों को रोक दिया। अर्थात् मुनि कुमार के प्राणपखेरू उड़ गये।

कालिदास ने भी इस विषय का वर्णन रघुवंश के नवम सर्ग के अन्त में किया है। उत्सुक पाठक दोनों की तुलना करके पढ़ें। कालिदास के पद पद में प्रसाद गुण है, कुमारदास ने भी उसका सन्निवेश किया है। वास्तव में 'जानकीहरण' साहित्य का एक अनूठा रत्न है।

भवभूति

कौन ऐसा संस्कृतज्ञ होगा जो महाकवि भवभूति के नाम से परिचित न हो। संस्कृत के नाटककारों में यदि कोई कविवर कालिदास की समता पा सकता है तो वह केवल भवभूति ही है। 'तिलकमंजरी' के रचयिता धनपाल ने भवभूति की सरस्वती की नट की से तुलना की है।[1] वास्तव में भवभूति संस्कृत नाटक साहित्य में एक अद्भुत व्यक्ति हैं। मानव हृदय के सूक्ष्म विकारों का पता जैसा भवभूति को था, उतना बिरले ही कवियों को होता है। कविवर के तीन नाटक महावीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तररामचरित—उनकी विशाल नाट्यकला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। परन्तु इससे अनुमान निकालना ठीक नहीं कि भवभूति संस्कृत साहित्य के अन्य विभागों से अनभिज्ञ थे। मालतीमाधव की प्रस्तावना में स्पष्ट ही लिखा है कि वेद उपनिषद्, सांख्य तथा योग के सिद्धांत इस प्रकरण में देखने को मिलेंगे। उत्तररामचरित से भी इनकी प्रचण्ड दार्शनिकता का पता लगता है।

जीवनवृत्त

यह तो प्रसिद्ध ही है कि संस्कृत के कवियों ने अपने विषय में बहुत ही कम लिखा है। हमारे सौभाग्य से भवभूति ने अपने नाटकों का, विशेषतः महावीरचरित की, प्रस्तावना में अपना यत्किंचित् परिचय प्रदान किया है। इससे जान पड़ता है कि भवभूति विदर्भ देश (आजकल बरार) के पद्मपुर के रहने वाले थे। ये काश्यप गोत्री थे तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के मानने वाले थे। भवभूति के पिता का नाम नीलकण्ठ, माता का जतुकर्णी, पितामह का भट्टगोपाल था। भवभूति के पूर्वज अपने सदाचार तथा वेदाध्ययन के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। वे पंक्तिपावन थे तथा पाँच अग्नियों की स्थापना करने वाले थे। इन्होंने सोमयज्ञ भी किये थे। वे श्रौत के भारी वेत्ता थे। इनके कुल में काव्यकला की भी पूजा कुछ कम न थी क्योंकि इनके पाँचवें पूर्वज कोई 'महाकवि' थे। इनके गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' था। डाक्टर भंडारकर का कहना है कि भवभूति के जन्मस्थान के आसपास इस समय भी कुछ कृष्णयजुर्वेदी तैत्तिरीय

---

1 स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना। —धनपाल

शाखाध्यायी महाराष्ट्र ब्राह्मणों के कुल विद्यमान हैं। कवि ने अपने को 'भट्ट श्रीकण्ठपदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम' लिखा है। अत कुछ टीकाकारों का अनुमान है कि इनका असली नाम 'श्रीकण्ठ' था परन्तु—

'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः'

अथवा

तपस्वी कां गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव।
गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ॥

पद्य के (जिनमें 'भवभूति' शब्द आया है) लिखने के कारण, इनका प्रसिद्ध नाम भवभूति पड़ा। यह पण्डितों में परम्परागत प्रसिद्धि है।

ऊपर इनके 'ज्ञाननिधि' नामक गुरु का उल्लेख किया गया है। परन्तु अब सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि भवभूति प्रख्यात मीमांसक **कुमारिल भट्ट** के शिष्य थे। श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित को मालती माधव की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली थी जिसके तृतीय अंक के अन्त में यह प्रकरण कुमारिल शिष्य के द्वारा विरचित बतलाया गया तथा षष्ठ अंक के अन्त में कुमारिल के प्रसाद से वाग्वैभव को प्राप्त करनेवाले उम्बेकाचार्य की कृति कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि भवभूति का ही एक नाम 'उम्बेक' था। उम्बेक मीमांसाशास्त्र के बड़े भारी आचार्य थे। इनके मत तथा ग्रन्थ का उल्लेख कितने ही प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में पाया जाता है।

उम्बेक

'प्रत्यग्रूप भगवान्' अथवा प्रत्यकस्वरूप भगवान् नामक ग्रन्थकार ने चित्सुखाचार्य्य की 'तत्वप्रदीपिका' की नयन प्रसादिनी नामक टीका में 'उम्बेक' का नाम कई स्थानों में लिया है। चित्सुखी में एक स्थल पर 'अविनाभाव' (व्याप्ति) के लक्षण का खण्डन किया गया है। प्रत्यग्रूप भगवान् ने चित्सुखी के इस स्थल पर टीका लिखते समय उम्बेक की टीका का उल्लेख किया है¹, जिसे उम्बेक ने

१. प्रत्यग्रूप भगवान् अपने समय के एक अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। 'प्रत्यक् प्रकाश' नामक कोई सन्यासी इनके पूज्य गुरुदेव थे। इन्होंने 'नयन प्रसादिनी' में अनेक स्थलों पर 'महाविद्या विडम्बन' के कर्त्ता वादीन्द्र के नाम तथा मत का उल्लेख किया है। वादीन्द्र सिंघण नाम के राजा के धर्माध्यक्ष थे। अतएव उनका समय १२२५ ई० के लगभग आता है। (देखो महाविद्याविडम्बन की भूमिका पृ० १४, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज नं० १२) प्रत्यग्रूप भगवान्-रचित इण्डिया आफिस में सुरक्षित हस्त लिखित पुस्तकों की १४१० ई० में कापी

कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक (पृ० ३४८) की 'सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्ग धर्मस्य लिङ्गिना' पंक्ति पर की है[1] (चित्सुखी की टीका पृ० २३५)। 'उक्त चैतदुम्वेकेन' आदि चित्सुखी के मूल की व्याख्या लिखते समय टीकाकार ने 'उम्बेक' को महाकवि 'भवभूति' बतलाया है[3] (चित्सुखी पृ० २६५)। इन उद्धरणों से स्पष्ट सूचित होता है कि भवभूति ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर टीका लिखी थी तथा वे उम्बेक नाम से प्रसिद्ध थे।

श्रीहर्ष [बारहवीं शताब्दी के अन्तिमभाग] के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डनखण्ड खाद्य' की 'विद्यासागरी' नामक टीका के रचयिता 'आनन्दपूर्ण' ने भी 'प्रमती सा न विरोधिनी' आदि मूल ग्रन्थ की व्याख्या लिखते समय श्लोकवार्तिक से दो श्लोकों को उद्धृत किया है। टीकाकार ने यह भी सूचना दी है कि 'उम्बेक' ने इन श्लोकों की टीका लिखी है तथा आवश्यक अंश को उद्धृत भी किया है[4]।

बोधघनाचार्य ने अपनी पुस्तक 'तत्त्वशुद्धि' के 'भेदाभेदनिराकरण प्रकरण' में निम्नलिखित टिप्पणी की है जिससे उम्बेक के एक प्रबल पक्ष वाले पण्डित होने की बात सिद्ध होती है। बोधघन की टिप्पणी यह है।—'अयं तु क्षपणकपक्षादपि पापीयानुम्बेकपक्ष इत्युपेक्ष्यते' अर्थात् उम्बेक का मत जैनों के मत से भी बुरा है। अतएव उसकी उपेक्षा की गई है।

की गई थी। अतः प्रत्यग्रूप भगवान् का समय १३००-१४०० ई० के बीच में होगा।

१ उम्बेकस्तु 'सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना' इत्यत्र लिंग-धर्मस्येति दर्शनात् व्याप्यैकधर्मो व्यापकनिरूप्यो व्याप्तिः, न पुनरुभयनिष्ठा इत्य-भवात्। चित्सुखी टीका पृ० २३५, निर्णयसागर संस्करण।

२. उक्त चैतदुम्बेकेन 'यदातोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थविषयं प्रयोक्तव्यं यथाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते तत्रार्थव्यभिचारः स्फुट' । चित्सुखी पृ० २६५।

३. चित्सुखी (मूल) पृ० २६५ (निर्णय सागर प्रेस संस्करण)।

४ असतीति तदुक्तम् —

संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम्
सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेन्न सत्यता कथम्।
सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थपरमार्थयो
विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयो।

—श्लो० वा० पृ० २१८

तदिदं श्लोकद्वयमुम्बेकेन व्याख्यात—'नहि संवृतिपरमार्थयो' सत्यत्व नाम सामान्य एकत्र विरोधात् अन्यत्र पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। खण्डन० पृ० ४५ (चौ०)।

हरिभद्र सूरि का 'षड्दर्शनसमुच्चय' नामक ग्रन्थ संस्कृत जानने वालों के लिये बड़े काम की चीज़ है, क्योंकि इस छोटे ग्रन्थ में षड्दर्शनों के सिद्धान्त 'कारिका' के रूप में सरलता से समझाये गये हैं। इस ग्रन्थ की टीका **गुणरत्न** *नामक जैन लेखक* (१४०९ ई०) ने की है। उसने मीमांसा शास्त्र के अनेक मतों का उल्लेख कर नीचे का श्लोक दिया है:—

ओ (ऊ?) म्वेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः॥

ओम्वेक 'कारिका' का अच्छा वेत्ता है। प्रभाकर तन्त्र को जानता है। वामन दोनों का विशेषज्ञ है और रेवण कुछ भी नहीं जानता। इस श्लोक की 'कारिका' से कुमारिल के श्लोकवार्तिक का अभिप्राय समझना चाहिये, क्योंकि प्रत्यग्रूप भगवान् और आनन्दपूर्ण की माननीय सम्मति में उम्वेक ने श्लोकवार्तिक की व्याख्या लिखी थी। अतएव इस व्याख्या की प्रौढता तथा सारगर्भिता के कारण गुणरत्न ने उम्वेक को 'कारिका'—श्लोकवार्तिक—का अच्छा जानने वाला बतलाया है।

पूर्वोक्त उद्धरणों को सम्मिलित करने से यही सिद्धान्त समुचित जान पड़ता है कि *महाकवि भवभूति का दूसरा नाम "उम्वेक"*[1] *था, ये कुमारिलभट्ट के शिष्य* थे, और अपने पूज्य गुरु के 'श्लोकवार्तिक' के ऊपर उन्होंने व्याख्या भी लिखी थी। इस व्याख्या का एक अंश प्रकाशित भी हुआ है। मण्डन मिश्र के 'भावना-विवेक' पर उम्वेकरचित व्याख्या काशी से ही प्रकाशित है।

संस्कृत साहित्य के लिये यह बात बड़े महत्त्व की है। अब तक भवभूति की प्रशंसा एक नाटककार की दृष्टि से ही की जाती थी, परन्तु अब हमें मीमांसक की दृष्टि से भी भवभूति का अध्ययन करना चाहिये। पूर्वोक्त निर्देशों से भवभूति की श्लोकवार्तिक की टीका नितान्त लोकप्रिय जान पड़ती है। भट्टोम्वेक द्वारा विरचित 'श्लोकवार्तिक' की **तात्पर्यटीका** *नामक व्याख्या मद्रास* यूनिवरसिटी संस्कृत सीरीज में (संख्या १३, १९४०) प्रकाशित हुई है। यह पूरे श्लोकवार्तिक पर नहीं है, यह अधूरी ही उपलब्ध हुई है—स्फोटवाद के अन्त तक ही। व्याख्या सामान्यतः मूल के अर्थ की प्रकाशिनी है। इस संस्करण के सम्पादक ने उम्वेक-भवभूति के ऐक्य के विषय में इस ग्रन्थ की भूमिका में सन्देह प्रकट किया है।

---

१. यह नाम प्रत्येक ग्रन्थ में कुछ भिन्न ही मिलता है। प्रत्यग्रूप भगवान् ने 'उम्बक' तथा 'उम्वेक' दोनों लिखा है। 'बोधघन' ने उम्वेक, आनन्दपूर्ण ने 'उंवेक' तथा गुणरत्न ने 'ओम्बक' लिखा है। मालतीमाधव की प्रति में 'उम्बक' मिलता है। इन सबसे 'उम्वेक' शब्द की ही सत्यता सिद्ध होती है। लेखक के प्रमाद से अन्य अन्य रूपों की उत्पत्ति सहज में समझी जा सकती है।

भवभूति के नाटकों में वेदान्त के प्रति पक्षपात अधिक लक्षित होता है, मीमांसा के प्रति कम। अन्य प्रमाण विशेष जोरदार नहीं है। मीमांसक हो कर भी कोई नाटककार अपने नाटकों में अनावश्यक होने से मीमांसा के प्रति अपना पक्षपात अभिव्यक्त नहीं करता।

विश्वरूप

शंकरदिग्विजय के सप्तमसर्ग में मण्डन मिश्र का वृत्त दिया हुआ है। उसमें लिखा है कि मण्डन का नाम 'विश्वरूप' भी था तथा साधारणतया वे 'उम्वेक' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। शंकराचार्य से दीक्षा लेने पर मण्डन मिश्र ही सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस वर्णन के आधार पर मण्डन, विश्वरूप, उम्वेक तथा सुरेश्वर एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। परन्तु विद्वानों को इनके दार्शनिक सिद्धान्तों में भेद के कारण मण्डन और सुरेश्वर की एकता में सन्देह होने लगा है। वे इन दोनों को भिन्न भिन्न व्यक्ति बतलाते हैं[1]। विश्वरूपाचार्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर बालक्रीडा नामक टीका लिखा है। इस टीका के ऊपर भी कालान्तरमें अनेक टीकाग्रन्थ रचे गये। इनमें सबसे प्राचीन टीका किसी **यतीश्वरवेदात्मन्** नामक विद्वान् को लिखी 'विभावना' है। इस विभावना के आरम्भ में यह महत्त्वपूर्ण पद्य उपलब्ध हुआ है—

यत्प्रसादादयं लोको धर्ममार्गस्थितः सुखी।
भवभूतिसुरेशाख्यं विश्वरूपं प्रणम्य तम्।

इससे पता लगता है कि हमारे कविवर भवभूति का ही नाम विश्वरूप तथा सुरेश्वर था। एक आलोचक ने विश्वरूप तथा भवभूति की एकता सिद्ध करने के लिए बालक्रीडा तथा उत्तररामचरित में अनेक कथनों की समानता दिखलाई है[2]। विश्वरूप और भवभूति की एकता के विषय में विद्वानों ने अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया है, परन्तु यह तो प्रायः माना जाने लगा है कि जिस प्रतिभाशाली विद्वान् ने नाटकों में अपना नाम 'भवभूति' रखा, उसीने मीमांसा-शास्त्र के ग्रन्थों में अपना 'उम्वेक' नाम दिया तथा उसीने कालान्तर में भगवान् शंकराचार्य के द्वारा अद्वैत मत में दीक्षित होनेपर 'सुरेश्वराचार्य' के नाम से प्रख्याति प्राप्त की।

भवभूति के जीवन की घटनायें अज्ञानान्धकार में छिपी हैं। उनके ग्रन्थों की आलोचना से जान पड़ता है कि तत्कालीन विद्वान् इन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। पहले किसी राजा का भी आश्रय इन्हें नहीं मिला था, क्योंकि

१ J R A.S 1923 pp, 659 663.

२. Indian Historical Quarterly, Vol VII (1931) No. 2 pp 305–308.

प्राय: इनके नाटकों का अभिनय राज सभा में न होकर कालप्रियनाथ (वर्तमान कालपी) यात्रा के समय एकत्रित जनता के सामने ही हुआ था। परन्तु जीवन के अन्तिम काल में कान्यकुब्ज के विद्वान् राजा यशोवर्मा के आश्रय में हमलोग भवभूति को पाते हैं। सम्भवत: भवभूति को अपनी अलौकिक नाट्यकला के कारण विद्वत्प्रेमी यशोवर्मा का आश्रय मिल सका। जीवन के आरम्भ में तत्कालीन साहित्य सेवियों द्वारा निरादृत होने की सम्भावना इनकी कतिपय गर्वोक्तियों से अनुमित होती है। मालती माधव की प्रस्तावना में भवभूति ने इन्हीं दुरालोचकों को लक्ष्य करके यह हृदयोद्गार निकाला है—

> ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
> जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः
> उत्पस्त्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
> कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

भावार्थ है कि जो कोई मेरी अवज्ञा किया करते हैं, उन मूर्खों के लिये यह मेरा यत्न नहीं है। समय का अन्त नहीं और पृथ्वी भी बड़ी लम्बी चौड़ी है। इसमें जो कोई मेरा स्पर्धी इस समय है या आगे पैदा होगा उसीके लिये मेरा नाटक रचना रूप यत्न समझना चाहिये।

भवभूति का पाण्डित्य

भवभूति वेद तथा दर्शनों के अगाध पण्डित थे[1]। भगवती श्रुति के रहस्यों उन्होंने खूब पता लगाया था। उनके नाटकों में उनकी वैदिक ज्ञान-गरिमा की सूचना अनेक स्थलों पर पाई जाती है। उत्तररामचरित के चतुर्थ अङ्क में 'समासो मधुपर्कों भवति' की सूचना मिलती है। महावीर चरित में सूर्यवंश के कुल पुरोहित वसिष्ठजी का वर्णन करते समय भवभूति ने ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम (४० वाँ) अध्याय में उल्लिखित पुरोहित प्रशंसा के 'राष्ट्रगोप' पुरोहित' वाले कई पद्यों को ज्यों का त्यों अपने नाटकमें रखा है। उपनिषद् तत्त्व के वे परमवेत्ता थे। उत्तररामचरित में उन्होंने जनक के मुखसे 'असुर्या नाम ते लोका' आदि प्रसिद्ध ईशावास्य श्रुति की व्याख्या कराई है। 'विद्याकल्पेन मरुताम्' (उत्तर ६।६) श्लोक के द्वारा भवभूति ने अपने औपनिषद अद्वैतवाद का संक्षेप में सुन्दर तात्विक वर्णन किया है। योगशास्त्र का प्रकृष्ट ज्ञान हमें मालती माधव के पञ्चम अङ्क में मिलता है। 'समधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थिता मां' में भवभूति ने अपने योग तथा तन्त्र के ज्ञान का अनुपम मेल दिखलाया है। स्थान स्थान पर भवभूति की भाषा में दर्शन शास्त्र के पारिभाषिक

---

१. यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि तत: कश्चिद् गुणो नाटके ॥

शब्द इस सरलता से अनायास आते हैं कि ज्ञात पड़ता है कि नाटककार सदा इन दर्शनों के चिन्तन में संलग्न रहा है। सचमुच महाकवि भवभूति संस्कृत साहित्य के एक अद्वितीय कवि हैं—इन्हें छोड़कर 'पाण्डित्य' और 'वैदग्ध्य' का अनुपम तथा श्लाघनीय सम्मिलन अन्यत्र कहाँ प्राप्त हो सकता?

समय

यह हमारे सौभाग्य की बात है कि भवभूति जैसे महाकवि का समय निश्चित रूप से निर्णीत हो चुका है, कालिदास के समान वह कई शताब्दियों के झमेले में नहीं पड़ा हुआ है। राजतरंगिणी में ललितादित्य नामक विजयी काश्मीर-नरेश का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। क्षात्र तेज से प्रभावित होकर ललितादित्य ने अपनी विजय वैजयन्ती समग्र उत्तरीय भारत में फहराई। उसने न केवल आसपास के राजाओं को ही अधीन किया, बल्कि सुदूर गौड़ देश (बंगाल) को भी अपना विजित प्रदेश बनाया। इसी प्रभावशाली नरेश ने कान्यकुब्ज के महाराज यशोवर्मा को समरभूमि में परास्त किया। यशोवर्मा ने इनका लोहा मान लिया। यह यशोवर्मा न केवल विद्वानों का ही आश्रयदाता था बल्कि स्वयं सरस्वती देवी का पुजारी था। उसने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की रचना की थी। दशरूपक आदि ग्रन्थों में इस नाटक का बहुश: उल्लेख है परन्तु अभी तक यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ। इसीकी सभा भवभूति, वाक्पतिराज आदि कवि सम्राटों से अलंकृत थी। श्रीयुत शंकर पाण्डुरंग पंडित ललितादित्य के राज्याभिषेक का समय ६९५ ई० मानते हैं और दिग्विजय का समय इनकी राय में इस (ललितादित्य) के शासन के आरम्भिक वर्ष थे। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के आसपास पड़ेगा, परन्तु चीनदेशीय इतिहास से ललितादित्य का समय ३२ वर्ष उतर कर होना सिद्ध होता है। अर्थात् उसका राज्याभिषेक ७२५ ई० के आसपास हुआ था। चीन के इस इतिहास की प्रामाणिकता वाक्पतिराज रचित 'गउडवहो' में (८२९ गाथा) उल्लिखित एक सूर्यग्रहण के समय

---

१ कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवित ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

२ 'गउडवहो' प्राकृत साहित्य में ऊँचा स्थान रखता है। इसके कर्ता वाक्पतिराज हमारे चरितनायक के या तो विद्यार्थी थे या कम से कम उनकी कविता के एक सुयोग्य मर्मज्ञ थे। वाक्पति भवभूति के अच्छे गुणग्राहक थे। उनकी राय में भवभूति की कविता काव्यामृत के लिये जलनिधि है। वाक्पति के प्राकृत पद्य तथा उसका संस्कृतानुवाद यह है—

भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा इव फुरंति ।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु । —७९९

से सिद्ध होती है। डाक्टर याकोबी ने दिखलाया है कि यह सूर्यग्रहण १४ अगस्त सन् ७३३ ई० में कन्नौज में दिखाई पड़ा था। अतः यशोवर्मा का समय ७३३ ई० के आसपास सिद्ध होता है, क्योंकि गउडवहो में यशोवर्मा द्वारा मारे गये किसी गौड़ देश के राजा का वृत्तान्त वर्णित है; परन्तु ललितादित्य के द्वारा उनके पराजित किये जाने की चर्चा तक नहीं है। यशोवर्माने ७३३ ई० के लगभग कश्मीर नरेश की अधीनता स्वीकार की। अतः महाकवि भवभूति का समय भी आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

यदि कल्हण पण्डित ने भवभूति के आश्रयदाता के नामोल्लेख की कृपा न की होती, तो भी हम परवर्ती कवियों के उद्धरणों [redacted] भवभूति का समय निश्चित कर सकते थे। आलङ्कारिक-प्रवर वामन ने अपनी 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में भवभूति के कई 'पद्यों को उद्धृत किया है। अतएव वामन से भवभूति की प्राचीनता सिद्ध होती है। वामन का समय आठवीं सदी का उत्तरार्द्ध तथा नवीं का आरम्भ है। अतः भवभूति के आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में होने के विषय में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता।

ग्रन्थ

भवभूति के बनाये हुये तीन नाटक संस्कृत साहित्य में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। भवभूति की प्रतिभा का विकास इन नाटकों में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(१) 'मालतीमाधव'—एक बृहत् प्रकरण है। इसमें मालती तथा माधव की कल्पना प्रसूत वैवाहिक कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित की गई है। इसमें

[भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु।]

१ वामन ने 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः' (उत्तररामचरित १।३८) को रूपकालङ्कार के उदाहरण में उद्धृत किया है।

२ वामन का समय प्रायः निश्चित सा हो गया है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में लिखा है कि आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने 'अनुरागवती सन्ध्या' पद्य को भामह तथा वामन द्वारा प्रदर्शित विविध अलंकारों की एकत्र प्रदर्शित करने के लिये उद्धृत किया है। इससे वामन आनन्दवर्धन से प्राचीन प्रतीत होते हैं। कश्मीरी पण्डितों का विश्वास है कि यह वामन जयापीड के सभापण्डित थे। कल्हण पण्डित ने जयापीड (७७९-८१३ ई०) की सभा में वामन के मन्त्री होने का उल्लेख किया है—

मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा। बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

इन प्रमाणों से वामन [redacted] जयापीड का मंत्री होना सिद्ध होता है। अतएव इनका समय नवीं शताब्दी [redacted] प्रथम चतुर्थांश ठीक जान पड़ता है।

युवावस्था के उन्मत्तकारी प्रेम का सच्चा तथा विशद चित्र खींचा गया है। स्थान स्थान पर प्राकृतिक वर्णन बड़े लम्बे चौड़े दिये गये हैं जिनसे इसे प्रकरण न कह कर 'काव्य नाटक' (एपिक ड्रामा) कहना समुचित जान पड़ता है। अघोरघण्ट की सिद्धियों का तथा श्मशान का उज्ज्वल वर्णन अच्छे ढंग से लिखा गया है।

(२) महावीर चरित—राम का पूर्वार्द्ध चरित नाटक के रूप में प्रदर्शित किया है। राम कथा को नाटकीय रूप देने में भवभूति ने अपूर्व योग्यता दिखलाई है। इनसे कितने सौ वर्ष पूर्व महाकवि भास ने रामकथा को खण्ड खण्ड कर अपने दो नाटकों—अभिषेक नाटक तथा प्रतिमा नाटक—में विस्तार से दिखलाया है। भवभूति ने राम को आदर्श मनुष्य दिखलाना अपना ध्येय रखा है, अतएव कितने ही राम के दोषों को छिपाने की चेष्टा की गई है। भवभूति ने दिखलाया है कि बाली रावण का सहायक बनकर रामचन्द्र से युद्ध करने आया था, राम ने उसका वध किया।

(३) उत्तररामचरित—में रामायण का उत्तरार्द्ध प्रदर्शित है। राम के वन प्रत्यागमन पर राजगद्दी पाने से लेकर सीता मिलन तक की सम्पूर्ण कथायें कुछ कल्पना प्रसूत घटनाओं के साथ खूब दिखाई गई हैं। भवभूति की कवि प्रतिभा का यह सर्वोच्च निदर्शन है। इसके तीसरे अङ्क में कवि ने कमाल किया है। एक ओर राम अपने वनवास के प्रियमित्र पञ्चवटी के परिचित स्थानों को देखकर सीता के लिये विलाप करते करते मूर्छित हो जाते हैं, दूसरी ओर छाया सीता राम के इस प्रेममय स्मरण से अपने वनवास के कठिन दुःखों को भी लात मारकर अपने जीवन को धन्य समझती है। राम इस छाया सीता के स्पर्श का अनुभव तो अवश्य करते हैं परन्तु आँखों से देख नहीं पाते। कवि ने खूब ही Poetic justice काव्य न्याय दिखलाया है। सीता को वनवास देनेवाले राम के रुदन को दिखाकर कवि ने सीता के अपमानित तथा दुःख भरे हृदय को बहुत शान्त किया है। करुणरस का प्रवाह जैसा इस अङ्क में दिखलाया गया है वैसा कदाचित् ही कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर हो। भवभूति ने बेजान पत्थरों को भी रामचन्द्र के विलापों से खूब ही रुलाया है। ऐसा चमत्कार किसी कवि ने नहीं पैदा किया है। करुणरस की पराकाष्ठा को लक्ष्य कर कोई आलोचक कहता है—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्या हसत स्म स्तनावपि।

समीक्षा

(१) भवभूति की कविता बड़ी चमत्कारिणी है। संस्कृत भाषा के ऊपर आपका पूरा प्रभुत्व है। वाग्देवी ब्रह्मा की तरह आपकी वशंवदा थी। इनकी

कविता में भाषा तथा भाव में अनुपम सामञ्जस्य है; जैसा भाव वैसी भाषा। जो भवभूति भयंकर युद्ध के वर्णन के समय लम्बे समास वाले ओजोगुणविशिष्ट—

अयं शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभुक्-
प्रचण्डक्रोधार्चिनिचयकवलत्वं व्रजतु मे।
समन्तादुत्सर्पद्घनतुमुलहेलाकलकलः
पयोराशेरोघः प्रलयपवनास्फालित इव॥

—उत्तररामचरित ५।१

पद्य लिख सकते हैं, वही भवभूति ललितभाव के वर्णन करते समय ऐसा सुन्दर अनुष्टुप् लिख सकते हैं जिसमें एक भी समास है ही नहीं—

अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

इस सामञ्जस्य का अनुरूप उदाहरण कभी कभी एक ही पद्य में मिलता है जिसके एक भाग में युद्ध वर्णन के लिए टवर्ग के अनुप्रास से गाढबन्धता रखी गई है और जिसके दूसरे भाग में कोमलवस्तु के वर्णन के हेतु सुकुमार पदावली प्रयुक्त की गई है। यह भवभूति के भाषाधिपत्य को प्रगट कर रहा है। नीचे के पद्य में ऐसा सुन्दर शब्दविन्यास है कि पद्य के पढ़ते समय ही तुङ्गतरंगवाली, गद्गद् नाद के साथ बहनेवाली, नदियों का प्रत्यक्ष चित्र सामने खड़ा हो जाता है—शब्दों में भी वर्ण्यवस्तु की झंकार स्पष्ट मालूम पड़ती है—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलै—
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्संगमाः॥

—उत्तर २।३०

भवभूति ने अनेक छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग अपने नाटकों में किया परन्तु आपकी शिखरिणी सबसे अच्छी है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्त-तिलक में भवभूति के शिखरिणी-वृत्त की प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति।

(२) भवभूति ने जैसा उज्ज्वल विशद प्रेम का चित्र खींचा है वैसा संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त दुर्लभ है। अन्य कवियों ने, नहीं नहीं स्वयं कालिदास ने, सांसारिक-वासना भरे काम का ही वर्णन किया है, विशुद्ध प्रेम का वर्णन कालिदास के ग्रन्थों में विशेष नहीं मिलता। भवभूति ने यौवनकाल की उद्दाम कामप्रवृत्ति का

वर्णन मालतीमाधव में किया है और विश्वस्त हृदय के सच्चे, शुद्ध प्रेम का चित्र उत्तररामचरित में दिया है। भवभूति मानव हृदय में इस प्रेम के विकास के अच्छे पारखी थे। प्रारम्भिक तथा अन्तिम दशा में काम तथा प्रेम दोनों का निरीक्षण इन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से किया था। नीचे के पद्य में उन्होंने सच्चे प्रेम की परिभाषा भली भाँति दर्शाई है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं, सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।

भावार्थ—सच्चा प्रेम सुख तथा दुःख में एकसा रहता है। हर दशा में, चाहे विपत्ति हो या सम्पत्ति, वह अनुकूल रहता है, जहाँ हृदय विश्राम लेता है, वृद्धावस्था आने से जिसमें रस की कमी नहीं होती। समय बीतने पर बाहरी लज्जा, सङ्कोच आदि आवरणों के हट जाने से जो परिपक्व स्नेह का सार बच जाता है वही सच्चा प्रेम है। प्रेम की क्या ही सुन्दर परिभाषा है।

भवभूति ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि यह प्रेम बाहरी रूप से हृदय में अङ्कुरित नहीं होता, बल्कि एक हृदय को दूसरे हृदय से जोड़नेवाला कोई भीतरी कारण होता है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।

—उत्तर० ६।१२

भावार्थ—प्रीति किसी बाहरी कारण से पैदा नहीं होती, बल्कि कोई भीतरी कारण पदार्थों को आपस में मिलाता है। कहाँ तालाब में सकुचा हुआ कमल और कहाँ आकाश में उदित सूर्य! परन्तु सूर्य के उदय होते ही कमल खिल जाता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्तमणि पिघलने लगता है। अत वास्तव में प्रेम का उद्गम भीतरी कारणों से होता है। भवभूति ने इस सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिये सांसारिक उदाहरणों को न देकर प्रकृति के अटल नियमों का उल्लेख किया है। यह कवि के गूढ़ दार्शनिक विचारों को प्रकट कर रहा है।

(३) भवभूति पुरानी लकीर पीटनेवाले विद्वान् न थे, नियमित साम्प्रदायिक तथा पिष्ट वस्तुओं का आदर उनके यहाँ नहीं था, इनके मस्तिष्क से हर जगह नवीन तथा मौलिक भावों की उत्पत्ति हुई है। अधिकांश संस्कृत कवि जूठी उपमाओं के—कमलमुख, चन्द्रवदन आदि के—प्रयोगों में ही अपनी सारी शक्ति खर्च कर

गये हैं, परन्तु भवभूति ने मौलिक उपमाओं का आविर्भाव किया है। उपमा-प्रयोग में इनकी विशेषता यह है कि वाल्मीकि की तरह ये द्रव्य की उपमा किसी गुण से देते हैं अथवा ठोस वस्तु की उपमा किसी अव्यक्त वस्तु से देते हैं। विरह-विधुरा सीता का यह क्या ही सच्चा वर्णन है :—

> परिपाण्डु दुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्
> करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी।

भावार्थ—सीता के कपोल पीले तथा कृश पड़ गये हैं, उनके मुख पर केश इधर-उधर बिखरे हुए हैं। जान पड़ता है कि साक्षात् करुण रस की मूर्ति अथवा शरीर धारण करनेवाली विरह-व्यथा ही जानकी के रूप में इस जंगल में आ रही है। मलिना निराकृता जानकी की उपमा शरीरिणी विरह-व्यथा से देना कितना मनोहर है।

एक नवीन उपमा पर दृष्टिपात कीजिये:—

> किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
> हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः।
> ग्लपयति परिपाण्डुक्षाममस्याः शरीरं
> शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम्॥

भावार्थ—हृदय पुष्प को सुखानेवाला दीर्घशोक जानकी के पीले तथा पतले, बन्धन से तोड़े गये कोमल पत्ते के समान, शरीर को उसी भाँति खिन्न कर रहा है जैसे शरदृतु का घाम केतकी पुष्प के भीतरी पत्र को मुरझा देता है।

(४) भवभूति मानव हृदय के सूक्ष्म भावों के सच्चे परीक्षक थे। उन्होंने विभिन्न अवस्थाओं में मानव हृदय के विकारों का सच्चा वर्णन किया है। उत्तर-रामचरित के तीसरे अङ्क में इसके कितने उदाहरण हैं। गर्भवती सीता तमसा के साथ पंचवटी में आ रही हैं, अचानक रामचन्द्र के मसृण वचन सीता के कर्ण-कुहर में प्रवेश करते हैं। सुदीर्घ द्वादश वर्ष के वियोग के अनन्तर प्राण-प्यारे के इन वचनों को सुनकर सीता की हालत का वर्णन तमसा के मुख से कवि ने करवाया है—

> तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशात्
> वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
> प्रसन्नं सौजन्यादपि च करुणैर्गाढकरुणं
> द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव॥

भावार्थ—हे सखि! तुम्हारा हृदय निराशा से—रामसे संयोग होने की निराशा से—अभी उदासीन था तथा राम के इस दुर्व्यवहार से कलुषित था।

परन्तु अब इस दीर्घ वियोग में अचानक भेंट हो जाने से बिल्कुल स्तब्ध हो गया है, राम को सुजनता से प्रसन्न है और विलापों के कारण इसमें शोक की तीव्र धारा चल रही है; राम के प्रेम प्रकट करने से यह हृदय आनन्द से पिघला जारहा है। हृदय के भावों का सूक्ष्म विश्लेषण कितना तात्त्विक है।

(५) भवभूति चेतन मानवीय प्रकृति के ही सच्चे चित्रकार नहीं हैं बल्कि जड़ प्रकृति के भी। उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण बड़ी सावधानी से किया था। कालिदास ने प्रकृति के केवल कोमल पहलू का ही वर्णन किया है परन्तु भवभूति की दृष्टि उसके भयङ्कर तथा कठिन पहलू पर गई थी। दण्डकारण्य का जैसा सच्चा वर्णन उत्तररामचरित में पाया जाता है; जंगल का वैसा वर्णन कादम्बरी को छोड़ अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत कवियों का प्राकृतिक वर्णन सदैव अलङ्कृत रहता है जिससे लोगों को सन्देह होने लगता है कि क्या यह दृश्य कवि की कल्पना से प्रसूत हुआ है या उसके प्रकृति पर्यवेक्षण से। परन्तु भवभूति का यह वर्णन अग्रज महाकवियों के समान (Detailed) विस्तृत तथा (Realistic) वास्तविक है। इस विषय में कोई भी संस्कृत-कवि हमारे चरित—नायक का मुकाबिला नहीं कर सकता है। मालतीमाधव के श्मशान वर्णन की भी यही विचित्रता है। दण्डकारण्य की भीषणता पर जरा दृष्टिपात करिये —

> निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
> स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
> सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो या स्वयं
> तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ।

भावार्थ—जंगल का कोई भाग बिल्कुल शान्त है और कहीं हिंसक जानवरों की प्रचण्डध्वनि सुन पड़ती है। कहीं पर स्वेच्छया सोये हुये विस्तृत फनवाले भुजगों के श्वास से आग पैदा हो रही है। जल का नाम नहीं है; कहीं-कहीं छोटी गड़हियों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है, बिचारे प्यासे गिरगिटों को पानी नहीं मिलता। वे क्या करें, अजगर के पसीने को पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं। कितना भयानक दृश्य है!

पहाड़ों पर सोते बहे चले जा रहे हैं। उनका क्या ही रोचक वर्णन है!—

> इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरविरुद्-
> प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
> फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज—
> स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥

भावार्थ—यह देखो, झरने बह रहे हैं। इनके किनारे वानीर लता उगी हुई है। उनके ऊपर मधुरकंठ वाले पक्षिगण विहार करते हैं। उनके बैठने से लता

के फूल झरनों में गिर जाते हैं जिससे उनके पानी सुगन्धित हो जाते हैं। पहाड़ों से बहने के कारण नदियों का जल स्वभाव से ही शीतल तथा स्वच्छ है। उनकी धारायें पके हुये फलों से लदे, काले जम्बू वृक्षों की कुञ्ज से टकराने पर अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक मार्गों से बह रही हैं।

(६) भवभूति अनेक रसों के वर्णन में सिद्धहस्त हैं। इन्होंने वीररस का सजीव वर्णन किया है। वीरों का गर्वीला गर्जन, अस्त्रों की झंकार, स्यन्दनों की खटखटाहट और बाणों की सनसनाहट—ये सब हमारे सामने सच्ची युद्धभूमि का चित्र हठात् उपस्थित कर देते हैं। मालतीमाधव में शृङ्गार रस का खासा वर्णन किया गया है। श्मशान दृश्य में वीभत्स तथा भयानक की मात्रा यथेष्ट है। परन्तु भवभूति सबसे अधिक करुणरस के चित्रण में सिद्धहस्त हैं। कालिदास ने भी रतिविलाप तथा अजविलाप के द्वारा करुण का करुणोत्पादक कौतूहल खूब ही दिखलाया है परन्तु भवभूति के वर्णन में कुछ अलौकिकता है, विचित्र चमत्कार है, जो अन्यत्र दीखने को नहीं मिलता। भवभूति करुणरस के प्रधान आचार्य हैं। आलंकारिकों में आदि-रस के विषय में बड़ा मतभेद है। महाराज भोजदेव शृङ्गार को ही रसों का सिरताज समझते हैं, तो शैवागम के अनुयायी काश्मीरी कविगण शान्तिरस को ही मुख्य रस मानते हैं; परन्तु हमारे भवभूति ने करुणरस को ही सब में प्रधानता दी है। इन्होंने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है:—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्त-बुद्बुद-तरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा, सलिलमेव तु तत्समग्रम्।

भावार्थ—करुण ही प्रधान रस है। रससामग्री (स्थायीभाव, आलम्बन, उद्दीपन आदि) की विभिन्नता से वह भिन्न होता हुआ भिन्न भिन्न परिणामों को धारण करता है परन्तु है एक ही। एक ही जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुदबुदों तथा तरङ्गों के रूप को धारण करता है; परन्तु वास्तव में वह सब जल ही है। जब करुणरस के विषय में भवभूति की ऐसी उच्च धारणा थी, तब उनके करुण वर्णनों की क्या कथा? इसी करुण वर्णन-वैचित्र्य को लक्ष्य कर गोवर्धनाचार्य ने ठीक ही कहा है:—

भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।

राम सीता के लिये विलाप कर रहे हैं:—

हा हा देवि! स्फुटति हृदयं, स्रंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।

सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा ॥
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥

भावार्थ—हा देवि ! तुम्हारे बिना मेरा हृदय फटा जाता है, शरीर शिथिल पड़ रहा है, संसार को सूना समझता हूँ, मेरे हृदय में हमेशा ज्वाला बल रही है, मेरी दुःखित आत्मा गाढ़ अन्धकार में धसी जाती है, चारों तरफ़ से अज्ञान मुझे घेर रहा है। अब मैं मन्दभाग्य क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?

भवभूति और कालिदास

कालिदास के बाद यदि कोई नाटककार उच्चस्थान प्राप्त कर सकता है तो वह भवभूति हैं। दोनों ने संस्कृत नाटक-साहित्य में उन्नत स्थान प्राप्त किया है। [illegible] अंशों में भिन्न है। [illegible] इनकी कविता में [illegible] मालतीमाधव के नवम अङ्क में विरही माधव मालती के समाचार जानने के लिए मेघ को अपना दूत बनाकर भेज रहा है—

कच्चित् सौम्य ! प्रियसहचरं विद्युदालिङ्गति त्वा-
माविर्भूतप्रणयसुमुखाख्यातका वा भजन्ते ।
पौरस्त्यो वा सुखयति भवत् साधुसंवाहनाभि-
र्विष्वग् विक्षत्सुरपतिधनुर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ॥
दैवात् पश्येर्जगति विचरन्निच्छया मत्प्रियां चेद्
आश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम् ।
आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः ॥

कहना व्यर्थ है कि इन पद्यों में शाकुन्तल तथा मेघ के पद्यों के भाव तथा शब्द ज्यों के त्यों लाये गये हैं। इतना होने पर भी भवभूति में अपनी कुछ विशेषता है जो इनके नाटकों को कालिदास की रचनाओं से सर्वथा पृथक् करती है। कालिदास की कविता में व्यञ्जना की प्रधानता है। थोड़े से चुने हुए शब्दों में भाव की अभिव्यक्ति की गई है, परन्तु भवभूति ने कुछ विस्तार के साथ भावों को वाच्य बना दिया है। जहाँ कालिदास के पात्र केवल चार आँसू बहाकर अपने चित्तोद्वेग की सूचना देते हैं, वहाँ भवभूति के पात्र फूट फूट कर बहुत देर तक रोते हैं—आँसुओं की धारा बहाकर अपने मानसिक विकार को बिल्कुल प्रत्यक्ष कर देते हैं। कालिदास ने प्रकृति के केवल ललित अंश पर अपनी दृष्टि डाली है, उसी अंश को अपनी कविता में दिखलाया है। परन्तु भवभूति ने प्रकृति

के विकट अंश को भी अपनाया है और अपने नाटकों में दर्शाया है। कालिदास के हिमालय वर्णन तथा भवभूति के विन्ध्य वर्णन की तारतम्य परीक्षा करने से यह विभेद पाठकों के सामने आ सकता है।

उत्तरेरामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते:

(समीक्षा तथा समर्थन)

संस्कृत साहित्य में मान्य समालोचकों की मण्डली में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि एक बार किसी ने कालिदास से पूछा कि नाटक क्षेत्र में आप में और भवभूति में अधिक सफल कौन है? उत्तर में कालिदास की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

"नाटके भवभूतिर्वायं वा वयमेव वा
उत्तरेरामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"।

यद्यपि कालिदास और भवभूति के कालक्रम से यह किंवदन्ती मेल नहीं खाती तथापि इन दोनों महाकवियों के वैशिष्ट्य के विषय में संस्कृत के मनीषियों की ऐसी धारणा है। अतः इस धारणा की यथार्थता की सिद्धि के लिये कतिपय आवश्यक तत्त्वों का अन्वेषण अपेक्षित है। सर्वप्रथम इन दोनों महाकवियों की तुलना करने में दोनों के कविस्वभाव के वैभिन्य का पर्यवेक्षण सहायक है। अतः यह देखना आवश्यक है कि इन दोनों महाकवियों के काव्य निर्माण का वातावरण किस प्रकार का था?

× × ×

कालिदास सरस्वती देवी के सौभाग्यशाली वरद पुत्र हैं। फलतः शारदा की अनुकम्पा उनके ऊपर स्वाभाविक है, विक्रमादित्य जैसे प्रतापशाली राजा की राजसभा के विद्वत्रत्नमाला के सुमेरु थे। जीवन काल में ही यशोलाभ मिल चुका था। जीवन सुखमय और शान्त था। अतः उनके काव्य निर्माण का वातावरण बड़ा ही कोमल और आनन्दमय था। यही कारण था कि उनके कविता करने का ढंग उतना ही स्वाभाविक था जितना कि प्रातःकाल में स्निग्ध वायु के बहने का ढंग। राजसी वातावरण में रहने के कारण कालिदास कोमल तथा ललित वस्तुओं के प्रति अधिक आकृष्ट मालूम पड़ते हैं। इसके विपरीत भवभूति ने अपने पांडित्य के बल पर शारदा से मानों कविता लिखने की कला को बलात् प्राप्त किया, ऐसा प्रतीत होता है। वे वेद तथा उपनिषद् एवं दर्शन के अभ्यासी पंडित हैं। फलतः उनकी कविता में गाम्भीर्य का उत्कर्ष मिलता है। "ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ये किमपि तान् प्रति नैष यत्नः" भवभूति की इस उक्ति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है [illegible] उनके समय में उनके काव्य की मान्यता स्वीकृत नहीं थी। वे जीवन के नैराश्यपूर्ण अवस्थाओं से गुजरनेवाले कवि मालूम पड़ते हैं। उनके हृदय में उनके प्रति समाज की इस उदास वृत्ति से गहरी चोट

रूपी थी। फलतः उनकी कविता का वातावरण असंतुष्ट-सा प्रतीत होता है। जीवन के अधिक काल तक इन्हें विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। एक तरह से उनका आन्तरिक जगत् विद्रोही हृदय का नेतृत्व कर रहा था। अतएव अपनी इसी वातावरण की विलक्षणता के कारण भवभूति कालिदास की अपेक्षा भावों को व्यक्त करने में अधिक गहराई तक चले गये हैं और विशेषकर उत्तर-रामचरित में इनकी इन विशेषताओं का निखरा हुआ स्वरूप समालोचकों के दृष्टि पथ में बलात् आकर कालिदास से भी बढ़ कर सम्मान प्राप्त किये हैं। अतः सम्प्रति कालिदास की अपेक्षा भवभूति की विशेषताओं का दिग्दर्शन दोनों की वर्णन शैली के बाह्य और आन्तरिक पक्ष को आधार मानकर किया जाता है।

(क) वाह्यपक्षः—

प्रकृति वर्णन में वैशिष्ट्यः—(१) कालिदास ने अपने काव्य में प्रकृति के केवल ललित तथा सुकुमार पक्ष का वर्णन किया है। प्रकृति के सौम्य रूप के चित्रण में ही सर्वत्र कवि की कविता का विलास दृष्टिगोचर होता है। कालिदास ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही अधिकतर चित्रित किया है। कालिदास की प्रकृति स्वतंत्र रूप से सहृदयों को आनन्दित न करके नायक नायिका के रूप में भी आनन्दित करती दृष्टि में आती है। कालिदास ने प्रकृति के अंग नदी, बादल प्रभृति में नायक नायिका का आरोप किया है। अतः उनकी कविता में प्रकृति चित्रण के प्रसंग में भी शृंगाररस की अनुभूति होती है। इस प्रकार कालिदास की कविता में वर्णित प्रकृति का कोमल और सरस रूप ही सहृदयों के दृष्टिपथ में अवतरित होता है।

भवभूति प्रकृति के केवल सौम्यरूप का ही वर्णन नहीं करते, अपि तु उसके रौद्ररूप की भी अनूठी झाँकी प्रस्तुत करते हैं। भवभूति ने प्रकृति के विकट, दम तथा भयानक अंशों को भी चित्रित किया है। उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में भवभूति ने प्रकृति के रौद्र और प्रभावोत्पादक रूप का स्वाभाविक चित्रण किया है। दण्डकारण्य की भीषणता का चित्रण कितना स्पष्ट और स्वाभाविक है—

"निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः ......

..."तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते"।

अर्थात् भीषण गर्मी के कारण जलाशयों में जल सूख गये हैं। अतएव प्राण-रक्षा के लिये छिपकिली अजगर सर्प के देह से निकलनेवाले पसीने को पी रही हैं। यह तो प्रकृति के रौद्ररूप का उदाहरण है। भवभूति के निम्न पद्य में प्रकृति के सौम्य रूप का दर्शन भी मिलता है—"इह समद—शकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्" इस पद्य में प्रकृति के रम्य रूप का सुन्दर चित्रण हुआ है। उनकी एक खास विशेषता यह है कि वे एकत्र भी प्रकृति के उभय रूप का वर्णन करते दृष्टि में आते हैं। यथा—

"स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः स्थाने स्थाने मुखर ककुभो झांकृतैर्निर्झराणाम्" भवभूति में प्रकृति के ध्वनिपक्ष को ग्रहण करने की विलक्षण शक्ति है। वे प्रकृति के स्वरूप के अनुकूल ही शब्दों को विन्यस्त करते हैं जिससे प्रकृति का स्वरूप शब्द की ध्वनन शक्ति के कारण स्वयं आँखों के सामने साकार हो उठता है।

यथा—"एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदवरीवारयो" इत्यादि पद्य में।

(२) युद्ध वर्णन में वैशिष्ट्य.—कालिदास शृङ्गाररस के मान्य कवि हैं। अतएव उनके काव्य में वीररस जब कभी आया है तो वह अङ्ग रूप में ही। उनके वीररस के वर्णन का प्रसग भी शृङ्गाररस के पुट को लिये होता है। कालिदास की शृङ्गार प्रियता के ही कारण उनके युद्ध के वर्णन में उतना जोर नहीं जितना अपेक्षित है। भवभूति के युद्ध-वर्णन का प्रसग अधिक जोरदार है। भवभूति अपनी शाब्दी ध्वनि की निपुणता के कारण श्रवण मात्र से युद्ध की भीषणता का दृश्य नेत्र के सामने उपस्थित कर देते हैं। श्लोक के पढ़ते ही वीररस की अनुभूति होने लगती है। "क्षणक्वणितकिङ्कण क्वणित किङ्किणिकं धनु" के सुनते ही युद्ध में धनुष की बजनेवाली किङ्किणी की आवाज कानों में हठात् आ पड़ती है। इसी प्रकार-"ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र" इत्यादि श्लोक में लव की वीरता का सुन्दर चित्रण है। युद्ध वर्णन के प्रसग में गौडी का गाढबन्धन तथा इस प्रकार की शाब्दीध्वनि तथा सघर्षमय वीराश्रय वर्णन कालिदास में खोजने पर भी नहीं मिलता।

(ख) आन्तरिक पक्ष.—

जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के वर्णन में भवभूति की विशेषता परिलक्षित होती है इसी प्रकार अन्तः प्रकृति के वर्णन में भी।

(१) प्रेमचित्रण में वैशिष्ट्य.—कालिदास की अपेक्षा प्रेमचित्रण में भी भवभूति की खास विशेषता है। कालिदास ने अपने काव्य में अधिकतर सांसारिक वासनामय स्वभाविक प्रेम का चित्रण किया है। सर्वत्र उन्होंने प्रेम को उन्मुक्तरूप में फूलने-फलने दिया है। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम वासनामिश्रित उन्मुक्त प्रेम का निदर्शन है। किन्तु भवभूति ने सर्वत्र अपने उत्तररामचरित में उज्ज्वल दाम्पत्य प्रेम का चित्रण किया है। उन्होंने विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम को सदा आगे रखा है। प्रेम के वर्णन में भवभूति कभी भी कामुकता के स्तर पर नहीं उतरते। भवभूति के पात्र कहीं भी स्वच्छन्द प्रेम के पक्षपाती नहीं, वरन समाज के द्वारा अभिनन्दित धर्मानुयायी प्रणय मार्ग के पथिक हैं। राम और सीता का प्रेम समस्त दाम्पत्य प्रेम के आदर्श का प्रतीक है। कवि सच्चे प्रेम को दैवी वरदान समझता है—अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु-

तन्" इत्यादि पद्य में भवभूति के अनुसार प्रेम की ज्योति सुख के समीर में तथा दुःख की आँधियों में समानरूप से जगा करती है। भवभूति ने "व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते" पद्य के माध्यम से स्पष्ट स्वीकार किया है कि प्रेम पर बाह्य सौन्दर्यादि का प्रभाव नहीं पडता, अपितु एक हृदय को दूसरे से मिलाने के लिये कोई आन्तरिक हा कारण होता है।

(२) रसनिरूपण में वैशिष्ट्य—

कालिदास मूलतः शृङ्गाररस के अधिष्ठाता पुरोहित हैं, जब भवभूति नाट्य जगत् में करुणरस की प्रधान रूप से अवतारणा होनेवाले आचार्य हैं। भवभूति का करुणरस उनकी दुःखी आत्मा की बहती हुई करुणा की धारा है। कवि का हृदय वेदनामय है। अतः उसका रस भी स्वानुभूत है। विशेष कर अन्य रसों की अपेक्षा करुणरस का चित्रण कठिन होता है और वह कवि के अन्तः प्रकृति से सम्बद्ध रहता है। भवभूति ने प्रधानरूप से करुणरस की गंगा को प्रवाहित कर नाट्यसाहित्य को एक नयी दिशा दी है। भवभूति का रस वर्णन उनकी अपनी अनुभूति पर अवलम्बित होता है। सिद्धान्तरूप से भवभूति ने करुणरस को ही प्रधान रस माना है। अन्य रसों को उसका विवर्तमात्र माना है। करुणरस की अवतारणा में मानों वे अपने अस्तित्व को खो से देते हैं। उनके भाव तलस्पर्शी हैं। वे किसी भाव की गम्भीरता के लिये तदनुकूल शब्दों का चुनाव करते हैं। कालिदास ने भी करुणरस का चित्रण किया है किन्तु वह एकपक्षीय ही है। अज विलाप में स्त्री के लिये पुरुष का विलाप और रति विलाप में केवल पुरुष के लिये स्त्री का विलाप करुणरस का आस्वादन तो कराता है किन्तु विशृङ्खल रूप से ही। भवभूति अपने उत्तररामचरित में एकत्र ही राम और सीता को परस्पर एक दूसरे के वियोग में एक दूसरे के लिये विलाप करा कर करुणरस के उभय पक्ष का आस्वाद कराते हैं। यही उनकी विशेषता है। करुणरस के अनुभावों का चित्रण निम्न पद्य में कितना मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी है —

"हा [redacted] देवि! स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबन्धः शून्यं मन्ये जगदविरलज्वाल मन्तर्ज्वलामि"। भवभूति का करुणरस अत्यन्त गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। वह पुटपाक के समान है जो ऊपर से पंकलिप्त होने के कारण परमशान्त किन्तु भीतर [redacted] तीव्र अन्तर्वेदना से उत्तप्त रहता है।

> "अनिर्भिन्नो गम्भीरत्वात् अन्तर्गूढघनव्यथः।
> पुटपाक-प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥"

भवभूति के करुणरस के इस विलक्षण चमत्कार को देख कर ही तो गोवर्धनाचार्य ने उनकी प्रशंसा निम्न पद्य में की है—

> भवभूते सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
> एतत्-कृत कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

करुणरस के साथ ही भवभूति वीर, बीभत्स और रौद्र रस का सजीव चित्रण करते हैं। अतएव इन्हें रसों का आचार्य कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य भी विशेषतायें भवभूति में पायी जाती हैं—

यथा—कालिदास की कविता में व्यञ्जनावृत्ति की प्रधानता है किन्तु भवभूति की वाणी में वाच्यार्थ की प्रगल्भता है। कालिदास थोड़े से चुने हुये शब्दों में ही अधिक से अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति करा देते हैं जब भवभूति विपुल वाग् विस्तार द्वारा किसी अर्थ या भाव का विशद वर्णन करते हैं। कालिदास अपने पाठकों की कल्पना पर बहुत कुछ छोड़ देते हैं किन्तु भवभूति सब कुछ स्वयं कह देते हैं। यथा—'शाकुन्तल' में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त की यह उक्ति **'अये! लब्धं नेत्रनिर्वाणम्'**। यहाँ अल्प भाषा में सारे भावों की व्यञ्जना करा दी गयी है। भवभूति का माधव मालती को देखकर उसकी चपल दृष्टि में स्नान करके कहता है—'अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण नद्ध' इत्यादि। पूरे श्लोक में इतने ही भाव का विशद विवेचन किया है।

× × ×

(२) भाव या गम्भीरता के लिए तदनुकूल शब्दों को चुन कर भवभूति बड़े ही सुन्दर ढंग से उस भाव को विशदरूप से चित्रित करते हैं। जहाँ कालिदास केवल 'मृगाक्षि' कह कर ही अपनी नायिका के नेत्रों की चपलता का वर्णन करते हैं, वहीं पर भवभूति सीता की आँखों की चपलता का वर्णन एक वर्ष के मृग की आँखों से उपमा देकर करते हैं। उससे भी उन्हें जब सन्तोष नहीं होता तो उसमें त्रस्त शब्द जोड़ कर डरे हुए एक वर्ष के मृग के नेत्र की चञ्चलता से उपमा देते हैं। यहाँ पर "त्रस्तैकहायन—कुरङ्गविलोलदृष्टि" इस पद्य के द्वारा नेत्रों की चञ्चलता के वर्णन में कितनी गम्भीरता झलकती है। मृग के नैन तो स्वयमेव स्वभाव से चपल होते हैं। तिस पर मृगशिशु के नेत्र में तो अधिक चाञ्चल्य का निवास रहता है। वह यदि एक साल की उम्र का हो, तो कहना ही क्या? इतना ही नहीं भय के कारण पशु या मानव के नेत्र अपने हो आप इधर से उधर दौड़ा करते हैं—नितान्त चपल हो जाते हैं। इसी कारण भवभूति की 'त्रस्तैकहायन कुरङ्ग विलोलदृष्टि' उपमा नितान्त गम्भीर, अन्तरङ्ग तथा हृदयावर्जक है।

(४) अलङ्कारों में उपमा के वर्णन में भवभूति की एक यह विशेषता है कि वे अधिकतर मूर्त को उपमा अमूर्त से देते हैं जो कि स्वाभाविक भी लगता है। कालिदास मूर्त की उपमा मूर्त से ही देते हैं। कालिदास वल्कलवसना शकुन्तला की उपमा सेवार में लिपटे कमल पुष्प से देते हैं जब कि भवभूति सीता की उपमा मूर्तिमती करुणा या विरह व्यथा से देते हैं। (करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी—उत्तररामचरित, तृ० अ०)

(५) नारी के स्वरूप-दर्शन में वैशिष्ट्य :—

कालिदास ने अधिकतर नारी के बाह्य सौन्दर्य का कमनीय चित्रण किया है जब भवभूति ने नारी के अन्तः सौन्दर्य का सफल विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कालिदास की दृष्टि में यदि नारी 'श्रोणीभारादलसगमना' और 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' है तो भवभूति की दृष्टि में नारी 'इयं गेहे लक्ष्मी' है।

इस प्रकार कालिदास की अपेक्षा भवभूति को उनकी इन विशेषताओं के कारण पंडित-समाज में अधिक सम्मान मिला है। और उपर्युक्त उक्ति की सार्थकता में ये विशेषतायें प्रमाणरूप में समाद्य है।



अमरुक

अमरुक के पद्यों की चर्चा संस्कृत-साहित्य में बड़े आदर के साथ की जाती है। रीतिग्रन्थों में इनके पद्य ध्वनि या अलंकार के उदाहरण में उद्धृत किये गये हैं। मम्मटकृत काव्यप्रकाश में तो आपके बहुत से श्लोक उत्तम ध्वनि के उदाहरणों के रूप में दिये गये हैं। आपका बनाया हुआ एक शतक मिलता है। शतक के श्लोकों में बड़ी गड़बड़ी है। अनेक कवियों के सुप्रसिद्ध श्लोक इसमें घुसेड़े हुए मिलते हैं तथा वे श्लोक जिन्हें सूक्तिमुक्तावली आदि सूक्तिग्रन्थ अमरुक का होना बताते हैं इसमें नहीं पाये जाते। यह भारतवर्ष के एक साहित्यिक दूषण का नमूना है जिससे निम्न कोटि के विद्वान् किसी प्रसिद्ध कविवर की रचनाओं में अपने पद्य प्रक्षिप्त करते हुए नहीं सकुचाते।

ये अमरुक कौन थे? किस देश में तथा किस समय में आपका जन्म हुआ? इन प्रश्नों का यथोचित उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि हमारे भारतीय कविवर अपने ग्रंथों में अपनी नम्रता दिखलाते हुए अपने चरित का कुछ भी उल्लेख नहीं करते थे। परन्तु शतक के टीकाकारों तथा विद्वानों में, जो कुछ अमरु के विषय में प्रसिद्ध है, वह नीचे दिया जाता है।

किंवदन्ती

श्री स्वामी शंकराचार्य दिग्विजय करते हुए माहिष्मती पहुँचे। वहाँ प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र रहते थे जिनके विषय में प्रसिद्ध है:—

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति
शिष्यैरसंख्यैरपि गीयमानमवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम।

जिनके द्वार पर, विद्यार्थियों की कौन कहे? तोता मैना में भी यह विवाद सतत हुआ करता था कि वेद स्वतः प्रमाण हैं या परतः प्रमाण। स्वामी शंकर के साथ आपका शास्त्रार्थ होना प्रारम्भ हुआ जिसमें प्रतिज्ञा यह थी कि जो हारे वह दूसरे का मत स्वीकार करे। इस वादविवाद में मध्यस्थ का पद मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी शारदा ने ग्रहण किया। शास्त्रार्थ छिड़ गया। अन्त में मण्डन मिश्र का पक्ष निर्बल होते देख शारदा ने शुद्धरूप से स्वीकार कर लिया कि उनके पतिदेव शास्त्रार्थ में हार गये। परन्तु शंकर से यह भी निवेदन किया कि पुरुष और स्त्री दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण व्यक्ति हैं। पति को हराने

पर अभी आधा ही जय आपको प्राप्त हुआ है। पूरे विजयी आप तभी होंग जब मुझे भी हरावें। स्वामी शंकर ने शास्त्रार्थ करना शुरू कर दिया, परन्तु जब शारदा ने कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्न किये[1], तब तो बाल ब्रह्मचारी शंकर से उत्तर देते न बना। उन्होंने उत्तर देने के लिये एक मास का अवकाश मांगा। इसी समय अमरु नामक राजा शिकार खेलने आया था। सिंह ने उसको मार डाला। सुअवसर पाकर शंकराचार्य विद्या के बल से इस राजा के मृत शरीर में प्रवेश कर गये। एक मास तक आपने वात्स्यायन प्रणीत कामशास्त्र का यथोचित अध्ययन किया तथा स्त्रियों के साथ विहार कर उस शास्त्र में पारङ्गत हो गए। तब आपने यही शतक शारदा के प्रश्नों के उत्तर में बनाया जिससे शारदा को हार माननी पड़ी। मण्डन मिश्र सन्यासी बन गये और सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुये।

इस अनश्रुति के अनुसार शङ्कराचार्य इसके कर्ता ठहरते हैं और इसी का आश्रय लेकर एक विद्वान् टीकाकार ने शृङ्गाररस से बुदबुदाती कविता का खींच तान कर शान्त रस में अर्थ लिख मारा है। परन्तु यह अनश्रुति आदरणीय नहीं है। क्योंकि माधवाचार्य ने अपने शंकरदिग्विजय में लिखा है—

वात्स्यायनप्रोदितसूत्रजातं तदीयभाष्यं च विलोक्य सम्यक्।
स्वयं व्यधत्ताभिनवार्थगर्भं निबन्धमेकं नृपवेषधारी॥

वात्स्यायन कामसूत्र तथा उसके भाष्य को अच्छी तरह से देखकर राजा का वेष धारण करने वाले शंकर ने एक नवीन प्रबन्ध बनाया। शंकर के उस ग्रन्थ से शारदा के सब प्रश्नों का उत्तर यथोचित रीति से हो गया। परन्तु इस ग्रन्थ में कामसूत्र के विषयों का समावेश नहीं दिखाई पड़ता। अमरु शतक से उत्तर देने की कुछ भी सम्भावना नहीं होती। निःसन्देह इसके पद्य शृङ्गाररस से परिपूर्ण हैं, परन्तु इसमें कामशास्त्र का विषय नहीं पाया जाता। अतः यह पुस्तक अमरु-शतक नहीं हो सकती। अतएव शंकराचार्य इस शतक के कर्ता नहीं हो सकते। इसके बनाने वाले कोई अमरु नामक कवि हैं। आपके व्यक्तिगत इतिहास का कुछ भी पता नहीं है।

रचना काल

प्रसिद्ध रीतिग्रन्थ ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन ने जो कश्मीरराज अवन्तिवर्मा (८५०) के समय में हुये थे अमरु के नाम का उल्लेख किया है —

---

१ शारदा के प्रश्न ये हैं—
कला कियत्यो वद पुष्पधन्वन किमात्मिका किं च पदं समाश्रिता।
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथा स्थितिः कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे॥

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा ह्यमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृंगाररसस्यंदिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव।

इनके बहुत से पद्यों को भी उदाहरण के लिये भी उद्धृत किया है। आनन्दवर्धन के पहले भी वामन ने अमरुक के पद्यों को उद्धृत किया है, जिससे ज्ञात होता है कि नवमी शताब्दी के आरंभ में अमरु के पद्य प्रसिद्ध हो गये थे। अतः निश्चित होता है कि अमरु कवि नौवीं शताब्दी से प्राचीन हैं।

टीकाकार

अमरु शतक की टीकाएं बहुत सी हैं। इन टीकाकारों ने शतक के पद्यों के अर्थ, रस तथा अलंकार के समझाने में पूरा प्रयत्न किया है। रविचन्द्र नामक टीकाकार ने इस शतक को भगवान् शंकराचार्य की रचना मानकर प्रत्येक पद्य में शान्तरस के अनुकूल अर्थ किया है। परन्तु शृङ्गाररस में भरे हुए इन पद्यों की शान्त रसानुकूल व्याख्या करना सहृदयों के लिए नितान्त उद्वेजक है। इस विषय में महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद जी का यह कथन सर्वथा सत्य है—स च शुचिरसस्यन्दिपद्मकरश्लोकेषु परिशोल्यमानेषु 'रहसि प्रौढवधूनां रतिसमये वेदपाठ' इव सहृदयानां शिरःशूलमेव जनयति। इन टीकाकारों में सबसे प्राचीन अर्जुनवर्मदेव हैं। इनकी टीका का नाम **'रसिक सञ्जीवनी'** है। ये प्रसिद्ध भोजराज के वंश में जन्मे थे और इनका समय तेरहवीं सदी का उत्तरार्ध है। इस टीका में प्रत्येक पद्य में रस तथा अलंकार का पूरा विवरण दिया गया है। प्रमाण में अलंकार-ग्रन्थों के वाक्य भी दिये गये हैं। रसिक संजीवनी के अतिरिक्त वेमभूपाल विरचित **'शृङ्गारदीपिका'** भी अच्छी टीका है।

कविता

अमरुक की कविता बड़ी मनोहारिणी है। शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छन्दों का उपयोग करने पर भी इनकी कविता में लम्बे-लम्बे समास नहीं आये हैं। अमरु शब्द-कवि नहीं हैं; वे रसकवि हैं। इनकी कविताएँ मनोरम शृङ्गार से लबालब भरी हैं। अर्जुनवर्मदेव ने बड़ी मार्मिकता से इस काव्य की आलोचना करते समय दिखलाया है कि कहीं कहीं पददोष होने पर भी इनमें कोई क्षति नहीं है। भला रसकवि कभी पदविन्यास के झमेले में पड़ा रहता है? उसके लिए पदविह्वलता तो वाञ्छनीय होती है। इस विषय में मदनोपाध्याय ने क्या ही अच्छा कहा है—

पदविह्वलता क्वापि स्पृहणीया भवति रसकवीन्द्राणाम्।
घनजघनस्तनमण्डलमारालसकामिनीनां च॥

अमरुक के शृंगार वचनों के सामने अन्य कवियों के सरस वचन नहीं टिक सकते। आनन्दवर्धन का कथन यथार्थ है कि इनके एक एक पद्य पूरे प्रबन्ध के समान हैं। जितने भाव एक प्रबन्ध में दिखाए जा सकते हैं, अमरुक ने उतने भाव एक छोटे से पद्य में दिखलाया है। वास्तव में इन्होंने गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। इन्होंने प्रेम का जीता जागता चित्र खींचा है। कामी तथा कामिनियों की भिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं पर पति की परदेश जाने के लिए तैयार देखकर कामिनी की हृदय विह्वलता का चित्र है, तो कहीं पति के शुभागमन के समाचार सुनकर अंग प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है। ये पद्य क्या हैं! संस्कृत साहित्य के चमकते हीरे हैं। इसीलिए अर्जुनवर्मदेव की यह प्रशस्त प्रशंसा तनिक भी अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती—

अमरुककविरवडमरुकनादेन विनिह्नुता न संचरन्ति।
शृङ्गारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु॥

अमरुक शतक 'मुक्तककाव्य' का उत्कृष्ट उदाहरण है। किसी अन्य की अपेक्षा न रखने वाले उन पद्यों को मुक्तक के नाम से पुकारते हैं जिनमें रस की समग्र सामग्री विद्यमान रहती है—रस के विकास के लिए किसी दूसरे पद्यों से सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होती। आलोचकों ने इन पद्यों को साहित्य की कसौटी पर कसा है और उन्हें चमकता खरा सोना पाया है। ये ध्वनि के नमूने हैं। इस कारण अमरुक के प्रतिभासम्पन्न महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने अमरुक के भावों को अपनाया है। बिहारी के दोहों में कहीं-कहीं इनकी छाया ही दीख पड़ती है परन्तु पद्माकर ने तो अपने जगद्विनोद में इनका सुन्दर अनुवाद कर इन्हें बिल्कुल अपना लिया है।

नीचे एक पद्य उद्धृत किया जाता है जिसको मम्मट ने उत्कृष्ट ध्वनि का नमूना बतलाया है—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

नायिका ने प्रियतम को बुलाने के लिये दूती भेजी थी। उसने नायक के साथ खूब ही उपभोग किया परन्तु पूछने पर कहती है कि मैं नहाने गई थी। सम्भोग को छिपा रही है। चतुर नायिका उससे कह रही है—स्तनों के किनारे

का चन्दन अच्छी तरह से धुल गया है। तुम्हारे अधर से ताम्बूल की ललाई मिट गई है। नेत्रों के किनारे का अंजन मिटा हुआ है। तुम्हारा शरीर इस समय रोमांचित है। अतः हे झूठ बोलने वाली, दूसरे के दुःख को न जानने वाली दूती! तुम कुयें पर नहाने गई थी; उस अधम के समीप नहीं गई। बचा बचाया भेद 'अधम' पद द्योतित कर रहा है। वह नायक ऐसा अधम है जो नीच कुलवाली परस्त्री के साथ भी संसर्ग करने में कभी नहीं हिचकता। व्यञ्जना से पद्य प्रकाशित कर रहा है कि तुम नहाने नहीं गई थी, वरन् उसी नायक के पास रमण करने गई थी। पाठक समझ गये होंगे कि किस प्रकार कवि ने उभय साधारण पदों के द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तु सूचित की है। वास्तव में यह पद्य ध्वनि का ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते॥

भावी प्रोषितपतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तब दुर्बलता के मारे मेरे हाथ के भूषण गिर गये, प्रियमित्र अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने को खबर सुनकर नेत्रों से सतत धारा चलने लगी। सन्तोष एक क्षण भी न टिका, मन तो पहले ही जाने के लिये तैयार हो गया—ये सब एक साथ ही चलने के लिए तैयार हो गये। हे प्राण! तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो? प्राणप्यारे के जाने की खबर सुन तुम भी क्यों नहीं चल बसते।

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥

कोई सखी मुग्धा नायिका को सिखला रही है—हे मुग्धे! क्या तुम इसी प्रकार लड़कपन में दिन बिता दोगी। जरा नखरा करना सीखो, धैर्य धारण करो। अपने प्यारे के विषय में इस सरलता को दूर करो। इसी प्रकार सखी से समझाई गई नायिका डरकर उसे कहने लगी कि जरा धीरे से कहो। कहीं ऐसा न हो कि हृदय में रहने वाले प्राणेश्वर इन बातों को सुन लें। नायिका का पति पर कितना अनुराग है! मुग्धा का कितना अच्छा शाब्दिक चित्र खींचा गया है।

कान्ते ! कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ
स्वस्ति स्वस्ति निमीलयामि नयने यावन्न शून्या दिशः ।
आयाता वयमागमिष्यसि सुहृद्वर्गस्य भाग्योदये
सन्देशो वद कस्तवाभिलषितस्तीर्थेषु तोयाञ्जलिः ॥

विदेश जाता हुआ पति अपनी प्राणवल्लभा को समझा रहा है—हे प्रिये ! आँख मीचकर कुछ दिनों को बिता दो तब तक मैं आता हूँ । नायिका कहती है—आपका कल्याण हो, जब तक दिशायें शून्य न हों (जब तक आप मेरे नयनों के ओझल न हो जाँय) तब तक मैं आँखें बन्द कर लेती हूँ (मर जाऊँगी) । पति—मैं शीघ्र ही आऊँगा । नायिका—अपने मित्रों के सौभाग्य से तुम लौट आओगे (मुझसे क्या काम ?) । पति—तुम क्या सन्देश देना चाहती हो ? नायिका—तीर्थों में जलाञ्जलि (आशय यह है कि तुम्हारे जाते ही मैं मर जाऊँगी, अतः तीर्थों में मेरे नाम से तर्पण कर देना) । देखिये, मर जाने की बात कैसे सुन्दर ढंग से कही गई है ।

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने ! मानमधुना ॥

मानिनी की कोई प्रधान सखी कह रही है—हे कठोर हृदयवाली ! अब, अब मान छोड़ो । देखो तुम्हारे प्राणप्यारे की कैसी बुरी दशा है । बिचारा सर नवाये बाहर बैठा पागलों की तरह जमीन को खरोंच रहा है, प्यारी सखियों ने भोजन छोड़ दिया है । हमेशा रोने से उनकी आँखें सूज गई हैं, पिंजड़े के सुग्गों ने तुम्हारे शोक के मारे हँसना तथा पढ़ना छोड़ दिया है और तुम अभी तक मान किये बैठी हो ? भला तुम्हें तनिक दया नहीं आती । जल्दी मान छोड़ो ।

यह पद्य ध्वनि के उदाहरण में काव्यप्रकाश में उद्धृत है (का० प्र० चतुर्थ उल्लास) ।



विज्जका

प्रतिभा लिङ्गविशेष की अपेक्षा नहीं करती। काव्यप्रतिभा का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहता है; स्त्री या पुरुष के विभाग से उसे कुछ काम नहीं। पुरुष यदि दावा करे कि कविता जैसी ललित कलाओं का सुन्दर अंकुर उसी के हृदय में उत्पन्न होता है और उसकी उर्वरा शक्ति से वह लहलहाने लगता है, तो वह सदा झूठा ही समझा जायगा। सच तो यह है कि कविता, संगीत, चित्रकला आदि मधुर हृदयहारी कलाओं का बीज नारियों के सहानुभूतिपूर्ण, रस से शराबोर, हृदय में पुरुषों के कठोर हृदय की अपेक्षा अपने उगने के लिये अधिक सहकारी सामग्री पाता है और वहीं वह सदा हरा-भरा भी पाया जाता है। नवीन पश्चिमी संसार के उदाहरणों को छोड़ देने पर भी यदि अभिनव भारत के ही दृष्टान्तों पर दृष्टिपात किया जाय, तो स्त्रियों में प्रतिभा की कमी नहीं दीख पड़ती। आज कल जब स्त्रियों में शिक्षा का बहुत ही कम प्रचार है, ऐसी दशा देखने को मिलती है, तो प्राचीन भारत में, जब शिक्षा सार्वजनिक थी, स्त्री-कवियों के अस्तित्व से हमें चकित नहीं होना चाहिए।

सर्व-पुरातन ग्रन्थरत्न ऋग्वेद में ही ऐसे सूक्त संगृहीत हैं, स्त्रियाँ जिनके 'ऋषि' हैं और जिनके देखने से उनके उन्नत विचारों का पता भली भाँति लगता है। कविता की दृष्टि से भी ऋचाएँ उच्च कोटि की मानी जाती हैं। इन सब का दिग्दर्शन फिर कराया जायगा। उन स्त्री-कवियों की कविता का स्वाद भी आज पाठकों को न चखाया जायगा जिन्होंने सांसारिक भोग-विलास को लात मारकर बौद्ध धर्म की भिक्षुणी बन शान्ति को ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाया था तथा जिनकी कविताएँ 'थेरी गाथा' में संगृहीत हैं। यहाँ उन्हीं स्त्री कवियों में लब्धप्रतिष्ठ विज्जका की चर्चा की जायगी, जिनका सम्बन्ध उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य से है। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इन कवियों की रचना की कौन कहे, दुर्दैव ने इनके स्मरणीय नाम तक को भी भूतकाल के विस्मृति-गर्त में सदा के लिये गिरा दिया है। प्राचीन कवियों के प्रशंसात्मक श्लोकों से ही किसी-किसी के नाम जाने जाते हैं; तथा सूक्तिसंग्रहों में संगृहीत कविताओं से ही इनकी उत्कृष्ट प्रतिभा का पता चलता है। कुछ कवियों की अधिक कविताएँ मिलती हैं, परन्तु कुछ की रचनाएँ तो केवल दो चार श्लोक ही हैं।

परिचय

संस्कृत साहित्य में प्रतिभाशालिनी कवयित्री 'विज्जका' का खूब नाम है। इनकी रसभावमयी कविता का आस्वादन कर सहृदय भावुकों के चित्तसागर में

आनन्द की लहरी अठखेलियाँ करने लगती है। वास्तव में स्त्री होकर इतनी मधुरिमामयी पदावली की रचना करना कोई हँसी खेल की बात नहीं है। इससे विज्जका की उन्नत प्रतिभा का पता सहज ही में आलोचकों को लगता है। परन्तु दुःख तो इस बात का है कि इनकी समग्र रचनाओं से सहृदयगण सदा के लिए वञ्चित हो गए हैं, क्योंकि इनके किसी काव्य ग्रन्थ का पता अभी तक तो कुछ भी नहीं लगा है, भविष्य में लगने की आशा है। सूक्ति-ग्रन्थों में उद्धृत कविताएँ ही इसकी अवशिष्ट रचनाएँ हैं, जो काल के भयङ्कर प्रहार को सहकर भी किसी प्रकार बच सकी हैं। इस प्रतिभा सम्पन्न नारी-कवि के जीवन की घटनाएँ भी अज्ञान के अभेद्य अन्धकार के परदे में छिपी हुई हैं, जिससे उन्हें निकालकर सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करना एक अत्यन्त दुःसाध्य कार्य प्रतीत होता है।

इनका नाम कहीं विज्जका या विज्जाका मिलता है और कहीं विद्या। इनका शुद्ध नाम 'विज्जका' ही प्रतीत होता है जिसका संस्कृतीकृत रूप 'विद्या' है। शार्ङ्गधरपद्धति के एक पद्य में 'विज्जका' ने महाकवि दण्डी को डाँट बताई है। वह सर्व प्रसिद्ध पद्य यह है —

> नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
> वृथैव दण्डिना प्रोक्तं "सर्वशुक्ला सरस्वती" ॥

पद्य का चतुर्थ चरण काव्यादर्श के मंगलाचरण श्लोक का अन्तिम पाद है। विज्जका का कहना है कि नील कमल के पत्ते के समान श्याम रंगवाली मुझे बिना जाने ही दण्डी ने व्यर्थ ही सरस्वती को सर्वशुक्ला कह डाला है। इस गर्वोक्ति से विज्जका के असाधारण पाण्डित्य का पता लगता है। इससे इतनी ही ऐतिहासिक बात निकलती है कि 'विज्जका' के आविर्भाव का समय 'दण्डी' के कुछ पश्चात् है, परन्तु कितना अन्तर पर है, इसे निश्चय करने के यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

समय

विज्जका के कई पद्यों को संस्कृत आलङ्कारिकों ने उदाहरणस्वरूप अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। मम्मटाचार्य ने अपने 'शब्द व्यापार विचार' में इनके 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि' (नं० ५०० कवीन्द्र वचन-समुच्चय) और 'धन्यासि या कथयसि' (२९८ कवीन्द्र०) को उद्धृत किया है। दूसरा पद्य काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अर्थमूलक वस्तु प्रतिपाद्य अलंकार ध्वनि के उदाहरण में भी दिया गया है। पहला पद्य धनिक के 'दशरूपावलोक' तथा मुकुल भट्ट के 'अभिधावृत्तिमातृका' में उद्धृत किया गया है। भट्ट मुकुल का समय लगभग ९२५ ई० है। अतएव पूर्वोक्त पद्य की रचयित्री का समय अनुमान से ८५० ई० कहा जा सकता है। अतः विज्जका का आविर्भाव—काल दण्डी तथा मुकुल भट्ट के बीच का काल (७१० ई०—८५० ई०) माना जा सकता है।

कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि 'विज्जका' तथा कार्णाटी 'विजया', जिसकी वैदर्भी रीति की प्रशंसा राजशेखर ने कालिदास से उपमा देकर खूब की है,[1] दोनों एक ही व्यक्ति हैं[2]। पुलकेशी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य की महारानी 'विजयभट्टारिका' के साथ 'विजया' की एकता—नाम-साम्य की भित्ति पर मानकर इनका समय ६६० ई० माना गया है; क्योंकि विजयभट्टारिका के लेख इसी समय के पाए जाते हैं।[3] अतएव वे 'विज्जका' को भी सप्तम शताब्दी में बतलाते हैं।

उन विद्वानों की यह पूर्वोक्त सम्मति उतनी अच्छी नहीं जँचती। कर्नाट देश की रहने वाली 'विजया' सम्भवतः महारानी विजया ही सकती है; क्योंकि इसके पोषक प्रमाण हैं। 'चन्द्रादित्य' सम्पूर्ण महाराष्ट्र का राजा था, कर्नाटक उसकी राज्य सीमा के भीतर ही था। अतएव 'महारानी विजयभट्टारिका' के कर्नाटदेशीय होने में कोई विशेष सन्देह नहीं है। दूसरे भट्टारिका शब्द तो केवल उपाधिसूचक है। जिस प्रकार महाराज को 'भट्टारक' कहा जाता था, उसी प्रकार राजमहिषी भी भट्टारिका कही जाती थी। अतएव उनका भी नाम 'विजया' ही हो सकता है। इस एकीकरण में अधिक सन्देह नहीं मालूम पड़ता। परंतु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में 'विजया' को 'विज्जका' का ही नामान्तर मानना हमारी सम्मति में उचित नहीं प्रतीत होता। एक ही प्रमाण ऐसा है जिससे 'विज्जका' और कर्नाटी 'विजया' की एकता सिद्ध हो सकती है। विज्जका ने स्वयं ही अपने को उक्त उद्धृत पद्य में 'सरस्वती' माना है तथा विजया के विषय में राजशेखर ने भी 'सरस्वतीव कार्णाटी' कहा है। अतः काव्य प्रतिभा में दोनों ही सरस्वती के समान

---

१. सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या विदर्भगिरा वासः कालिदास दनन्तरम् ॥

इससे 'विजया' का कर्णाटदेशीय होना सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित गर्वोक्तिमय पद्य की लेखिका भी यही जान पड़ती है :—

एकोऽभूत्नलिनात् ततश्च पुलिनात् वल्मीकतश्चापरे
ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया ॥

—कर्पूर मञ्जरी, काव्यमाला, पृ० ५ भूमिका

२. काणे-साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ४१।

३. Narur plates and Kocherein plates of the Queen, Indian Antiquary Vols VII & VIII.

मानी गई हैं। इस वर्णन से सम्भव है, दोनों एक ही व्यक्ति हों। तथापि 'विज्जका' का समय ७वीं शताब्दी में मानना ठीक नहीं। ७वीं शताब्दी के अन्त में होनेवाले महाकवि दण्डी के पूर्वोक्त उल्लेख से भी इसमें सन्देह प्रकट किया जा सकता है। 'विज्जका' के विषय में इतना कहना अवशिष्ट है कि इनका जन्म सम्भवतः दक्षिण देश में हुआ था। इससे अधिक इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं।

कविता

इनकी रसभावमयी कविता की चर्चा की जा चुकी है। अधिकांश कविताओं में शृङ्गार रस का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है; भाव का सौष्ठव देखते ही बनता है। स्वभावोक्ति की भी मात्रा खूब है। जरा इनके काव्यरस का आस्वादन कीजिए।

विज्जका सहृदय भावुक का वर्णन कितने मार्मिक तथा सच्चे शब्दों में कर रही हैं—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीमभवतोऽयमञ्जलिः॥

सच्चा कवि अपने भावों को अभिधा के द्वारा कभी प्रकट नहीं करता। यदि वह साफ तौर से कह डाले तो उनमें मजा ही क्या आवेगा? वह केवल व्यंजना की सहायता से उन्हें प्रकट करता है। शब्दों के द्वारा अभिप्राय की अभिव्यक्ति नहीं होती, प्रत्युत कुछ रसभरे मनोहर पदों में वह भाव झलकता रहता है। ऐसे महाकवि का सच्चा मर्मज्ञ किसे कह सकते हैं? उर्दू कविता के भावुकों की भाँति केवल भावावेश में 'वाह वाह' कहकर ही अपनी सहृदयता का पता देना संस्कृत कविता के सच्चे रसिक का काम नहीं। कवि के गूढ़ व्यञ्जना द्योतित अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा काव्यानन्द की सूचना नहीं देता, वरन् चुप रहकर भी जिसके रोमाञ्चित अङ्ग ही हृदय की आनन्द लहरी का पता साफ शब्दों में बतलाते हैं, वही सच्चा रसिक है। ऐसे सहृदय शिरोमणि को मैं प्रणाम करती हूँ। रसिक की क्या ही सच्ची परिभाषा है! सारांश यह है कि जिस प्रकार सच्चे कवि का कार्य ध्वनि के द्वारा भावबोधन कराना है, उसी भाँति सच्चे भावुक का कार्य व्यञ्जना के द्वारा ही उसकी सराहना करना है।

कोपः स्फीततरः स्थितानि परितः पत्राणि दुर्गं जलं
मैत्रं मण्डलमुज्ज्वलं चिरमधो नीतास्तथा कण्टकाः।
इत्याकृष्टशिलीमुखेन रचनां कृत्वा तदप्यद्भुतं
यत्पद्मेन जिगीषुणापि न जितं मुग्धे! त्वदीयं मुखम्।

हे मुग्धे ! कमल ने बड़ी बड़ी तैयारियाँ करके तुम्हारे मुख पर धावा बोल दिया। परन्तु फल क्या हुआ ? कुछ भी नहीं । अपना विषण्ण वदन लेकर चुपचाप बैठ गया। खिला हुआ कोश उसका खजाना (कोष) है , चारों ओर फैले हुए पत्ते पत्र (वाहन) है, जल दुर्गम (किला) है, उज्ज्वल मैत्रमण्डल (सूर्य मण्डल) उसका मित्र है। कण्टकों को भी उसने नीचे कर दिया है। इतना ही नहीं, उसने शिलीमुख (बाण तथा भ्रमर) को भी खींच रखा है। परन्तु हजरत से इतने सामान के रहते हुए भी कुछ नहीं हो सका। होता भी क्या खाक ! आज तक इस मुख को किसी ने जीता है कि वे जीतने चले हैं ! कमल विजयी मुख की प्रशंसा कितनी सुन्दर है ।

केनात्र चम्पकतरो बत रोपितोऽसि,
कुग्रामपामरजनान्तिकवाटिकायाम् ।
यत्र प्रवृद्धनवशाकविवृद्धिलोभात्
गोभञ्जवाटघटनोचितपल्लवोऽसि ॥

हे चम्पक के पेड़ ! तुम्हें किसने इस वाटिका में रोपा है ? जानते नहीं हो इसके आसपास दुष्ट जनों की बस्ती है, जो इस गरज से कि उगे हुए साग—साधारण तरकारी—और भी बढ़ते जायँ तुम्हारे पल्लव को गाय से तोड़ी हुई चहार दीवारी की तरह बुरी दशा कर डालेंगे।

विलासममृणोल्लसन्मुसललोलदो कन्दली-
परस्परपरिस्खलद्वलयनि स्वनोद्बन्धुरा ।
लसन्ति कलहुंकृतिप्रसभकम्पितोर स्थल
त्रुटद्गमकसंकुला कलमकण्डिनीगीतय ॥

धान कूटने का क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है ! स्त्रियाँ चिकने तथा सुन्दर मूसलों से धान कूट रही हैं । इस कार्य में उनके चचल हाथों के चलने से वलय (चूड़ियाँ) आपस में टकराते हैं जिससे बहुत ही रमणीय ध्वनि होती है। वे बीच में मनोहर 'हुंकार' कर रही हैं उनके उर स्थल अत्यन्त कम्पित हो रहे हैं। गमकों—तालस्वरों से युक्त इन धान कूटनेवालियों के गीत कैसे मनोहर जान पड़ते हैं। श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार की अनुपम छटा है।

गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुर ।
तदा चैवोत्प्रेक्ष्य प्रियसखि गतान्स्तांश्च दिवसान्
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम् ॥

इसमें विरहिणी की मर्ममरी बातें कितने साफ शब्दों में बताई गई हैं। विरहिणी अपनी प्यारी सखी से कह रही है कि हे सखि! जब प्रेम का बन्धन ढीला पड़ गया, हृदय से उसके लिये अत्यंत सम्मान हट गया, जब सद्भाव की इतिश्री हो गई, जब वह मेरा प्राणप्यारा साधारण स्नेहरहित मनुष्य की भाँति चला गया और इतने दिन भी बीत गए, परन्तु उसने मेरी कोई खोज खबर नहीं ली, भला कहो तो सही कि तब किस सुख की आशा से यह हृदय अभी ठहरा हुआ है? टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाता? ऐसी दशा में तो बस 'मरणं श्रेय।'

प्रियसखि! विपद्दण्डप्रान्तप्रपातपरम्परा-
परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः।
मृदमिव बलात् पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवत्
भ्रमयति मनो, नो जानीम किमत्र विधास्यति॥

विपद् की मारी हुई नायिका सखी से कह रही है '—मेरी प्यारी सखी! चतुर कुम्हार के समान ब्रह्मा चिन्तारूपी चाक पर मिट्टी के लौंदे के समान मेरे मन को बलात् रखकर विपत्ति के डंडे के कोने से ज़ोरों से घुमा रहा है! जिस प्रकार कुलाल मिट्टी के लौंदे को चाक पर पहले खूब घुमाता है, पीछे जो चाहता है बना डालता है, उसी प्रकार ब्रह्मा भी चिन्ता पर मेरे मन को घुमा रहा है। परन्तु न मालूम अब इसे क्या बना डालेगा! जानूँ तो कैसे जानूँ। विपत्ति में चिन्ताग्रस्त अबला की दयनीय दशा का कैसा सुन्दर चित्रण है! साङ्गरूपक की छटा भी देखते ही बनती है।

विरम विफलायासादस्माद् दुरध्यवसायतो
विपति-महतां धैर्यभ्रंशं यदीक्षितुमीहसे।
अयि जड विधे! कल्पापायव्यपेतनिजक्रमाः
कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः॥

कोई कवि सज्जनों पर विपत्ति ढाहनेवाले ब्रह्मा को चेतावनी दे रहा है '—हे ब्रह्मा, मनस्वी सज्जनों पर आपत्ति गिराने का परिश्रम क्यों कर रहे हो? यह परिश्रम बिल्कुल ही व्यर्थ होगा। इससे इनका धैर्य कभी टूट नहीं सकता। क्या ये लोग क्षुद्र कुलपर्वत हैं या जलराशि हैं जो प्रलय काल में अपने कार्यक्रम को बिल्कुल ही छोड़ देते हैं? कल्पांत में डिगनेवाले कुल पर्वतों से तथा अपनी मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले समुद्रों से आपत्ति में भी धैर्य न छोड़ने वाले महापुरुषों की तुलना क्या कभी की जा सकती है?

माद्यद्दिग्गजदानलिप्तकरटप्रक्षालनक्षोभिता
व्योम्नः सीम्नि विचेरुरप्रतिहता यस्योर्मयो निर्मलाः।

कथं भाग्यविपर्ययेण सरस- कल्पांतरस्थायिन-
स्तस्याप्येकबकप्रचारकलुषं कालेन जातं जलम् ॥

तालाब की दशा में कैसा विचित्र परिवर्तन हुआ है! मतवाले दिग्गजों के मद से लिप्त गण्डस्थलों के प्रक्षालन से क्षुब्ध होकर जिसकी निर्मल तरंगें बिना रोक-टोक के आकाश की सीमा में विचरण करती थीं, कल्पान्तर-स्थायी उसी तालाब का जल अब एक ही बगुले के चलने से कलुषित हो गया है। बड़े कष्ट की बात है! भाग्य के फेर से ही ऐसे बड़े तालाब की ऐसी दुर्दशा हो गई। क्या किया जाय। दैव सबसे बलवान् है।



भल्लट

पृथ्वीतल पर स्वर्गरूपिणी काश्मीर भूमि का मस्तक सहस्रों कविरत्नों से सुशोभित हो रहा है। वास्तव में काव्य प्रतिमा के उद्भव के लिये यह देश हमेशा प्रसिद्ध रहा है। बिल्हण ने बहुत ही ठीक कहा है कि कविता विलास कुङ्कुम केसर के सहोदर[1] हुआ करते हैं; क्योंकि शारदादेश (काश्मीर) को छोड़कर इनका अङ्कुर अन्यत्र कहीं नहीं उगता। काश्मीर केसर के साथ साथ कविता की भी जन्मभूमि है। जिस प्रकार यह व्याकरण तथा दर्शन का क्रीडास्थल है, उसी प्रकार यह काव्य कला का भी ललित लीलागार है। भारत का शायद ही कोई प्रान्त इस भूमि के कवि वैभव की समता कर सकता है। कविगणों के साथ साथ योग्य समालोचना की भी जन्मदात्री यही प्रसिद्ध भूमि है। परन्तु दुर्दैव ने कितने ही आज्वल्यमान कविरत्नों को विमल छटा पर अज्ञान का ऐसा दुर्भेद्य आवरण डाल दिया है कि शिक्षित समुदाय इसकी मधुर आभा से प्राय वंचित है। ऐसे ही प्रतिभा सम्पन्न परन्तु यत्किञ्चित् अप्रसिद्ध कविवरों की श्रेणी में 'भल्लट' का नाम अग्रगण्य है।

आपके जीवन वृत्तान्त के विषय में हम बिल्कुल अन्धकार में हैं। आपकी रचना में इसका कहीं उल्लेख भी नहीं है। परन्तु आपकी जन्मभूमि काश्मीर ही है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। पहला कारण यह है कि आपका नाम काश्मीरदेशीय कवियों तथा पण्डितों के नामों से मिलता है। जैयट, कैयट, उव्वट और मम्मट आदि नामों के तुल्य ही आपका 'भल्लट' नाम है। दूसरा कारण यह है कि यहीं के अलङ्कार ग्रन्थों में आपके उद्धरण पाये जाते हैं। अन्य प्रान्तीय ग्रन्थों में आपके पद्य प्रायः नहीं पाये जाते। मम्मट कृत 'काव्य प्रकाश' और काश्मीरी कवि चूडामणि क्षेमेन्द्र के अनेक ग्रन्थों में आपके कितने ही पद्यरत्न मिलते हैं। सुभाषित ग्रन्थों में भी आपके ग्रन्थ के उद्धरण पाये जाते हैं।

काल निरूपण

समय निरूपण के विषय में केवल बाह्य प्रमाण कुछ सहायता प्रदान करते हैं। पाठक जानते होंगे कि आनन्दवर्धनाचार्य (नवीं शताब्दी) ने 'ध्वन्यालोक'

---

१ सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ॥
—विक्रमाङ्कदेवचरित

नामक ध्वनि विषयक अपूर्व ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा होना सिद्ध किया है। यह ग्रन्थ अलंकार शास्त्र का शिरोभूषण है, यह कहने में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। पूर्वाचार्यों (भामह और वामन) ने व्यंग्य अर्थ को किसी तरह से अलंकार में ही घुसेड़ दिया था; परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को ही काव्यात्मा सिद्ध कर एक नवीन आलंकारिक सम्प्रदाय की सृष्टि की। इस अपूर्व ग्रन्थ की टीका काश्मीर के शैव सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य ने 'लोचन' नाम से लिखी है। यह टीका भी विद्वत्तामय होने से कवि समाज में एक आदरणीय वस्तु है। पीछे होने वाले अलंकार कर्ताओं ने—मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने—इन्हीं आचार्यों की प्रणाली मानी है और ध्वनि काव्य को श्रेष्ठ काव्य ठहराया है। अभिनवगुप्त का समय दशवीं शताब्दी का अन्त और ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम भाग है। इसी 'लोचन' टीका में अभिनवगुप्त ने हमारे चरितनायक भल्लट के कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। इससे सूचित होता है कि उस समय इनकी कविता आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। तभी तो उदाहरण के लिये उपयुक्त समझी गई। अतएव कवि भल्लट दशवीं शताब्दी के पहिले ही हुए होंगे। काव्यमाला के सम्पादकों ने इनके समय के विषय में इतना ही लिखकर सन्तोष किया है, परन्तु इनका आविर्भावकाल इससे भी पहले दिखलाया जा सकता है। लोचनकार की बात तो दूर रहे स्वयं आलोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उदाहरण देने के लिए भल्लट के कई पद्यों को उद्धृत किया है। 'परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरः'—यह भल्लट-शतक का पद्य ध्वन्यालोक में दो बार उद्धृत किया गया है (पृष्ठ २३, २१८)। अप्रस्तुत-प्रशंसा में जो अर्थ वाच्य होता है वह कभी विवक्षित रहता है, कभी अविवक्षित रहता है और कभी विवक्षिताविवक्षित। 'परार्थे यः पीडां' विवक्षित के उदाहरण में दिया गया है। 'कस्त्वं भोः! कथयामि, दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं'—भल्लट का यह पद्य अविवक्षित वस्तु को सूचित करने के लिए दिया गया है। आनन्दवर्धन के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण भल्लट आनन्द से पूर्ववर्ती ठहरते हैं। कहा गया है कि आनन्दवर्धन नवीं शताब्दी के मध्य भाग में अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में विद्यमान थे। अतः भल्लट नवमी शताब्दी से प्राचीन हैं। सम्भवतः आठवीं के अन्तिम भाग में ये काश्मीर में विद्यमान थे।

ग्रन्थ

आपकी कीर्ति केवल एक 'शतक' पर अवलम्बित है, जिसे 'भल्लट-शतक' कहते हैं। इसे छोड़कर आपका कोई दूसरा ग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। 'भल्लट-शतक' मुक्तक पद्यों का समूह है। कविता अनेक प्रकार की है

परन्तु अन्योक्ति की बहुलता है। सुन्दर शिक्षा देने वाले नीतिमय पद्यों का यह आकर है। ऐसी अनूठी अन्योक्ति संस्कृत साहित्य में बहुत कम देखने में आती है। पण्डितराज जगन्नाथ ही कुछ कुछ इससे तुलना पा सकते हैं। पद्यों में मधुरता तथा प्रसाद गुण कूट कूट कर भरा हुआ है। सुन्दर अलङ्कारों की छटा मन को मुग्ध कर देती है। मम्मटाचार्य ने अलङ्कारों के उदाहरणस्वरूप इनके कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। सुन्दर स्वभावोक्ति, कमनीय उत्प्रेक्षा, विमल उपमा तथा उपदेशमय अर्थान्तरन्यास सहृदयों के हृदय को आनन्द निर्भर कर देते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि भल्लट संस्कृत-साहित्य के एक महाकवि थे। नीचे के पद्य में भल्लट की गणना उन महाकवियों के साथ की गई है जो अपनी रचनाओं से संसार को आनन्दित करते हैं —

माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्यादयो भोजराजः।
श्रीदण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भल्लट इन सुकवियों के टक्कर के कवि हैं। इनकी विमल रचना के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं।

विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम्।
इति ध्यात्वोपास्तं फलमपि च दैवात्परिणतं
विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः॥

विशाल सेमर के वृक्ष में नयन को सुख देने वाले फूल खिले हुए थे। शुक की दृष्टि उस पर पड़ी, सोचा कि जब फूल इतना रमणीय है तब इसका फल भी अवश्य ही ऐसा ही मनोरम होगा। इसी विचार से उसने सेमर की सेवा की। ईश्वर की दया से—प्रकृति की प्रेरणा से—उसमें फल भी निकल आये। शुक को आशा बँधी थी कि पकने पर ये, हो न हो, अवश्य मधुर तथा सुन्दर होंगे। परन्तु पकने पर भीतर से क्या निकला? केवल रुई। और उसे भी वायुदेव ने शीघ्र उड़ा डाला। जिस आशा से बेचारा शुक इतना आनन्द पाता था—इतने दिनों तक जिस फल की प्रतीक्षा की, वह अन्त में बिलकुल शून्य निकला—आशा निराशा में परिणत हो गयी। कहिये, कितनी सुन्दर सूक्ति है। आधुनिक 'दिखाऊ' मल्लों' की प्रकृति का कैसा सच्चा परिचय दिया गया है।

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः।

क्व एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥

कोई समुद्र को जल का खजाना कहता है, तो कोई रत्नों का आकर। हम-लोगों के गले प्यास के मारे सूख गये थे—विषयतृष्णा के मारे वास्तव में हमारे मन चञ्चल हो गये थे। हमने समझा कि हमारा मनोरथ समुद्र देव क्यों न पूरा कर देंगे। वे पानी के घर हैं और रत्नों के खजाने। इसी आशा में बँधकर हमने उनकी सेवा की। परन्तु कौन जानता था कि अगस्त्यजी इसे अपनी करपुटी ही में रखकर सोख जायेंगे—इतने बड़े सागर को, जिसमें मत्स्य तथा मकरों की असंख्य संख्या निवास करती है, केवल आचमन कर डालेंगे। अरे! हम बहुत ठगे गये। नाम सुनकर आये, परन्तु वास्तव में प्रशंसा के योग्य कुछ भी नहीं पाया। ठीक है 'दूर का ढोल सुहावना होता है'। कहिये निराशा की पराकाष्ठा कैसी दर्शनीय है। काव्य-प्रकाश में मम्मट ने इस पद्य को विरोधाभास के दृष्टान्त में दिया है।

यत्तस्य मुखारितयत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन् मुक्तामणिरित्यमस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः,
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥

कोई मनुष्य अपने मित्र से किसी मूर्ख की बात कह रहा है कि भाई, मैं उसकी हालत क्या कहूँ। वह ऐसा जड़ है कि कमलिनी के पत्ते पर गिरे हुये ओस के कण को मुक्तामणि समझता है, भला ऐसा भी कोई मूर्ख होगा। मित्र ने उत्तर दिया—एक दूसरे जड़ात्मा का हाल तो सुनो। कमलिनी के दल पर गिरा हुआ ओसकण उसकी अंगुली के अगले हिस्से के छूते ही जमीन पर गिर पड़ा—गायब हो गया। परन्तु उस मूर्ख को रात को सोच के मारे नींद नहीं आती है, वह सोचा करता है कि हाय! अङ्गुली के छूते ही वह मेरा चमकता मोती कहाँ उड़ गया, बस इसी में वह हैरान है। रातदिन इसी सोच में बीत जाते हैं, नींद दर्शन नहीं देती। कहो, उससे बढ़ बड़ा मूर्ख नहीं है? असली बात यह है कि मूर्खों को इसी प्रकार अयोग्य वस्तुओं में ममता हुआ करती है। कितना रमणीय उदाहरण है। मूर्खों की अस्थान-ममता का पता कैसे सुन्दर शब्दों में दिया गया है। काव्यप्रकाश में यह पद्य अप्रस्तुत प्रशंसा के उदाहरण में उद्धृत किया गया है।

दुष्टों की वाणी में हालाहल विष निवास करता है। इसका सुन्दर वर्णन देखिये—

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट !
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।

प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥

हे हालाहल महाशय ! किस महापुरुष ने आपको एक से एक बढ़कर ऊँचे स्थानों में रहने का उपदेश दिया है। आपने उनके उपदेश को कैसा अच्छा माना है। पहिले आपका निवास समुद्र के हृदय (बीच) में था, अनन्तर आप शिवजी के कण्ठ में रहने लगे। हृदय से एकदम कूदकर कण्ठ में आ बसे ! और आज कल आप दुष्टों के वचन में रहते हैं। एक पग फिर आगे बढ़े। कहाँ पहिले कण्ठ में रहते थे, अब आकर सीधे मुँह में घुस बैठे। क्या खूब ! किसने आपको इस विद्या का उपदेश दिया है ? पर्याय-अलङ्कार का कैसा विशद उदाहरण है। दुष्टों का वचन विष तुल्य होता है, इस साधारण बात को कवि ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से कैसा सुन्दर रूप दे दिया है। मम्मटने पर्याय अलङ्कार के उदाहरण दिखलाते समय इस पद्य को उद्धृत किया है।

चिन्तामणेस्तृणमणेश्च कृतं विधात्रा
केनोभयोरपि मणित्वमदः समानम् ।
नैकोऽर्थितानि ददर्दर्थिजनाय खिन्नो
गृह्णञ्जरत्तृणलवं न तु लज्जतेऽन्यः ॥

ब्रह्मा भी बड़ा मूर्ख है। उसने चिन्तामणि तथा तृणमणि (एक प्रकार का पत्थर जो तृण को अपनी ओर खींचता है) में किस गुण की समता देखी जिससे दोनों को मणि बना दिया। देखिये, दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। चिन्तामणि याचकगणों को धन देते देते कभी भी खिन्न नहीं होता, वह लगातार परोपकार में लगा हुआ है। उधर तृणमणि की दशा देखिये, टूटे तृण के छोटे टुकड़ों को लेते उसे लाज नहीं आती। कहाँ चिन्तामणि की श्रद्धेय उदारता और कहाँ तृणमणि की सङ्कीर्ण हृदयता ! कहाँ राजा भोज और कहाँ भोजवा तेली। परन्तु ब्रह्मा की करतूत ठहरी, दोनों को मणि बना दिया। कितना चमत्कारजनक पद्य है। इसी भाव का यह एक दूसरा पद्य 'भल्लट शतक' में मिलता है —

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्ये वारिधि वा वसन् तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥

यदि विहङ्गमों (आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि) के बुलाये जाने पर मशक भी हवा में उड़ने के कारण आवे, तो रोका नहीं जा सकता है। समुद्र के बीच में रहने के कारण तृणमणि भी मणि की शोभा धारण करता है।

तेजस्वियों के मध्य में खद्योत भी अपने को तेजवाला समझकर चलता है—लजाता नहीं। अतएव सामान्य धर्म को धिक्कार है। मणित्व रहने के कारण से ही तृणमणि की भी गणना उन चमकीले रत्नों में होती है। दोष सामान्यधर्म (मणित्व) का ही है। सामान्यधर्म उसी भाँति निन्दनीय है, जिस प्रकार गुणों के तत्त्व को न समझने वाला धन-अन्धल मालिक (जो अपने आश्रितजनों के गुणों को न जानकर सब के साथ एकसा व्यवहार करता है)। अप्रस्तुत-प्रशंसा के दोष दिखलाने के लिये यह पद्य काव्यप्रकाश में दिया गया है।

परार्थे यः पीडामनुभवति भंगेऽपि मधुरो
यदीयो सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न संप्राप्तो वृद्धिं स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽयं न पुनरगुणायाः मरुभुवः॥

बेचारा ईख कितना परोपकारी है। दूसरे के लिये पीड़न सहता है—पेरा जाता है। तोड़ने पर मीठा रहता है। उसका गुड़ चीनी आदि विकार भी लोगों को पसन्द आता है। यदि ऐसा ईख अखेत (ऊसर) में गिर जाने से बढ़ न सका तो क्या यह दोष ईख ही का है? गुण न रखनेवाली मरुभूमि का कोई दोष नहीं? किसी दुर्जन के अकस्मात् संग करने वाले सज्जन की दुरवस्था का क्या ही सुन्दर वर्णन है। आनन्दवर्धन ने इस पद्यको दो बार ध्वन्यालोक में उद्धृत किया है।

आयद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति—
रारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य॥

यदि कुत्ते को बनावटी अयाल लगा दें जिससे उसका कन्धा ऊँचा और जटिल दिखाई पड़े तथा इस प्रकार बनावटी वेष में हम उसे सिंह के उन्नत स्थान पर चढ़ा भी दें, तो क्या वह मतवाले हाथियों के गण्डस्थल को सदा विदीर्ण करनेवाले मृगपति की भयावनी गर्जना कर सकेगा? नहीं, कभी नहीं; गुणरहित पुरुष वेषभूषा से गुणवान् के समान भले ही दिखाई दे, परन्तु उसमें उनके महान् गुणों का लेश भी कहाँ?

अभिमान से गुणीजनों का अनादर करने वाले, धन से मदान्ध, रईस का हाल कितने सुन्दर शब्दों में वर्णित है:—

दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णतालै-
र्दूरीकृता करिवरेण मदान्धबुद्ध्या।
तस्यैव गण्डयुगमण्डलहानिरेषा
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने चरन्ति॥

मतवाले हाथी ने अपने कानों की फटकार से भौंरों के झुण्ड को उड़ा दिया। ये भौंरे उसके गण्डस्थल से चूने वाले मद को चखने के लिये आये थे। इसमें भौंरों का क्या नुकसान हुआ? असली हानि तो गजराज की हुई। दोनों कपोलों पर भौंरों के बैठने से गजराज की जो शोभा होती थी अब वह शोभा कहाँ? हाथी ने अपने ही पैरों में कुल्हाड़ा मारा। भौंरों के लिये चैन करने का स्थान बना हुआ है ही। वे खिले हुये कमल वन में आनन्द कर रहे हैं।

पाठकों ने भल्लट के नीतिमय पद्यों का रस चख लिया। अब जरा शृङ्गार रस की भी बानगी देखिये —

वाता वान्तु कदम्बरेणुशबला नृत्यन्तु सर्पद्विषः
सोत्साहा नवतोयदानगुरवो मुञ्चन्तु नादं घनाः।
मग्नां कान्तवियोगदुःखदहने मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत्प्रस्फुरसि त्वमप्यकरुणे! स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति॥

किसी प्रोषितपतिका के हृदय की आह निकल रही है। वर्षाकाल अपने सहायकों के साथ वियोगिनी जन को उद्वेजित करने के लिये आ पहुँचा है। पति परदेश में है। नायिका कान्त वियोग में कामाग्नि से जली जा रही है। वह कहती है कि कदम्ब के पराग से मिले हुये वायु बहें, घन घमण्ड को देखकर मोर नाचें, गम्भीर गर्जना करें और जल बरसावें। मैं कान्त की वियोगाग्नि में जली जा रही हूँ। परन्तु इन पुरुषों से मेरा उलाहना कुछ भी नहीं है। भला पुरुषों को भी कभी दया आती है! अबलायें मरें, उन्हें इसकी परवाह क्या? वायु, मयूर और मेघ सब पुरुष हैं, परन्तु नारी का हृदय बड़ा कोमल होता है। वह दूसरों को, खासकर स्त्री को, दुःख में देखकर दया दिखाती है, सहानुभूति प्रदर्शित करती है। परन्तु हे निर्दयी दामिनि! तुम भी मेरे समान नारी हो, फिर भी दया और सहानुभूति को तिलाञ्जलि देकर क्यों चमक रही हो? भला नारी का यह व्यवहार कभी श्लाघनीय है? मेरी सच्ची उलाहना तुम्हीं से है। तुम जान बूझकर मुझे मारे डाल रही हो। दया नहीं करती हो? पाठक देखें, बिजुली को उलाहना देना कैसा युक्तियुक्त है!

पाठकों ने देख लिया कि महाकवि भल्लट में कवि प्रतिभा कितनी है। अनुकरणीय उपदेशों को देने में आप कितने सिद्धहस्त हैं। आपके कथनानुसार ही आपके शब्द अर्थान्तर बलात् दे रहे हैं। सत्कविता का जो लक्षण इन्होंने दिया है, वह ठीक इनकी कविता के लिए उपयुक्त है। आप कहते हैं —

यद्वा यदर्पणरसेन विमर्दपूर्व-
मर्थान् कथं झटिति तान् प्रकृतान्न दद्युः।

चोरा इवातिमृदवो महतां कवीना—
मर्थान्तराण्यपि हठात् वितरन्ति शब्दाः ॥

अर्थात् चोरों के समान महान् कवियों के अत्यन्त कोमल शब्द बलात्कार दूसरे अर्थों को भी देते हैं। जिस रस को, जिस अर्थ को, देने के लिये शब्द खोजकर पद्य में निबद्ध किये गये हैं उन प्रकृत अर्थों को तो स्वयं वे देते ही हैं। चोरों का उदाहरण काव्यगत शब्द के लिये कितना समुचित है, जिन चीजों को ढूंढ निकालने के लिये चोरों को पकड़कर बाँध रखते हैं उन चीजों को तो वे स्वयं दे ही देते हैं साथ ही साथ वे दूसरी चीजों को भी उपस्थित करते हैं। महाकवियों के शब्द भी प्रकृत अर्थ का बोध कराकर व्यङ्ग्यार्थ को अवश्य द्योतित करते हैं। इससे बढ़कर महाकवि की शब्दावली की प्रशंसा क्या की जाय! कहना न होगा कि ये बातें आपके शब्द-गुम्फों में पूर्णतया ठीक उतरती हैं। अतएव यद्यपि भल्लट का काव्य बहुत छोटा है, तथापि निस्सन्देह वे एक महाकवि हैं।



त्रिविक्रम भट्ट

संस्कृत साहित्य में नलचम्पू का बड़ा नाम है। इससे बढ़कर प्राचीन दूसरा कोई चम्पू नहीं। भट्ट त्रिविक्रम इसी नलचम्पू के रचयिता हैं।

संस्कृत आलंकारिकों ने रचना विभेद के कारण काव्य के तीन प्रकार माने हैं। गद्य, पद्य और चम्पू। छन्द शास्त्र के नियमों के अनुकूल रचे गये काव्य काव्य को 'पद्य' कहा जाता है और जो काव्य छन्दोबद्ध नहीं हैं उन्हें 'गद्य' के नाम से पुकारते हैं। जहाँ गद्य तथा पद्य का समुचित मिश्रण हो उसे 'चम्पू' कहा जाता है—गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। चम्पू काव्य की उपलब्धि साहित्य में बहुत पीछे होती है—दसवीं शताब्दी से पहले का कोई भी चम्पू अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है; परन्तु चम्पू का पूर्वरूप प्राचीन साहित्य में आज भी मिल रहा है। बौद्ध काल में भी गद्यपद्य के मिश्रण के उदाहरण मिलते हैं। डाक्टर ओल्डनबर्ग ने सप्रमाण दिखलाया है कि जातकों में गद्य पद्य का समिश्रण है। जातक पाली भाषा में हैं, परन्तु संस्कृत में भी गद्यपद्यमयी वाणी के दृष्टान्त प्राचीनकाल में मिलते हैं। जातकमाला तथा हरिषेण की प्रशस्ति में पद्य के साथ साथ गद्य की रचना की गई है। अतः इन्हें चम्पू काव्य के पूर्वरूप मानने में कोई भी विप्रपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती, परन्तु काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से समन्वित चम्पू की रचना के नमूने बहुत ही पीछे के समय के आजकल मिलते हैं। नल-चम्पू ही चम्पू-काव्य का प्रथम निदर्शन है—चम्पू काव्य का यह पहला उदाहरण है जिसमें कवि ने गद्य तथा पद्य दोनों में समान भाव में काव्यगुणों का उत्कर्ष दिखलाने का स्पृहणीय उद्योग दिखलाया है।

नल चम्पू के रचयिता का नाम त्रिविक्रम है। चम्पू में इन्होंने अपने कुल का संक्षिप्त उल्लेख किया है। इनका शाण्डिल्य गोत्र में जन्म हुआ था। इनके पितामह का नाम श्रीधर था[1] तथा पिता का नेमादित्य[2]। ये नेमादित्य अपने

१ तेषां वंशे विशदयशसां श्रीधरस्यात्मजोऽभूत्
देवा-(नेमा) दित्यः स्वमतिविलसद्वेदविद्याविवेकः।
यस्यल्लोला दिशि दिशि जनाः कीर्तिपीयूषसिन्धु
यस्याद्यापि श्रवणपुटकैः कूणिताक्षा पिबन्ति॥
तैस्तैरात्मगुणैर्येन त्रिलोक्यास्तिलकायितम्।
तस्मादस्मि सुतो जातो जाड्यपात्रं त्रिविक्रमः॥

—१-१९, २०

२ नलचम्पू की किन्हीं प्रतियों में इनके पिता का नाम 'देवादित्य' मिलता

समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे तथा किसी राजा की सभा में इन्हें प्रधान पण्डित का पद मिला था।

नल चम्पू की रचना के विषय में पण्डितमण्डली में एक प्रवाद प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख यहाँ किया जाता है। सुनते हैं कि त्रिविक्रम भट्ट बचपन में बड़े मूर्ख थे—कुछ भी पढ़े लिखे न थे। इनके पिता किसी राजा के यहाँ सभापण्डित थे कार्यवश कहीं बाहर गये थे। उसी समय दिग्विजय की लालसा से कोई इनके पिता का विद्वेषी विद्वान् सभा में आया और किसी पण्डित से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। नेमादित्य को घर से बुलाने के लिये दूत भेजा गया परन्तु नेमादित्य के यहाँ न होने से त्रिविक्रमभट्ट को राजसभा में चलने के लिये कहा गया। त्रिविक्रम ने अपनी कुलदेवी सरस्वती से पिता की प्रतिष्ठा रखने के लिये प्रार्थना की। सरस्वती ने आशीर्वाद दिया कि जब तक तुम्हारे पिता लौटकर नहीं आते, तब तक मैं तुम्हारे मुख में निवास करूँगी। भारती के प्रसाद को पाकर त्रिविक्रम राजसभा में पधारे और प्रतिपक्षी पण्डित को परास्त किया। राजा ने इनका अतिशय आदर सत्कार किया। घर लौट आने पर इन्होंने विचारा कि जब तक भगवती की दया है तबतक मैं कोई ललित प्रबन्ध बनाऊ। अतएव इन्होंने नल चम्पू का लिखना प्रारम्भ किया। जिस दिन सप्तम उच्छ्वास समाप्त हुआ उसी दिन इनके पिता घर लौट आये। सरस्वती इनके मुख से निकल गई और यहाँ तक लिखा गया था, वहीं तक यह काव्य रह गया। इस किम्वदन्ती का उल्लेख नलचम्पू की विवृत्ति नामक टीका के प्रारम्भ में किया गया है।

समय

नलचम्पू की रचना का समय अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। नलचम्पू के प्रथम उच्छ्वास में त्रिविक्रम ने बाण भट्ट का नामनिर्देश किया है—

शश्वद्वाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः ।

है, परन्तु यह ठीक नहीं। 'नेमादित्य' ही सच्चा नाम मालूम पड़ता है, क्योंकि त्रिविक्रम ने इन्द्रराज के नौसारी शिलालेख में अपने को नेमादित्य का पुत्र बतलाया है—

श्री त्रिविक्रमभट्टेन नेमादित्यस्य सूनुना ।
कृता शस्ता प्रशस्तेयमिन्द्रराजाङ्घ्रिसेविना ॥

इससे सिद्ध है कि नलचम्पू की रचना बाणभट्ट के पीछे की गई थी। भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में नलचम्पू का निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव वहति पयः पश्यत पयोष्णी॥ —६।३९

अतएव त्रिविक्रमभट्ट बाण तथा भोज के बीच में थे। इस ग्रन्थ की रचना सप्तम शतक तथा एकादश शतक के किसी मध्य के काल में की गई थी। शिलालेखों के अध्ययन से पता लगता है कि त्रिविक्रम राष्ट्रकूटवंशी कृष्ण द्वितीय के पौत्र तथा जगत्तुंग और लक्ष्मी के पुत्र इन्द्रराज के सभापण्डित थे। इन्द्रराज का नवसारी का शिलालेख[1] स्वयं त्रिविक्रम की रचना है। उसका उल्लेख लेख में ही किया गया है। इस शिलालेख का समय शक सम्वत् ८३६ है अर्थात् ९१५ ईस्वी है। अतः त्रिविक्रम दशवीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान थे, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इस प्रकार त्रिविक्रम और राजशेखर समकालीन थे।

ग्रन्थ

महाकवि त्रिविक्रम भट्ट की दो रचनाओं का पता चलता है। ये दोनों ही चम्पू काव्य हैं। इनके अतिरिक्त कविवर ने अपने आश्रयदाता राष्ट्रकूटवंशीय इन्द्रराज (तृतीय) की प्रशस्ति लिखी है जो, जैसा पहले कहा गया है, नौसारी के शिलालेख के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रशस्ति में कविवर ने अपना तथा अपने पिता के नाम का उल्लेख किया है। इस प्रशस्ति की रचना-शैली भी नलचम्पू की काव्य-रीति से बिल्कुल समानता रखती है। इस प्रशस्ति से एक मनोहर 'मालिनी' यहाँ उद्धृत की जाती है—

जयति विबुधबन्धुर्विन्ध्यविस्तारिवक्षाः
स्थलविमलविलोलत्कौस्तुभः कंसकेतुः।
मुखसरसिजरङ्गे यस्य नृत्यन्ति लक्ष्म्याः
स्मरभरपरिताम्यत्तारकास्ते कटाक्षाः॥

त्रिविक्रम विरचित दोनों काव्य-ग्रन्थ चम्पू हैं। एक का नाम है मदालसा चम्पू और दूसरे का नलचम्पू। मदालसा चम्पू के विषय में विशेष ज्ञात नहीं है। नलचम्पू चण्डपाल रचित 'विषमपदप्रकाश' नामक व्याख्या के साथ निर्णयसागर से प्रकाशित हुआ है। नलचम्पू को ही दमयन्ती-कथा के नाम से भी पुकारते हैं। इस चम्पू की रचना के सम्बन्ध में पण्डित-समाज में जो प्रवाद प्रसिद्ध है उसका उल्लेख कवि का चरित लिखते समय किया गया है। इस काव्य

1. यह शिलालेख एपिग्राफिका इण्डिका के भाग ९ पृष्ठ २२ में छपा है।

में सात उच्छ्वास हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने शिव की स्तुति के अनन्तर कवि प्रशंसा तथा खल निन्दा की है। पीछे वाल्मीकि व्यास, बाण तथा गुणाढ्य की कविता की प्रशस्त प्रशंसा है। संक्षेप में कवि चरित भी दिया है। पहले उच्छ्वास में कथा का आरम्भ है। शेष उच्छ्वासों में कथा का विस्तार किया गया है। नल का चरित्र वर्णन करने में कविवर ने अपनी नवीन कल्पना का अधिक उपयोग किया है। कवि ने इस ग्रन्थ को स्वयं 'दमयन्ती कथा' कहा है। इसके प्रत्येक उच्छ्वास के अन्तिम पद्य में 'हरचरणसरोज' पद कवि ने दिया है। अतः जिस प्रकार माघकाव्य 'श्र्यङ्क' तथा किरात 'लक्ष्म्यङ्क' कहे जाते हैं उसी प्रकार कवि जी ने इस कथा को 'हरचरणसरोजाङ्का' कहा है। उदाहरण के लिए षष्ठ उच्छ्वास का अन्तिम पद्य नीचे दिया जाता है—

अपि भवत कृतार्थाः पौरनार्यश्चिरेण
मजतु निषधनाथश्चक्षुषां गोचरं च।
भुवमयमवतीर्णः स्वर्गलोकादनङ्गो
हरचरणसरोजद्वन्द्वलब्धप्रसादः॥

काव्य सुषमा

त्रिविक्रमभट्ट की संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि है। इनके मनोरम पद्यों को अलंकारों के दृष्टान्त देने के लिए भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज ने अपने अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत किया है। नल चम्पू में एक विचित्र विशिष्टता है। त्रिविक्रम संस्कृत साहित्य के सर्व प्रधान श्लेष-कवि हैं। नलचम्पू में जैसे सरस तथा प्रसन्न श्लेष पाये जाते हैं, उतने रमणीय तथा चमत्कारजनक श्लेष इतनी अधिकता में अन्यत्र सनुपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम के लगभग चार सौ वर्ष पहिले सुबन्धु ने भी प्रत्यक्षरश्लेषमयी वासवदत्ता का निर्माण किया जिसने, बाणभट्ट के कथनानुसार कवियों के गर्व को चूर्ण कर दिया (कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया) परन्तु त्रिविक्रम के सामने सुबन्धु की कविता कुछ फीकी जँचती है। अपने प्रबन्ध को प्रत्यक्षरश्लेषमय बनाने की प्रतिज्ञा को निभाने के लिये कविबन्धु सुबन्धु ने खूब प्रयत्न किया है—कोई उपाय छोड़ा नहीं है और इस कार्य में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है, परन्तु इस कारण से इनका गद्य अत्यन्त कठिन हो गया है। नितान्त अप्रचलित तथा अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग इनके गद्य में अधिकता से किया गया मिलता है। सुबन्धु ने अभङ्ग श्लेष को ही विशेषतया अपनाया है परन्तु त्रिविक्रम भट्ट ने अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से अपने काव्य को खूब बचाया है। इनकी कविता के पदविन्यास नितान्त मंजुल हैं—रचना इतनी मधुर है कि इसे बारम्बार पढ़ने पर भी चित्त को सन्तोष नहीं होता। 'शय्या' इतनी रमणीय है कि कोई भी पद अपने स्थान से हटाया नहीं

जा सकता। नलचम्पू की सबसे अधिक विशिष्टता है—सभङ्ग श्लेष का प्रयोग। कवि को पता है कि सभङ्ग श्लेष के कारण कविता में कठिनता आ जाती है (वाचः काठिन्यमायान्ति भङ्गश्लेषविशेषतः) परन्तु सहृदय आलोचक एक स्वर से पुकारते हैं कि त्रिविक्रम की तरह सरल सभङ्ग श्लेष संस्कृत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम ने छोटे-छोटे अनुष्टुपों में इतनी सुन्दरता के साथ सभङ्गश्लेष का प्रयोग किया है कि उनके समझने में पदों के विशेष तोड़ मरोड़ करने की जरूरत नहीं होती और अर्थ भी अनायास बिना परिश्रम के बिना हृदयङ्गम हो जाते हैं। श्लेष के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी प्रयोग कम चमत्कार जनक नहीं है। इनकी 'परिसंख्या' भी कम मजेदार नहीं है। नलचम्पू में कालिदास की कविता की तरह न तो नैसर्गिक मञ्जुल पद-विन्यास है और न भवभूति की रचना की तरह शब्दार्थ का मनोरम सन्निवेश। फिर भी लेखक की विनीत सम्मति में नलचम्पू में कविता की कुछ ऐसी विशेषता दीख पड़ती है जो कवि की अपनी सम्पत्ति कही जा सकती है।

त्रिविक्रम भट्ट का दूसरा नाम 'यमुना त्रिविक्रम' था। घण्टा माघ तथा ताल-रत्नाकर की तरह रसिक आलोचकों ने इनके एक पद्य के रमणीय भाव पर मुग्ध होकर इन्हें यह नाम प्रदान किया था। वह पद्य नलचम्पू के छठे उच्छ्वास के प्रारम्भ में पाया जाता है—

> उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभापाण्डुतायाम्
> अनुसरति निशीथे शृङ्गमस्ताचलस्य।
> जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये
> सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च॥

रात का अवसान हो चला है। प्रभात की वेला समीप है। राजा को निद्रा से जगाने के लिए वैतालिक कह रहा है कि राजन्! प्रभात हो रहा है। इधर उदयगिरि के शिखर पर प्रभा के कारण प्रकाश चमक रहा है, उधर अन्धकार अस्ताचल की चोटी पर निवास करने के लिए जा रहा है। इस समय आकाश के बीचो बीच कोई अवर्णनीय तेज (प्रकाश और अन्धकार के सम्मिश्रण से उत्पन्न तेज) शोभित हो रहा है। जान पड़ता है मानो नीलवर्णा यमुना के जल से संगत पुण्यसलिला श्वेतनीरा आकाशगंगा का जल हो। श्वेत प्रकाश तथा नील तम के मिश्रण के लिए कालिन्दी के जल से मिश्रित गंगाजल की उपमा वास्तव में रमणीय है। पहले तो नभोमण्डल में केवल आकाश गंगा की ही स्थिति की बात कविजनों को ज्ञात थी, परन्तु इस स्थान पर त्रिविक्रम ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से यमुना की अवतारणा की है। इसीलिए इस मनोरम सूक्ति से प्रसन्न होकर आलोचकों ने आपको यमुना त्रिविक्रम कहा है। इस विषय में चण्डपाल की यह उक्ति कितनी सहृदय हृदयावर्जिनी है—

प्राप्यात् विष्णुपदीहेतोरपूर्वोऽयं त्रिविक्रमः।
निर्ममे विमले व्योम्नि यत्पदं यमुनामपि॥

कविता के नमूने

अब यहाँ त्रिविक्रम की काव्यकला के कुछ नमूने पाठकों के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं।

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा।

—१।११

इस रमणीय पद्य में कविजी वाल्मीकिजी की स्तुति कर रहे हैं—उस मुनि को नमस्कार है जिसने रम्या रामायणी कथा का निर्माण किया है। यह कथा सदूषण (दोष सहित तथा दूषण नामक राक्षस से समन्वित) होने पर भी निर्दोष है—दोष रहित है। तथा सखर (कटुतापूर्ण तथा खर राक्षस के साथ) होने पर भी कोमल है। इस पद्य में विरोधाभास अलङ्कार कितनी सफाई के साथ रखा गया है। बाबा तुलसीदास जी ने रामायण की प्रशंसा में इसी पद्य की छाया लेकर यह सोरठा लिखा है —

बन्दौं मुनिपदकंज, रामायण जिन निरमयउ।
सखर सकोमल मंजु, दोष रहित दूषण सहित॥

त्रिविक्रम ने कितनी सुन्दरता के साथ कुकवियों की समता बालकों के साथ की है —

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥

—१।६

इस संसार में कुछ कवि लोग बालकों की तरह हैं। जिस प्रकार बालक पदन्यास में—पैर रखने में—अप्रगल्भ होते हैं—अनिपुण हुआ करते हैं, उसी प्रकार ये कविजन भी कविता के पद जोड़ने में नितान्त असमर्थ हैं। बालक अपनी जननी माता के अनुराग का कारण हुआ करता है—बालक को देखकर माता का हृदय खिल जाता है, ये कविजन भी पुरुषों के नीराग (राग के अभाव) के कारण होते हैं—इनकी कविता लोगों को पसन्द नहीं आती। बालक जिस प्रकार बहुलालाप (बहु + लाला × प) होते हैं—बहुत लाला (लार) पीने वाले होते हैं, उसी प्रकार ये कवि लोग भी बहुल आलाप वाले होते हैं। इनके काव्यों में कुछ चमत्कार तो होता नहीं, परन्तु वे लिखने से बाज नहीं आते—बहुत सी अनर्गल कविता श्रोताओं के गले मढ़ ही देते हैं। अतः कुकवियों तथा बालकों

में कुछ भी अन्तर नहीं। कितनी चमत्कारिणी सूक्ति है, कितना प्रसन्न श्लेष है! इतने सरस तथा सरल श्लेष अन्यत्र बहुत कम मिलेंगे।

> भवन्ति फाल्गुने मासि वृक्षशाखा विपल्लवा।
> जायन्ते न तु लोकस्य कदापि च विपल्लवा॥

—१।३१

आर्यावर्त का वर्णन है। यहाँ फाल्गुन महीने में वृक्षों की शाखायें (वि+पल्लव) पल्लव रहित होती हैं, परन्तु यहाँ के रहने वालों को कदापि (विपद्+लवा) छोटी सी विपत्तियाँ भी नहीं होतीं। 'विपल्लवा' में श्लिष्टार्थ कितना विशद है—साफ है।

> वेधा वेदनयाश्लिष्टः गोविन्दश्च गदाधरः।
> शम्भुः शूली विषादी च देव! केनोपमीयसे॥

—६।१४

कोई कवि राजा की स्तुति कर रहा है कि हे राजन्! तुम्हारी उपमा किस के साथ दी जाय। ब्रह्मा के साथ तुम्हारी समता नहीं हो सकती, क्योंकि वेदों के मतों से आश्लिष्ट ब्रह्मा पीड़ा से आलिंगित (वेदनया + आश्लिष्ट) है। गदा को धारण करने वाले गोविन्द तो रोग (गद + अधर = विधुर) के कारण दुःखी हैं। शूल को धारण करने वाले तथा (विष + आदी) विषको भक्षण करने वाले शिवजी शूल (पीड़ा) के रोग से विषादी (दुःखित) हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ही राजा के लिए प्रसिद्ध उपमान हैं—इसकी समता इन्हीं के साथ प्रायः दी जाती है, परन्तु इन सबों के रोग पीड़ित होने के कारण राजा की उपमा इनके साथ क्यों कर दी जाय? त्रिविक्रम ने इस छोटे से छन्द में बड़ी करामात दिखलाई है। प्रसन्न श्लेष का इससे बढ़कर मनोरम दृष्टान्त अन्यत्र कहाँ मिल सकता है?

> आवासाः कुसुमायुधस्य शबरीसंकेतलीलागृहाः
> पुष्पामोदमिलन्मधुव्रतवधूझङ्कारुद्धाध्वगाः।
> सुस्निग्धाः प्रियबान्धवा इव दृशो दूरीभवन्तश्चिरात्
> कस्यैते न दहन्ति हन्त हृदयं विन्ध्याचलस्य द्रुमाः॥

—६।६१

विन्ध्याचल के ये वृक्ष कामदेव के आवास हैं—शबर जाति की स्त्रियों के संकेत गृह हैं। पुष्प की सुगन्ध से इकट्ठी होनेवाली मधुकरियों की झंकार से यात्रियों के मार्ग को ये रोकनेवाले हैं। अत्यन्त प्रेमी बान्धवों की भाँति आँखों से ओझल होने पर ये वृक्ष किसके हृदय को नहीं जलाते? यह पद्य प्रसाद गुण से सर्वथा परिपूर्ण है।

मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकाङ्क्षया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका ॥

—२।३६

चारों ओर चाँदनी छिटकी हुई। चन्द्रिका के कारण समग्र संसार श्वेत लोक के समान प्रतीत हो रहा है। सीधे साधे ग्वालाले दूध के विचार से गायों के नीचे घड़ा रख रहे हैं—उन्हें मालूम पड़ता है कि गौयों के स्तनों से दूध की धारा बह रही है। इसी कारण वे दूध के बटोरने के ख़याल से घड़े रख रहे हैं। स्त्रियाँ भी अपने कानों में (उज्ज्वल) कैरव की शंका से कुवलय को पहन रही हैं। शबर जाति की स्त्रियाँ मुक्ताफल—सफेद मोती—की अभिलाषा से बेर के फलों को चुन रही हैं—शबरी बेर के फल को चन्द्रिका में मोती समझ रही है। इस प्रकार चन्द्रमा की घनी चाँदनी किसके चित्त में भ्रम नहीं पैदा कर रही है? प्रमामत्त चन्द्रमा ने जगत में सर्वत्र भ्रान्ति फैला दी है। घनी चाँदनी में अनुभव-गम्य दृश्य का क्या ही रमणीय तथा चमत्कारजनक वर्णन है! काव्य मर्मज्ञ कविराज विश्वनाथ ने इस पद्य को भ्रान्ति अलङ्कार के उदाहरण में दिया है।

षष्ठ उल्लास में त्रिविक्रम भट्ट ने भगवन्नारायण की एक अत्यन्त सरस स्तुति लिखी है जिसे पद्यों की संख्या के कारण 'नारायणाष्टक' कह सकते हैं। इनमें से दो पद्य यहाँ दिये जाते हैं। नीलकलेवरधारी पीताम्बर मण्डित आनन्दकन्द वृन्दावनचन्द्र की मोहिनी छवि को निरखिये और कविवर की मधुर कविता का रसास्वादन कीजिये—

जयत्यसुरसुन्दरी नयनवारिसंवर्धित
प्रतापतरुपल्लवस्तरुणकोकिकण्ठच्छविः ।
दलत्कनककेतकीकुसुमपत्रपीताम्बरः
सुराधिपनमस्कृतः सकललोकनाथो हरिः ॥

—६।७

जयत्यमलभावनावनतलोककल्पद्रुमः
पुरन्दरपुरःसरत्रिदशवृन्दचूडामणिः ।
अरातिकुलकन्दलीवनविनाशदावानलः
समस्तमुनिमानसप्रवरराजहंसो हरिः ॥

—६।११

श्रीहर्ष

कौन ऐसा संस्कृत साहित्य का प्रेमी होगा जिसने "नैषध" का नाम न सुना हो ? बृहत्त्रयी में किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध के साथ नैषध की भी गिनती है। [illegible] पाठकः [illegible] गई है [illegible] का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि ग्रन्थ रचना के सौ वर्ष के भीतर ही भीतर इसके ऊपर टीकायें बनने लगीं[1]। कल्पना की ऊँची उड़ान में, अतिशयोक्ति की मनोहर उद्भावना में, रमणीरूप के सुन्दर वर्णन में तथा प्रकृति के सजीव निदर्शन में यह महाकाव्य काव्यजगत् में अपनी समानता नहीं रखता। इसी नैषधीयचरित महाकाव्य के रचयिता का नाम 'श्रीहर्ष' है।

सौभाग्य का विषय है कि अन्य अनेक संस्कृत कवियों की भाँति महाकवि श्रीहर्ष का जीवन वृत्त गाढ़ान्धकार से नहीं ढका है। कविवर ने 'नैषध' में स्थान स्थान पर अपने विषय की आवश्यक बातें लिखी हैं। प्रत्येक सर्ग के अन्त में माता, पिता, तथा ग्रन्थों का नाम निर्देश किया है। ग्रन्थ के अन्त में अपने आश्रयदाता की ओर भी संकेत किया है। इसके अतिरिक्त **राजशेखर सूरि** नामक जैन ग्रन्थकार ने १३४८ ईसवी में विरचित 'प्रबन्ध कोष' में श्रीहर्ष की संक्षिप्त जीवनी दी है। इस जीवनवृत्त की पुष्टि अन्तरङ्ग प्रमाणों से होती है। अतः इसे प्रामाणिक मानकर इसी के आधार पर श्रीहर्ष की जीवनी संगृहीत की जाती है।

जीवनवृत्त

श्रीहर्ष के पिता का नाम 'हीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' था। हीरपण्डित काशी के राजा गहडवालवंशी विजयचन्द्र की सभा के प्रधान पण्डित

१ 'नैषधीय चरित' की पहिली टीका अहमदाबाद के समीप टोलका ग्राम में 'चाण्डू पण्डित' ने १३५३ संवत् (१२९६ ईसवी) में बनाई थी। टीकाकार ने अपना परिचय इन शब्दों में दिया है—

श्रीमानाल्लिगपण्डित स्वसमयाविर्भूतसर्वाश्रम
श्चाण्डूपण्डितसञ्ज्ञित प्रमुवे श्रीगौरिदेवो च यम्।
बुद्ध्वा श्रीमुनिदेवसञ्ज्ञिविबुधात् काव्य नव नैषध
द्वाविंशे च सवर्णने वितरण सर्गे च चक्रे क्रमात्॥

थे। सभा में किसी एक विशिष्ट पण्डित के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ। सुनते हैं कि यह विशिष्ट विद्वान् मिथिला देश के पण्डित प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य थे[1]। शास्त्रार्थ में हीर हार गये। मरते समय श्रीहर्ष से कह गये कि मुझे पराजय होने का बड़ा दुःख है। यदि तुम सुपुत्र हो तो उस पण्डित को शास्त्रार्थ में अवश्य जीतना। श्रीहर्ष ने गंगातीर पर 'चिन्तामणि' मन्त्र का वर्ष भर तक जप किया। भगवती त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुईं। अप्रतिम पाण्डित्य का वरदान दिया। श्रीहर्ष की बुद्धि ऐसी प्रखर निकली कि इनकी कविताओं को कोई समझता ही न था। पुनः तपस्या की। भगवती ने कहा—आधी रात के समय माथे को जल से गीला रखो और दही पीओ। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। तब कहीं जाकर लोग इनके काव्यों को समझने में समर्थ हुये। विजयचन्द्र की सभा में गये। सभा में जाते ही राजा की स्तुति में यह सुन्दर पद्य कह सुनाया—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥

पद्य को सुनते ही राजा तथा उसकी सभा परम सन्तुष्ट हुई और इनके पिता को पराजित करनेवाले पण्डितजी ने भी इनकी असीम विद्वत्ता देख अपना पराजय स्वीकार किया तथा इनकी स्तुति की। श्रीहर्ष का क्रोध शान्त हुआ। अनन्तर वे जयचन्द्र की सभा में रहने लगे। राजा के कहने पर श्रीहर्ष ने नैषधीय-चरित की रचना की। ग्रन्थ की परीक्षा के लिये राजा के खर्च से काश्मीर गये। वहाँ शारदापीठ में शारदा के सम्मुख यह महाकाव्य रखा गया। शारदा ने 'नैषध' को उठाकर अपने हाथ में धारण किया। यह तो हुआ, सरस्वती का प्रसाद मिल गया, परन्तु काश्मीर नरेश से इनकी भेंट पण्डितों की कुटिलता के कारण नहीं हो पाई। एक बार संयोगवश श्रीहर्ष किसी मन्दिर में जप कर रहे थे। उस समय जल लेने के लिये दो पनिहारिन आईं। जल खींचने में दोनों में झगड़ा मचा। मार पीट भी हुई। फैसला के लिये मुकद्दमा राजा के सामने गया। राजा ने गवाही माँगी। पनिहारिनों ने इन्हीं को पेश किया। श्रीहर्ष ने कहा कि मैं यहाँ का रहनेवाला नहीं हूँ। अतः यहाँ की भाषा नहीं जानता, किन्तु इनके कथनोपकथन को ज्यों का त्यों कह सकता हूँ। राजा की स्वीकृति पाने पर कविजी ने सब ज्यों का त्यों सुना डाला। राजा बड़े चकित हुये। राजा के पूछने पर

१. चाण्डू पण्डित ने अपनी टीका के आरम्भ में 'श्रीहर्षः स्व पितुर्विजेतुरुदयनस्य कृतौ खण्डनखण्डखाद्यनामकग्रन्थेनाखण्डयत्' लिखकर इस प्रसिद्धि का समर्थन किया है। अतः इसके ठीक होने में अब सन्देह नहीं मालूम पड़ता।

श्रीहर्ष ने अपना कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। पण्डितों की मत्सरता को देख राजा बहुत दुःखित हुये। अन्त में उचित सम्मान के साथ काश्मीर नरेश ने महाकवि श्रीहर्ष को विदाई दी। कविजी काशी आये और राजा से सब हाल कह सुनाया। तब से श्रीहर्ष की कीर्ति सर्वत्र फैल गई।

किंवदन्ती

महाकवि श्रीहर्ष के विषय में पण्डित समाज में एक अत्यन्त मनोरञ्जक दन्त कथा प्रसिद्ध है। सुनते हैं कि काव्यप्रकाश के निर्माता **मम्मटाचार्य** श्रीहर्ष के मामा लगते थे। वे बुड्ढे हो गये थे, जब श्रीहर्ष ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की। भांजे ने काव्यरत्नों के परम पारखी मामा के सामने अपने महाकाव्य की चर्चा की और उनकी महत्त्वपूर्ण सम्मति जानने के लिये अभिलाषा प्रगट की। मम्मट ने पढने के लिये नैषध को अपने पास रख लिया और दूसरे दिन जब श्रीहर्ष आतुरता से काव्यमर्मज्ञ की आलोचना सुनने के लिये आये, तब मम्मट ने कहा कि काव्य प्रकाश के सप्तम (दोष) उल्लास लिखने के पहिले यदि यह काव्य मुझे मिला रहता, तो काव्यदोषों के उदाहरण ढूंढ निकालने में मुझे इतना प्रयत्न न करना पड़ता, क्योंकि काव्य के समग्र दोषों के दृष्टान्त मुझे इसी एक काव्य में मिल गये होते। इस अतर्कित सम्मति को सुनने से आश्चर्यचकित होकर श्रीहर्ष ने जब उक्त सम्मति की पुष्टि में उदाहरण जानना चाहा, तो मम्मट ने झट से ग्रन्थ खोल आगे दीख पड़ने वाले इस पद्य को तुरन्त कह सुनाया—

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥

—२ सर्ग, ६२ पद्य

यह पद्य केवल पदच्छेद में किंचित भिन्नता कर देने से मङ्गल के स्थानपर अमङ्गलार्थ की सूचना दे रहा है। तव शिव वर्त्म निवर्तताम् (तुम्हारा कल्याण-दायक मार्ग हट जाय)। स त्वं पुन मा आगमः (तुम फिर कभी न लौटो), अयि साधे (आधिना सहेति साधि, तत्सम्बुद्धौ) असाधय ईप्सितम्। हे रोग ग्रस्त! मेरे मनोरथ को पूरा मत करो। हे वय! वय समये स्मरणीया (अर्थात् हमारी मृत्यु के पश्चात् कभी कभी हमारा स्मरण किया करना)। श्रीहर्ष ने इस श्लोक को नल के द्वारा दमयन्ती के पास जानेवाले हंस से मंगल के रूप में कहलाया है—फिर शीघ्र लौट आने की प्रार्थना कराई है, परन्तु मम्मट के द्वारा प्रदर्शित पदच्छेद से अर्थ का अनर्थ बन गया। अपने काव्य के विषय में, जिसके लिये श्रीहर्ष को गर्व करना उचित ही था, काव्यरत्नों के इस प्रवीण जौहरी की यह अवज्ञापूर्ण सम्मति सुन श्रीहर्ष

चुपचाप घर चले आये। मम्मटाचार्य तथा श्रीहर्ष के काल की आसन्नता पर भी इस दन्तकथा के असत्य होने में कोई बाधा नहीं पहुंच सकती।

ऊपर लिखित श्री हर्ष के वृत्तान्त की परिपुष्टि नैषध में उल्लिखित कथनों से ठीक ठीक होती है। पिता का 'हीर' तथा माता का मामल्ल देवी नाम था।[1] कान्यकुब्ज के राजा की सभा में इनका बड़ा सम्मान होता था क्योंकि इन्होंने कान्यकुब्जेश्वर से आसन तथा पान के बीड़ा मिलने की बात लिखी है।[2] कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा जयचन्द्र की सभा में श्रीहर्ष रहते थे। सम्भवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के दरबार में भी ये बहुत दिन तक रहे होंगे, क्योंकि इन्हीं के नाम पर कविवर ने 'विजय प्रशस्ति' लिखी थी।[3] कश्मीर में इनके काव्य की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इस वृत्तान्त को कविवर ने स्वयं लिखा है।[4] इस प्रकार ऊपर लिखित घटनायें सत्य प्रमाणित होती हैं और श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के नरेश विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र की सभा के एक परम मूल्यवान् रत्न ठहरते हैं।

श्रीहर्ष की योग्यता

श्रीहर्ष केवल प्रथम कक्षा के महाकवि ही न थे, प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। श्रीहर्ष में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदय कली को खिलानेवाली स्वभाव मधुरा कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली, अनेक पण्डितों का मद चूर्ण करनेवाली, तर्ककर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृङ्गारभूत नैषधीय काव्य की रचना की उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के दृष्टान्त निदर्शनरूप 'खण्डनखण्डखाद्य' की सृष्टि की। जिस श्रीहर्ष ने अपनी मनोहारिणी कविता के कारण काश्मीरदेश में अपनी विमल कीर्ति पताका फहराई, उसी ने जयचन्द्र के दरबार में अपने पूज्य पिता को परास्त करनेवाले मानी तार्किक प्रकाण्ड उदयन का भी मद चूर्ण कर डाला। कविवर की यह उक्ति नितान्त युक्ति युक्त है—

---

१. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यह पद्यार्ध प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में आता है।

२ ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।
—२२ सर्ग का अन्तिम पद्य

३ तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य .... —५ प०

४. काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा- —१६।१३१

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

इस वचन को सुनकर ही उस तार्किक को हार माननी और इनकी श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी थी—

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुंकृते॥

सच तो यह है कि श्रीहर्ष को हुये आज लगभग आठ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु इस दीर्घ काल में केवल पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ इनके जोड़ का कोई कवि दूसरा ही नहीं। पण्डितों की यही अनन्य सम्मति है।

हमारे चरितनायक केवल कवि पण्डित ही न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड साधक तथा उन्नत योगी थे। कहा जा चुका है गुरु से दीक्षा लेकर श्रीहर्ष ने चिन्तामणि मन्त्र को सिद्ध किया था जिससे प्रसन्न हो भगवती सरस्वती ने इन्हें अलौकिक प्रतिभा प्रदान की थी। चिन्तामणि मन्त्र का उद्धार तथा मन्त्र जपने का उत्तमफल कवि ने स्वयं नैषध में सरस्वती के मुखसे कहलाया है।[1] जब चिन्तामणि मन्त्र के जापक के किसी व्यक्ति के सिर पर हाथ रख देने से वह सुन्दर श्लोकों की अनायास ही रचना करने लगता है[2], तब पावन गंगा के तीर पर इस परम प्रसिद्ध मन्त्र की सिद्ध करने वाले श्रीहर्ष ने अद्भुत कल्पनामय नैषधकाव्य की रचना कर डाली, इसमें कौन आश्चर्य है? श्रीहर्ष उच्चकोटि के योगी भी थे। आपने ही लिखा है कि वे समाधि में ब्रह्मानन्द का आस्वाद लिया करते थे।

---

१ अवामा वामार्धे सकलमुभयाकारघटनाद्
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं
निराकारं शश्वज्जप नरपते सिध्यतु स ते॥ —१४।८८

२ सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये स्थितः सुकृतिनां मन्मन्त्रचिन्तामणिः॥ —१४।८९

धन्य है ऐसा परमरसावनोद महात्मा कवि और धन्य है उसकी लोकोत्तर कल्पना का विलास तथा अद्भुत पाण्डित्य की प्रखरता ! अपने आदरणीय महाकाव्य के अन्त में श्रीहर्ष ने अपने विषय में जो यह लिखा है वह निःसन्देह सत्य है :—

> ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
> यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
> यत् काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
> श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥

समय

ऊपर दी गई श्रीहर्ष की जीवनी पढ़ने से पाठकों को पता चल ही गया होगा कि ये कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र की सभा में विद्यमान थे। जयचन्द्र के वंश वाले राजपूत गहड़वाल कहलाते थे। ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदी में इस वंश का उत्तरीय भारत में बड़ा नाम था। ये लोग कन्नौज के राजा कहलाते थे परन्तु पीछे चलकर इन्होंने काशी को भी अपनी राजधानी बनाई। जयचन्द्र काशी से भी अपने विस्तृत साम्राज्य पर शासन करते थे। ये वही जयचन्द्र हैं जिनके नाम को साधारण लोगों ने बदनाम कर रखा है। वास्तव में ऐतिहासिकों की नई खोज ने इनके सब कलङ्कों का मार्जन कर डाला है। इनके पिता विजयचन्द्र तथा इन्होंने ११५६ ईस्वी से लेकर ११९३ ईस्वी तक राज्य किया था। अतएव कविवर श्रीहर्ष का आविर्भावकाल विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र से समसम्बन्धित होने के कारण से द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है।

ग्रन्थ

श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन सब ग्रन्थों का नाम कविवर ने अपने नैषधीय चरित में उल्लिखित किया है। नैषध में उल्लेख क्रम से ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं —

(१) स्थैर्य विचारण प्रकरण[1]—नाम से ही यह ग्रन्थ दार्शनिक विषय पर लिखा हुआ जान पड़ता है। अनुमान से कहा जा सकता है कि इसमें क्षणिकवाद का निराकरण होगा।

(२) विजय प्रशस्ति[2]—जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के पिता

---

१ तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः (४)

२ तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य नव्ये महा—

—५।१३८

× × ×

विजयचन्द्र थी, जो उस समय के प्रसिद्ध योद्धा तथा विजयी वीर थे, प्रशंसात्मक प्रशस्ति लिखी गई थी। गुरुवर महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माजी इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा करते थे।

(३) खण्डनखण्ड[1]—श्रीहर्ष का यही प्रसिद्ध खण्डनखण्डखाद्य नामक वेदान्त ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्तशास्त्र का एक अनुपम रत्न है। इसमें नैयायिक तर्क-प्रणाली का अनुसरण कर लेखक ने द्वैत के सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। पांडित्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है और श्रीहर्ष की अलौकसामान्य शास्त्र-चातुरी का प्रदर्शन कर रहा है। इसमें नैषध काव्य का श्रीहर्ष ने स्वयं उल्लेख किया है।

(४) गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति[2]—नं० २ की तरह यह भी प्रशस्ति है जिसको ग्रन्थकार ने किसी गौड देश (बंगाल) के राजा की प्रशंसा में बनाया था।

(५) अर्णव वर्णन[3]—नाम से समुद्र का वर्णन जान पड़ता है।

(६) छिन्द प्रशस्ति[4]—छिन्द नामक किसी राजा के विषय में लिखी गई काव्य पुस्तक जान पड़ती है। "छिन्द"[5] किस देश का राजा था और उसका निवास-स्थान कहाँ था ? यह आज कल बिल्कुल अज्ञात है।

(७) शिवशक्तिसिद्धि[6]—यह ग्रन्थ शिव तथा शक्ति की साधना के विषय

---

१. यद् खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा— —६।११३

× × ×

२. गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययं तन्महा— —७।११०

× × ×

३. संदृब्धार्णववर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महा- —९।१६०

४. यातः षोडश स्वसु सुसदृशि छिन्दप्रशस्तेर्महा- —१७।२२२

५. नारायण की टीका में 'छन्दः प्रशस्ति' पाठान्तर दिया गया है जिससे छन्दः शास्त्र विषयक ग्रन्थ माना जा सकता है। परन्तु ग्रन्थकार के नं० २ तथा नं० ४ प्रशस्तियों की भाँति यह भी किसी राजा के विषय में ही जान पड़ता है। अतः 'छन्द प्रशस्ति' पाठ ठीक नहीं जँचता। प्रशस्तिकाव्य राजा की ही प्रशंसा में हुआ करता है, छन्दोविषयक ग्रन्थ के लिये प्रशस्ति शब्द का व्यवहार नहीं होता।

६. यातोऽस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनी सौभ्रात्रभव्यं महा— —१८।१५४

में लिखा गया प्रतीत होता है। कहीं कहीं शक्ति के स्थान पर 'भक्ति' पाठ है। तदनुसार इसका 'शिवभक्तिसिद्धि' भी नाम हो सकता है।

(८) **नवसाहसांकचरितचम्पू**[1]—श्रीहर्ष के शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने नवसाहसाक के चरित्र को चम्पू के रूप में वर्णन किया था। 'नवसाहसाङ्क' राजा भोज के पिता सिन्धुराज का विरुद विख्यात है। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसाङ्कचरित' नामक महाकाव्य में सिन्धुराज के ही चरित का बखान किया है। आज नहीं कहा जा सकता कि श्रीहर्ष का यह चम्पू सिन्धुराज के विषय में था अथवा 'नवसाहसाङ्क' विरुदधारी किसी अन्य राजा के विषय में।

(९) **नैषधीयचरित**—इस महाकाव्य में निषधदेश के अधिपति राजा नल का पावन चरित बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया गया है। इसमें २२ लम्बे-लम्बे सर्ग हैं। तिस पर नल-चरित्र का एकदेश ही श्रीहर्ष ने वर्णन किया है। आरम्भ में राजा नल का विशद वर्णन है; नल का मृगया-विहार, हंस का ग्रहण तथा मुक्ति का हाल है। राजा हंस को दमयन्ती के पास भेजते हैं। हंस वहाँ जाता है और अकेले में जाकर नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है। दमयन्ती के पूर्वानुराग का बड़ा ही प्रशस्त वर्णन है। राजा भीम अपनी कन्या दमयन्ती के लिये स्वयंवर की रचना करते हैं। इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम देवता भी दमयन्ती के अलोक-सामान्य रूपवैभव की कथा सुन स्वयंवर में पधारना चाहते हैं और राजा नल को ही तिरस्करिणी विद्या के सहारे अपना दूत बना महल में भेजते हैं और नल देवताओं की ओर से खूब पैरवी करते हैं। परन्तु दमयन्ती का नल विषयक निश्चय तनिक भी नहीं डिगता। स्वयंवर रचा जाता है। चारों देवता नल का ही रूप धारण कर सभा में उपस्थित होते हैं। सरस्वती स्वयं उस सभा में आती है और राजाओं का परिचय देती है। नल की प्रकृति वाले पाँच पुरुषों को देख दमयन्ती घबड़ा जाती है। अन्त में देवतागण उसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अपने विशिष्ट चिह्नों को प्रकट करते हैं, जिससे दमयन्ती राजा नल को सहज ही में पहचान लेती है। दोनों का विवाह होता है। अब देवतागण स्वर्ग लौटते हैं तब कलि के साथ घनघोर वाग्युद्ध छिड़ जाता है। देवता कलि को हराकर नास्तिकवाद का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। नल दमयन्ती के प्रथम मिलनरात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है। संक्षेप में नैषध का यही सार है। जिस प्रकार खण्डनखण्डखाद्य श्रीहर्ष के दार्शनिक ग्रन्थों में मुकुट मणि है, उसी प्रकार यह नैषध उनके काव्यों का अलङ्कार है।

---

१. द्वाविंशो नवसाहसांकचरिते चम्पूकृतोऽयं महा—
काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

—२२।१५१

नैषध की टीकायें

डाक्टर औफ्रेक्ट ने नैषध की २३ टीकाओं का नाम लिखा है। इन टीकाओं में बड़े बड़े विद्वानों के नाम हैं। काव्यप्रकाश पर मार्मिक 'निदर्शक' लिखनेवाले काश्मीर के प्रसिद्ध पण्डित राजानक आनन्द ने भी नैषध काव्य टीका लिखी थी यह श्रीहर्ष के लिये कम गौरव की बात नहीं है। कहा जा चुका है कि नैषध लिखे जाने के सौ वर्ष के भीतर इस पर टीकायें बनने लगी थीं। नैषध की सबसे पहली टीका है विद्याधर रचित साहित्यविद्याधरी। इसका उल्लेख चाण्डू पण्डित ने अपनी टीका में किया है जो कालक्रम के अनुसार नैषध की दूसरी टीका प्रतीत होती है। साहित्य विद्याधरी की विशेषता है प्रतिपद्य में रस, अलङ्कार गुण आदि का निरूपण। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने भी 'नैषध' पर 'जीवातु' नामक टीका लिखी है। थोड़े से शब्दों में कवि के मर्म को समझा देना मल्लिनाथ की टीका की विशेषता है। इसके बाद नारायण भट्ट की 'नैषध प्रकाश' नामक टीका है। नारायण भट्ट बदरकर के पिता का नाम नरसिंह भट्ट था। नाम से ही इनके महाराष्ट्र होने की बात सूचित होती है। निर्णयसागर में यही टीका छपी है। नारायण की टीका बड़ी विस्तृत है। टीकाकार को एक अर्थ से सन्तोष होता नहीं जान पड़ता। अन्य प्रकार के अर्थों का भी अच्छी तरह से निदर्शन करते गए हैं। नैषध की ये ही प्रख्यात टीकायें हैं।

काव्य-सौन्दर्य[1]

श्रीहर्ष की कविता संस्कृतसाहित्य की एक मनोहर वस्तु है। शब्दों का सुन्दर विन्यास तथा भावों का समुचित निवेश किस सहृदय के मन को नहीं हरण कर लेता ? कविवर ने अपने महाकाव्य को 'शृङ्गारामृतशीतगु'—शृङ्गाररूपी अमृत के लिये जो चन्द्रमा कहा है वह वास्तव में ठीक ही है। श्रीहर्ष ने शृङ्गाररस के वर्णन करने में बड़ी सहृदयता दिखलाई है। विप्रलम्भ के लम्बे लम्बे रमणीय वर्णनों को पढ़कर जिस प्रकार हृदय में आनन्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार संभोग का मधुर रूप देख चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। अलङ्कारों से कविजी ने अपनी भारती को इस प्रकार विभूषित किया है कि उसको सत्यमूर्ति देखते ही बनती है। अलङ्कारों में उपमा, रूपक यमक, अतिशयोक्ति, श्लेष सबका उचित प्रयोग श्रीहर्ष की कविता में पाया जाता है। श्लेष काव्य लिखने में इनकी बड़ी प्रवीणता

१ टीकां यद्यपि सोपपत्तिरचना विद्याधरो निर्ममे
श्रीहर्षस्य तथापि न त्यजति सा गम्भीरतां भारती।
दिक्कूलंकषतां गतैर्नलघरैरुद्गृह्यमाण मुहु
पारावारमपारमम्बु किमिह स्याज्जानुदघ्नं क्वचित्॥

झलकती है। नैषध में पद्यनली प्रसिद्ध ही है जहाँ कविवर ने श्लेष से एक ही पद्य में पाँचों नलों का वर्णन किया है। अतिशयोक्ति की कथा मत पूछिये। श्रीहर्ष के समान कल्पना की ऊँची उड़ान बहुत कम कवियों में दीख पड़ती है। इसी प्रकार उपमा तथा रूपक का विन्यास प्रशंसनीय है।

संस्कृत भाषा पर श्रीहर्ष का इतना प्रभुत्व है कि उचित शब्द आप ही आप अनायास जुटे चले आते हैं। पदशय्या इतनी सुन्दर बन पड़ी है कि एक पद के हेर फेर से कविता कामिनी के रूप के विकृत होने का भय लगा हुआ है। उसी प्रकार अर्थों की सूझ है। श्रीहर्ष ने 'एकामत्यजतो नवार्थघटनाम्' की जो प्रतिज्ञा की है उसे सचमुच पूरी कर दिखाई है। एक ही विषय पर कई श्लोकों में लम्बे-लम्बे भी वर्णन हैं; पर क्या मजाल कि अर्थ की पुनरावृत्ति हो। जब देखिये तब नये भाव, जब पढ़िये तब नवीन शब्दावली। श्रीहर्ष के समान पद तथा अर्थ का इतना मनोहर सन्निवेश साहित्य में बहुत ही दुर्लभ है। परन्तु सबसे विलक्षण है इनकी अलोकसामान्य काव्य प्रतिभा। इस प्रतिभा के बल पर इन्होंने किसी भाव को अछूता नहीं छोड़ा है। शास्त्रों के अर्थ का भी सन्निवेश किया है परन्तु बड़े ही मार्मिक ढंग से। कविता के इन्हीं गुणों के कारण रसिक पण्डित मण्डली नैषध के सामने किरात तथा शिशुपालवध को फीका बतलाती है—

उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।

× × ×

अब श्रीहर्ष की कविता के कुछ नमूने दिये जाते हैं। पाठकवृन्द इसे पढ़िये और अलौकिक आनन्दका अनुभव कीजिये।

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात् तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥

—१।१४

कवि राजा नल का वर्णन कर रहा है कि राजा के प्रबल प्रताप तथा उज्ज्वल कीर्ति को जब कभी ब्रह्मा देखते हैं तब तब सूर्य तथा चन्द्रमा को वृथा समझकर उनके चारों ओर परिवेष के व्याज से व्यर्थता सूचक कुण्डलना लगा देते हैं।

चन्द्रमा में दीख पड़नेवाले कलङ्क के विषय में श्रीहर्ष ने बड़ी अनूठी बातें कही हैं। दो सूक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥

—१।८

विजय यात्रा के लिये जब राजा की सेनायें चलीं, तब उनके चलने से उसी प्रतापानल के धुएँ की तरह काली-काली धूलि चारों ओर छा गई है। सागर में भी वही धूलि जाकर गिरी जिससे बना गया चन्द्रमा आज भी पंक के रूप में उसी पंक को धारण कर रहा है।

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ —२।२५

दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमण्डल के सार भाग को काट लिया है। अतः चन्द्रमा के मध्य में जो छिद्र बन गया है उसी के द्वारा अत्यन्त नील आकाश की नीलिमा दीख पड़ रही है। ये कलङ्क क्या हैं? नभो मण्डल की नीलिमा दिखाने वाले बिल हैं।

सन्ध्याकाल का वर्णन परिये—

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद्यस्य दिनद्विपस्य।
तस्येव सन्ध्यारुचिरास्रधारा ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि ॥

कालरूपी किरात ने विकसित कमल रखनेवाले दिवसरूपी (सूंड पर लाल बिन्दुओं को धारण करने वाले) हाथी को मार डाला है। यही कारण है कि सन्ध्या के रूप में उसकी रुचिर रुधिरधारा दीख पड़ती है तथा उसके मस्तक के जो मोती बिखरे हैं वही गगनमण्डल में उदित तारे हैं। क्या ही रमणीय रूपक है!

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम् ॥

यह भानुरूपी भिक्षु (सन्यासी) दण्ड लेकर सब दिशाओं में दिन भर घूमता रहा है। अब सायंकाल को जलाशय में स्नान करने के लिये मानो वह सन्ध्या काल के लाल गगनमण्डल रूपी काषाय वस्त्र को ऊपर (अपने शरीर के ऊपरी भाग पर) धारण कर रहा है। सूर्य के अस्त होने के समय का यह रक्त आकाश नहीं है, बल्कि किसी स्नानार्थी सन्यासी का रक्त काषाय रखा हुआ जान पड़ता है। क्या ही मौलिक सूक्ति है! एक पद्य में कविवर ने सन्ध्याकालीन रक्त आकाश का बड़ा विलक्षण कारण ढूंढ निकाला है। उनका कहना है कि अस्ताचल रूपी शवरालय के पास यामान्त की सूचना देने के लिये बांग देनेवाले मुर्गों के समूह के कारण पश्चिम दिशा उनकी शिखा की रक्ताई के कारण लाल हो रही है। सूझ है अनूठा, यद्यपि कुछ अव्यक्त सी है। पद्य यों है—

अस्ताद्रिचूडालयपक्कणालिच्छेकस्य किं कुक्कुटपेटकस्य।
यामान्तकूजोच्छ्रसितैः शिखाग्रैर्दिग् वारुणी द्रागरुणीकृतेयम् ॥

ऊपर कहा गया है कि श्रीहर्ष बड़े भारी दार्शनिक थे। नैषध का अधिकांश सर्ग दार्शनिकता से ओतप्रोत है परन्तु अन्य सर्गों में भी इनका दर्शन-ज्ञान स्पष्ट झलक रहा है। इन्होंने शास्त्रकारों को बड़ी फबतियाँ सुनाई हैं 'औलूक' नाम धारण करनेवाला वैशेषिक दर्शन ही अन्धकार का स्वरूप वर्णन करने में पूरा समर्थ है, इसका वर्णन कवि ने क्या ही अच्छे ढंग से किया है—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥

क्या ही अच्छी उक्ति है! इसमें व्यंग भी क्या ही मजेदार है। 'ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्' का पूर्वपक्ष कर तम का द्रव्यत्व खण्डन करनेवाले वैशेषिक मतवालों पर कौशिक होने की बात क्या ही अनूठे ढंग से कविजी ने सिद्ध की है!

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥ —१७।७५

जो सुख दुःख का अनुभव करने वाले चेतनायुक्त प्राणियों को पत्थर की तरह निश्चेष्ट बन जाने वाली मुक्ति का उपदेश देता है, उस गोतम को देखकर जैसा तुम समझते हो वह वैसा ही गोतम (पक्का बैल—अत्यंत मूर्ख) है। न्याय दर्शन के रचयिता गोतम के नाम पर क्या ही रमणीय व्यंग्योक्ति है! बेचारे गोतम की बड़ी बेतरह फजीहत की है।

इसी प्रकार श्रीहर्ष ने व्याकरण वालों को भी बड़ी मीठी चुटकी ली है। देखिये वे क्या कहते हैं—

अङ्कं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः॥

—२२।८५

लोक और व्याकरण में पद-प्रयोग के विषय में सदा से विवाद चलता आ रहा है। व्याकरण को बड़ा घमण्ड है कि जो शब्द मैं सिद्ध करूँगा, लोक को उसे ही प्रयोग में लाना पड़ेगा। परन्तु इस विषय में व्याकरण से बढ़कर लोक का ही प्रामाण्य अधिक है। लोक व्याकरण के पद-प्रयोग-विषयक घमंड को चूर-चूर कर डालने में खूब ही समर्थ हुआ है। दोनों ही रूप धारण करने पर भी तथा व्याकरण की रीति से व्युत्पन्न होने पर भी लोग 'शशी' के जोड़-तोड़ पर चन्द्रमा को 'मृगी' कह नहीं पुकारते। नतीजा यही निकला कि पद प्रयोग के लिये लोक का ही अधिक प्रामाण्य है। बेचारे व्याकरण वाले 'मृगोऽस्यास्ति' विग्रह कर 'मृगी' शब्द की व्युत्पत्ति करते ही रह गये;

परन्तु लोक ने इनका तनिक भी ख्याल नहीं किया और अपनी मनमानी ही की 'मृगी' का चन्द्र के अर्थ में प्रयोग होने ही न दिया। वैयाकरणों पर क्या ही सुन्दर चुटकुला है!

कलि के मुँह से श्रीहर्ष ने पाणिनि के एक सूत्र का विचित्र ही अर्थ करवा डाला है। जरा पाणिनि के सूत्रों को रटने वाले इस नवीन अर्थ को समझें और कवि की अनोखी सूझ [illegible] सराहें।—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥

स्त्री तथा पुरुष प्रकृति दोनों काम में ही आसक्त रहा करें—अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति (नपुंसकों) के [illegible] लिये है। 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बनाकर पाणिनि ने भी पूर्वोक्त बात को स्वीकार किया है। वाह री अनूठी सूझ, बिचारे पाणिनि को भी अछूता नहीं छोड़ा। उन्हें भी इस दलदल में ला घसीटा।

श्रीहर्ष अद्वैतवादी थे इसका पता नैषध से भी चलता है—

साम्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानाम्
अद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥

—१३।३६

इस परम दार्शनिक पद्य से यही अर्थ निकलता है कि सब मतों में अद्वैततत्त्व ही अधिक ठीक है। अन्य मतों की बात सत्य हो सकती है परन्तु वेदान्त प्रतिपादित अद्वैततत्त्व ही सत्यतर है—सबसे अधिक ठीक है। यह उक्ति खण्डन खण्डखाद्य के रचयिता के अनुरूप ही है।



क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र, संस्कृतभाषा के महाकवियों में भी अलौकिक प्रतिभा से मण्डित महाकवि थे जिनकी प्रतिभा ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में अपना जौहर दिखलाया। सरस्वती का यह वरद पुत्र शारदा देश का, अर्थात् काश्मीर का निवासी था, परन्तु जब यह उत्पन्न हुआ था तब काश्मीर का वातावरण कविता जैसी कोमल कला के अनुशीलन के लिए नितान्त अनुपयुक्त था। काश्मीर के इतिहास में वह युग असन्तोष, षड्यन्त्र, नैराश्य तथा रक्तपात का काल था। तत्कालीन राजा अनन्त स्वयं मानसिक दुर्बलता का तथा बौद्धिक शिथिलता का पात्र था। तभी तो उसने १०६३ ई० में अपने ज्येष्ठ पुत्र कलश को राज्य देकर भी थोड़े ही वर्षों के अनन्तर पुनः उसे ग्रहण कर लिया। इसके अनन्तर वह १०७७ ई० में राज्यकार्य से अवश्य ही विरत हुआ और कुछ ही वर्षों के बाद, १०८१ ई० में, उसने आत्महत्या कर ली, और उसकी विदुषी महारानी सूर्यवती भी अपने पति की चिता पर सती बन गई।

इन्हीं पिता-पुत्र अनन्त (१०२८ ई०—१०६३ ई०) तथा कलश (१०६३ ई०-१०८९ ई०) के राज्यकाल में क्षेमेन्द्र की जीवन-लीला व्यतीत हुई। इनके पूर्वपुरुष राजा के अमात्य-पद पर प्रतिष्ठित थे। क्षेमेन्द्र अपने युग के अशान्त वातावरण से इतने असन्तुष्ट तथा मर्माहत थे कि उसे सुधारने में तथा पवित्र और विशुद्ध बनाने के लिए और दुष्टता के स्थान पर शिष्टता की और स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना को दृढ़ करने के निमित्त, अपनी द्रुतगामिनी लेखनी को काव्य के नाना अंगों की रचना में लगाया। इसीका रुचिर परिणाम है—विशाल क्षेमेन्द्र साहित्य। महर्षि वेदव्यास के आदर्श पर रचना करनेवाला यह कवि नाम्ना ही नहीं, प्रत्युत यथार्थतः 'व्यासदास' था। संस्कृत में कथा की रचना क्षेमेन्द्र की अलौकिक प्रतिभा के प्रसाद का एक लेशमात्र था।

जनता के चरित्र के सुधार तथा मनोरंजन की भावना से प्रेरित होकर इस कवि ने रामायण तथा महाभारत की प्रख्यात कथाओं का संक्षिप्त वर्णन रामायण-मञ्जरी तथा भारतमञ्जरी (रचनाकाल १०३७ ई०) के नाम से प्रस्तुत किया। इनमें कथाओं का संक्षेप इतनी सुन्दरता तथा विवेकिता से किया गया है कि मनोरञ्जन के साथ-ही-साथ मूल ग्रंथों का प्राचीन पाठ निर्णीत करने में भी हमें सहायता मिलती है।

इन ग्रंथों के निर्माण के बाद क्षेमेन्द्र ने उस प्राचीन कथारत्नाकर को भी परखने का हमें अवसर प्रदान किया है जो बृहत्कथा के नाम से साहित्य-जगत् मे

प्रख्यात है। राजा शालिवाहन (या हाल) के सभा-कवि महाकवि गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में बृहत्कथा नामक विराट कथा समुच्चय का निर्माण किया था जिसकी विचित्रता, अलौकिकता तथा अद्भुत रसपेशलता की ख्याति भारतवर्ष के बाहर काबोज देश तक फैली हुई थी। इसी कथा का पैशाची भाषा से संस्कृत में सरस पद्यानुवाद प्रस्तुत कर क्षेमेन्द्र ने पाठकों के लिए प्राचीन कहानियों का खजाना ही खोल दिया है।

इस ग्रन्थ में अट्ठारह लम्बक, अर्थात् अध्याय हैं, जिनमें प्रधान कथा के साथ साथ अवान्तर कथाएँ भी कही गई हैं। कथा का नायक है वत्सराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त, जो अनेक प्रतिद्वन्द्वियों को अपनी बलशाली भुजाओं के पराक्रम से पराजित कर गन्धर्वों का चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। वह अनेक गन्धर्व सुन्दरियों से विवाह करता है, परन्तु उसकी पटरानी है मदनमंचुका। यह उचित ही है कि कथा का आरम्भ वत्सराज उदयन तथा वासवदत्ता की रोमांचक प्रेम कहानी से होता है। अवन्ति-नरेश उदयन लावणक नामक स्थान में वासवदत्ता के आग में जल जाने की दुर्घटना से दुःखित होता है तथा पद्मावती से विवाह करता है। (३ लं०) अनन्तर नरवाहनदत्त का जन्म होता है (४ लं०) जिसके दर्शन के लिए विद्याधर शक्तिवेग आता है और चार विद्याधरियों के साथ अपने विवाह की कथा कहता है। इसके बाद सूर्यप्रभ का विचित्र चरित है (६ लं०), कलिंगदत्त की राजपुत्री मदनमंचुका के साथ नरवाहनदत्त का विवाह होता है (७ लं०), परन्तु उसके पहले कथा का नायक अन्य चार सुन्दरियों से विवाह कर चुका होता है। मदनमंचुका को वह मानसवेग में, युद्ध में विजयी होकर, पत्नी के रूप में ग्रहण करता है, तथा विद्याधरों का चक्रवर्ती सम्राट् बन कर वह अपने जीवन को सानन्द बिताता है।

इसकी मुख्य कथा को परिपुष्ट करने के लिए अनेक अवान्तर कथाएँ जोड़ी गई हैं। 'वेतालपञ्चविंशति', अर्थात् सुविख्यात 'वेताल पचीसी' इसीके अन्तर्गत वर्णित है। स्थल विशेषों पर क्षेमेन्द्र ने देवी देवताओं की भव्य स्तुतियों को भी लिखकर इसे शोभन बनाया है। पञ्चदश लम्बक में (१५।१९८) श्वेतपति भगवान् नारायण की स्तुति शान्तिपर्व की एतत्स्तुति से नितान्त साम्य रखती है। ऋतुओं तथा सौन्दर्य का वर्णन विशेषतः पेशल, स्निग्ध तथा चमत्कारपूर्ण है। कथामुख में चण्डमहासेन के गजराज के वर्णन में प्रयुक्त मालोपमाओं की छटा सातिशय हृदयावर्जनीय है (२।३५-३८)। वासवदत्ता के सौन्दर्य वर्णन में कल्पपक्ष का रुचिर निर्वाह है। इसी प्रकार अन्तिम लम्बक में वसन्त की सुषमा का भव्य विन्यास बड़ा ही रमणीय है (१८।४।१६)। उपदेश की हृदयगमता का परिचय, काल की प्रभावशालिता के वर्णन में, यहाँ (१८।५०।६७) भी मिलता है—

"लक्ष्मीरम्भा कुठारस्य भोगाम्भोदनभस्वतः।
विलासवनदावाग्नेः को हि कालस्य विस्मृतः॥
न गुणा हीनविद्यानां श्रीमतां क्षीणसम्पदाम्।
कृतान्तपण्यशालायां समानः क्रयविक्रयः॥"

—१८।५४ ५५

क्षेमेन्द्र की दूसरी विशाल कथात्मक कृति है 'बोधिसत्त्वावदानकल्पलता', जिसमें भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्मों से सम्बद्ध पारमितासूचक आख्यानों का पद्यबद्ध वर्णन है। हीनयान में जो स्थान जातकों का है वही महायान में अवदानों का है। 'अवदान' का अर्थ है शुभ्रचरित्र। इन कथाओं में महादान की पारमिताओं अर्थात् पूर्णताओं का निर्देश है जिनकी प्राप्ति पर ही बोधिसत्व की पदवी निर्भर रहती है। इनमें सबसे महनीय है प्रज्ञापारमिता, जिसकी प्राप्ति होने पर ही बोधिसत्व का स्वरूप निष्पन्न होता है। इस कल्पलता में १०८ पल्लव (कथाएँ) हैं, जिनमें अन्तिम पल्लव का निर्माण, पिता की मृत्यु हो जाने पर, क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने मंगलमयी पूर्ति की दृष्टि से की।

सोमेन्द्रकृत भूमिका से भी अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगता है। 'रामयश' नामक किसी प्रेमी बन्धु तथा 'नक्क' नामक किसी काश्मीरी बौद्ध भिक्षु के आग्रह से इसकी रचना आरम्भ की गई। परन्तु ग्रंथ की विशालता को लक्ष्यकर क्षेमेन्द्र ने तीन पल्लवों में ग्रंथ समाप्त कर दिया। तदनन्तर स्वप्न में सुगत ने स्वयं कवि को लिखने का आदेश दिया। पूरे ग्रंथ की रचना इसी सौगत आदेश का परिणत फल है। सोमेन्द्र की भूमिका से पता चलता है कि कल्पलता की रचना अनन्त के राज्यकाल में सम्पन्न हुई थी।

अपनी रचना के डेढ सौ वर्षों के भीतर ही इसे तिब्बती भाषा में अनूदित होने का गौरव प्राप्त हुआ। एक वैष्णव कवि की कृति होने पर भी बौद्ध समाज में इतना आदर पाना क्षेमेन्द्र की धार्मिक उदारता, विशाल हृदयता तथा सुन्दर काव्यशैली का पर्याप्त द्योतक है। १२०२ ईस्वी में तिब्बत के एक मान्य पण्डित कुन्दगह र्ग्याल म्तशन की काश्मीर-यात्रा में काश्मीरी विद्वान् शाक्य श्री पण्डित ने इस ग्रन्थ को उपहार में दिया और लगभग ७० वर्षों के अनन्तर भारतीय पण्डित महाकवि लक्ष्मीकर की सहायता से तिब्बत के विख्यात विद्वान् 'सोन्तोन् लोचावे' ने कुब्ला खाँ के धार्मिक गुरु 'फग्स पा' की आज्ञा से इसका पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। सोन्तोन् की शैली इतनी सुन्दर तथा रोचक बताई जाती है कि कल्पलता का यह अनुवाद तिब्बती भाषा का एक नितान्त श्लाघनीय, अनुकरणीय और उदात्त काव्य माना जाता है।

क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र को कतिपय विद्वान् कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं, परन्तु इस कथन में तनिक भी सार नहीं

है। यदि इस मान्यता के लिए कोई आधार होता, तो पिता के द्वारा किये गये प्रौढ अनुवाद के रहते पुत्र को उसी ग्रन्थ का अनुवाद करने की आवश्यकता ही क्यों होती? दूसरी बात यह है कि सोमेन्द्र द्वारा रचित 'जीमूतवाहन' का अवदान सरित्सागर के तद्विषयक आख्यान से, शैली तथा घटनाचक्र की दृष्टि से, एकदम पृथक् है। कल्पलता की शैली नितान्त स्निग्ध, रस-पेशल तथा हृदयावर्जक है। इसीलिए सोमेन्द्र ने इस ग्रन्थ की तुलना उस अविनश्वर 'विहार' से की है, जो अपने वर्णमय विग्रह के द्वारा श्रद्धालु बौद्धों तथा काव्यप्रेमी सहृदयों का सर्वदा अनुरञ्जन करता रहेगा:—

> "संसक्तनेत्रामृतचित्रचिन्ताः कालेन ते ते विगता विहाराः।
> सरस्वतीतूलिकया विचित्रवर्णक्रमैरुल्लिखितावदानः॥
> तातेन योऽयं विहितो महार्थैः सचन्दनः पुण्यमयो विहारः।
> न तस्य नाशोऽस्ति युगक्षयेऽपि जनानलोल्लासपरिप्लवेन॥"

क्षेमेन्द्र ने एक नवीन प्रकार के आख्यानों का निर्माण किया है, जिसमें हास्य के व्याज से शोभन उपदेश प्रदान किया गया है। ये हास्योपदेशक कथाएँ अँगरेजी के 'सेटायर' के समकक्ष हैं। संस्कृत में ऐसी मञ्जुल रचनाएँ नितान्त विरल हैं। 'देशोपदेश' तथा 'नर्ममाला' ऐसी कथाओं से परिपूर्ण है। क्षेमेन्द्र का बहुत ही उदात्त उद्देश्य है—तत्कालीन राजनैतिक बुराइयों, सामाजिक दोषों और कमजोरियों को दिखला कर उनका निराकरण करना। कवि कहता है कि हास्य के द्वारा प्रदर्शित युक्ति श्रोताओं के हृदय पर गहरी चोट करती है, श्रोताओं के मर्मस्थान को विद्ध कर उन्हें दोषमुक्त होने की प्रेरणा देती है। क्षेमेन्द्र ने इन कथाओं में अपनी प्रतिभा के बल पर रोचकता तथा सजीवता भर दी है, जिससे इनके पात्र हमारे मानसपटल पर सदा के लिए अंकित हो उठते हैं। 'देशोपदेश' में चित्रित उस गौड छात्र को हम कभी नहीं भूल सकते जो काश्मीर में विद्याध्ययन के लिए आता है, परन्तु बिना लिपि जाने ही अहंकार से स्तब्ध वह छात्र भाष्य तथा प्रभाकरमीमांसा पढ़ने लगता है। दम्भी वह इतना भारी है कि सड़क पर अपने को सबके स्पर्श से बचाता है, और अपनी चादर बगल में इस तरह दबाये रहता है कि जान पड़ता है दम्भ के बोझ से दबे रहने के कारण वह अपने पार्श्व को सिकोड़ कर रास्ते में चलता है:—

> "स्पर्शं परिहरन् याति गौडः कक्षाकृताञ्चलः।
> कुञ्चितेनैव पार्श्वेन दम्भभारभरादिव॥"

इसी प्रकार 'नर्ममाला' में राज्य के अधिकारियों, जैसे कायस्थ, नियोगी, चाक्रिक आदि पर ऐसी मीठी चुटकियाँ ली गई हैं कि देखते ही बनता है।

तात्पर्य यह है कि क्षेमेन्द्र कथा लिखने की कला में नितान्त दक्ष हैं। कथा में वह केवल घटनाओं के विन्यास को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देते। इसीलिए कथासरित्सागर से तुलना करने पर उनकी बृहत्कथामंजरी अवश्य ही निरी घटनाओं के उल्लेख में अपूर्ण प्रतीत हो सकती है। परन्तु क्षेमेन्द्र की प्रतिभा का क्षेत्र दूसरा है। उनमें कलापक्ष की इतनी प्रधानता है कि वे अपने आख्यानों के वर्ण्य पदार्थों पर टिकते हैं, उन्हें भव्य वर्णनों से सजाते हैं तथा पाठकों के हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव डालते हैं। क्षेमेन्द्र की कथाएँ वृत्तप्रधान न होकर चरित्रप्रधान हैं। रसपेशल वर्णन का रसिक कवि हृदयग्राही अवसरों को हाथ से जाने नहीं देता, प्रत्युत वह उसे अपने काव्य कौशल से एक चिरन्तन सुन्दर वस्तु बना देता है। तीनों मञ्जरियाँ तथा अवदानकल्पलता इसके उज्ज्वल प्रमाण हैं। 'हास्यकथा' के तो क्षेमेन्द्र अधीश्वर हैं। आलोचक इनके वर्णन और चरित्र चित्रण पर रीझ जाता है।

हास्यकथा का ऐसा सिद्धहस्त लेखक संस्कृत में दूसरा नहीं है, यह निःसन्देह कह सकते हैं। क्षेमेन्द्र की सिद्ध लेखनी पाठकों पर चोट करना जानती है, परन्तु उसकी चोट मीठी होती है। हास्य का आघात बड़ा सधा हुआ होता है, परन्तु इतनी सुन्दरता से होता है कि समाज का नग्न चित्र हमारे सामने खुलकर खड़ा हो जाता है। क्षेमेन्द्र विदग्धों के ही कवि न होकर साधारण जनता के भी कवि हैं। उनकी रचना का उद्देश्य ही मनोरञ्जन के साथ जनता का सुधार चरित्र-निर्माण है और कवि वे अवश्य ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति में पूर्णतः सफल हैं।

कविराज घोयी

कौन ऐसा संस्कृतज्ञ होगा जिसने कालिदास के मेघदूत का नाम न सुना हो। शब्दों की सुन्दर योजना अर्थों की मनोरम कल्पना तथा मानवीय भावों का सरस चित्रण—इन सब दृष्टियों से महाकवि कालिदास की अमर कृतियों में यह खण्डकाव्य अत्यन्त मधुर तथा रमणीय समझा जाता है। प्राचीन काल में इस काव्य की बड़ी प्रसिद्धि थी। बहुत से लोग संस्कृत साहित्य भर में इसे ही अपनी रुचि के अनुसार प्रधान स्थान दिया करते हैं, जैसा 'मेघे माघे गतं वयः' इस प्रसिद्ध आलोचनात्मक वाक्य से स्पष्टतया ज्ञात होता है। कालिदास के अनन्तर होनेवाले कवियों को यह काव्य इतना भाया, इसने उनके हृदय में ऐसा घर कर लिया कि उसके विषय तथा शैली का अनुसरण अनेक प्रसिद्ध परवर्ती कवियों ने किया। इन काव्यों को दूतकाव्य अथवा संदेश काव्य' नाम दिया गया है, क्योंकि कालिदास की इस अमर कृति के अनुरूप इन कवियों ने इन काव्यों में वायु हंस, चातक कोयल आदि निर्जीव तथा सजीव वस्तुओं के द्वारा किसी प्रियतम के पास संदेशा भेजवाया है। संदेशा भेजवाने के कारण इस काव्य प्रकार का नाम 'सन्देश काव्य' पड़ गया। संस्कृत साहित्य का यह काव्यसमूह अपना एक विशेष आदरणीय स्थान रखता है। इस 'सन्देश काव्य' में, जहाँ तक इतिहास से अब तक पता चलता है, सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान 'पवनदूत' को दिया जाता है। आज हम इस सुन्दर 'पवनदूत' तथा इसके रचयिता कविराज धोयी के विषय में संक्षेप में कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

सबसे पहले महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की रिपोर्ट की पहली जिल्द में 'पवनदूत' की स्थिति के विषय में सूचना दी। अनंतर १९०५ में श्रीमनोमोहन चक्रवर्ती ने बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में 'पवनदूत' का सर्वप्रथम संस्करण निकाला। परन्तु केवल एक ही हस्तलिखित प्रति के आधार होने से इस संस्करण में बहुत कुछ संदिग्ध अंश विद्यमान थे जिनके संशोधन का उपाय न होने से ये अगत्या स्वीकृत कर लिए गए थे। हाल में ही कलकत्ते की संस्कृत साहित्य परिषद् ने इस खण्ड काव्य का एक शुद्ध तथा सुन्दर संस्करण निकाल कर संस्कृत साहित्य के प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह संस्करण तैयार किया गया है, अतएव पहले संस्करण की अपेक्षा यह संस्करण अनेक अंशों में विशुद्ध तथा उपादेय है। मनोमोहन चक्रवर्ती के संस्करण का, सोसायटी की पत्रिका में

प्रकाशित होने के कारण, सुलभ प्रचार नहीं था। केवल जानकारों को छोड़कर सर्वसाधारण को इसे देखने का अवसर बहुत ही कम प्राप्त था। इस अभाव की पूर्ति कर संस्कृत-परिषद् ने काव्य प्रेमियों पर भारी अनुग्रह किया है और उसके लिये वह हमारे सादर धन्यवाद का पात्र है। इसी परिषद् वाले संस्करण से इस लेख में आगे चलकर श्लोक उद्धृत किए जायेंगे तथा यथावकाश इसी संस्करण का स्थान स्थान पर निर्देश मिलेगा।

रचयिता का समय

'पवनदूत' के रचयिता का नाम सूक्ति ग्रंथों तथा इस काव्य की प्रतियों में भिन्न भिन्न रूपों में उपलब्ध होता है। कहीं उनका नाम 'धूयी' है तो कहीं 'धोयी'। कहीं 'धोई' पाया जाता है तो कहीं 'धोयीक'। इन सब में इन्हीं के समसामयिक महाकवि जयदेव के गीतगोविंद के अनुसार 'धोयी' नाम ही प्रायः चुन लिया गया है और इसी नाम से इस कवि की प्रसिद्धि भी है। अन्य नाम इसी के संस्कृत अथवा विकृत रूप माने जा सकते हैं। इस महाकवि के समय का निरूपण आभ्यंतर तथा बाह्य साधनों की सहायता से बड़ी सरलता के साथ किया जा सकता है। आंतरिक साधनों से निश्चित किए गए सिद्धान्त की ही, बाह्य सामग्री की सहायता से, यथेष्ट पुष्टि होती है। दोनों में किसी प्रकार की विषमता लक्षित नहीं होती।

'पवनदूत' के अन्त के श्लोकों में कवि ने अपना कुछ व्यक्तिगत परिचय दिया है। कवि अपने विषय में कहता है—

> दंतिव्यूहं कनकलतिकां चामरं हैमदण्डं
> यो गौडेंद्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती।
> श्रीधोयीकः सकलरसिकप्रीतिहेतोर्मनस्वी
> काव्यं सारस्वतमिव महामंत्रमेतज्जगाद॥

—पवनदूत, श्लो० १०१

इस पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि धोयी कवियों में चक्रवर्ती के समान उन्नत स्थान रखते थे तथा गौड देश (बंगाल) के किसी राजा से इन्होंने अनेक हाथी, चामर आदि बहुमूल्य वस्तुएँ पारितोषिक के रूप में पाई थीं। इस 'गौडेंद्र' का वर्णन तथा नामनिर्देश भी इस काव्य के आरम्भ में ही किया गया है। पवनदूत के दूसरे श्लोक में 'क्षोणिपाल लक्ष्मण' का नाम दिया गया है, जिससे स्पष्ट विदित होता है कि धोयी कवि बंगाल के विद्याप्रेमी अन्तिम नरेश श्रीलक्ष्मण सेन के आश्रय में थे।

इसी सिद्धांत की पुष्टि बाह्य परीक्षा से भी उचित मात्रा में की जा सकती है। लक्ष्मण सेन की सभा में पाच प्रसिद्ध पंडित थे जो उसकी समिति के पंचरत्न थे। इनके नाम ये हैं—

> गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः ।
> कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ॥

इस पद्य में 'कविराज' से अभिप्राय हमारे चरितनायक धोयी से ही है। पवनदूत की पुष्पिका—श्रीधोयीकविराजविरचितं पवनदूताख्यं काव्यं समाप्तम्— में कविने अपनेको 'कविराज' कहा है। ऊपर उद्धृत श्लोक के 'कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती' के द्वारा भी इसी नाम की ओर निस्सदिग्ध संकेत है। धोयी के समसामयिक जयदेव ने अपने गीतगोविंद में श्रुतिधर धोयी को 'कविक्ष्मापतिः' लिखा है जिसमें इनकी 'कविराज' उपाधि की सूचना स्पष्टाक्षरों में उपलब्ध होती है। सारांश यह है कि जयदेव के उल्लेख तथा ऊपरवाले श्लोक के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये लक्ष्मण सेन की समिति के पंचरत्नों में से एक उज्ज्वल रत्न थे। लक्ष्मण सेन का राज्यकाल बारहवीं सदी का अन्तिम भाग है। अतः धोयी कवि का काल द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध है, यह निश्चित सिद्धांत समझा जाना चाहिये। जान पड़ता है कि धोयी की कीर्ति शीघ्र ही चारों ओर व्याप्त हो गई थी, क्योंकि ११२७ शक संवत् (१२०५ ईस्वी) में लिखे गए 'सदुक्तिकर्णामृत' नामक प्रसिद्ध सूक्ति ग्रन्थ में इनके बहुत से सुन्दर पद्य उद्धृत किए गए हैं। अत इससे भी पूर्व सिद्धांत की ही पुष्टि होती है। सारांश यह है कि कविराज[1] धोयी बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन की सभा के पंडित थे और बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में विद्यमान थे।

---

१ 'राघवपाण्डवीय' नामक काव्य के रचयिता का भी नाम 'कविराज' था। इनका हमारे चरितनायक के कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति थे, विभिन्न प्रांतों में दूसरे राजाओंको संरक्षकता में रहनेवाले हैं। राघवपाण्डवीय के कर्ता दक्षिण के कादम्ब वंशी नरेश कामदेव की सभा में थे। ग्रंथ (११२) में कवि ने अपने आश्रयदाता राजा कामदेव की प्रशंसा की है तथा पुष्पिका में अपने ग्रंथ को राजा के द्वारा प्रोत्साहित किए जाने पर लिखे जाने की बात कही है। डाक्टर फ्लीट के कथनानुसार राजा कामदेव १२ वीं शताब्दी के अंतिम भाग तथा १३ वीं के आरम में विद्यमान थे। अतः राघवपाण्डवीय भी लगभग १२०० ईस्वी के आसपास लिखा गया था। डाक्टर मैक्डानल ने लिखा है (देखिये History of Sanskrit Litertuure पृ० ३३१) कि कविराज ने ८०० ईस्वी में अपना राघवपाण्डवीय बनाया। यह नितांत अशुद्ध है। अतः

धोयी की समग्र रचनाओं का पता नहीं चलता। 'पवनदूत' ही उनकी अमर कीर्ति का एकमात्र स्तंभ है। कवि ने इस काव्य को अपनी वृद्धावस्था में लिखा था, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि ग्रंथ के अंतिम श्लोक[1] में कवि ने ब्रह्माभ्यास में दिन बिताने की अपनी उत्कट अभिलाषा प्रकट की है। 'वाक्संदर्भाः कतिचिद्-मृतस्यन्दिनो निर्मिताश्च' इससे अन्य सरस रचना की ओर कवि का संकेत जान पड़ता है। परन्तु अभी तक पवनदूत को छोड़कर धोयी का कोई अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है। केवल पीछे के सूक्ति ग्रंथों में इनकी अनेक सूक्तियाँ संरक्षित हैं। ये किसी काव्य-ग्रंथ से चुनी गई हैं, परन्तु इस विषय में सिद्धांत रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

समसामयिक कवि और पंडित

जिस समय में धोयी ने अपना काव्य बनाया, वह काल संस्कृत साहित्य के लिये—विशेषतः बंगाल में संस्कृत साहित्य के लिये—अत्यन्त महत्व का था। राजा लक्ष्मण सेन उस समय राज कर रहे थे। सेनवंशी राजाओं में ऐसा विद्याप्रेमी नरेश शायद ही कोई हुआ था। राजा स्वयं सरस्वती के उपासक थे। इनके अनेक सूक्तियाँ 'सदुक्तिकर्णामृत' में संगृहीत की गई हैं। इनकी सभा में पंडितों तथा कवियों का खासा जमघट था। इनकी समिति के पंच-रत्नों का नाम ऊपर दिया गया है। जयदेव ने भी अपने गीत गोविंद[2] में इन पाँचों कवियों के नाम तथा उनके काव्य की विशेषताओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। इनमें उमापतिधर[3] उतने प्रसिद्ध नहीं हैं, जितने वे होने चाहिये। इनके बहुत से श्लोक

राघवपाण्डवीय वाले कविराज पवनदूत के कर्ता कविराज धोयी से भिन्न तथा कुछ पीछे के ठहरते हैं।

१. कीर्तिर्लब्धा सदसि विदुषा शीतलक्षौणिपाला
वाक्संदर्भाः कतिचिदमृतस्यन्दिनो निर्मिताश्च।
तीरे संप्रत्यमरसरितः क्वापि शैलोपकण्ठे
ब्रह्माभ्यासे प्रयतमनसा नेतुमीहे दिनानि॥

—पवनदूत, १०४

२. वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः संदर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरुहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कवित्मापतिः॥

—गीतगो० १. ४.

३. पारिजातहरण' के रचयिता उमापति कवि मैथिल थे तथा १४ वीं शताब्दी

सदुक्तिकर्णामृत' में चुनकर रखे गए हैं जिनसे काव्य को पल्लवित करने की इनकी कला का पूरा आभास मिलता है। कहा जाता है कि इन्होंने 'चन्द्रचूडचरित' नामक काव्य लिखा था जिसके पुरस्कार में चाणक्यचन्द्र नामक राजा ने सैकड़ों गाँव तथा लाखों रुपये दे दिए थे। एक श्लोक[1] में ग्रन्थ का नाम-निर्देश मिला है परन्तु ग्रन्थकार का नाम न होने से इसके विषय में ठीक नहीं कहा जा सकता। उमापतिधर की केवल उपलब्ध रचना विजयसेन राजा का देवपारावाला शिलालेख है। इसमें विजयसेन की प्रशस्त प्रशस्ति है। जयदेव के अलौकिक गीतिकाव्य को कौन नहीं जानता? वह तो संस्कृत भाषा की मधुरिमा का चूडान्त निदर्शन है—संस्कृत साहित्य का एक चमकीला स्वर्गीय हीरा है। शरण ने कविता लिखने के अतिरिक्त व्याकरण का अनुपम ग्रन्थ बनाया है जिनमें समस्त अपाणिनीय प्रयोग की सिद्धि पाणिनीय सूत्रों से ही यथाविधि की गई है। इस ग्रन्थ का नाम दुर्घट वृत्ति है। आचार्य गोवर्धन की सरस शृङ्गारमयी कविता की उत्कृष्ट नमूना उनकी आर्यासप्तशती है जिसमें सात सौ आर्याओं में भिन्न भिन्न विषयों पर मनोहर कविता की गई है। कवि उमापति धोयी तो इस परिचय के नायक ही हैं। जयदेव ने इन्हें श्रुतिधर कहा है जिससे इनकी अलौकिक स्मरण-शक्ति का आभास मिलता है।

जयदेव के पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या करते समय राणा कुंभ ने श्रुतिधर को एक नवीन कवि बतलाया है[2]। परन्तु यह बात ठीक नहीं जचती। जयदेव ने धोयी कविराज के लिये श्रुतिधर शब्द का प्रयोग किया है। शङ्कर मिश्र ने गीतगोविंद की अपनी रसमञ्जरी नामक टीका में पूर्वोक्त पद्य की व्याख्या करते समय धोयी के लिये ही श्रुतिधर शब्द के प्रयुक्त होने की बात लिखी है। सदुक्तिकर्णामृत में धोयी कवि का दतिव्यूह कनकलतिका वाला श्लोक उद्धृत किया

के रहनेवाले थे। उमापतिधर से वे सर्वदा भिन्न थे। देखिए पारिजातहरण पर मेरा लेख माधुरी पूर्ण संख्या २४।

१ चिप्यन्ते सति चन्द्रचूडचरिते तत्तन्नृपप्रक्रिया
जातं सार्वभरातिराजकशिरोरत्नाजनीशं प्रथम्।
तत्स्वर्णशतानि विंशति शत रूप्यस्य लक्षत्रय
ग्रामाणां शतमत्र तत्र कवये चाणक्यचन्द्रो ददौ॥

२ इति पट पण्डितास्तस्य राज्ञो लक्ष्मणसेनस्य प्रसिद्धा इति हृदि। श्रुतिधरनामा कविर्विश्रुतो विख्यात स तु तस्य गुणैरेव प्रसिद्धि।

धोयीनामा कविराज श्रुतिधर श्रुति श्रवण तन्मात्रादेव ग्रन्थग्राही।

—गी० गो० पृ० ९।

गया है जिसका उत्तरार्द्ध पवनदूत में दिए गए पाठ से सर्वथा भिन्न है। पद्य का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

> ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी-
> विद्याभर्त्तः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्।

इस पद्यांश में कवि ने अपनी ओर संकेत करते हुए अपने को श्रुतिधर होने से ख्याति प्राप्त करनेवाला कहा है। इसे जयदेव के 'श्रुतिधर' शब्द की मानो व्याख्या ही समझना चाहिए। सारांश यह है कि 'श्रुतिधर' को धोयी का ही विशेषण समझना चाहिए। केवल राणा कुंभ के कथन पर लक्ष्मण सेन की सभा में एक नवीन कवि की कल्पना करना, कम-से कम अब उपलब्ध साधनों के आधार पर, सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है।[1]

इस कविपंचक के अतिरिक्त ईशान, पशुपति तथा हलायुध—इन तीनों प्रसिद्ध भाइयों ने लक्ष्मणसेन की सभा की शोभा बढ़ाई थी। इन लोगों ने कर्मकाण्ड विषयक ग्रन्थों की रचना की है। इनकी रचनाओं को आज भी बंगाल में महत्त्व प्राप्त है तथा ये प्रामाणिक मानी जाती हैं।

पुरुषोत्तमदेव का भी यही समय है। इन्होंने पाणिनीय अष्टाध्यायी के वैदिक सूत्रों को छोड़कर अन्य सूत्रों पर एक सुन्दर वृत्ति लिखी है जो 'भाषावृत्ति' कहलाती है। यह वृत्ति भी राजा लक्ष्मण सेन की आज्ञा से ही संस्कृत व्याकरण सिखाने के लिए बनाई गई थी।[2]

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि बंगाल के सेनवंशी राजाओं में लक्ष्मण सेन का राज्यकाल संस्कृतसाहित्य के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसी काल में हमारे चरितनायक धोयी हुए थे। लक्ष्मण सेन की अभिजनभूयिष्ठा परिषद् में भी इनके सम्मानित होने से इनके गौरव तथा महत्ता का अनुमान सहज ही में किया जा सकता है।

कथा तथा महत्त्व

पवनदूत की कथा बहुत ही सीधी सादी है। लिखा है कि 'भुवनविजय' करते करते राजा लक्ष्मण सेन मलयाचल तक आ पहुंचे। वहां 'कुवलयवती' नामक गंधर्वकन्या उनके अलौकिक रूप को देखकर मुग्ध हो गई। राजा के अपने देश

---

१ 'श्रुतिधर' नाम के कवि की कुछ सूक्तियां सुभाषितावलि तथा शार्ङ्गधर-पद्धति में मिलती हैं। श्रुतधर और श्रुतिधर धोयी एक थे या भिन्न? यह ठीक नहीं कहा जा सकता।

२. वैदिकप्रयोगानर्थिनो लक्ष्मणसेनस्य राज्ञ आज्ञया प्रकृते कर्मणि प्रसजन वृत्तेर्धुतायां हेतुमाह :—भाषावृत्ति।

लौट आने पर वह बहुत दुःखित हुई और राजा के पास अपना सदेशा भेजने के लिए उसने पवन को भेजा। इसी कारण इसे 'पवनदूत' नाम दिया। पवन के जाने के लिये कुवलयवती ने मार्ग का वर्णन किया है। पाड्य (देश), उरगपुर, ताम्रपर्णी (नदी), सेतु, कांची (पुरी), सुवला (नदी) कावेरी (नदी), माल्यवान् (पर्वत), पचाप्सर (तालाब), कलिंग (देश) इन सबों को पारकर पवन को 'विजयपुर' नामक राजधानी के पास जाने के लिए कहा जाता है। अनन्तर लक्ष्मण सेन के लिये मनोरम सदेश दिया गया है। ग्रथ में सब मिलकर १०४ श्लोक हैं।

इस काव्य के भौगोलिक वर्णन के आधार पर १२ वीं सदी के भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति का पता चलता है परन्तु इस विषय में ग्रथ का विशेष महत्व नहीं है। विशेष महत्त्व इसका है लक्ष्मण सेन के 'भुवनविजय' की ऐतिहासिक घटना पर। लक्ष्मण सेन के अब तक तक उपलब्ध शिलालेखों से यह नहीं पता चलता कि इन्होंने दक्षिण देश पर विजय प्राप्त की थी। परन्तु इस काव्य से उनके दिग्विजय प्रसग में दक्षिण जाने की घटना जानी जाती है। समकालीन कवि के द्वारा वर्णन की गई इस घटना में कुछ तथ्य अवश्य होगा।

आलोचना

कालिदास के मेघदूत की भाति पवनदूत की रचना मदाक्रान्ता छद में की गई है। धोयी को कविराज की उपाधि मिली थी। इस उपाधि के औचित्य या अनौचित्य पर बिना विचार किए ही हम यह सकते हैं कि इनकी उपलब्ध रचनाओं से किसी विशेष कवि प्रतिभा की व्यजना नहीं होती। पवनदूत के श्लोकों में प्रसादगुण यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होता है। कविता सरल है—कविता का प्रवाह स्वाभाविक ढग से बह रहा है। शब्द साफ सुथरे हैं। वाक्यविन्यास मनोरम है। भाव भी यत्र तत्र सुन्दर है—नवीनता से भरे हैं। इन सब बातों पर विचार करने से यही परिणाम निकलता है कि धोयी काव्य कालिदास के मेघ के समान सर्वांग रमणीय न होने पर भी कविता के गुणों से खाली नहीं है। कुछ उदाहरणों से पवनदूत की विशेषता सहज ही में जानी जा सकेगी।

कवि कुवलयवती की विरहजन्य कृशता का वर्णन कर रहा है—

मुष्टिग्राह्यं किमपि विधिना कुर्वता मध्यमागं
मन्ये बाला कुसुमधनुषो निर्मिता कार्मुकाय।
राजन्नुच्चैर्विरहजनितक्षामभावं वहन्ती
जाता संप्रत्यहह सुतनु सा च मौर्वीलतेव॥ —९६

भावार्थ—हे राजन, ब्रह्मा ने तो स्वय उसकी कमर को बहुत पतली बनाया है। उसका मध्यभाग इतना पतला है कि मुट्ठी में पकड़ा जा सकता है—यह

सुश्मिेय है। जान पड़ता है कि पुष्पधन्वा कामदेव के धनुष के लिए यह नायिका बनाई गई थी, परन्तु आज वह विरह-दुःख के कारण बहुत ही कृश हो गई है—इतनी पतली हो गई है कि अब धनुष के अनुरूप न रह गई। हां, उसकी डोरी का कुछ-कुछ काम कर सकती है।

वियोग वर्णन का एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

सारंगाक्ष्या जनयति न यद् भस्मसादङ्गकानि
त्वद्विश्लेषे स्मरहुतवहः श्वाससंधुक्षितोऽपि।
जाने तस्याः स खलु नयनद्रोणिधारां प्रभावो
यद्वा शश्वन्नृप तव मनोवर्तिनः शीतलस्य॥ —७५

भावार्थ—हे राजन्, तुम्हारे वियोग में कामरूपी अग्नि श्वास के पवन से संधुक्षित होने पर भी—साँस की हवा से धौंके जाने पर भी—उस मृगनयनी के कोमल अंगों को जलाकर राख नहीं बना रहा है। इसमें केवल दो ही कारण दिखाई पड़ते हैं। वह लगातार रो रही है। उसके आंखों से अनवरत आसू की धारा बह रही है। उसकी आखें भी बड़ी सुन्दर द्रोणि (पानी उलीचने के लिये पात्र-विशेष) की भांति हैं। बस, लगातार आखों की इस अश्रुधारा के कारण ही उसका शरीर जलता नहीं[1]। अथवा तुम्हारी ही शीतल मूर्ति उसके हृदय में बैठी हुई है। काम कितना भी जलाना चाहे वह जला नहीं सकता। उसके हृदय में वास करनेवाली तुम्हारी मूर्ति सदा उसे शीतल बनाए हुए हैं। इन्हीं कारणों से वह अब तक बची चली आ रही है। इस श्लोक में वियोगावस्था की ज्वाला तथा अश्रु के अनवरत प्रवाह की बहुत ही अच्छी व्यंजना की गई है। कवि ने एक साधारण बात को विलक्षण ढग से लिखा है।

धोयी और कालिदास

पवनदूत में मेघदूत की समानार्थक अनेक उक्तियाँ मिलती हैं—बहुत से श्लोकों में भाव साम्य मिलता है। मेघदूत में कविकुलगुरू कालिदास की लोकोत्तरशायिनी प्रतिभा का सुन्दर विकास मिलता है। इतने सुन्दर और कोमल भाव हैं कि उसी विषय पर लिखनेवाले परवर्ती कवियों के काव्यों पर उनका प्रभाव बिना पड़े रही नहीं सकता। हुआ भी है बहुत कुछ ऐसा ही। धोयी के ऊपर कालिदास का खूब प्रभाव पड़ा था। पवनदूत को सरसरी तौर

---

१. धोयी का इसी भाव से मिलता जुलता एक अन्य पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' में दिया गया है—

दरविगलितदूर्वादुर्बलान्यङ्गकानि ग्लपयति यदस्याः श्वासजन्मा हुताशः।
स खलु सुभग मन्ये लोचनद्वन्द्ववारामविरतपटुधारावाहिनीनां प्रभावः॥

पर पढ़नेवाले पाठकों के भी यह बात ध्यान में आए बिना नहीं रह सकती। मेघदूत के मनोहर भावों तक ही यह समानता परिमित नहीं है बल्कि शब्दों तक भी पहुंची हुई है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्टतः दिखाई जा सकती है—

(१) हित्वा काञ्चीमविनयवती मुकरोधोनिकुञ्जाम्।

—प० दू० १५

स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधू मुक्तकुंजे मुहूर्तम्।

—मे० दू० १।१९

(२) संसर्पन्तीं प्रकृतिकुटिलां दर्शितावर्तचक्राम्।

—प० दू० ३४

संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।

—मे० दू० १।२९

(३) आसायातः कमपि समयं सौम्य वक्तुं विविक्ते,
देयं नीचैर्विनयचतुरः कामिनं प्रक्रमेथाः।

—प० दू० ६१

विद्युद्गर्भे-स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरस्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः।

—मे० दू० २।३७

कविराज धोयी के काव्य का यही संक्षिप्त परिचय है। इस संक्षिप्त वर्णन से ही पाठक धोयी की मनोरम काव्य कला का परिचय पा चुके होंगे। अन्त में इस सरल दूत-काव्य के सर्वत्र प्रचार तथा मंगलमय दीर्घ जीवन के लिये धोयी के ही शब्दों में आशा रखते हुए हम कह सकते हैं—

यावच्छम्भुर्वहति गिरजासंविभक्तं शरीरं
यावज्जैत्रं कलयति धनुः कौसुमं पुष्पकेतुः।
यावद्राधारमणतरुणीकेलिसाक्षी कदंब-
स्तावज्जीयात् कविनरपतेरेष वाचां विलासः॥



वेङ्कटाध्वरि

हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार करने तथा बुद्ध-धर्म के टिमटिमाते दीपक को सदा के लिये बुझाने में दक्षिण भारत ने जो प्रशंसनीय कार्य किया है वह हिन्दूधर्म के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इस प्रांत के विद्वान् और धार्मिक सुधारकों ने हिन्दू धर्म को नया रूप प्रदान किया है। यह प्रदेश अति प्राचीन काल से संस्कृत विद्या की उर्वरा भूमि था; दर्शन, साहित्य तथा व्याकरण के पुनरुद्धार में इस प्रदेश ने जो अनुपम कार्य किया है वह धार्मिक सुधारों की अपेक्षा कम महत्व का नहीं है। इसी प्रदेश को शंकराचार्य, रामानुज आदि प्रसिद्ध सुधारकों ने जन्म लेकर पवित्र किया, इसी प्रदेश में अप्पय दीक्षित, नीलकंठ दीक्षित, रामभद्र दीक्षित आदि प्रचण्ड विद्वान् कवि उत्पन्न हुए जिन्होंने अपनी अपूर्व, मौलिक कृतियों से संस्कृतसाहित्य के रत्नाकर को रत्नपूर्ण किया। सच पूछिये तो अलंकार शास्त्रका प्राणमय प्रदेश काश्मीर तथा दक्षिण भारत ही है। संस्कृत भाषा के प्रायः प्रथम श्रेणी के कितने ही कवियों ने इस प्रदेश को सुशोभित किया था। यहीं के एक विशिष्ट कवि की चर्चा यहाँ प्रस्तुत है।

परिचय तथा समय

इनका नाम वेंकटाध्वरि था। सौभाग्यवश इनके ग्रन्थों में जन्मस्थान माता-पिता आदि का नाम निर्देश पाया जाता है। आपके पितामह का नाम अप्पय गुरु था तथा पिता का रघुनाथ दीक्षित। पाठकों ने कुवलयानन्द चित्रमीमांसा आदि अलंकार ग्रन्थों के तथा सिद्धान्त तत्त्वलेश आदि अनुपम उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता श्री अप्पय दीक्षित का नाम सुना होगा। वेंकटाध्वरि के पितामह अप्पय गुरु इन प्रसिद्ध अप्पय दीक्षित से सर्वथा भिन्न थे। अप्पय दीक्षित अद्वैत मत के बड़े आचार्य, शिव के परम भक्त तथा वैष्णवमत के खण्डन करनेवाले थे। सुना जाता है कि व्येङ्कटपति नामक किसी राजा की सभा में अप्पय दीक्षित ने 'ताताचार्य' नामक विद्वान के मत का सविस्तर खण्डन किया था। उसी दिन से ताताचार्य के साथ इनकी शत्रुता हो गई। एक बार अप्पय दीक्षित किसी जंगल से होकर कहीं जा रहे थे। ताताचार्य ने अपने वैर के प्रतिकार के लिये इस अनुपम अवसर को हाथ से जाने नहीं दिया। झट दीक्षितजी के प्राणों का संहार करने के लिये कई चाण्डालों को भेजा। चाण्डालों ने दीक्षितजी का पीछा किया। पर अपने भक्तपर इस कठिन विपत्ति को आई

देख आशुतोष शंकर ने झट एक भयंकर वीर पुरुष का रूप ग्रहण कर लिया। चाण्डाल भय से भाग गये और दीक्षित के प्राण बचे। यह ताताचार्य एक असाधारण विद्वान् थे, कर्नाटक के राजा कृष्णराय के गुरु थे, सुना जाता है कि 'सात्विक ब्रह्म विद्या विलास' नामक वेदान्त ग्रन्थ की रचना आपने की है। अप्पय गुरु इन्हीं ताताचार्य के भागिनेय—भानजा—थे। यह बात विश्वगुणादर्श चम्पू के आदि में हमारे कविवर ने स्वयं लिखी है :—

काञ्चीमण्डल मण्डनस्य मखिनः कर्णाटभूभृद्गुरोः
तातार्यस्य दिगन्तकान्तयशसो यं भागिनेयं विदुः।
अस्तीकाध्वरकृत्सुरप्पय गुरोरस्यैव विद्वन्मणेः,
पुत्रः श्री रघुनाथ दीक्षितकविः पूर्णो गुणैरेधते॥
तत्सुतस्तर्कवेदान्ततंत्रव्याकृतिचिन्तकः
व्यक्तं विश्वगुणादर्शं विधत्ते वेङ्कटाध्वरिः।

साराश यह है कि अप्पय गुरु काञ्ची प्रान्त के अलंकारभूत अनेक यज्ञकर्ता, कर्नाटक राजगुरु ताताचार्य के भानजे थे, उन्होंने अनेक यज्ञ किये, विद्वानों में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उनके सुपुत्र रघुनाथ दीक्षित स्वयं कवि थे। इन्हीं कविवर के पुत्र हमारे वेंकटाध्वरि थे। न्यायशास्त्र, वेदान्त, तन्त्र तथा व्याकरण में खूब जानकारी रखते थे। इससे स्पष्ट है कि हमारे वैष्णव-मतावलम्बी, रामानुज के परम भक्त अप्पयगुरु अद्वैत वादी अप्पय दीक्षित से सर्वथा भिन्न हैं। पाठकों ने जान लिया कि हमारे चरितनायक एक प्रसिद्ध विद्वान् कुल में पैदा हुए थे। विश्वगुणादर्श से मालूम होता है कि ये काञ्ची नगर में रहते थे, आपके पिता आपके ही शब्दों में 'श्लेषयमक चक्रवर्ती' थे, आपकी पूज्या माता का नाम 'सीताम्बा' था। वेदान्ताचार्य वेङ्कटनाथ आपके विद्यागुरु थे। 'लक्ष्मीसहस्र' के प्रारम्भ में कविवर ने वाल्मीकि तथा व्यास को नमस्कार करके अपने गुरुवर्य की आदरणीय शब्दों में प्रशंसा की है। आपका ठकुवकाल भी ज्ञात हो गया है। आप प्रसिद्ध कवि नीलकण्ठ दीक्षित के सहपाठी थे। दीक्षित ने अपनी प्रसिद्ध नीलकण्ठचम्पू को ४७३८ कलि वर्ष अर्थात् १६३७ ईस्वी में समाप्त किया था। अतएव हमारे चरित नायक का काल इसीके आसपास है। विश्वगुणादर्श में एक जगह हूणों के दुश्चरित्र का वर्णन है —

हूणाः करुणाहीनास्तृणवत् ब्राह्मणगणं न गणयन्ति,
तेषां दोषाः पारे वाचां ये नाचरन्ति शौचमपि।

अर्थात् निर्दयी हूणलोग ब्राह्मण को तृण के समान भी नहीं गिनते; जो शौच भी नहीं करते, भला उनके दोषों को वाणी कहां तक कह सकती है? सम्भवत: यह वर्णन समुद्र मार्ग से आनेवाले व्यापारी अंग्रेजों का है जिन्होंने १६४० ई०

में मद्रास को अपना व्यापारिक केन्द्र बनाया। अतएव विश्वगुणादर्श चम्पू की रचना इसी वर्ष के आसपास प्रतीत होती है। साराश यह है कि वेंकटाध्वरिका आविर्भावकाल १७ वीं सदी का पूर्वार्द्ध है।

धार्मिक विचार

ये कविवर रामानुज सम्प्रदाय के श्रीवैष्णव थे, उपास्य देवता लक्ष्मीजी की स्तुति में आपने **'लक्ष्मीसहस्र'** नामक उत्कृष्ट काव्यग्रन्थ की सृष्टि की है। कहा जाता है कि **'विश्वगुणादर्श'** चम्पू में आपने प्रत्येक वस्तु की स्तुति और निन्दा की हैं। अत किसी देवता के कोप से आप अन्धे हो गये, तब आपने आराध्य देवी लक्ष्मी की स्तुति, केवल एक रात में लक्ष्मीसहस्र को बनाकर की। भगवती के प्रसन्न होने पर आपको फिर दृष्टि मिल गई। विश्वगुणादर्श में कवि ने रामानुज तथा उनके सम्प्रदाय से सम्बद्ध पवित्र तीर्थों का सविस्तार वर्णन किया है। यह इनके रामानुजीय होने का पोषक प्रमाण है। लक्ष्मी में आप की प्रगाढ़ भक्ति सर्वत्र लक्षित होती है। वैष्णव होने पर भी आप संकीर्ण विचार के न थे क्योंकि आपने कहीं भी शैवों के लिये अनुचित शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। प्रत्युत आपने शिवभक्ति की खूब प्रशसा की है। आप शिवभक्ति को विष्णुभक्ति का कारण समझते थे। आपने स्पष्ट लिखा है —

> स्मरहर परिचर्या साम्प्रतं तन्यते या,
> जनयति हरिभक्तिं हन्त! जन्मान्तरे सा,
> शमितदुरितवर्गं सा च सूतेऽपवर्गं
> कुत इव फलहानिः कुर्वतां शर्वपूजाम्।

शिव की जो उपासना इस समय की जाती है, वह दूसरे जन्म में हरिभक्ति को पैदा करती है जिससे सकल पापों का नाश हो जानेपर मोक्ष मिलता है। अतएव शिव के उपासकों को भी विष्णु के भक्तों के समान ही फल मिलता है। परन्तु शिवभक्ति विष्णु की विद्वेषिणी न होनी चाहिये क्योंकि आपकी राय में "द्वेषो मुकुन्दविषयो विषयोगतुल्य" हैं। विष्णु से वैर करना विष के तुल्य सहारकारी है। इस उदारता की प्रशसा किये बिना हम नहीं रह सकते, विशेषत जब हम उस समय की याद करते हैं जिसमें वैष्णवों तथा शैवों का आपस का मनमुटाव पराकाष्ठा को पहुचा हुआ था।

ग्रन्थ

आपने साहित्य तथा दर्शन विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया है। काव्य ग्रन्थों में 'लक्ष्मीसहस्र' 'विश्वगुणादर्श चम्पू' 'हस्तिगिरि चम्पू' अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। मेरी समझ में 'लक्ष्मी सहस्र' कविराज का सर्वश्रेष्ठ स्तुत्यात्मक काव्य-

ग्रन्थ है विश्वगुणादर्श चम्पू, जैसा इसका नाम सूचित कर रहा है, संसार के गुणों को दिखला देने के अभिप्राय से गद्य पद्य में लिखा गया है। कृशानु तथा विश्वावसु नामक दो गन्धर्व इस विश्ववाटिका की सैर करने चलते हैं। कृशानु प्रत्येक वस्तु में दोषों की उद्भावना करता है परन्तु विश्वावसु उनके गुणों का वर्णन करता है। इन्हीं दोनों की बातचीत में पुस्तक समाप्त हुई है। इस चम्पू में कतिपय प्राकृतिक वर्णन दर्शनीय हैं। कृष्णवर्णा यमुना की छटा, लहराती गंगा का वर्णन, कावेरी के तटपर नारियल के वृक्षों की सुषमा आदि अत्यन्त मनोहर हैं। चम्पू के अन्त में ज्योतिषी, वैद्य, कवि, वैयाकरण, वैदिक आदि की निन्दास्तुति खूब रोचक शब्दों में की गई है।

वेङ्कटाध्वरि का विशेष गुण संस्कृत भाषा पर अगाध आधिपत्य है। इन्हें शब्दालङ्कारों में यमक चित्र और श्लेष खूब प्रिय थे, श्लेष का ऐसा उत्तम सन्निवेश शायद ही अन्यत्र मिलेगा। कल्पना की कमनीयता तथा नवीनता सर्वथा प्रशंसनीय है। इनकी कविता में क्लिष्टता विशेष रूप से पाई जाती है। लक्ष्मीसहस्र में माधुर्य तो अवश्य है पर प्रसाद गुण बहुत ही कम है। परन्तु सम्पूर्ण विश्वगुणादर्श में प्रसाद गुण पदपद में भरा है। प्राकृतिक दृश्यों का सजीव वर्णन भी यथेष्ट है, अतः यह कवि प्रथम श्रेणी के कवियों में स्थान पाने योग्य हैं।

आप के ग्रन्थों में लक्ष्मीसहस्र सब से अधिक प्रसिद्ध है। बात यह है कि इस ग्रन्थ में इनकी प्रतिभा उज्ज्वल रूप से प्रकाशित हो रही है। यह ग्रन्थ इनकी विद्वत्ता, अगाध कल्पनाशक्ति, उत्कृष्ट भाषाधिपत्य आदि सर्वश्रेष्ठ गुणों को प्रकाशित कर रहा है। अलङ्कारों की छटा जैसी इसमें है वैसी अन्यत्र दुष्प्राप्य है। हमारे कविवर श्लेष, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा का निवेश जैसा अच्छी रीति से कर सके हैं शायद ही और किसी कवि ने किया है। शब्दालङ्कारों को आप ने उत्तमरूप से दिखलाया है। यमक, अनुलोम, प्रतिलोम, सर्वतोभद्र, एकाक्षर आदि अनेक चित्रकाव्यों में कवि यथेष्ट निपुण हैं। इतना होने पर भी भाव का उत्कर्ष किसी प्रकार न्यून नहीं है। एक से एक नये चमत्कार पाठकों को आनन्द में मग्न कर देते हैं। कल्पना की नवीनता कविवर को एक महाकवि सिद्ध कर रही है। कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

> कृष्णं वेणी दृगेषा ज्ञपतनुरधरो मन्दरागं हि धत्ते
> सौन्दर्यं दोष्णि रेजे क्षितिं मुखदरिता मध्यमात्ता वलिश्रीः ।
> रामामप्यत्र तनु श्रीः नयपति पटुनादंहसोऽम्बनल्ली
> धत्ते ब्रह्माभियमधियमिव कलिद्रुपापपद्मं तव श्रीः ॥

कविवर ने कैसी युक्ति से लक्ष्मी के अंगों में दशावतारों का वर्णन किया है। आप कहते हैं कि लक्ष्मी के केश कृष्ण (काले रंगवाले तथा भगवान

श्रीकृष्ण) हैं; इनके नेत्र झषतनु (मछली) की तरह तथा मत्स्यरूप हैं; अधर अत्यन्त राग को धारण कर रहे हैं तथा मन्दराचल को भी उठाये हुए हैं; बाहु में सौकर्य—सुन्दर हाथ तथा सूकरावतार-प्रकाशित हो रहा है, मुखमण्डल में हरिता—चन्द्ररूपता तथा नृसिंह का स्वरूप चमक रही है, बलि श्री—त्रिवली शोभा तथा बलिदैत्य की राजलक्ष्मी को मध्य (मध्यम भाग कटि प्रदेश तथा वामन) ने प्राप्त कर लिया है। शरीर की शोभा रामाग्रन—रमणियों में सर्वश्रेष्ठ तथा परशुराम—हो गई है; रोमवल्ली ने यमुना का दर्प चूर्ण कर दिया —ऐसी काली है कि यमुना भी उसे देखकर लज्जित हो जाती है; रोमवल्ली स्वयं बलराम हैं जिन्होंने अपने हल से खींचकर यमुना का दर्प चूर्ण किया था। लक्ष्मी की जघा अभिराम शोभा—अत्यन्त मनोहर शोभा तथा रामचन्द्र की लक्ष्मी—को धारण कर रही है। हे भगवती! तुम्हारे पैरों की शोभा कल्किहृत है अर्थात् कलह का नाश कर देती है और स्वयं कल्किरूप है जिन्होंने कलियुग को नाश कर डाला।

लक्ष्मी का शरीर क्या है ? सम्पूर्ण दश अवतारों का एक अपूर्व सम्मेलन है। कविवर ने भगवती लक्ष्मी के अगों का वर्णन अतिशय चमत्कारपूर्ण किया है, इस सौन्दर्यस्तवक में अनेक मनोहारिणी कल्पनायें हैं जो अपनी मौलिकता तथा सुन्दरता में अद्वितीय हैं। इसी स्तवक के कतिपय पद्य पाठकों के सामने रखे जाते हैं।

> स्वरूपतस्त्वद्वदनात्मना तथा द्विधा सुधांशुर्जलधावजायत।
> तदेष राजा द्विजराज इत्यदः पदं दधावर्थवदच्युत-प्रिये॥

चन्द्रमा का पर्यायवाची शब्द द्विजराज है। इसके कारण भिन्न भिन्न कहे गये हैं। श्रुति में लिखा है—सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा अर्थात् ब्राह्मणों का राजा चन्द्रमा है। अतएव उनका नाम द्विजराज पड़ा है। परन्तु कवि की सूझ निराली होती है। हमारे कविवर कहते हैं कि इस नामकरण का कारण कुछ और ही है। वे कहते हैं कि हे लक्ष्मी, यह चन्द्रमा समुद्र के मथे जानेपर दो रूपों में पैदा हुआ—एक तो स्वयं उसके स्वरूप में जो आकाश में रात्रि में चमकता रहता है, दूसरा तुम्हारे मुखमण्डल के रूप में। इन दो रूपों में उत्पन्न होने से वह 'द्विज' कहलाता और स्वयं वह राजा नामधारी है अतएव उसकी द्विजराज संज्ञा अन्वर्थक हुई है। आशय यह है कि तुम्हारा मुख दूसरा चन्द्रमा है। इस पद्य में कविवर की सूझ कैसी अनोखी है ! चन्द्रमा के द्विजराज होने की कैसा ही अच्छा कारण खोजा गया है !

> तदवनजमहो महातपश्री कृतरुचि ते मुखजन्म लिप्समानम्।
> अपि यदि तदधः शिरस्तपस्येज्जनवदनं कमले ! मवेत्तथापि॥

हे कमले ! अन्य कवि लोग मुख की उपमा कमल से देते हैं परन्तु मेरी समझ में यह बात बड़ी अनुचित है। साधारण कमल की तो बात ही क्या, अच्छे नद में उत्पन्न कमल भी तुम्हारे मुखमण्डल की समता किसी जन्म में नहीं पा सकता। यदि खूब धूप से बढ़ी हुई शोभा रखनेवाला नद का कमल तुम्हारे मुख के रूप में जन्म धारण करने की इच्छा से नीचे सिर करके तपस्या करे—कठिन तपस्या करे तो भी वह जनवदन (साधारण मनुष्य का मुख) ही हो सकता है, उल्टे पैर तपस्या करने पर भी तुम्हारे मुख की समता नहीं पा सकता। कविवर ने बात अच्छी कही, यदि 'नदवनज' शब्द उल्टा होकर खड़ा रहे तो भी 'जनवदन' ही हो सकेगा! देखिये शब्द तथा अर्थ में कितना चमत्कार है !!

न केवलं भागनगेशकान्ते हस्तो भवु स्वर्णगतोऽधिकस्ते।
यं सम्प्रदानीकुरुते स नि स्वं सोऽपि क्षितौ स्वर्णगतोऽधिकःस्यात्॥

लक्ष्मी के हाथों की दानशक्ति का क्या ही विशद वर्णन है। कवि कहता है कि हे लक्ष्मी, तुम्हारा हाथ स्वर्णग (स्वर्ग वृक्ष) केवल कल्पवृक्ष से अधिक ही नहीं है किन्तु वह जिस दरिद्र को कुछ देता है वह दरिद्र भी स्वर्णगतोऽधिक (अर्थात् कल्पवृक्ष से अधिक) हो जाता है, तथा स्वर्ग प्राप्त करने से अधिक—अधिक सुखवाला—हो जाता है। धन्य तुम्हारे हाथों की महिमा ! जिसे वह दान दे वह मनुष्य भी कल्प वृक्ष से अधिक बन जाय ! धन्य हो देवि !

परमादिषु मातरादिमं यदिदं कोपङ्क्ताह मध्यमम्।
भ्रमरः किल पामरस्ततः स बभूव स्वयमेव मध्यमः॥

इस पद्य में लक्ष्मी के सूक्ष्मतम कटि का वर्णन श्लिष्ट शब्दों में किया गया है। कवि कहता है कि हे देवी ! तुम्हारी कमर संसार के आदिभूत—कारणभूत श्रेष्ठ परमाणुओं में भी आदिम है—परमाणुओं से भी सूक्ष्म है। कमर की सूक्ष्मता उनकी सर्वोत्तमता की कसौटी है। परमाणुओं से भी सूक्ष्म होने से कटि सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा होना ठीक ही है क्योंकि यह मध्य भाग परमादि (उत्तर में अग्रगण्य) वस्तुओं में आदिम (श्रेष्ठ) है, परन्तु कोशकार अमर की बुद्धि कहाँ, उसने ऐसे उत्तम कटिको मध्यम (नीच तथा बीच में 'मकर' से युक्त) कह डाला है। वह यही समझ रहा है कि यह मध्यम परमादि (अन्त मकार युक्त) शब्दों में आदिम ('आदि मकार' विशिष्ट) है अर्थात् ऐसे परम चरम, आदि शब्दों के अन्त में 'म' है उसी भाँति मध्यम में भी है। उन शब्दों से इनमें विशेषता यही है कि यह आदिम है अर्थात् उसके आदि में भी मकार है। ऐसी पवित्र—सर्वोत्तम कटिको मध्यम (नीच) कहने का परिणाम अमर को खूब भोगना पड़ा। उसने कटि को मध्यम कहा, फल यह हुआ कि वह स्वयं मध्यम हो गया। यहाँ

वह भ्रमर 'देवता' था—स्वर्ग में आनन्द उठाता था, कहाँ इस पाप से मध्यम—लोक में मनुष्य बन गया—वह स्वयं उत्तम था, कोषकार बन कर मनुष्य हो गया। पाप का फल उसे खूब ही मिला। ये हजरत भ्रमर चले थे दूसरे को मध्यम (मध्य में मकारवाला) कहने और स्वयं मध्यम बन गये अर्थात् 'भ्रमर' शब्द के बीच में 'मकार' हो गया। मध्यम (कटिभाग) तो मध्य में 'मकार' वाला नहीं बना (उसके बीच में तो 'ध्य' है परन्तु भ्रमर ने (कोषकार-अमरकोश के कर्ता) स्वयं मध्य में 'म' कार धारण कर लिया। इतना ही नहीं वह पामर (मनुष्य लोक में आने से देवत्व से च्युत होकर नीच) बन गया। कटि की सूक्ष्मता का वर्णन कितनी दिलमें गुदगुदी पैदा करने वाली उक्ति से किया गया है। धन्य है कवि का भाषा चातुर्य्य जिसने गागर में सागर भर देने का कौतुकपूर्ण कार्य किया है। श्लेष की ऐसी छटा कम देखने को मिलेगी।

कविवर लक्ष्मी की करधनी का वर्णन करते हैं—

रतितन्त्ररहस्यमम्ब शब्दैः रमणीयैर्विशदं प्रकाशयन्ती।
रसनैव रतिप्रियस्य नूनं, रशनासाविति लेखकप्रमादः॥

करधनी का नाम 'रशना' है परन्तु कवि कहता है कि यह लेखकों की भूल है; असली शब्द तो 'रसना' है; लेखक ने गलती से 'स' के स्थान पर 'श' लिख मारा। रसना होने का क्या कारण है? यह करधनी अपने रमणीय शब्दों से कामशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रही है, सुननेवालों के चित्त में रति पैदा कर रही है। अतएव यह कामदेव की रसना 'जीभ' है, 'रशना' नहीं। कामोद्दीपक करधनी को कामदेव की रसना कहना कितना उपयुक्त है। कवि की कल्पना ने अद्भुत सौन्दर्य पैदा कर दिया है। लेखक का प्रमाद कैसे अच्छे ढंग से सिद्ध किया गया है!

गुप्ता वनेषु विहरन्ति सुहृद्यमीनाः
कस्यापि नो कुवलयेषु दिवा प्रकाशः।
शशो बिभेति जगदम्ब! कुशेशयालिः
कर्णेजपे जयति नेत्रयुगे भवत्याः॥

नेत्रों का क्या ही श्लिष्ट रमणीय वर्णन है। हे जगदम्ब! ये तुम्हारे नेत्र कानों तक फैले हुए हैं (कर्णेजप); इनके सामने अन्य सुन्दर चीजें बिलकुल छिप गई हैं। सुन्दर रमणीय मछलियां पानी में छिपकर दिनों को बिता रही हैं। किसी भी नील कमल की दिन में चकमकाहट नहीं दिखाई देती। इन नेत्रों के सामने वे दिन में खिलते तक नहीं; कमलों की पंक्ति इन विजयी आंखों के आगे चन्द्रमा से डर

रही है। क्यों? इस भय का क्या कारण है? बात यह है कि ये नेत्र खंजन (खल) हैं जिनसे छिपकर रहना कौन नहीं चाहता।

जल के डर से मृगगण (सुन्दर भोली आँखें) वन में छिपकर विहार करते हैं। मछलियों के भय से सुन्दर हरिण (खंजरीट) गोल जल में छिपे हुए हैं। सम्पूर्ण भूमण्डल में कोई पुरुष प्रकट नहीं होता। दुष्टों के डर से प्रकट होना नहीं पसन्द करता वैसे नील कमल विकसित नहीं होते। कृपा पर सौन्दर्य भी आँखों को मानों वैसे राजा से डरती है वैसे नन्हे कमल—पक्षि राजा (चन्द्र) से डर रहे हैं। ये नेत्र वस्तुतः में खल हैं। कारण यह है कि इन कानों तक फैले नेत्रों की शोभा से कमल, मृग आदि की शोभा छीन ली गई है। कितने सुन्दर शब्दों में इस घटना का वर्णन है। सचमुच ऐसा चमत्कार कम देखने में आता है।

दुग्धाम्भोधिसुते त्वदक्षिविजितो राजाननेणो गम
स्त्यक्त्वाऽसाविति मण्डलं मुखजितो दुर्गेशमेणान्वित: ।
स त्वेकं करतः परं च शिरसा धृत्वा हृतास्यद्विषो
दुर्गेश: स्वयमीश्वरोऽप्यदमदत्यद्यापि भिक्षामहो ॥

लक्ष्मी के मुख सुख का वर्णन है। हे दुग्ध समुद्र की पुत्री, तुम्हारी आँख ने मृग को जीत लिया बिचारा मृग हारकर राजा (नृप) चन्द्रमा की शरण में गया। चन्द्रमा को भी तुम्हारे मुखने पछाड़ मारा बिचारा हारकर अपने मण्डल (बिम्ब तथा राज्य) को छोड़ बैठा मृग को साथ लिए हुए चन्द्रमा दुर्गेश (दुर्गा के स्वामी शिव तथा किसी किले के अधिपति महाराज) के पास शरण के लिये पहुंचा। शिव ने तुम्हारे नेत्र तथा मुख के शत्रुओं को आश्रय दे डाला भला तुम यह अनुचित व्यवहार कब सह सकती हो। झट उनकी भी दुरवस्था हो गई। दुर्गेश (शिव) ने एक (मृग) को हाथ में तथा दूसरे (चन्द्रमा) को सिर पर धारण किया फल यह हुआ है कि स्वयं ईश्वर होने पर भी आज तक भीख मांगा करता है। आश्रय के फल ने उल्टा उन्हें राजा से रंक बना डाला, आज तक उनकी दशा न सुधरी। वाह रे लक्ष्मी का प्रताप! जिसने शत्रुओं को आश्रय देनेवालों की ऐसी दुरवस्था कर डाली! उत्प्रेक्षा तथा श्लेष की कैसी सुन्दरता है। कवि की अनूठी सूझि देखने ही लायक है। एक साधारण बात का कवि ने कितने चमत्कारी ढंग से वर्णन किया है।

देखिये नेत्र की शोभा किन नये शब्दों में वर्णित हो गई है—

निशायामम्ब त्वन्नयनकुवलयापोदकमिनि
क्रुधा यत्रा नूनं कुवलयनिहाकारि विकचम् ।
चकोरास्तत्कोपश्चकितमनसः प्रेक्ष्य तदिदं
सुधाभास्त्वत्पादप्रणमनमितन्यन्त्यशरणा ॥

हे माता, राजा हमेशा चोर को दण्ड दिया करता है; राजा (चन्द्र) को पता लग गया कि कुवलय ने तुम्हारे नेत्रों की सुन्दरता को चुराया है। अत एव रात को अत्यन्त क्रोध से कुवलय को विकच (विकसित तथा कच-रहित, सिर को मुण्डित) करना शुरू कर दिया। चकोरों ने तुम्हारी नयन कान्ति को चुराया था। जब इन्होंने चोर की ऐसी सजा देखी तब डरे कि कहीं हम को भी यही सजा न भुगतनी पड़े। अत एव इन्होंने शरणागत होकर राजा से अपराध क्षमा करा लेना ही सब से अच्छा उपाय समझा। यह सोचकर चकोरों ने राजा (चन्द्रमा तथा नृप) के पाद ग्रहण (किरण को पीना तथा चरण में प्रणाम) किये। पाठक जानते हैं कि चकोर चन्द्रमा की किरणों को पीते हैं। इस प्रसिद्ध कवि-समय को सिद्ध करनेके लिये कवि ने कैसी युक्ति बतलाई है। क्या ही मनोहर सूक्ति है!

रामचन्द्र द्वारा अहिल्या के उद्धार का वर्णन कितने विचित्र शब्दों में किया गया है। पाठक, जरा ध्यान से पढ़िये :—

नादत्तमध्यवनि सिध्यति किंचनेति
निश्चिन्वता भगवतापि विवक्षता त्वाम्।
वैदेहि! कामपि शिलामबलां विधाय
कन्याप्रदानविधिरप्युपपादि चक्रे ॥

हे जानकी, रामचन्द्र जानते थे कि संसार में बिना दिये कुछ मिलता नहीं। उन्हें तुम्हें विवाहने की इच्छा थी। अतएव कन्या पाने के लिये कन्यादान आवश्यक है, इस सिद्धान्त को निश्चित कर किसी शिला को स्त्री (अहल्या) बनाकर इन्होंने गौतम को दान कर दिया। इस प्रकार राम ने तुम्हारे लिये कन्यादान की विधि की। देखिये, किस विचित्र ढङ्ग से बात कही गई है।

सरकारी नौकरी की सच्ची दशा का दिग्दर्शन इस पद्य में है :—

नैषां संध्याविधिरविकलो नाप्युपास्त्यापि साङ्गा,
न स्वे काले हवननियमो नापि वेदार्थचिन्ता।
न क्षुद्वेलानियतमशनं नापि निद्रावकाशो,
न द्वौ लोकावपि तनुभृतां राजसेवापराणाम् ॥

सरकारी नौकर न तो पूरी सन्ध्या करते हैं, न साङ्गोपाङ्ग विष्णु की पूजा करते हैं। ठीक समय पर न तो हवन करते हैं और न तो वेदाध्ययन करते हैं; इस प्रकार उन को परलोक बनाने वाले कोई कार्य करने का समय नहीं मिलता। इस संसार के सुखों का स्वाद भी वे नहीं ले सकते। न तो वे नियत समय से भोजन करते हैं और न ठीक समय सोते ही हैं। अतः इनके लिये न तो परलोक है न इहलोक। इस प्रकार वे दोनों का नाश करते हैं। वास्तव में यह दशा

१७ वीं सदी में थी, जब अंग्रेजी का आगमन हुआ था आज तो उससे भी बुरी हो गई है। पाठक आज कल के सरकारी नौकरों की अवस्था को खूब जानते होंगे।

कावेरी के तट पर आकाशचुम्बी लम्बे लम्बे नारियल के वृक्षों का क्या ही सुन्दर वर्णन है —

अभ्रंलिहानहह पश्य मरुद्वृधायाः,
रोधोरुह पृथुफलानिह नारिकेलान्।
आगच्छते सवितृमण्डलमाश्रिताय,
देवाय भक्तित इवात्तनवोपहारान्॥

ये नारियल के वृक्ष नहीं हैं, ये तो परम विष्णु भक्त हैं। कावेरी के किनारे ऊँचे ऊँचे नारियल के वृक्ष बड़े बड़े नारियल के फलों को धारण किये खड़े हैं। जान पड़ता है कि सूर्य—मण्डल में निवास करनेवाले भगवान् नारायण के लिये भक्ति से नये नये उपहार लेकर ये उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वाह, क्यों नहीं, पवित्र नदी के किनारे के वृक्ष भी पवित्र हुआ करते हैं।

वैयाकरणों की यह निन्दा आज भी इसी तरह सच्ची है जिस तरह तीन सौ वर्ष पहले थी। जरा पढ़िये।

सूत्रैः पाणिनिकीर्तितैर्बहुतरैः निष्पाद्य शब्दावलीं,
वैकुण्ठस्तवमक्षमा रचयितुं मिथ्याश्रमाः शाब्दिकाः।
पक्वान्नं महता श्रमेण विविधापूपाग्र्यरूपान्वितं,
मन्दाग्नीननुरुन्धते मितबलान् नो घ्रातुमप्यक्षमान्॥

वैयाकरणों का इतना कठिन परिश्रम व्यर्थ है; पाणिनि के बहुत सूत्रों से शब्दावली को सिद्ध करके भी वे विष्णु का एक स्तुति-पद्य बनाने में असमर्थ हैं। शब्दों के सिद्ध करने से क्या लाभ, जब वे उनकी योजना नहीं कर सकते। उनकी दशा ठीक उस भोजन के समान है जो अत्यन्त परिश्रम से तैयार किया गया है, जो नाना व्यञ्जनों से सुशोभित हो परन्तु ऐसे कमजोर मन्दाग्निवाले मनुष्यों को खानेके लिये दिया गया हो जो उसका गन्ध तक सूंघने में असमर्थ हों, खाने की तो बात ही न्यारी है। इस उदाहरण में कितना चमत्कार है, असमर्थता किस खूबी से दर्शायी गई है। वैयाकरणों को इससे शिक्षा लेनी चाहिए, और अपनी दशा सुधारनी चाहिए।



(२८)

संस्कृत की कवयित्रियाँ

प्रतिभा लिङ्गविशेष की अपेक्षा नहीं करती। काव्य-प्रतिभा का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहता है; स्त्री या पुरुष के विभाग से उसे कुछ काम नहीं। पुरुष यदि दावा करे कि कविता जैसी ललित कलाओं का सुन्दर अंकुर उन्हीं के हृदय में उत्पन्न होता है, और उसकी उर्वरा शक्ति से वह लहलहाने लगता है, तो वह सदा झूठा ही समझा जायगा। सच तो यह है कि कविता, संगीत, चित्रकला आदि मधुर हृदयहारी कलाओं का बीज नारियों के सहानुभूति-पूर्ण, रस-सिक्त हृदय में पुरुषों के कठोर हृदय की अपेक्षा अपने उगने के लिये अधिक सहकारी सामग्री पाता है और वहीं यह सदा हरा-भरा भी पाया जाता है। नवीन पश्चिमी संसार के उदाहरणों को छोड़ देने पर भी यदि अभिनव भरत के ही दृष्टान्तों पर दृष्टिपात किया जाय तो स्त्रियों में प्रतिभा की कमी नहीं दीख पड़ती। आज कल जब स्त्रियों में शिक्षा का बहुत ही कम प्रचार है, ऐसी दशा देखने को मिलती है, तो प्राचीन भारत में, जब शिक्षा सार्वजनिक थी, स्त्री-कवियों के अस्तित्व से हमें चकित नहीं होना चाहिए।

सर्व पुरातन ग्रन्थरत्न ऋग्वेद में ही अनेक स्त्रियों की बनाई हुई ऋचाएँ संगृहीत हैं जिनके देखने से उनके उन्नत विचारों का पता भली भाँति लगता है। कविता की दृष्टि से भी ऋचाएँ उच्च कोटि की मानी जाती हैं। इन स्त्री-कवियों की कविता का स्वाद भी आज पाठकों को न चखाया जायगा जिन्होंने सांसारिक भोग-विलास को लात मारकर बौद्ध धर्म की भिक्षुणी बन शान्ति को ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाया था तथा जिनकी कविताएँ समग्र 'थेरी गाथा' में संगृहीत हैं। आज उन्हीं स्त्री कवियों की चर्चा की जायगी, जिनका सम्बन्ध उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य से है। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इन कवियों की रचना की कौन कहे, दुर्दैव ने इनके स्मरणीय नाम तक को भी भूतकाल के विस्मृति-गर्त में सदा के लिये रख दिया है। प्राचीन कवियों के प्रशंसात्मक श्लोकों से ही किसी किसी के नाम जाने जाते हैं; तथा सूक्ति-संग्रहों में संगृहीत कविताओं से ही इनकी उत्कृष्ट प्रतिभा का पता चलता है। जिन कवियों की अधिक कविताएँ मिलती हैं, स्थानाभाव के कारण उनमें से कतिपय उत्तम ही यहाँ चुनकर रखी गई हैं। परन्तु कुछ की रचनाएँ तो केवल दो-चार श्लोक ही हैं। इस स्थान पर उनके उपलब्ध समग्र पद्य उद्धृत कर दिए गए हैं।

(१) विज्जका

'विज्जका' का पूरा परिचय समीक्षा तथा दृष्टान्तों के साथ ऊपर दिया गया है। उसे इस प्रसंग में दोहराने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतना ही ध्यातव्य पर्याप्त होगा कि संस्कृत की कवयित्रियों म विज्जका (=विद्या, विजया ?) का नाम सर्वाधिक लोकप्रिय है। इनकी कविता की समीक्षा से इस लोकप्रियता का समर्थन भली भाँति किया जा सकता है।

(२) सुभद्रा

'सुभद्रा' नामक कवयित्री की प्रसिद्धि उतनी नहीं है, क्योंकि इनकी रचनाओं का कुछ भी पता नहीं लगता। वल्लभदेव की सुभाषितावलि में इनका केवल एक ही पद्य उद्धृत किया गया है, और यही इनकी अवशिष्ट रचना है। 'सुभद्रा' ने अवश्य ही अनेक कविताओं की रचना की होगी, नहीं तो राजशेखर को इनके कविता-चातुर्य के वर्णन का अवसर ही कहाँ मिलता। राजशेखर ने स्पष्ट शब्दों में इनकी कविता को मनोमोहिनी बतलाया है —

पार्थस्य मनसि स्थान लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनां च वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया॥

—सूक्तिमुक्तावली

जिस प्रकार सुभद्रा ने अर्जुन के मन में अपने सौन्दर्य के कारण स्थान पाया था उसी प्रकार सुभद्रा ने भी अपनी रचनाओं की चतुरता से कवियों के मन में स्थान पाया है। इस उल्लेख से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि 'सुभद्रा' दशवीं शताब्दी के पहले हुई थी। इनकी जीवनी भी बिल्कुल अज्ञात है।

इस पद्य में इन्होंने स्नेह से होनेवाले दुष्परिणाम की बात बतलाई है —

दुग्धं च यत्तदनु यत् क्वथितं ततो नु,
माधुर्यमस्य हृतमुन्मथितं च वेगात्।
जातं पुनर्घृतकृते नवनीतवृत्ति
स्नेहो निरन्धनमनर्थपरम्पराणाम्॥

स्नेह ने विचारे दूध की कैसी दुर्दशा कर डाली है। स्नेह (घृत) के ही लिये विचारा दूध गरम किया जाता है—खूब औंटा जाता है। औंटकर उसका मीठापन भी दूर किया जाता है, फिर बड़े जोरों से मथा जाता है, तब घी के ही लिये इसे मक्खन का रूप धारण करना पड़ता है। बताइए तो सही, विचारे दूध पर इतनी आफत क्यों ? केवल स्नेह (घी तथा प्रेम) के ही लिये तो। वास्तव में स्नेह मनुष्यों के हजारों दुःखों का मूल है। स्नेह की इस अनर्थकारिता

के विषय में किसी कवि का यह प्राचीन श्लोक भी सुभद्रा के सुभग पद्य की सत्यता का ही प्रतिपादन कर रहा है —

स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं कान्तारुचा मोक्षपथं प्रपन्ना ।
नितम्बसङ्गात्पुनरेव बद्धा अहो दुरन्ता विषयेषु सक्तिः ॥

(३) फल्गुहस्तिनी

इनका भी नाम संस्कृत साहित्य में अधिक नहीं है। कविता की अनुपलब्धि ही इसका मूल कारण प्रतीत होती है। सुभाषितावलि में दो पद्य उद्धृत किए गए हैं जिनमें पहला पद्य (सुजनि तावदशेषगुणाकर) भर्तृहरि के नीतिशतक में भी पाया जाता है, अतएव इसके रचयिता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सूक्ति संग्रह कर्त्ताओं की भूल से ऐसा बहुधा देखा गया है कि किसी का पद्य किसी दूसरे के माथे मढ़ा हुआ रहता है। दूसरा पद्य शार्ङ्गधर-पद्धति में भी पाया जाता है। पद्य यह है —

त्रिनयनजटावल्लीपुष्पं मनोभवकार्मुकं
प्रहसितसलयं सन्ध्या-नारी-नितम्बनखक्षतम् ।
तिमिरभिदुरं व्योम्नः शृंगं निशावदनस्मितं
प्रतिपदि नवस्येन्दोर्बिम्बं सुखोदयमस्तु वः ॥

आकाश में प्रतिपद्चन्द्र का उदय हुआ है। चन्द्र के वर्णन में कितने मनोरम रूपकों की उद्भावना की गई है। यह शिव की जटारूपी लता का फूल है; कामदेव का टेढ़ा धनुष है? प्रहों का नवीन पल्लव है, सन्ध्या रूपी नारी के नितम्ब पर लाल नखक्षत है (उदय के समय में चन्द्रमा में कुछ लालिमा रहती है और क्षत भी लाल होता है), अन्धकार को नष्ट करनेवाला आकाश का शिखर है, निशारूपी नायिका के बदन की कोमल मुसकुराहट है। ऐसे मनोरम चन्द्र का उदय तुम्हारे सुख के लिए हो। इस पद्य में रूपकों की छटा कितनी सुहावनी है।

इससे स्पष्ट है कि फल्गुहस्तिनी में उस ऊंची प्रतिभा की कमी नहीं थी जो सच्चे कवि में होनी चाहिए।

(४) मोरिका

'मोरिका' के नाम से सुभाषितावलि और शार्ङ्गधर पद्धति दोनों संग्रहों में कुल चार पद्य मिलते हैं। इन पद्यों के सिवाय न तो इनके किसी काव्य का ही पता चलता है और न किसी ऐतिहासिक वृत्तान्त का। शार्ङ्गधर द्वारा उद्धृत कवि धनदेव की उक्ति में स्त्री-कवियों में 'मोरिका' का भी नाम आया है —

शीला विज्जा मारुला मोरिकाद्याः
काव्यं कर्तुं सन्ति विज्ञाः स्त्रियोऽपि ।

विद्या वेत्तु वादिनो निर्विजेतुं
विश्वं वक्तुं य प्रवीण स वन्द्य ॥

इससे स्पष्ट सूचित होता है मोरिका काव्य रचना में बड़ी प्रवीण थी। यही उ लेख इनके विषय में ज्ञात इतिहास का सार है। इनकी कविता साधारणतया अच्छी है। सब पद्यों म शृंगार रस ही स्वाभाव भरा है।

यामीत्यध्यवसाय एव हृदये बध्नातु नामास्पदं
वक्तुं प्राणसमा समक्षमघृणे नेत्थं कथं पार्यते।
उक्तं नाम तथापि निर्भरगलद्बाष्पं प्रियाया मुखं
दृष्ट्वापि प्रवसत्स्यहो धनलवप्राप्तिस्पृहा मादृशा ॥

कोई विदेशी कह रहा है कि पहले तो जाने का अध्यवसाय ही हृदय में किसी तरह स्थान पाता है। परन्तु अपनी प्राणप्यारी के सामने भला ऐसी बात कैसे कही जा सकती है। यदि कह दूं तो प्रिया की आँखों म वियोग के कारण आँसुओं की झड़ी बँध जाती है। परन्तु क्या करूँ? इसे भी देखकर हमारे जैसे निर्धन लोग धन कमाने की इच्छा से परदेश जाते हैं। क्या किया जाय, लाचारी है। नहीं तो किसी प्रकार अपनी प्रिया को दु:ख सागर म छोड़कर जाना कथमपि न्यायप्राप्त नहीं।

लिखति न गणयति रेखा निर्भरबाष्पाम्बु धौतगण्डतला।
अवधिदिवसावसानं मा भूदिति शङ्किता बाला ॥

पति परदेश से कुछ ही दिनों के लिये घर आया है। बाला नायिका की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही है जिससे उसका कपोल बिलकुल धुल गया है। वह अवधि के दिन की रेखाएँ लिखती है जरूर परन्तु गिनती नहीं। डरती है कि कहीं ऐसा न हो कि अवधि पूरी हो जाय और प्रिय पति के जाने का दुस्सह दु:ख अभी उपस्थित हो जाय। पद्य में नायिका के कोमल हृदय का पता बड़ी खूबी के साथ दिया गया है।

प्रियतमस्त्वमिमामनघार्हसि, प्रियतमा च भवन्तमिहार्हति।
नहि विभाति निशारहित शशी, न च विभाति निशापि विनेन्दुना।

दूती नायक को समझा रही है कि हे प्रिय, तुम इस नायिका के योग्य हो और यह भी तुम्हारे ही योग्य है। देखो बिना रात्रि के चन्द्रमा की शोभा नहीं होती और रात भी चन्द्रमा के बिना कभी नहीं सोहती।

नायक परदेश जाने को तैयार है। इसकी सूचना मिलते ही नायिका की कैसी करुणाजनक दशा उपस्थित हो जाती है। दूती नायक को नायिका की इस वियोग दशा की खबर दे रही है—

मा गच्छ प्रमदाप्रिय ! प्रियशतैर्भूयस्त्वमुक्तो मया
बाला प्राङ्गणमागतेन भवता प्राप्नोति निष्ठां पराम् ।
किं चान्यत् कुचभारपीडनसहैर्यत्नप्रवृद्धैरपि
त्रुट्यत्कञ्चुकजालकैरनुदिनं निःसूत्रमस्मद्गृहम् ॥

हे प्रमदाप्रिय, विदेश मत जाओ, मैं हजारों बार तुम्हें निहोरा कर रही हूँ। तुम्हारी दयिता तुममें बहुत ही प्रेम धारण करती है। मैं उसकी विषम दशा का वर्णन क्या करूँ ? तुम जाने के लिये आगन में पैर रखोगे, यह सोच कर ही स्तनों के भार को सहने में समर्थ तथा यत्नपूर्वक बाँधी गई उसकी कञ्चुकी बार-बार टूटी जा रही है, उसके सीने के लिये हमारे घर में डोरा भी नहीं बच गया। अभी तुम्हारे जाने के समय की ऐसी दशा है। आगे भगवान् जाने क्या होगा।

(५) इन्दुलेखा

'इन्दुलेखा' का नाम भी स्त्री कवियों में है। इनका जन्म कहाँ हुआ ? कब हुआ ? इन्होंने किस काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया ? इन प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता। वल्लभदेव की सुभाषितावलि में इन्दुलेखा का एक पद्य दिया गया है।

सूर्यास्त के विषय में कवयित्री की सुन्दर कल्पना है :—

एके वारिनिधौ प्रवेशमपरे लोकान्तरालोकनं
केचित् पावकयोगितां निजगदुः क्षीणेऽह्नि चण्डार्चिषः ।
मिथ्या चैतदसाक्षिकं प्रियसखि प्रत्यक्षतीव्रातपं
मन्येऽहं पुनरध्वनीनरमणीचेतोऽधिशेते रविः ॥

कोई कहता है कि सायंकाल में सूर्य भगवान् समुद्र में समा जाते हैं; किसी की राय है कि वे दूसरे लोक को चले जाते हैं; दूसरे कहते हैं, अग्नि में चले जाते हैं[1]। परन्तु हे प्यारी सखि ! मुझे यह सब झूठ मालूम होता है। पूर्वोक्त घटना की सत्यता का कोई साक्षी नहीं है। पथिकों की नारियों का चित्त वियोगजनित बाधा से अधिक सन्तप्त है। मालूम होता है कि सूर्य रात को इसी कोमल चित्त में शयन करने के लिये प्रवेश करता है जिससे उसमें असह्य गर्मी पैदा हो जाती है। प्रोषितपतिका नायिकाओं का हृदय रात को पति-वियोग से अधिक सन्तप्त हो जाता है। साधारण सी यह बात कैसे अनोखे ढंग से कही गई है।

---

१. आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निं प्रविशति इति श्रुतिः। रघुवंश चतुर्थ सर्ग, प्रथम श्लोक पर मल्लिनाथ की टीका में उद्धृत।

(६) मारुला

यद्यपि इनके नाम से एक ही कविता सुभाषितावलि में मिलती है, तथापि धनदेव के उल्लेख से जान पड़ता है कि ये प्रवीण स्त्रियों में गिनी जाती थीं। यह प्रशंसा केवल एक ही पद्य पर अवलम्बित नहीं हो सकती, अतः इन्होंने अन्य कविताओं की भी रचना की होगी, यह सहज में ही माना जा सकता है।

इनकी रचना नीचे दी जाती है—

> कृशा केनासि त्वं ? प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे
> मलैर्धूम्रा कस्माद् ? गुरुजनगृहे पाचकतया।
> स्मरस्यस्मान् कच्चिद्वहि नहि नहीत्येवमगमत्
> स्मरोत्कम्पं बाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता॥

कोई विरही अपने मित्र से स्त्री की बात कह रहा है—'तुम दुबली क्यों हो? मेरे इस पूछने पर उसने कहा कि जन्म से ही शरीर की ऐसी दशा है। जब मैंने पूछा कि तुम मैली क्यों देख पड़ती हो? तब उसने जवाब दिया कि श्वशुर जी के घर में भोजन पकाने से। जब मैंने पूछा कि क्या तुम मुझे याद करती हो, तब तो वह मुग्धा बाला "नहीं, नहीं" कहती हुई काम-जनित पीड़ा से काँपने लगी और मेरे हृदय से लगकर जोरों से रोने लगी।'

इस श्लोक में सरलता खूब है। यह पद्य कड़े दिल में भी सहानुभूति पैदा कर रहा है। नायिका की मुग्धता का क्या ही सच्चा चित्र खींचा गया है।

(७) विकटनितम्बा

विकटनितम्बा का नाम साहित्य प्रेमियों से छिपा नहीं है। आपने अपने शुभ जन्म से भारत के किस प्रदेश को सौभाग्यशाली बनाया है? यह तो निर्णयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु विद्वानों का अनुमान है कि कवि-पण्डितों की जननी काश्मीर-भूमि में—जिस के विषय में बिल्हण का दावा है कि कविता काश्मीर को छोड़ अन्य देशों को अपना दर्शन नहीं देती—आपका जन्म हुआ। जन्म काल तथा जीवनी अभी तक अन्धकाराच्छन्न है। सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर का यह श्लोक इनके विषय में है—

> के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रंजिताः।
> निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरं वचः॥

कौन मनुष्य ऐसा है जिसे विकटनितम्बा की वाणी के गुम्फों को सुनकर अपनी स्त्रियों के मुग्धतापूर्ण मधुर वचन फीके नहीं लगते हों—उसे कान्ता के वचनों से घृणा न पैदा हो जाय। प्रसिद्ध नाटककार तथा आलोचक कविकुलशेखर राजशेखर

का वचन सर्वथा सत्य है। नीचेके पद्यों से इस कथन की सत्यता पूरी प्रमाणित हो जायगी। विकटनितम्बा की कविता में मधुर रस तो कूट-कूट कर भरा हुआ है। शब्दों की कोमलता तथा भावों की शुद्धि मन को हठात् वश कर लेती है। पढ़नेवाले का चित्त बिना प्रसन्न हुए नहीं रहता। प्रायः सब कविताएँ शृङ्गार रस से भरी हुई हैं। विकटनितम्बा अविवेकी भ्रमर को कैसी डाँट बता रही है :—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृंग!
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः॥

हे भौरे! तेरे मर्दनको सहनेवाली अन्य पुष्पलताओं में अपने चचल चित्त को विनोदित कर। अनखिली केसररहित इस नवमल्लिका की छोटी कली को अभी असमय में क्यों व्यर्थ दुख दे रहा है। अभी तो उसमें केसर भी नहीं है, बिचारी खिली तक नहीं है। इसे दुःख देना क्या तुझे सुहाता है! यहा से हट जा।

किसी सुस्तनी कृशमध्या युवती को कैसा सदुपदेश है :—

अव्ययि साहसकारिणि किं तव चंक्रमणेन।
टसदिति भङ्गमवाप्स्यति कुचयुगभारभरेण॥

अयि साहस करने वाली! भला तू इधर-उधर टहलने की कोशिश क्यों कर रही है? नहीं जानती जरा टसकने पर ही दोनों स्तनों के भार से तेरा शरीर टूट जायगा। जरा अपनी पतली कमर को तो देख!

किं द्वारि दैवहतिके सहकारकेण
संवर्धितेन विषवृक्षक एष पापः।
अस्मिन् मनागपि विकासविकारभाजि
घोरा भवन्ति मदनज्वरसंनिपाताः॥

कोई सखी कह रही है कि हे सखि! दरवाजे पर इस आम के पेड़ को बढ़ा कर क्या होगा? जानती नहीं, यह विष का पेड़ है। जरा भी इसने विकसना शुरू किया कि कामज्वर का सन्निपात बड़ा दुःखदायी हो जायगा।

दूती नायक को कैसी अच्छी बातें कह रही है :—

बाला तन्वी मृदुरियमिति त्यज्यतामत्र शङ्का
दृष्टा काचिद् भ्रमरभरतो मंजरी भग्नपुष्पा।
तस्मादेषा रहसि भवता निर्दयं पीडनीया
मन्दाकान्ता विसृजति रसं नेक्षुयष्टिः कदाचित्॥

यह कोमलाङ्गी बाला अभी कम-उम्र है। इस विचारसे शङ्का दूर हटाओ। जानते नहीं हो! क्या नयी मंजरी भौरों के भार से अपने फूलों को तोड़ डालती

है ? अतः समागम के अनौचित्य के सन्देह को बहा डालो। एकान्त में इसका गाढ़ आलिङ्गन करो। आलिङ्गन निर्दय होना चाहिए तभी पूर्ण आनन्द आता है। क्या बार बार चूसने से ईख अपने रस को देती है। रस लेने के लिए तो जड़ और से चूसना चाहिए। कामशास्त्र की कितनी सुन्दर शिक्षा इस पद्य में निविष्ट की गई है।

(८) शीला भट्टारिका

धनदेव नामक किसी प्राचीन कवि का यह पद्य शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किया है—

> शीला विज्जा मारुला मोरिकाद्याः
> काव्यं कर्तुं सन्ति विज्ञाः स्त्रियोऽपि।
> विद्यां वेत्तुं वादिनो निर्विजेतुं
> विश्वं वक्तुं यः प्रवीणः स वन्द्यः॥

इससे प्रतीत होता है कि इनका नाम शीला था। सम्भवतः ये काश्मीर की निवासिनी थीं। इनकी रचना में मधुरता सर्वत्र भरी है। शब्दों का सौष्ठव और अर्थों का गाम्भीर्य सहृदयों के मन को मोहता है। राजशेखर शीला के काव्य को ऊँची कोटि का मानते हैं। बाणभट्ट के समक्ष सुन्दर स्वीकार करने में तनिक भी पराङ्मुख नहीं होते—

> शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
> शीलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

शब्द तथा अर्थ की समान रचना को पाञ्चाली रीति कहते हैं, जैसा विशद शब्द वैसा मनोहर अर्थ। ऐसी रीति यदि कहीं है, तो केवल शीला की कविता में और बाणभट्ट की उक्तियों में। देखिये, किस प्रकार एक स्त्री की कविता एक प्रसिद्ध कवि की कविता के समान समझी गई है। शीला का दूती को दिया गया उपदेश कितना अच्छा है—

> दूति त्वं तरुणी युवा स चपलः श्यामास्तमोभिर्दिशः
> सन्देशः सरहस्य एष विपिने संकेतकावासकः।
> भूयो भूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो हरन्त्यन्यतो
> गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणे रक्षन्तु ते देवताः॥

हे दूती! तू जवान है और वह नायक भी जवान और चपल है। फिर पर चारों ओर अन्धकार घिर आया है। मेरा सन्देश भी रहस्यपूर्ण है और जङ्गल में ही सङ्केत स्थल है। बारम्बार वसन्त की वायु चित्त चुराये जा रही

है, अतः हे निपुणे, शीघ्र समागम के लिए तू जा। देवता तेरी रक्षा करेंगे। नायक से उपभुक्त दूती की पहचान किस प्रकार की जा रही है :—

श्वासाः किं त्वरितागतैः पुलकिता कस्मात्प्रसादः कृतः
स्रस्ता वेण्यपि पादयोः निपतनात् नीवी गमादागमात्।
स्वेदार्द्रं मुखमातपेन गलितं क्षामा किमत्युक्तिभिः
दूति! म्लानसरोरुहद्युतिधरस्यौष्ठस्य किं वक्ष्यसि।
प्रियाविरहितस्याद्य हृदि चिन्ता ममागता।
इति मत्वा गता निद्रा के कृतघ्नमुपासते॥

प्रिया के वियोग में मेरे हृदय में चिन्ता घुस गई। यह जानकर कि एक प्यारी के वियोग होने पर चिन्तारूपी दूसरी नायिका पास है, निद्रा बिचारी चली गई। कृतघ्न की सेवा करना कोई नहीं चाहता!

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः
ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

कोई नायिका कह रही है—कुमारावस्था को मिटानेवाला वही मेरा पति है। चैत की रातें भी वही हैं। खिली मालती के गन्ध को लिए हुए पूर्वपरिचित कदम्बवायु धीरे धीरे बह रहा है। मैं भी वही हूँ। परन्तु क्या कारण है कि नर्मदा के कूल पर अशोक के कुञ्ज के लिये मेरा चित्त आज भी उत्कंठित हो रहा है।

(२९)

आचार्य शंकर

विवेचनात्मक अध्ययन

(१) शङ्कर-पूर्व भारत

किसी धर्म का प्रवाह एक समान ही अविच्छिन्न गति से सदा प्रवाहित नहीं होता; उसकी गति को रोकनेवाले अनेक प्रतिबन्ध समय समय पर उपस्थित हुआ करते हैं, परन्तु यदि उस धर्म में जीवनी शक्ति की कमी नहीं होती, तो इन विभिन्न रुकावटों को दूर कर देने में वह सर्वथा समर्थ होता है। इस कथन की सत्यता का प्रमाण वैदिक धर्म के विकास के अनुशीलन से अच्छी तरह मिल जाता है। गौतम बुद्ध ने जिस आचारप्रधान धर्म का उपदेश दिया वह उपनिषदों के कतिपय मूल सिद्धान्तों के लिये ऋणी है, परन्तु परिस्थिति के परिवर्तन के कारण उन्होंने अनेक नवीन बातें उसमें जोड़ दीं जो सर्वथा वेद विरुद्ध थीं। श्रुति की अप्रामाणिकता, यज्ञयागादि का सर्वथा तिरस्कार, आत्मवाद की अवहेलना आदि सिद्धान्त इसी कोटि में आते हैं। मौर्यकाल (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में बौद्धों को राज्याश्रय भी प्राप्त हो गया। अशोक प्रियदर्शी ने अपनी सारी शक्तियों का उपयोग बौद्धधर्म के मंडन तथा उसके प्रचार के लिये किया। उनकी दृष्टि समन्वयात्मक अवश्य थी, परन्तु उनके समय में भी बौद्धधर्म ने वैदिकधर्म को पैर तले कुचलने का उद्योग किया। इसका फल वही हुआ जो धार्मिक संघर्ष के समय हुआ करता है। मौर्यों के अनन्तर ब्राह्मण पुष्यमित्र ने शुंगवंश की स्थापना की और वैदिक धर्म के अतीत गौरव को फिर आलोकित करने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसने दो बार अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया। अश्वमेध वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का प्रतीक था। मनुस्मृति की रचना का काल भी शुङ्गों का यही महत्त्वपूर्ण युग माना जाता है।

कुषाण-काल में प्रतिक्रिया रूप से बौद्धधर्म ने फिर उन्नति करना आरम्भ की। कनिष्क की प्रबल छत्रछाया में इस धर्म ने भारत के अतिरिक्त चीन, जापान जैसे पूर्वी देशों में फैलना शुरू किया। इसकी प्रतिक्रिया गुप्त नरेशों के साम्राज्य-काल में दृष्टिगोचर होती है। गुप्त नरपति परम वैष्णव थे। अपने विरुदों में 'परम भागवत' विरुद का उल्लेख उन्होंने बड़े गौरव के साथ किया है। पुराणों के नवीन संस्करण तथा अनेक स्मृतियों की रचना का समय यही गुप्तयुग माना जाता है। गुप्त नरेशों ने वैदिक धर्म की उन्नति के निमित्त अश्वमेध की प्राचीन परिपाटी का भी उद्धार किया। इस प्रकार देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर चारों ओर फैल गई। परन्तु बौद्ध-धर्म अपनी नष्ट मर्यादा को पुनः रखने के निमित्त सुअवसर बैठ दुख की ओर नहीं

सो रहा था। उसमें काफी जीवट था; उसकी रगों में धार्मिक उन्माद था, बौद्ध विद्वानों के हृदय में अपना धर्म फैलाने की काफी लगन थी। माघ ने इस काल के बौद्ध धर्म के प्रचारकों के विषय में एक पते की बात कही है। वे राजाओं का सहयोग पाने में समर्थ होते थे और उन्हीं के द्वारा उनकी प्रजाओं को भी प्रभावित कर अपने धर्म में लाने का सरल उद्योग करते थे—

> सशिष्यसंघाः प्रविशन्ति राज्ञां गेहं तदादि स्वमतं विधातुम्।
> राजा मदीयोऽजिरमस्मदीय तदाद्रियध्वं न तु वेदमार्गम् ॥—७।११

गुप्त तथा वर्धन युग भारतीय तत्त्वज्ञान के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इस युग को वैदिक तथा बौद्ध-जैन तत्त्वज्ञानियों का 'संघर्षयुग' कहना चाहिए। इसी युग में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध पण्डितों ने बौद्धन्याय को जन्म दिया तथा उसकी आश्चर्यजनक उन्नति कर दी। ब्राह्मण नैयायिक भी क्रियाहीन न थे। वात्स्यायन, उद्योतकर तथा प्रशस्तपाद ने न्याय के सिद्धान्तों के ऊपर किये गये आक्षेपों का उत्तर बड़ी तत्परता तथा युक्तियुक्तता के साथ दिया परन्तु बौद्धों ने वैदिक कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रति जो अवहेलना प्रदर्शित की थी उसके लिये ऐसे विज्ञ वैदिक की आवश्यकता थी जो वैदिक क्रियाकलापों तथा अध्यात्म विषयक सिद्धान्तों की विशुद्धि उद्घोषित करता।

उधर जैनधर्म की ओर से भी विरोध कम न था। उसके अनुयायी भी अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में विशेषरूप से जागरूक थे। समन्तभद्र तथा सिद्धसेन दिवाकर की महत्त्वपूर्ण कृतियों ने जैनन्याय को अत्यन्त श्लाघनीय बना दिया था। वैदिक आचार के अनेकांश में ऋणी होने पर भी जैन लोग श्रुति की प्रामाणिकता नहीं मानते। अतः वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिये यह आवश्यक था कि श्रुति के सिद्धान्तों की यथार्थता भली भाँति जनता को समझाई जाय, श्रुति के कर्मकाण्ड में जो विरोध आपाततः दीख पड़ता है उसका भली भाँति परिहार कर श्रौत क्रिया-कलापों की उपादेयता तर्क की कसौटी पर कसकर विद्वानों के सामने प्रदर्शित की जाय। इस कार्य के सम्पादन का श्रेय आचार्य कुमारिल तथा आचार्य शङ्कर को है। कुमारिल ने वेद का प्रामाण्य युक्तियों के सहारे सिद्ध कर वैदिक कर्मकाण्ड का महत्त्व प्रदर्शित किया और शङ्कर ने अवैदिक दर्शन तथा द्वैतवादियों के मत का भली भाँति खण्डन कर उपनिषदों के आध्यात्मिक रहस्य का प्रतिपादन प्रमाण पुरस्सर किया।

भूलना न चाहिए वैदिक तथा बौद्धधर्म की यह लड़ाई तलवार की लड़ाई न थी, बल्कि लेखनी की लड़ाई थी। दोनों पक्षों के तर्ककुशल पण्डित लोग लेखनी चलाकर अपने प्रतिपक्षियों के सिद्धान्त की असारता दिखलाते थे, किसी विशिष्ट

नरपति को उत्तेजित कर उसके द्वारा किन्हीं विशिष्ट मतावलम्बियों को मार डालने का उद्योग कभी नहीं करते थे। इसके विरुद्ध यदि एक दो दृष्टान्त मिलते हों, तो भी उनसे विपरीत मत की पुष्टि नहीं होती।

इस समय श्री वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा बड़ी दृढ़ नींव पर हुई। इन आचार्यों के आक्षेपों को बौद्धधर्म अधिक न सह सका और धीरे-धीरे वह भारतभूमि से हटकर तिब्बत, चीन, जापान, स्याम आदि देशों में चला गया[1]। आचार्य शङ्कर के आविर्भाव का रहस्य इन धार्मिक घटनाओं के भीतर छिपा हुआ है।

(२) आचार्य का समय

आचार्य शङ्कर का आविर्भाव कब सम्पन्न हुआ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना नितान्त कठिन है? संस्कृत के माननीय कविजनों ने भी जब अपने आश्रयदाताओं के नामोल्लेख करने तथा ग्रन्थ के रचनाकाल के निर्देश करने की ओर अपना ध्यान नहीं दिया है, तब हमें शङ्कराचार्य जैसे विरक्त पुरुष को इन आवश्यक बातों के उल्लेख न करने पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वे सच्चे संन्यासी थे, विरक्त साधक थे। उन्हें इस बात की चिन्ता ही क्या हो सकती थी कि वे अपने समसामयिक राजा महाराजा के नाम का कहीं उल्लेख करते। उनके शिष्यों की दशा इस विषय में उनसे भिन्न न थी। इन लोगों के ग्रन्थों में भी समय-निरूपण की ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि आचार्य के काल का इदमित्थंरूपेण निरूपण करना इतनी विषम समस्या है?

आचार्य के काल के विषय में इसी कारण विद्वानों में गहरा मतभेद है। विक्रम पूर्व सप्तम शतक से लेकर विक्रम के अनन्तर नवम शतक तक किसी समय में इनका आविर्भाव हुआ यह सब कोई मानते हैं, परन्तु किस वर्ष में इनकी उत्पत्ति हुई थी, इसके विषय में कोई सर्वमान्य मत नहीं है। (क) कामकोटि पीठ के अनुसार आचार्य का जन्म २५९३ कलिवर्ष में हुआ था तथा उनका तिरोधान २६२५ कलिवर्ष में सम्पन्न हुआ था। (ख) शारदा पीठ (द्वारका) की वंशानुमातृका के अनुसार शङ्कर ने कलिवर्ष २६३१ के वैशाख शुक्ल पञ्चमी को

---

१. सप्तम शताब्दी में जो धर्म सम्प्रदाय प्रचलित थे उनका कुछ उल्लेख हर्षचरित (पृष्ठ ६३२, जीवानन्द) में मिलता है। वे हैं—भागवत, कापिल, जैन, लोकायतिक, काणाद, पौराणिक, ऐश्वरकारणिक, कारन्धमिन (धातुवादी), सप्ततान्तव (मीमांसक ?), शाब्दिक, बौद्ध, पाञ्चरात्रिक और औपनिषद। इनमें से औपनिषदों को छोड़कर शेष प्रायः सभी एक प्रकार से अवैदिक ही हैं। इसी ग्रन्थ के दूसरे प्रकरण (पृष्ठ ३९९) में औपनिषदों के विषय में कहा गया है— संसारासारत्वकथनकुशलाः ब्रह्मवादिनः।

जन्म ग्रहण किया तथा २६६३ कलिवर्ष की कार्तिक पौर्णमासी को ३२ वर्ष की अवस्था में हिमालय में गुहाप्रवेश किया। (ग) 'केरलोत्पत्ति' के अनुसार शङ्कर का आविर्भावकाल विक्रम की पञ्चम शताब्दी है। इस मत में शङ्कर का जीवनकाल ३२ वर्ष के स्थान पर ३८ वर्ष माना जाता है। (घ) महाराष्ट्र में प्रसिद्ध महानुभाव पन्थ के विख्यात ग्रन्थ 'दर्शन-प्रकाश' में 'शङ्कर पद्धति' का एक वचन उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार आचार्य का जन्म ६१० शक तथा तिरोधान ६४२ शकाब्द में कुछ लोग मानते हैं। (ङ) एक मत यह भी है कि आचार्य का आविर्भाव ८४५ विक्रमी (७८८ ई०) तथा तिरोधान ८७७ वि० (८२० ई०) में ३२ वर्ष की उम्र में हुआ। ये तो प्रधान मत हैं। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से मत हैं। यह विषय नितान्त दुरूह है और एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचने के लिये जिन विपुल साधनों को उपस्थित करने की आवश्यकता है वे थोड़े स्थान में उपस्थित नहीं किये जा सकते। हमने आचार्य के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में अन्वेषणपूर्वक पृथक् पुस्तक प्रकाशित किया है, जहाँ इसका विवेचन किया गया है।

३—जीवनचरित

(आधार ग्रन्थ)

आचार्य शङ्कर का जीवनचरित लिखने की ओर विद्वानों की दृष्टि बहुत पहले ही आकृष्ट हुई। सुनते हैं कि पद्मपाद ने उनके दिग्विजय का वर्णन विस्तार के साथ अपने 'विजयडिण्डिम' ग्रन्थ में किया था, परन्तु दैवविपाक से वह ग्रन्थ नष्ट हो गया। आजकल आचार्य के उपलब्ध जीवनचरित में (जिन्हें 'शङ्करविजय' के नाम से पुकारते हैं) कोई भी उनका समसामयिक नहीं है। सब ग्रंथ पीछे की रचनाएँ हैं जिनमें सुनी सुनाई बातों का उल्लेख किया गया है। भिन्न-भिन्न पीठों की अपनी महत्ता प्रदर्शित करने की लालसा अनेक दिग्विजयों की रचना के लिये उत्तरदायी है। शृङ्गेरी तथा कामकोटि पीठ का सङ्घर्ष नया नहीं प्रतीत होता है, इन शङ्करविजयों की छानबीन करने से अनेक ग्रन्थों में कामकोटि के प्रति कुछ पक्षपात सा दृष्टिगोचर होता है। जो कुछ भी हो, आचार्य के जीवन से सम्बद्ध अनेक ग्रंथों की रचना समय समय पर होती आई है जिनमें दो-चार ही छपकर प्रकाशित हुए हैं। अन्य ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में ही हैं।

शाङ्करविजय—डा० औफेक्ट की सूची के अनुसार इन ग्रन्थों का नाम नीचे दिया जाता है—

(१) शङ्कर दिग्विजय—रचयिता माधव (हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित, हरद्वार)

(२) „ „ आनन्दगिरि (मुद्रित, कलकत्ता)

(३) शंकर विजय—चिद्विलास (ग्रन्थाक्षर में मुद्रित)
(४) " " व्यासगिरि
(५) " " सदानन्द (मुद्रित, काशी)
(६) आचार्यचरित (केरलीय)
(७) शङ्कराभ्युदय—राजचूडामणि दीक्षित (श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम् में मुद्रित)
(८) शङ्करविजयविलास काव्य—शङ्करदेशिकेन्द्र
(९) शङ्करविजयकथा
(१०) शङ्कराचार्यचरित
(११) शङ्कराचार्यावतारकथा—आनन्दतीर्थ
(१२) शङ्करविलास चम्पू—जगन्नाथ
(१३) शङ्कराभ्युदय काव्य—रामकृष्ण
(१४) शङ्करदिग्विजयसार—व्रजराज
(१५) प्राचीनशङ्करविजय—मूकशङ्कर (कामकोटि के १८ वें अध्यक्ष)
(१६) बृहत् शङ्करविजय—सर्वज्ञ चित्सुख
(१७) शङ्कराचार्योत्पत्ति
(१८) गुरुवंश काव्य (लक्ष्मणाचार्यकृत, मुद्रित श्रीरङ्गम्)

इन ग्रन्थों में जो उपलब्ध हो सके, उनकी विशिष्ट बातें परिशिष्ट (क) में दी गई हैं। यह सूची अभी तक अधूरी ही है। अन्य भण्डारों की सूची देखने से भिन्न भिन्न नये ग्रन्थों का भी पता चल सकता है। अतः आचार्य की जीवनी लिखने के साधनों की कमी नहीं है, परन्तु दुःख है कि यह सामग्री अधिकतर अभी तक हस्तलिखित रूप में है। इसलिये उसका विशेष उपयोग नहीं हो सकता।

हरिद्वार से लेखक द्वारा

इन ग्रन्थों में से सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ माधवाचार्य-विरचित शङ्करदिग्विजय है जिसका सुबोध भाषानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ नितान्त प्रख्यात तथा लोकप्रिय है। आचार्य की जीवन-घटनाओं को ठीक ठीक जानने के लिये हम इसी ग्रन्थरत्न के ऋणी हैं। इसके रचयिता माधवाचार्य का नाम वैदिक धर्म के संरक्षकों के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्हीं की प्रेरणा से विधर्मी यवनों की शक्ति को दबाने के लिये तथा हिन्दुओं की शक्ति की प्रतिष्ठा के लिये महाराज हरिहर तथा महाराज बुक्क ने उस विशाल तथा विख्यात राज्य की स्थापना की जो 'विजयनगर साम्राज्य' के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक धर्म के उद्धार तथा मर्यादारक्षा के लिये इन्होंने स्वयं धर्मशास्त्र तथा मीमांसा के अनुपम ग्रन्थ लिखे जिनमें पराशर माधव, कालमाधव तथा

जैमिनिन्यायमालाविस्तर विशेष महत्त्वशाली हैं। आपके अनुज का नाम सायणाचार्य था। उन्हें सहायता तथा स्फूर्ति देकर आपने वेदों के ऊपर भाष्य बनवाया। यदि ये भाष्य न होते, तो वेद के अर्थ का समझना हमारे लिये आज कठिन कार्य हो गया होता। सन्यास ग्रहण करने पर आप शृङ्गेरी मठ की गद्दी पर 'विद्यारण्य' के नाम से आरूढ़ हुए और इस दशा में श्रीमान् ने वेदान्त के ऊँचे दर्जे के ग्रन्थों की रचना कर अद्वैतवाद का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया। वह पञ्चदशी जिसका अध्ययन कर हम वेदान्त के तत्त्वों को सरलता से सीख सकते हैं आप ही की अमर रचना है। इसके अतिरिक्त विवरणप्रमेयसंग्रह, बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसार आदि प्रौढ़ वेदान्त-ग्रन्थ आपकी कीर्ति-कौमुदी को इस जगतीतल पर सदा प्रकाशित करते रहेंगे।

इस शङ्करदिग्विजय पर आपकी विद्वत्ता की छाप पड़ी है। स्वामी विद्यारण्य ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में आचार्य के व्यापक प्रभाव, अलौकिक पाण्डित्य और असामान्य विद्वत्ता का मनोहर चित्र खींचा है। ग्रन्थकार का पाण्डित्य बड़े ही उच्च कोटि का है। इसकी दो टीकायें आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला में छपी हैं—पहली है धनपति सूरि की 'डिण्डिम' टीका और दूसरी है अच्युतराय की 'अद्वैतराज्यलक्ष्मी'। दोनों उपादेय हैं और हिन्दी-अनुवाद में इनकी पर्याप्त सहायता ली गई है। अनुवाद में मैंने मूल संस्कृत के भावों का भली भाँति रक्षण करने का उद्योग किया है। केवल अक्षरानुवाद करने की ओर मेरा ध्यान नहीं रहा है। मुझे पूरा विश्वास है कि मूल के कठिन पदों का भाव, विशेषतः दार्शनिक शास्त्रार्थ के अवसर पर, भली भाँति सुरक्षित हो सका है।

४—जीवनवृत्त

जन्म तथा बाल्यकाल

जन्मस्थान

भारतवर्ष के सुदूर दक्षिण में 'केरल' देश है। यह प्रदेश अपनी विचित्र सामाजिक व्यवस्था के लिये उतना ही प्रसिद्ध है जितना अपनी प्राकृतिक शोभा के लिये। प्रायः यह पूरा प्रान्त समुद्र के किनारे पर बसा हुआ है। यहाँ की प्राकृतिक छटा इतनी मनोरम है कि उसे देखकर दर्शक का चित्त बरबस मुग्ध हो जाता है, मन में एक विचित्र शान्ति का उदय हो जाता है। इस देश में हरियाली इतनी अधिक है कि दर्शकों के नेत्रों के लिये अनुपम सुख का साधन उपस्थित हो जाता है। इस प्रान्त के 'कालटी' ग्राम में आचार्य शङ्कर का जन्म हुआ था। यह स्थान आज भी अपनी पवित्रता के लिये केरल ही नहीं, प्रत्युत समग्र भारत में विख्यात है। कोचीन शोरानूर रेलवे लाइन पर

'आलवाई' नामक एक छोटा स्टेशन है। वहीं से यह गाँव पाँच छ' मील की दूरी पर अवस्थित है। पास ही 'आलवाई' नदी बहती हुई इस गाँव की मनोरमता को और भी बढ़ाती है। यह गाँव कोचीन राज्य के अन्तर्गत था और राज्य की ओर से पाठशाला तथा अंगरेजी स्कूल की स्थापना छात्रों के विद्याभ्यास के लिये की गई है। शृङ्गेरी मठ की ओर से इस स्थान की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये अनेक उपाय किये गये हैं। आचार्य ने अपनी माता का दाह-संस्कार जिस स्थान पर किया था, वह स्थान आज भी दिखलाया जाता है। स्थान स्थान पर शिवमन्दिर भी बनाये गये हैं। पास ही पर्वत की श्रेणियाँ हैं। 'काल्टी' की प्राकृतिक स्थिति दर्शक के हृदय में सामञ्जस्य तथा शान्ति की उत्पत्ति करती है। आश्चर्य की यह बात नहीं कि इस स्थान के एक निवासी ने दुःख से सन्तप्त प्राणियों के सामने शान्ति तथा आत्यन्तिक सुख पाने का अनुपम उपदेश दिया। शङ्कर के माता पिता 'पज्ञियूर' ग्राम के निवासी थे जिसका उल्लेख 'शशल' ग्राम के नाम से भी मिलता है। पीछे ये लोग काल्टी में आकर बस गये थे।

शङ्कर के जन्मस्थान के विषय में एक अन्य भी मत है। आनन्दगिरि के कथनानुसार इनका जन्म तमिल प्रान्त के सुप्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र 'चिदम्बरम्' में हुआ था, परन्तु अनेक कारणों से हमें यह मत मान्य नहीं है। समग्र केरल प्रान्त की यह मान्यता है कि शङ्कर की माता 'पजुरपन्नैइल्लम्' नामक नम्बूदरी ब्राह्मण कुटुम्ब की थी और यह कुल सदा से 'त्रिचूर' के पास निवास कर रहा है। वह स्थान जहाँ शङ्कर ने अपनी माता का दाह-संस्कार किया था आज भी 'काल्टी' के पास वर्तमान है। 'मणिमञ्जरी' माध्व मत के आचार्यों के जीवन चरित के विषय में एक माननीय पुस्तक है। इसके भी रचयिता शङ्कर का जन्मस्थान काल्टी में बतलाते हैं। मणिमञ्जरी के निर्माता के द्वैतवादी होने के कारण उनके ऊपर किसी प्रकार के पक्षपात का दोष आरोपित नहीं किया जा सकता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि बदरीनाथ मन्दिर के प्रधान पुजारी नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते आये हैं ('रावल जी' नाम से इनकी विशेष ख्याति है)। वर्तमान मन्दिर की प्रतिष्ठा आचार्य शङ्कर ने की थी तथा इसकी पूजा वैदिक विधि से सम्पन्न कराने के लिये उन्होंने अपने ही देश के वैदिक ब्राह्मण को इस पवित्र कार्य के लिये नियुक्त किया था। तब से लेकर आज तक इस मन्दिर के पुजारी केरलदेश के नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते हैं। इन सब कारणों से यही प्रतीत होता है कि शङ्कर केरल देश के रहनेवाले थे तथा नम्बूदरी ब्राह्मण थे। इतने पोषक प्रमाण तथा शङ्करदिग्विजयों के निःसन्दिग्ध उल्लेखों के रहते कोई भी व्यक्ति 'काल्टी' को छोड़कर 'चिदम्बरम्' को आचार्य के जन्मस्थान होने का गौरव प्रदान नहीं कर सकता।

माता-पिता

नम्बूदरी ब्राह्मण थे। नम्बूदरी ब्राह्मण वेद के विशेष अध्ययन करनेवाले होते हैं और अपने दैनिक आचार में वैदिक कर्मकाण्ड की ओर विशेष आग्रह दिखलाते हैं। इनकी सामाजिक व्यवस्था भी अन्यदेशीय ब्राह्मणों की व्यवस्था से विशेषतः पृथक् दीख पड़ती है। ऐसे ही वेदाचार-सम्पन्न तपोनिष्ठ नम्बूदरी ब्राह्मण-कुल में शङ्कर का जन्म हुआ था। इनके पितामह का नाम था विद्याधिराज या विद्याधिप। पिता का नाम था 'शिवगुरु'। विद्याधिप ने अपने पुत्र शिवगुरु का विवाह वहीं के किसी 'मघपण्डित' की पुत्री के साथ कर दिया था जिसका नाम था सती (माधव) अथवा विशिष्टा (आनन्दगिरि)। शिवगुरु एक अच्छे तपोनिष्ठ वैदिक थे। बड़े आनन्द से अपनी गृहस्थी चलाते थे। आधी उम्र इसी प्रकार बीत गई परन्तु पुत्र उत्पन्न न हुआ। इनके चित्त में पुत्र के मनोरम मुख देखने की और मनोहर तोतली बोली सुनने की लालसा लगी रही। अनेक ऋतुएँ आईं और चली गयीं, परन्तु शिवगुरु के हृदय में पुत्र पाने की लालसा आई, पर गई नहीं। अन्ततोगत्वा द्विजदम्पती ने तपस्या को कल्याण का परम साधन मानकर उसी की साधना में चित्त लगाया।

आचार्य शंकर के जन्म के विषय में अनेक विचित्र बातें लिखी मिलती हैं। शंकर के माहात्म्य प्रतिपादन करने की लालसा का इस विषय में जितना दोष है उतना ही दोष उनके गुणों की अवहेलना कर निर्मूल बातें गढ़ने की अभिलाषा का। आनन्दगिरि का कहना है कि शङ्कर का उदय चिदम्बरम् के क्षेत्र देवता भगवान् महादेव के परम अनुग्रह का सुखद परिणाम था। पुत्र न होने से जब शिवगुरु ने घर गृहस्थी से नाता तोड़कर जङ्गल का रास्ता लिया, तब विशिष्टा देवी ने महादेव की आराधना को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाया। वह रात दिन शिव के अर्चापूजन में व्यस्त रहतीं। वहीं पर महादेव की महती कृपा से शङ्कर का शुभ जन्म हुआ। परन्तु इस विषय में द्वैतवादियों ने साम्प्रदायिकता के मोहजाल में पड़कर जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया है वह नितान्त हेय तथा जघन्य है। मणिमञ्जरी के अनुसार शङ्कर एक दरिद्र विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे![1] इसका पर्याप्त खण्डन शंकर के उत्तरकालीन चरित से ही हो जाता है। शंकर के हृदय में अपनी महनीया माता के लिये अगाढ ममता थी, विशुद्ध भक्ति थी—इतनी भक्ति कि उन्होंने संन्यासधर्म की अवहेलना करना स्वीकार किया, परन्तु अपनी माता के दाह-संस्कार करने से विरत न हुए। यदि इस मणिमञ्जरी में उल्लिखित घटना में सत्य की एक कणिका भी होती, तो बहुत सम्भव था कि शंकरदिग्विजय के रचयिता भक्त लेखक लोग इसे अलौकिकता के रङ्ग में रँगकर छिपाने का उद्योग करते। अतः इस घटना की असत्यता स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

कालटी के पास ही वृष नाम का पर्वत अपना सिर ऊपर उठाये खड़ा था। उस पर केरलाधिपति राजशेखर ने भगवान् चन्द्रमौलीश्वर महादेव का एक सुन्दर मन्दिर बनवा कर तन्नामक शिवलिङ्ग की स्थापना की थी। शिवगुरु ने नदी में यथाविधि स्नान कर चन्द्रमौलीश्वर की एकाग्र मन से उपासना करना शुरू किया। भगवान् आशुतोष प्रसन्न हो गये और एक रात को उन्होंने भक्त के सामने ब्राह्मण के रूप में उपस्थित होकर पूछा—तुम क्या चाहते हो? भक्त का पुत्र के निमित्त लालायित हृदय बोल उठा—संसार की सारी सम्पत्ति मुझे न चाहिए; मुझे चाहिए केवल पुत्र। तब शंकर ने पूछा—सर्वगुणसम्पन्न सर्वज्ञ परन्तु अल्पायु एक पुत्र चाहते हो अथवा अल्पज्ञ, विपरीत आचरणवाले दीर्घायु अनेक पुत्र? शिवगुरु ने सर्वज्ञ पुत्र की कामना की। तदनुसार वैशाख की शुक्ल पञ्चमी तिथि को विशिष्टा के गर्भ से आचार्य शंकर का जन्म हुआ।

शैशवकाल

शंकर एक प्रतिभासम्पन्न शिशु थे। शैशव काल से ही उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय सब लोगों को होने लगा। तीन वर्ष के भीतर ही उन्होंने अपनी मातृभाषा मलयालम भली भाँति सीख ली। पिता की बड़ी अभिलाषा थी कि शंकर का शीघ्र उपनयन कर दिया जाय जिससे संस्कृतभाषा के अध्ययन का शुभ अवसर उन्हें तुरन्त प्राप्त हो जाय, परन्तु दैवदुर्विपाक से उनकी मृत्यु असमय में हो गई। तब इनकी माता ने अपने दिवंगत पति की इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करने का उद्योग किया। पाँचवें साल में शंकर का उपनयन विधिवत् किया गया तथा वेद-शास्त्र के अध्ययन के लिये वे गुरु के पास गये। अपनी अलौकिक प्रतिभा और सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करनेवाली बुद्धि से, गाढ़ अनुशीलन तथा विशुद्ध चरित्र से, उन्होंने अपने गुरु को चमत्कृत कर दिया। गुरुकुल में रहते समय ही शङ्कर के कोमल हृदय का परिचय सब लोगों को मिल गया। एक दिन वे किसी दरिद्र ब्राह्मणी विधवा के घर भिक्षा माँगने के लिये गये, परन्तु उसके पास अन्न का नितरा अभाव था। ब्रह्मचारी के हाथ में एक आँवले का फल रखकर ब्राह्मणी ने अपनी दरिद्रता की करुण कहानी कह सुनाई। इससे बालक शङ्कर का हृदय सहानुभूति से भर गया और उन्होंने भगवती लक्ष्मी की प्रशस्त स्तुति की जिससे वह घर सोने के आँवलों से दूसरे दिन भर गया। उस ब्राह्मणी का दुःख-दारिद्र्य तुरन्त दूर हो गया। दो साल के भीतर ही सब शास्त्रों का अध्ययन कर बालक अपने घर लौट आया। घर पर ही विद्यार्थियों को पढ़ाना शुरू किया। शंकर की विद्वत्ता तथा अध्यापन कुशलता की चर्चा केरल-नरेश राजशेखर के कानों तक पहुँची और इन्होंने शङ्कर को आदरपूर्वक अपने महल में बुलाने के लिये अपने मन्त्री को भेजा। परन्तु जिस व्यक्ति का हृदय त्याग

तथा वैराग्य के रस में पगा हुआ है उसे भला राजसम्मान का क्षणिक ... तनिक भी विचलित कर सकता है ? अध्यापक शङ्कर ने मन्त्री महोदय के द्वारा दी गई सुवर्ण मुद्राओं को न तो स्पर्श किया और न राजमहल में आने का निमन्त्रण ही स्वीकार किया। अन्ततोगत्वा गुणग्राही राजा दर्शन के लिये स्वयं कालटी में आये। वे स्वयं कवि तथा नाटककार थे। उन्होंने अपने तीनों नाटक शङ्कर को सुनाये तथा उनकी आलोचना सुनकर विशेष प्रसन्न हुए।

मातृ-भक्ति

शङ्कर बड़े भारी मातृभक्त थे। माता के लिये भी यदि इस संसार में कोई स्नेह का आधार था तो वह थे स्वयं शङ्कर। एक दिन माता स्नान करने के लिये नदी तीर पर गई। नदी का घाट था घर से दूर। वार्धक्य के कारण दुर्बलता, दोपहर की कड़ी धूप। गर्मी के मारे बेचारी रास्ते में बेहोश होकर गिर पड़ी। शङ्कर उसे उठाकर घर लाये। उनका हृदय माता के इस क्लेश से विदीर्ण होने लगा और उन्होंने अपने कुलदेवता भगवान् श्रीकृष्ण से रात भर प्रार्थना की। प्रातःकाल लोगों ने आश्चर्य-भरे नेत्रों से देखा। नदी अपना किनारा काटकर कालटी के बिल्कुल पास चली आई थी। श्रीकृष्ण ने मातृभक्त बालक की प्रार्थना सुन ली। आलवाई नदी की धारा परिवर्तित हो गई। पुत्रवत्सला जननी ने अपने एकमात्र पुत्र की कुण्डली दधीचि, त्रितल आदि अनेक दैवज्ञों को दिखलाई और उसके कोमल हृदय को गहरी ठेस लगी जब उसने जाना कि उसका प्यारा शङ्कर नितान्त अल्पायु है और आठवें तथा सोलहवें वर्ष उसकी मृत्यु का विषम योग है। माता की बड़ी अभिलाषा थी पुत्र के विवाह कर देने की तथा पुत्रवधू के मुंह देखने की, परन्तु पुत्र की भावना बिल्कुल दूसरी ओर थी। माता उन्हें प्रवृत्ति-मार्ग में लाकर गृहस्थ बनाने के लिये व्यग्र थी, उधर शङ्कर निवृत्तिमार्ग का अवलम्बन कर सन्यास लेने की चिन्ता में थे। अल्पायु होने की दैवज्ञवाणी ने उनके चित्त को और भी प्रोत्साहन दिया। उन्होंने संन्यास लेने का दृढ़ सङ्कल्प किया।

संन्यास

शङ्कर ने संकल्प तो कर लिया, परन्तु माता के सामने तुरन्त प्रकट करने से कुछ विरत हुए। धीरे-धीरे माता से अपना प्रस्ताव कह सुनाया। उस विधवा वृद्धा के हृदय पर गहरी चोट पड़ी। एक तो तापस पति से अकाल में वियोग, दूसरे एकमात्र यशस्वी पुत्र के वियोग की आशंका। उसका हृदय टूक टूक हो गया और शंकर के हजार समझाने पर भी उसने इस प्रस्ताव पर अपनी सम्मति नहीं दी। परन्तु 'मेरे मन कुछ और है, कर्ता के कुछ और'। एक विचित्र घटना

ने शंकर के प्रस्ताव को सफल बना दिया। एक दिन माता-पुत्र दोनों आलवाई नदी में स्नान करनेके लिये गये थे। माता स्नान कर घाट पर खड़ी कपड़े बदल रही थी, इतने में उसके पुत्र के करुण चीत्कार ने उसका ध्यान बलात् खींच लिया और उसने दृष्टि फेरकर देखा तो क्या देखती है कि उसके प्यारे शंकर को एक भीमकाय मकर पकड़े हुए है और उसे निगल जाने के लिए तैयार है। असहाय बालक आत्म-रक्षा करने में तत्पर है, परन्तु कहाँ वह कोमल छोटा बालक और कहाँ वह भयानक खूँखार घड़ियाल! शंकर के सब प्रयत्न विफल हुए। माता के सब उद्योग व्यर्थ सिद्ध हुए। बड़ा करुणाजनक दृश्य था। असहाय माता घाट पर खड़ी फूट फूटकर विलख रही थी और उधर उसका एकमात्र पुत्र अपनी प्राण-रक्षा के लिये भयंकर मकर के पास छटपटा रहा था। शंकर ने अपना अन्तकाल आया जानकर माता से संन्यास लेने की अनुमति माँगी—"मैं तो अब मर ही रहा हूँ। आप संन्यास ग्रहण करने की मुझे आज्ञा दीजिए जिससे संन्यासी बनकर मैं मोक्ष का अधिकारी तो बन सकूँ।" वृद्धा जननी ने पुत्र की बातें सुनीं और अगत्या संन्यास लेने की अनुमति दे दी। उधर आसपास के मछुए तथा मल्लाह दौड़कर आये। बड़ा हो हल्ला मचाया। संयोगवश मकर ने शंकर को छोड़ दिया। बालक के जीवन का यह अष्टम वर्ष था। भगवत्कृपा से वह काल के कराल गाल से किसी प्रकार बच गया। माता के हर्ष की सीमा न थी। उस आनन्दातिरेक में उसे इस बात की सुध न रही कि उसका ब्रह्मचारी शंकर अब संन्यासी शंकर बनकर घर लौट रहा है।

शंकर ने उस समय आठवें वर्ष में ही आपत् सन्यास अवश्य ले लिया था, परन्तु इन्हें विधिवत् सन्यास की इच्छा बलवती थी। अतः किसी योग्य गुरु की खोज में वे अपना घर छोड़कर बाहर जाने के लिये उद्यत हुए। उन्होंने अपनी सम्पत्ति अपने कुटुम्बियों में बाँट दी और माता के पालन पोषण का भार उन्हें सुपुर्द कर दिया। परन्तु उस विदा के समय स्नेहमयी माता अपने पुत्र को किसी प्रकार जाने देने के लिये तैयार न थी। अन्त में शंकर ने माता की इच्छा के अनुसार यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारे अन्तकाल में अवश्य उपस्थित हूँगा और अपने हाथों तुम्हारा दाह-संस्कार करूँगा। माता की इच्छा रखने के लिये पुत्र ने संन्यास धर्म की अवहेलना स्वीकार कर ली, परन्तु माता के चित्त में क्लेश नहीं पहुँचाया। शंकर के गृह त्याग के समय कुलदेवता श्रीकृष्ण ने स्वप्न दिया कि तुम्हारे चले जाने पर यह नदी हमारे मन्दिर को गिरा देगी। अतः मुझे किसी निरापद स्थान पर पहुँचा दो। तदनुसार शंकर ने भगवान् की मूर्ति को तीरस्थित मन्दिर से उठाकर एक ऊँचे टीले पर रख दिया और दूसरे ही दिन प्रयान किया।

गुरु की खोज में : शृङ्गेरी की विचित्र घटना

शंकर ब्रह्मवेत्ता गुरु की खोज में उत्तर भारत की ओर चले। पातञ्जल महाभाष्य के अध्ययन के समय इन्होंने अपने विद्यागुरु के मुख से सुन रक्खा था कि योगसूत्र के प्रणेता महाभाष्यकार पतञ्जलि इस भूतल पर गोविन्द भगवत्पाद के नाम से अवतीर्ण हुए हैं[1] तथा नर्मदा के तीर पर किसी अज्ञात गुहा में अखण्ड समाधि में बैठे हुए हैं[2]। उन्होंने शुकदेव के शिष्य गौडपादाचार्य से अद्वैत वेदान्त का यथार्थ अनुशीलन किया है। इन्हीं गोविन्दाचार्य से वेदान्त की शिक्षा लेने के लिये शंकर ने दूसरे ही दिन प्रातःकाल प्रस्थान किया। कई दिनों के अनन्तर शंकर कदम्ब या वनवासी राज्य से होकर उत्तर की ओर बढ़ते जा रहे थे। एक दिन की बात है। दोपहर का प्रचण्ड सूर्य आकाश में चमक रहा था। भयंकर गर्मी के कारण जीव जन्तु विह्वल हो उठे थे। शंकर भी एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर मार्ग की थकावट दूर कर रहे थे। सामने जल से भरा एक सुन्दर तालाब था। उसमें से निकलकर मेढक के छोटे छोटे बच्चे धूप में खेलते थे पर गर्मी से व्याकुल होकर फिर पानी में डुबकी लगाते थे। एक बार जब वे खेलते खेलते बेचैन हो गये तब वहीं से आकर एक कृष्ण सर्प उनके सिर पर फण पसारकर धूप में उनकी रक्षा करने लगा। शङ्कर इस दृश्य को देखकर विस्मय से चकित हो गये। स्वाभाविक वैर का त्याग! जन्तु जगत् की इस विचित्र घटना ने उनके चित्त पर विचित्र प्रभाव डाला। उनके हृदय में स्थान की पवित्रता जम गई। सामने एक पहाड़ का टीला दीख पड़ा जिस पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं। उन्हीं सीढ़ियों से वे ऊपर चढ़ गये और ऊपर शिखर पर निर्जन कुटिया में बैठकर तपस्या करनेवाले एक तापस को देखा और उनसे इस विचित्र घटना का रहस्य पूछा। तपस्वी ने बतलाया कि यह शृङ्गी ऋषि का पावन आश्रम है। इसी कारण यहाँ नैसर्गिक शान्ति का अखण्ड राज्य है। जीव जन्तु अपना स्वाभाविक वैर भाव भुलाकर यहाँ सुख पूर्वक विचरण करते हैं। इन वचनों का प्रभाव शङ्कर के ऊपर खूब पड़ा और उन्होंने दृढ़ सङ्कल्प किया कि मैं अपना पहला मठ इसी पावन तीर्थ में बनाऊँगा।

---

१ एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्या
न्ऩ्वग्रहीषनु स एव पतञ्जलिस्त्वम् ॥
—शं० (कर) दि० (ग्विजय) ५। ६५

२ गोविन्द के निवासस्थान में कुछ मतभेद है। माधव का कथन (५।९०) है कि गोविन्द का आश्रम नर्मदा नदी के तीर पर था (गोविन्दनाथवनमिन्दुभवातटस्थम्)। चिद्विलास के अनुसार वह कहीं हिमालय पर्वत में स्थित था।

आगे चलकर शङ्कराचार्य ने इसी स्थान पर अपने सङ्कल्प को उचित रूप दिया। शृंगेरी-मठ की स्थापना का यही सूत्रपात है।

गोविन्द मुनि

यहाँ से चलकर शङ्कर अनेक पर्वतों तथा नदियों को पार करते हुए नर्मदा के किनारे ॐकारनाथ के पास पहुँचे। यह वही स्थान था जहाँ पर गोविन्द मुनि किसी गुफा में अखण्ड समाधि की साधना कर रहे थे। समाधि भङ्ग होने के बाद शङ्कर की उनसे भेंट हुई। शङ्कर की इतनी छोटी उम्र में विलक्षण प्रतिभा देखकर गोविन्दाचार्य चमत्कृत हो उठे और उन्होंने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को बड़ी सुगमता के साथ शङ्कर को बतलाया। शङ्कर यहाँ लगभग तीन वर्ष तक अद्वैत-तत्त्व की साधना में लगे रहे। उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों का विशेष रूप से अध्ययन किया। गोविन्दाचार्य ने अपने गुरु गौड़पादाचार्य से ब्रह्मसूत्र की जो साम्प्रदायिक अद्वैत-परक व्याख्या सुन रक्खी थी उसे ही उन्होंने अपने इस विचक्षण शिष्य को कह सुनाया। आचार्य अद्वैत तत्त्व में पारङ्गत हो गये। एक दिन की बात है कि नर्मदा नदी में इतनी बाढ़ आई की पानी बढ़ते-बढ़ते उस गुफा के पास पहुँच गया जिसके भीतर गोविन्दाचार्य समाधि में निमग्न थे। इस घटना से शिष्य-मण्डली में खलबली मच गई। शङ्कर ने बड़ी शान्ति के साथ गुफा के द्वार पर अभिमन्त्रित कर एक कलश रख दिया। अब तो नर्मदा का भयङ्कर जल-प्रवाह उसी कलश में घुसकर विलीन होने लगा। अब गुरुजी समाधि से उठे तब इस आश्चर्य भरी घटना का हाल सुनकर वे चमत्कृत हुए और उन्होंने शङ्कर से काशी में जाकर विश्वनाथ के दर्शन करने को कहा। साथ ही साथ उन्होंने पुरानी कथा भी कह सुनाई जो उन्होंने हिमालय में देवयज्ञ में पधारनेवाले व्यास जी से सुन रक्खी थी। व्यासजी ने उस समय कहा था कि जो पुरुष एक घड़े के भीतर नदी की विशाल जल राशि भर देगा वही मेरे सूत्रों की यथावत् व्याख्या करने में समर्थ होगा। यह घटना तुम्हारे विषय में चरितार्थ हो रही है। गोविन्द ने प्रसन्नतापूर्वक शङ्कर को विदा किया।

काशी में शङ्कर

शङ्कर घूमते घामते विश्वनाथपुरी काशी में आये और मणिकर्णिका घाट पर रहकर अद्वैत-तत्त्व का उपदेश देने लगे। इस बालक सन्यासी की इतनी विलक्षण बुद्धि देखकर काशी की विद्न्मण्डली आनन्द से गद्गद हो उठी। यहीं पर शङ्कर के पहले शिष्य हुए 'सनन्दन' जो चोल देश के रहनेवाले थे। एक बार यहाँ एक विचित्र घटना घटी। दोपहर का समय था। शङ्कर ने अपने विद्यार्थियों के साथ मध्याह्न कृत्य के निमित्त गङ्गा तट पर जा रहे थे। रास्ते में चार भयानक कुत्तों

से घिरे हुए एक भयङ्कर चाण्डाल को देखा। वह रास्ता रोककर खड़ा था। शङ्कर ने उसे दूर हट जाने के लिये कई बार कहा। इस पर वह चाण्डाल बोल उठा कि आप संन्यासी हैं, विद्यार्थियों को अद्वैत तत्त्व की शिक्षा देते हैं परन्तु आपके ये वचन सूचित कर रहे हैं कि आपने उस तत्त्व को कुछ भी नहीं समझा। जब इस जगत् का कोना कोना उसी सच्चिदानन्द परम ब्रह्म से व्याप्त हो रहा है तब कौन किसे छोड़कर कहाँ जाय ? आप पवित्र ब्राह्मण हैं और मैं श्वपच हूँ। यह भी आपका दुराग्रह है। इन वचनों को सुनकर आचार्य के अचरज का ठिकाना न रहा और उन्होंने अपने हृदय की भावना को स्पष्ट करते हुए कहा कि जो चैतन्य विष्णु शिव आदि देवताओं में स्फुरित होता है वही कीड़े मकोड़े जैसे क्षुद्र जानवरों में स्फुरित हो रहा है। उसी चैतन्य को जो अपना स्वरूप समझता हो ऐसा दृढ़ बुद्धिवाला पुरुष चाण्डाल भले ही हो, वह मेरा गुरु है। इस भावना को सुनते ही वह चाण्डाल गायब हो गया और शङ्कर ने आश्चर्यमय लोचनों से उसके स्थान पर भगवान् अष्टमूर्ति विश्वनाथ को देखा। शङ्कर ने उनकी स्तुति की। विश्वनाथ ने उन्हें ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य लिखने की आज्ञा दी।

शङ्कर ने व्यासाश्रम में जाकर भाष्य लिखने का विचार किया और अपनी शिष्य मण्डली के साथ गङ्गा के तीर से होते वे ऋषीकेश पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने चीन देश के डाकुओं के भय से गङ्गा प्रवाह में डाली गई भगवान् यज्ञेश्वर विष्णु की मूर्ति का उद्धार किया। जब वे बदरीनाथ पहुँचे तब उन्होंने भगवान् की मूर्ति को वहाँ न पाया। पता चला कि पुजारी लोगों ने चीनदेशीय दस्युओं के भय से मूर्ति को नारद कुण्ड में डाल दिया था। आचार्य ने स्वयं कुण्ड में जाकर उस प्राचीन मूर्ति को निकाला और उस मन्दिर में प्रतिष्ठित किया। इतना ही नहीं, उस देश के ब्राह्मणों में वेद के ज्ञान का अभाव देखकर उन्होंने स्वजातीय नम्बूद्री ब्राह्मण को भगवान् की यथावत् पूजा अर्चा के लिये नियत किया। आचार्य की यह परम्परा अब तक वहाँ जारी है। ये पुजारी आज कल 'रावल' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

एक प्रमाण

आचार्य शङ्कर भगवान् शङ्कर के अवतार थे तथा उन्हीं ने बदरिकाश्रम में भगवान् विष्णु की मूर्ति की स्थापना की थी, इसका निर्देश यहाँ ऊपर किया गया है। पुराणों में इस विषय के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। उनमें से दो प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—पहला है भविष्य पुराण से और दूसरा है स्कन्द पुराण के वैष्णव खण्ड से।

इति श्रुत्वा वीरभद्रो रुद्रः संहृष्टमानसः ।
स्वांशं देहात् समुत्पाद्य द्विजगेहमचोदयत् ॥
विप्रभैरवदत्तस्य गेहं गत्वा स वै शिव ।
तत्पुत्रोऽभूत् कलौ घोरे शङ्करो नाम विश्रुतः ॥
स बालश्च गुणी वेत्ता ब्रह्मचारी बभूव ह ।
कृत्वा शङ्करभाष्यं च शैवमार्गमदर्शयत् ॥
त्रिपुण्ड्राक्षमाला च मन्त्र पञ्चाक्षरं शुभं ।
शैवानां मंगलकरः शङ्कराचार्यनिर्मितं ॥

भविष्यपुराणे प्रतिसर्गपर्वणि कलियुगेतिहाससमुच्चये कृष्णचैतन्यशङ्कराचार्य-समुत्पत्तिवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ।

ततोऽहं यतिरूपेण तीर्थान्नारदसंज्ञकात् ।
उद्धृत्य स्थापयिष्यामि हरिं लोकहितेच्छया ॥ २४ ॥

स्कन्दपुराणे वैष्णवखण्डान्तर्गत बदरिकाश्रममाहात्म्ये पञ्चमेऽध्याये पृष्ठ १२८ ।

भविष्यपुराण के ऊपर उद्धृत वचन में शङ्कराचार्य के पिता का नाम भैरवदत्त दिया गया है । माधवाचार्य के ग्रन्थ में उनका नाम 'शिवगुरु' है । किन्तु दोनों में विरोध मानना ठीक नहीं है । एक ही व्यक्ति के अनेक नाम होते हैं—जन्म के समय का दूसरा नाम होता है और प्रचलित नाम दूसरा होता है । अतः शिवगुरु को प्रचलित नाम तथा भैरवदत्त को जन्म समय पर रखा गया नाम मानना उचित है ।

भाष्य-रचना

बदरीनाथ के उत्तर में स्थित व्यासगुहा में शङ्कर ने चार वर्षों तक निवास किया और ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद् तथा सनत्सुजातीय पर अपना प्रामाणिक भाष्य प्रणयन किया । आचार्य ने शिष्यों को अपना भाष्य पढ़ाना आरम्भ किया । सनन्दन की बुद्धि विलक्षण थी । शङ्कर ने इन्हें अपना शारीरक भाष्य तीन बार पढ़ाया । अन्य शिष्यों के हृदय में इस पक्षपात से कुछ ईर्ष्या भी उत्पन्न हुई । तब सनन्दन ने अपनी गाढ़ गुरु भक्ति का परिचय देकर अपने सहाध्यायियों को चकित कर दिया । गुरु के करुण आह्वान पर अलकनन्दा पार करते समय सनन्दन के पैर रखने की जगह पर नदी में कमल उग आये थे जिन पर पैर रखकर शिष्य गुरु की सेवा के निमित्त, आकर उपस्थित हो सका । इस घटना के कारण शङ्कर ने सनन्दन का नाम 'पद्मपाद' रख दिया और इसी सार्थक नाम से इनकी ख्याति हो गई । व्यासाश्रम से होकर शङ्कर केदारजी आये और तप्त-कुण्ड का अनुसन्धान कर अपने शिष्यों को भयानक सरदी से बचाया । गङ्गोत्री के दर्शन के लिये भी वे गये थे । उत्तरकाशी में रहते समय आचार्य कुछ उन्म-

नरक से थे। उनका १६ वाँ वर्ष बीत रहा था। ज्योतिषियों के फलानुसार उन्हें उस साल मृत्युयोग की आशङ्का थी। परन्तु एक विचित्र घटना ने इस मृत्युयोग को भी नष्ट कर दिया।

व्यासजी का आशीर्वाद

उत्तर काशी में एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण आकर शङ्कर के साथ ब्रह्मसूत्र के एक सूत्र (३।३।१) पर शास्त्रार्थ करने लगा। शास्त्रार्थ लगातार सात दिनों तक होता रहा। ब्राह्मण इस सूत्र के विषय में जितना सन्देह करता, उस सब का उतना ही खण्डन आचार्य करते जाते। इस तुमुल शास्त्रार्थ को देखकर शिष्य-मण्डली चकित हो उठी। ब्राह्मण की विलक्षण प्रतिभा देखकर पद्मपाद के हृदय में संशय उत्पन्न हुआ कि यह विचक्षण सम्भवत स्वयं महर्षि वेदव्यास ही हैं। संशय निश्चय के रूप में परिणित हो गया जब दूसरे दिन आचार्य की प्रार्थना पर वेदव्यास ने अपना भव्य रूप दिखलाया। वेदव्यासजी ने शाङ्कर भाष्य को स्वयं देखा और अपने मनोगत अभिप्राय की ठीक ठीक व्याख्या करने के कारण आशीर्वाद दिया। शङ्कर को अन्य १६ वर्ष की आयु देकर चिन्तामुक्त किया और अद्वैत तत्त्व के प्रचुर प्रचार के लिये कुमारिल, मण्डन आदि विद्वानों को जीतकर अपने मत में ले आने का उपदेश देकर वे सहसा अन्तर्धान हो गये।

आचार्य सम्भवत: यमुना के किनारे किनारे होकर प्रयाग पहुँचे। इस युग के वैदमार्ग के उद्धारक तथा प्रतिष्ठापक दो महापुरुषों का अलौकिक समागम त्रिवेणी के पवित्र तट पर सम्पन्न हुआ। कुमारिल के जीवनचरित तथा कार्य से परिचय हुए बिना इन दोनों के सम्मेलन की महत्ता भली भाँति समझ में नहीं आ सकती। अत भट्ट कुमारिल का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

भट्ट कुमारिल : कुमारिल की जन्मभूमि

कुमारिल भट्ट किस देश के निवासी थे? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर अभी तक नहीं दिया गया है। तिब्बत के ख्यातनामा विद्वान तारानाथ का कहना है कि ये बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति के पितृव्य थे और ये धर्मकीर्ति दक्षिणभारत के चूडामणि राज्य (? चोल देश) में उत्पन्न हुए थे। 'त्रिमलय' नामक स्थान इनका जन्मस्थान था। 'त्रिमलय' की वर्तमान स्थिति के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु बहुत सम्भव है कि यह 'चूडामणि' राज्य का अपर नाम है जिसके धर्मकीर्ति के जन्मस्थान होने का उल्लेख तिब्बती ग्रन्थों में है। यदि कुमारिल सचमुच धर्मकीर्ति के पितृव्य होते, तो उन्हें दक्षिण भारत का निवासी मानने में हमें आपत्ति नहीं होती, परन्तु इस विषय में भारतीय परम्परा बिल्कुल मौन है। आनन्दगिरि ने अपने 'शङ्करविजय' (पृष्ठ १८०) में लिखा

है कि भट्टाचार्य (कुमारिल) ने उत्तर देश (उदग्देश) से आकर दुष्टमतावलम्बी जैनों तथा बौद्धों को अच्छी तरह परास्त किया (भट्टाचार्याख्यो द्विजवर कश्चित् उदग्देशात् समागत्य दुष्टमतावलम्बिनो बौद्धान् जैनानसख्यातान् निर्जित्य निर्भयो वर्तते)। 'उदग्देश' से अभिप्राय कश्मीर तथा पञ्जाब से समझा जाता है। प्रान्तों के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, परन्तु इस उल्लेख से कुमारिल उत्तर भारत के ही निवासी प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, मीमासक श्रेष्ठ शालिकनाथ ने इनका उल्लेख 'वार्तिककार मिश्र' के नाम से किया है। 'मिश्र' की उपाधि उत्तरी ब्राह्मणों के नाम के साथ ही सम्बद्ध दिखाई पड़ती है। शालिकनाथ कुमारिल के बाद तीसरी या चौथी शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। उनका प्रामाण्य इस विषय में विशेष महत्त्व रखता है। अत प्रतीत होता है कि ये उत्तर भारत के ही निवासी थे। मिथिला की जनश्रुति है कि कुमारिल मैथिल ब्राह्मण थे जो ठीक हो सकती है, परन्तु हमारे पास इसके लिये यथेष्ट प्रमाण नहीं है।

कुमारिल और धर्मकीर्ति

कुमारिल गृहस्थ थे—साधारण गृहस्थ नहीं, बल्कि धनधान्य से सम्पन्न गृहस्थ। तारानाथ ने लिखा है कि उनके पास धान के अनेक खेत थे, ५०० दास थे तथा ५०० दासियाँ। राजा ने बहुत सी सम्पत्ति दी थी। इनके जीवन की अन्य बातों का पता नहीं चलता परन्तु धर्मकीर्ति के साथ इनके शास्त्रार्थ करने तथा पराजित होकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने की घटना का वर्णन तारानाथ ने विस्तार के साथ किया है। धर्मकीर्ति थे त्रिमलय के निवासी ब्राह्मण। इनके पिता का नाम 'कोरुनन्द' था। स्वभाव से ये उद्धत थे तथा वैदिक आचार के प्रति नितान्त श्रद्धाहीन थे। बौद्धों के उपदेशों को सुनकर उनके हृदय में बौद्धधर्म के प्रति श्रद्धा जाग उठी। घर छोड़कर मध्यदेश (मगध) में आये, तथा नालन्दा के पीठस्थविर (अध्यक्ष) धर्मपाल के पास रहकर समस्त बौद्ध आगमों का विधिवत् अध्ययन किया। ब्राह्मण दर्शन के रहस्य जानने की इच्छा से इन्होंने नौकर का वेश धारण किया और कुमारिल के पास जा पहुँचे। धर्मकीर्ति कुमारिल के घर पर नौकरी करने लगे और पचास नौकरों का काम स्वय अकेले करने लगे। कुमारिल तथा उनकी स्त्री का हृदय इस नये सेवक की सेवा से प्रसन्न हो गया। उन्होंने उसे धर्म तथा दर्शन के उन रहस्यों को सुनने का अवसर दे दिया जिन्हें कुमारिल अपने शिष्यों को समझाया करते थे। धर्मकीर्ति ने जब वैदिक धर्म के रहस्यों में पूरी प्रवीणता प्राप्त कर ली तब, 'कणादगुप्त' नामक एक वैशेषिक आचार्य तथा अन्य ब्राह्मण दार्शनिकों के साथ शास्त्रार्थ किया और उन्हें परास्त किया। अन्त में कुमारिल ने अपने

पाँच सौ शिष्यों के साथ मिलकर धर्मकीर्ति से शास्त्रार्थ किया। पराजित हो जाने पर, पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार, उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।[1]

बौद्धधर्म का ग्रहण

इस घटना की पुष्टि भारतीय ग्रन्थों से नहीं होती, परन्तु इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि कुमारिल ने बौद्ध दर्शन का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये कुछ दिनों तक बौद्ध भिक्षु बनकर किसी बौद्धाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण की थी। आचार्य शङ्कर से अपनी आत्मकथा कहते समय कुमारिल ने स्वयं कहा था कि किसी भी शास्त्र का खण्डन तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसके रहस्यों का गाढ़ परिचय नहीं होता। मुझे बौद्धधर्म की धज्जियाँ उड़ानी थीं, अतः मैंने बौद्धधर्म के खण्डन करने से पूर्व उसका गाढ़ अनुशीलन किया। माधवकृत शंकरदिग्विजय (सर्ग ७, श्लोक ९३) का कथन इस विषय में नितान्त स्पष्ट है—

> अवादिषं वेदविघातदक्षैस्तान्नाशकं जेतुमबुध्यमानः।
> तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन् निषेध्यबोधाद्धि निषेध्यबाधः॥

कुमारिल ने बौद्धधर्म का अध्ययन किस बौद्धाचार्य के पास किया? यह कहना कठिन है। माधव ने (सर्ग ७ श्लोक ९४ में) बौद्धाचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु उस समय धर्मपाल (६०० ई०—६३५ ई०) की कीर्ति चारों ओर फैली थी। वे बौद्ध दर्शन के प्रधान पीठ नालन्दा विहार के अध्यक्ष थे। वे थे तो विज्ञानवादी परन्तु योगाचार और शून्यवाद दोनों मतों के विख्यात सिद्धान्त ग्रन्थों पर उन्होंने टीकाएँ लिखीं। इनका 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिव्याख्या' वसुबन्धु के विख्यात योगाचार ग्रन्थ की व्याख्या है तथा 'शतशास्त्र वैपुल्य भाष्य' आर्यदेव के प्रसिद्ध शून्यवादी ग्रन्थ का पाण्डित्यपूर्ण भाष्य है। यह अनुमान निराधार नहीं माना जा सकता कि कुमारिल भट्ट ने इन्हीं आचार्य धर्मपाल से बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया।

एक दिन की बात है। धर्मपाल नालन्दा विहार के विशाल प्राङ्गण में बैठकर अपने शिष्यों के सामने बौद्ध धर्म की व्याख्या अभिनिवेश पूर्वक कर रहे थे। प्रसङ्गतः उन्होंने वेदों की बड़ी निन्दा की। इस निन्दा को श्रवण कर कुमारिल की

---

१ इस जनश्रुति का उल्लेख केवल तारानाथ ने ही अपने 'चोस ब्युङ्' नामक ग्रन्थ में नहीं किया है, बल्कि इसका पुनरुल्लेख अन्य तिब्बती ग्रन्थ में भी मिलता है। द्रष्टव्य डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ् इण्डियन लाजिक पृष्ठ ३०५.

आँखों से आँसुओं की धारा लगातार बहने लगी—इतनी अधिक, कि उनके उत्तरीय का अंचल जल से भीग गया। पास बैठनेवाले एक भिक्षु ने इसे देखा और धर्मपाल का ध्यान इधर आकृष्ट किया। धर्मपाल इस घटना को देखकर अवाक् रह गये। बौद्ध भिक्षु के नेत्रों से वेद निन्दा सुनकर आँसुओं की झड़ी !!! आश्चर्य भरे शब्दों में उन्होंने पूछा कि तुम्हारे नेत्रों से जल बहने का कारण क्या है? क्या मैंने वेदों की जो निन्दा की है वही तो हेतु नहीं है? कुमारिल ने कहा कि मेरे रोने का कारण यही है कि आप बिना वेदों के गूढ़ रहस्य जाने उनका मनमाना खण्डन कर रहे हैं। इस घटना ने कुमारिल की वेद श्रद्धा सबके सामने अभिव्यक्त कर दी। इस उत्तर से धर्मपाल नितान्त रुष्ट हुए और अहिंसावादी गुरु ने अपने शिष्यों से कहा—'इसे ऊपर से जाओ और शिखर से नीचे ढकेल दो। देखें यह अपनी रक्षा कैसे करता है'। शिष्यों के लिये यह विपुल मनोरञ्जन का साधन था। वे उसे उठाकर विहार के ऊँचे शिखर पर ले गये और वहाँ से तुरन्त ढकेल दिया। आस्तिक कुमारिल ने अपने को नितान्त असहाय पाकर वेदों की शरण ली और गिरते समय ऊंचे स्वर से घोषित किया कि यदि वेद प्रमाण हैं, तो मेरे शरीर का बाल भी बांका न होगा —

पतन् पतन् सौधतलान्यरोहं यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति।
जीवेयमस्मिन् पतितोऽसमस्थले मज्जीवने तच्छ्रुतिमानता गतिः॥

—शं॰ दि॰ ७।९८

उपस्थित जनता ने आश्चर्य से देखा। कुमारिल बाल-बाल बच गये। वेद भगवान् ने उनकी रक्षा कर दी। केवल वेद की प्रामाणिकता में 'यदि' पद के द्वारा सन्देह प्रकट करने के कारण उनकी एक आँख फूट गई। इस बार कुमारिल ने वेद-प्रामाण्य के विषय में धर्मपाल को ललकारा। तुमुल वाग्युद्ध छिड़ गया। बौद्ध आचार्य परास्त हो गया और कहा जाता है कि पूर्वप्रतिज्ञानुसार उसने अपने शरीर को तुषानल (भूसी की आग) में जला डाला। वैदिक धर्म के आगे बौद्ध धर्म ने पराजय स्वीकार कर लिया। वैदिक दर्शन ने बौद्ध दर्शन को परास्त कर दिया। कुमारिल की विजय वैजयन्ती सर्वत्र फहराने लगी[1]।

---

१. इस घटना के लिये हमारे पास प्रमाण है शङ्करदिग्विजय, विशेषतः माधव के शङ्करदिग्विजय का सप्तम सर्ग तथा मणिमञ्जरी (५ सर्ग, ३७-४१ श्लोक)। बौद्धग्रन्थों से भी इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। अतः कुमारिल के बौद्ध भिक्षु बनकर बौद्धधर्म सीखने की बात हम यथार्थ तथा प्रामाणिक मानते हैं।

कुमारिल और राजा सुधन्वा

राजा सुधन्वा उस समय के एक न्यायपरायण राजा थे। वे कर्नाटक देश के उज्जैनी नगर में राज्य कर रहे थे। वे थे वैदिक मार्ग के नितान्त श्रद्धालु, परन्तु जैनियों के पञ्जे में पड़कर वे जैन धर्म में आस्था करने लगे। दिग्विजय करते हुए कुमारिल कर्नाटक देश में आये और राजा सुधन्वा के दरबार में गये। राजा को वेदमार्ग के उत्थान के लिये चिन्तित देखकर उन्होंने बड़े गर्व के साथ कहा कि राजन्, आप धर्म के पुनरुत्थान के विषय में तनिक भी चिन्ता न करें। मेरा नाम कुमारिल भट्टाचार्य है। मैं आपके सामने दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूँ कि बौद्धों को पराजित कर मैं वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करूँगा।

राजा सुधन्वा था तो स्वयं परम आस्तिक, परन्तु उसके दरबार में था नास्तिक जैनियों का प्रभुत्व। उन्हीं को लक्ष्य कर कुमारिल ने कहा—

मलिनैश्चेन्न संगस्ते नीचैः काककुलैः पिक।
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः॥

—शङ्करदिग्विजय १।६५

हे कोकिल! यदि मलिन, काले, नीच, श्रुति (वेद तथा कान) को दूषित शब्द करनेवाले कौवों से तुम्हारा संसर्ग नहीं होता, तो तुम सचमुच श्लाघनीय होते। जैनियों ने इस बात से बड़ा बुरा माना। राजा भी दोनों की परीक्षा लेने का अवसर ढूँढ़ रहा था। राजा ने एक बार एक घड़े में एक विषैले साँप को बन्द कर जैनियों और ब्राह्मणों से इसके विषय में पूछा। दूसरे दिन का वादा कर जैन लोग घर लौट गये। परन्तु कुमारिल ने उसका उत्तर उसी समय लिखकर रख दिया। रात भर जैनियों ने अपने तीर्थंकरों की आराधना की, प्रातःकाल होते ही उन्होंने राजा से कह सुनाया कि घड़े के भीतर सर्प है। कुमारिल का पत्र खोला गया। दैवी प्रतिभा के बल पर लिखे गये पत्र में वही उत्तर विद्यमान था। समान उत्तर होने पर राजा ने पूछा कि सर्प के किसी विशिष्ट अंग में कोई चिह्न है क्या? जैनी लोगों ने समय के लिये प्रार्थना की परन्तु कुमारिल ने उत्तर दिया कि सर्प के सिर पर दो पैर के चिह्न बने हुए हैं। घड़ा खोला गया। कुमारिल का कथन अक्षरशः सत्य निकला। राजा ने वेदबाह्य जैनियों को निकाल बाहर किया और वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा की। अब कुमारिल का सामना करने की किसी को हिम्मत न हुई।

कुमारिल के ग्रन्थ

भट्ट कुमारिल ने शबर स्वामी के मीमांसा भाष्य पर सुप्रसिद्ध टीका लिखी है जो वार्तिक के नाम से विख्यात है। यह टीका तीन भागों में विभक्त है—

(१) श्लोकवार्तिक—३०९९ अनुष्टुप् छन्दों का यह विशालकाय ग्रन्थ प्रथम अध्याय के प्रथम पाद (तर्कपाद) की व्याख्या है। (२) तन्त्रवार्तिक—प्रथम अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक की गद्य में व्याख्या है। ये दोनों ग्रन्थ कुमारिल के व्यापक पाण्डित्य को तथा असाधारण तर्ककुशलता को प्रकट करने में पर्याप्त हैं। (३) तीसरा ग्रन्थ बहुत छोटा है। इसका नाम है टुप् टीका जिसमें चौथे अध्याय से लेकर १२वें अध्याय तक के शाबर भाष्य पर संक्षिप्त गद्यात्मक टिप्पणियाँ हैं। कृष्णदेव ने तन्त्रचूडामणि में कुमारिल की अन्य दो टीकाओं का उल्लेख किया है। एक का नाम था बृहद् टीका और दूसरी का नाम था 'मध्यम टीका'। तन्त्र-वार्तिक (या तन्त्र टीका) बृहद् टीका का संक्षेप माना जाता है। इन ग्रन्थों के सिवा "मानव कल्पसूत्र" के ऊपर कुमारिल की लिखी हुई एक टीका भी उपलब्ध है जिसके कुछ अंश को १८६७ में डाक्टर गोल्डस्टूकर ने लण्डन से छपवाया था। शिव महिम्न की रचना एक टीकाकार के अनुसार कुमारिल के द्वारा की गई थी। परन्तु इसमें कुछ सार नहीं मालूम पड़ता। सोमदेव के 'यशस्तिलक' चम्पू (९५९ ई०) में 'प्रह्लिल' इस स्तोत्र के कर्ता माने गये हैं।

कुमारिल का भाषाज्ञान

कुमारिल का ज्ञान शास्त्रों के साथ साथ भिन्न-भिन्न भाषाओं के विषय में भी असामान्य प्रतीत हो रहा है। तन्त्रवार्तिक में भाषाओं के दो भेद किये हैं—(१) आर्यों की भाषा, (२) म्लेच्छों की भाषा। आर्यों का निवास स्थान आर्यावर्त माना गया है। इस देश की भाषा आर्य थी और जो लोग आर्यावर्त के बाहर प्रदेशों में रहते थे वे म्लेच्छ माने गये हैं। उनकी भाषा म्लेच्छ मानी गई है। कुमारिल द्राविड़ी भाषा (तमिल) से परिचित जान पड़ते हैं। उन्होंने पाँच शब्दों को तन्त्र वार्तिक में उद्धृत[1] किया है जो तमिल भाषा से सम्बद्ध हैं। चोर् = भात (तामिल चोर), नडेर् = रास्ता (ता० नड़), पाम्प् = साँप (ता० पाम्पू), आल = मनुष्य (ता० आड़), वैर = पेट (ता० वायिरु)। इसके अनन्तर कुमारिल ने पारसी, बर्बर, यवन, रौमक भाषाओं का नाम उल्लिखित किया है—तद् यथा द्राविडादिभाषायामीदृशी स्वच्छन्दकल्पना, तदा पारसी-बर्बर-यवन रौमकादिभाषासु किं विकल्प्य किं प्रतिपत्स्यन्ते इति न विद्म। इन नामों में पारस से अभिप्राय फारसी से तथा यवन भाषा से ग्रीक भाषा से है। रौमक-

---

१. द्रष्टव्य तन्त्रवार्तिक १।३।१० तद् यथा द्राविडादिभाषायामेव तावद् व्यञ्जनान्तभाषापदेषु स्वरान्तविभक्ति-स्त्रीप्रत्ययादि-कल्पनाभिः स्वभाषानुरूपान् अर्थान् प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते।

भाषा = रोम की भाषा के विषय में निश्चय नहीं किया जा सकता। साधारण तया यह रोम की भाषा अर्थात् लैटिन को सूचित करता है, परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल में 'रोम' शब्द से अभिप्राय इटली देश की राजधानी रोम का न होकर तुर्कों की राजधानी कुस्तुनतुनियाँ ही है। बोलचाल की हिन्दी में भी तुर्कों का देश 'रूम' के नाम से ही विख्यात है। बर्बर भाषा कौन सी है? सम्भवतः जङ्गल में रहनेवाले असभ्य लोगों की भाषा होगी। कुमारिल का परिचय लाटभाषा (गुजराती) से भी था। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि लाटभाषा को छोड़कर अन्य किसी भाषा के 'द्वार' को 'बार' नहीं बदलते (नहि द्वारशब्दस्य स्थाने लाटभाषातोऽन्यत्र 'बार' शब्दो दृश्यते)। जान पड़ता है, कुमारिल वैयाकरणों के द्वारा व्याकृत किसी प्राकृत भाषा का निर्देश नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत लाट देश (गुजरात) की किसी स्थानीय भाषा का उल्लेख उन्हें अभीष्ट-सा प्रतीत होता है। प्राकृत तथा पाली से भी वे भली भाँति परिचित हैं।

कुमारिल का दार्शनिक पाण्डित्य

कुमारिल के शास्त्रज्ञान की चर्चा करना अनावश्यक है। इतने व्यापक पाण्डित्य, विविध दर्शनों के सिद्धान्तों के गाढ़ अध्ययन का अन्यत्र मिलना दुर्लभ दीख रहा है। उनका 'तन्त्रवार्तिक' वैदिक धर्म तथा दर्शन के लिये एक प्रामाणिक विश्वकोष है। वैदिक आचार के तत्त्वों का प्रतिपादन शास्त्र तथा युक्ति के सहारे इतनी सुन्दरता के साथ किया गया है, कि उनकी अलौकिक वैदुषी देखकर चकित होना पड़ता है। परन्तु सबसे विलक्षण तथा विचित्र बात है बौद्ध दर्शन का गहरा अनुशीलन। आचार्य शंकर का बौद्धशास्त्र विषयक ज्ञान कम नहीं था, परन्तु कुमारिल के साथ तुलना करने पर यही प्रतीत होता है कि कुमारिल का बौद्ध दर्शन का ज्ञान अधिक परिनिष्ठित, व्यापक तथा त्रुटिहीन था। यह भी इस बात का सबल प्रमाण है कि कुमारिल ने बौद्धधर्म का ज्ञान साक्षात् बौद्धाचार्यों से प्राप्त किया था, ग्रन्थों के अध्ययन से ही नहीं। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि कुमारिल बौद्ध भिक्षु बनकर उस दर्शन के प्रचुर ज्ञान सम्पादन करने में समर्थ हुए थे। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्होंने मूल बौद्धधर्म की जानकारी के लिये पाली का अभ्यास किया था। अष्टम शताब्दी में पाली पठन-पाठन की भाषा न थी, उसकी परम्परा नष्ट हो चुकी थी। फिर भी उसी युग में कुमारिल ने उसका अध्ययन कर मूल पाली त्रिपिटकों का परिचय प्राप्त किया। 'तन्त्रवार्तिक' में उन्होंने बौद्धों के एक विख्यात सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि 'संस्कृतधर्म—उत्पन्न पदार्थ—कारण से उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनका विनाश बिना किसी कारण

के ही सम्पन्न है (अणुभवे कारणं इमे संकडाधम्मा सम्भवन्ति सकारणा, अकारणा विणसन्ति अणुप्पति कारणम्)। यह कुमारिल के लिये बड़े गौरव की बात है कि उन्होंने अवैदिक धर्म का मूल पकड़कर उसका पर्याप्त खण्डन किया था। इसी लिये तो उनका काम इतना पुष्ट हुआ कि उनके तथा आचार्य शङ्कर के खण्डनों के अनन्तर बौद्ध धर्म अपना सिर उठाने में समर्थ नहीं हुआ, पूर्वी प्रान्तों के कोने में किसी प्रकार सिसकता हुआ अपने दिन गिनने लगा और अन्त में उसे भारत की पुण्यभूमि छोड़ देने पर ही चैन मिला। वैदिक धर्म के इस पुनरुत्थान तथा पुनःप्रतिष्ठा के लिये हम आचार्य कुमारिल तथा आचार्य शङ्कर के ऋणी हैं। वह ऋण दुर्बल शब्दों के द्वारा चुकाया नहीं जा सकता। ऐसी दशा में यदि हम कुमारिल को स्वामी कार्तिकेय (कुमार) का अवतार मानें, तो आश्चर्य की बात नहीं है।

कुमारिल और शङ्कर

भट्ट कुमारिल का संक्षेप में यही जीवनचरित्र है। ऐसे विशिष्ट पुरुष की सहायता लेने के लिये आचार्य शङ्कर बड़े उत्सुक थे। ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य की रचना वे कर चुके थे। उनकी बड़ी इच्छा थी [illegible] कोई विशिष्ट विद्वान इस भाष्य के ऊपर विस्तृत वार्तिक बनाता। कुमारिल वार्तिक लिखने की कला में सिद्धहस्त थे। शाबरभाष्य पर विस्तृत वार्तिक लिखकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता की धाक पण्डित-समाज के ऊपर जमा दी थी। आचार्य शङ्कर इसी उद्देश की पूर्ति के लिये अपनी शिष्य-मण्डली के साथ उत्तरकाशी से प्रयाग की ओर रवाना हुए। संभवतः यमुना के किनारे का रास्ता उन्होंने पकड़ा। शिष्य-मण्डली के साथ वे त्रिवेणी के तट पर पहुँचे। उन्हें जानकर अत्यन्त खेद हुआ कि भट्ट कुमारिल त्रिवेणी के तट पर तुषानल में अपने शरीर को जला रहे हैं। इतने बड़े मीमांसक को इस प्रकार शरीर-पात करते देख आचार्य को विशेष आश्चर्य हुआ। वे तुरन्त मिलने के लिये गये। कुमारिल का निचला अंग आग में जल गया था परन्तु मुख के ऊपर वही एक विलक्षण शान्ति विराजमान थी। उनका चेहरा ब्रह्म-तेज से चमक रहा था। वैदिक धर्म के दो बड़े उद्धारकों का त्रिवेणी की पवित्र तटी पर यह अपूर्व सम्मेलन हुआ। कुमारिल ने शङ्कर की कीर्ति पहले ही सुन रक्खी थी। शङ्कर भाष्य के ऊपर वार्तिक रचने की उनकी बड़ी अभिलाषा [illegible]। परन्तु वे अपने अङ्गीकृत व्रत को टाल न सके। आचार्य ने इसका कारण पूछा। कुमारिल ने उत्तर में कहा कि मैंने दो बड़े भारी पातक किये हैं। पहला पातक है अपने बौद्ध गुरु का तिरस्कार और दूसरा पातक है जगत् के कर्ता ईश्वर का खण्डन। जिससे मुझे बौद्धधर्म के रहस्यों का पता चला उसी गुरु का मैंने, वैदिक धर्म के उत्थान के लिये, भरी सभा में पण्डितों के सामने परास्त कर तिरस्कार

किया। लोगों की यह गलत धारणा है कि मीमांसा ईश्वर का तिरस्कार करती है। कर्म की प्रधानता दिखलाना मीमांसा को अभीष्ट है। इसी पवित्र उद्देश के लिये जगत् के कर्तारूपी ईश्वर का खण्डन मैंने अवश्य किया है। मेरे पहले भर्तृमित्र नामक मीमांसक[१] ने विचित्र व्याख्या कर मीमांसाशास्त्र को चार्वाक मत के समान नास्तिक बनाने का उद्योग अवश्य किया था परन्तु मैंने ही अपने श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक के द्वारा मीमांसा को आस्तिक मार्ग में ले जाने का उद्योग किया (श्लोकवार्तिक १।१०)। अतः कर्म की प्रधानता सिद्ध करने के लिये कर्ता रूपी ईश्वर के खण्डन करने का मैं अपराधी अवश्य हूँ। इन्हीं दोनों अपराधों से मुक्ति पाने के लिये मैं यह प्रायश्चित्त विधान कर रहा हूँ। इस पर शङ्कर ने उन्हें बहुत कुछ कहा। अभिमन्त्रित जल छिड़ककर उन्हें नीरोग कर देने की बात सुनाई, परन्तु कुमारिल ने लोक शिक्षा के निमित्त इस प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं किया। अपने शिष्य मण्डन मिश्र को परास्त कर अपना प्रधान सहायक बनाने की सलाह देकर उन्होंने तुषानल में अपने को भस्म कर डाला। इस प्रकार कुमारिल और शङ्कर की बातचीत कुछ ही देर तक होती रही। यदि शंकर को कुमारिल का पर्याप्त सक्रिय सहयोग प्राप्त होता तो हम कह नहीं सकते कि आचार्य को अपने सिद्धान्तों के सद्य प्रचार करने में कितनी सफलता प्राप्त होती।

मण्डन मिश्र

कुमारिल के आदेशानुसार शङ्कर मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ कर उन्हें अद्वैतवाद के प्रचार में सहायक बनाने के लिये 'महिष्मती' नगरी में पहुँचे। यह नगरी आजकल इन्दौर रियासत में नर्मदा के किनारे 'मान्धाता' के नाम से प्रसिद्ध है। महिष्मती नाम की एक छोटी नदी नर्मदा से जिस स्थान पर मिलती थी उसी पवित्र सङ्गम पर ही मण्डन मिश्र का विशाल प्रासाद था। मण्डन मिश्र कुमारिलभट्ट के पट्टशिष्य थे और गुरु के समान ये भी कर्ममीमांसा के एक प्रकाण्ड आचार्य थे। इनके मीमांसाशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) विधिविवेक (विध्यर्थ का विचार), (२) भावनाविवेक (आर्थी भावना की मीमांसा), (३) विभ्रमविवेक (पाँचों सुप्रसिद्ध ख्यातियों की व्याख्या) (४) मीमांसासूत्रानुक्रमणी (मीमांसा

---

१ इनके नाम का उल्लेख श्लोकवार्तिक की टीका में पार्थसारथि मिश्र ने किया है—

> प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
> तामास्तिकपथे नेतुमयं यत्नः कृतो मया॥ १०॥

मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायतीकृता, नित्यनिषिद्धयोरिष्टानिष्टं फलं नास्तीत्यादि बह्वपसिद्धान्तपरिग्रहेणेति। (टीका)

सूत्रों का श्लोकबद्ध संक्षेप)। इन्होंने (५) 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें भर्तृहरि-सम्मत शब्दाद्वयवाद का वर्णन है। ये बड़ा उच्चकोटि के वेदान्ती भी थे। इनकी (६) "ब्रह्मसिद्धि" इस बात का सबसे प्रबल प्रामाण्य है। इनकी स्त्री बड़ी भारी विदुषी थीं। उनका नाम 'अम्बा' या 'उम्बा' था। शोण-तट के निवासी विष्णुमित्र नामक ब्राह्मण की वे कन्या थीं। परन्तु उनकी विद्वत्ता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी तथा दर्शनशास्त्र में उनका पाण्डित्य इतना प्रखर था कि लोक समाज में वे भारती, उभयभारती शारदा के नामों से प्रसिद्ध थीं। मण्डन मिश्र ब्रह्मा के अवतार माने जाते थे तथा उनकी पत्नी सरस्वती का अवतार मानी जाती थी। मण्डन का व्यक्तिगत नाम 'विश्वरूप' भी था। पण्डित मण्डली के मण्डन स्वरूप होने के कारण ये सम्भवतः मण्डन नाम से प्रसिद्ध थे। माधव ने इनके पिता का नाम 'हिममित्र' लिखा है (३।२७) तथा आनन्दगिरि ने इन्हें कुमारिलभट्ट का बहनोई लिखा है। परन्तु पता नहीं कि ये बातें कितनी सत्य हैं। प्रवाद है कि ये मिथिला के रहनेवाले थे और दरभंगे के पास किसी गाँव में वह स्थान भी बताया जाता है जहाँ इनकी पत्नी भारती के साथ शङ्कराचार्य का शास्त्रार्थ सम्पन्न हुआ था।

जिस समय शङ्कर अपने शिष्यों के साथ महिष्मती पहुँचे, दोपहर का समय था। नर्मदा के तीर पर एक रमणीय शिवालय में उन्होंने अपने शिष्यों को विश्राम करने की अनुमती दी और अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए मण्डन से मिलने के लिए स्वयं चल पड़े। रास्ते में उन्होंने माथे पर कलशी रखकर पनघट की ओर आनेवाली दासियों को देखा। शङ्कर ने उन्हीं से मण्डन के घर का पता पूछा। वे अनायास मट बोल उठीं—आप आगन्तुक से प्रतीत हो रहे हैं, अन्यथा कौन व्यक्ति होगा जो पण्डित-समाज के मण्डनभूत मण्डन मिश्र को न जानता हो। 'जिस दरवाजे पर पिंजड़ों में बैठी हुई मैनाएँ आपस में विचार करती हैं कि जगत् ध्रुव है या अध्रुव है, श्रुति प्रमाणभूत हैं या नहीं, वेद का तात्पर्य सिद्ध वस्तु के प्रतिपादन में है या साध्य वस्तु के', उसे ही आप मण्डन मिश्र का घर जान लीजिए—

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन् मण्डनपण्डितौकः॥
जगद् ध्रुवं स्यादजगदध्रुवं स्यात् कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥

—शङ्करदिग्विजय ८।६, ८।

आचार्य इस वर्णन से चमत्कृत हो उठे। वे मण्डन के घर पर पहुँचे तो दरवाजा एकदम बन्द! द्वारपालों ने कहा कि अन्दर जाने की अनुमति नहीं है,

क्योंकि आज हमारे स्वामी अपने पिता का श्राद्ध कर रहे हैं। तब शङ्कर आकाश मार्ग से आँगन में जा पहुंचे। मण्डन ने महर्षि जैमिनि और व्यास को भी निमन्त्रण देकर बुलाया था। बिना अनुमति के एक सन्यासी को श्राद्ध काल में आया हुआ देखकर मण्डन नितान्त अप्रसन्न हुए और कुछ कुवचन भी बोले। जब शङ्कर ने अपना उद्देश्य कह सुनाया तब वे प्रसन्न होकर शास्त्रार्थ करने के लिये उद्यत हो गये। व्यासजी की अनुमति से मण्डन की विदुषी पत्नी श्री शारदा देवी ने इस शास्त्रार्थ का मध्यस्थ होना स्वीकार किया। दोनों ने अपनी प्रतिज्ञा सुनाई। बड़ा तुमुल शास्त्रार्थ छिड़ गया। एक थे मीमांसा के मूर्धन्य पण्डित और दूसरे थे अद्वैतमत के पारगामी, अलौकिक शेमुषी-सम्पन्न विद्वान्। शारदा को घर का कामधाम भी तो करना था; अपने पति के लिए भोजन तथा संन्यासी के लिये भिक्षा तैयार करनी थी। उन्होंने दोनों पण्डितों के गले में पुष्पमाला पहना दी और कह दिया कि जिसके गले की माला फीकी पड़ जायगी, वही शास्त्रार्थ में परास्त समझा जायगा[1]। अनेक दिनों तक देवताओं को भी आश्चर्य से चकित कर देनेवाला शास्त्रार्थ चलता रहा। मण्डन के गले की माला फीकी पड़ गई। शारदा ने अपने पति को विजित तथा शङ्कर को विजयी होने की अपनी सम्मति दे दी। पण्डितसमाज में खलबली मच गई।

शङ्कर का परकाय-प्रवेश

पर शारदा ने शङ्कर से कहा कि जब तक आप मुझे नहीं जीत लेते तब तक आप पूर्ण विजयी नहीं माने जा सकते। आपने अभी तक आधा ही अङ्ग जीता है। मैं तो अभी आपसे शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार हूँ। बिना मुझे जीते आप पूर्ण विजयी कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। शङ्कर ने इसे मान लिया। दोनों का शास्त्रार्थ छिड़ गया। शारदा ने बालब्रह्मचारी से कामशास्त्र की बातें पूछीं। आचार्य ने इस प्रश्न के उत्तर देने के लिए कुछ दिनों की अवधि चाही। अपने शिष्यों की सलाह लेकर अपना शरीर एक गुफा में शिष्यों के रक्षण में छोड़कर शङ्कर ने अमरुक राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया। राजा जी गया। परन्तु उसके व्यवहार में विलक्षण परिवर्तन दीख पड़ा। मन्त्रियों ने पहचान लिया कि हमारे स्वामी के शरीर में किसी दिव्यपुरुष के प्रवेश कर लेने से राज्य में सर्वत्र शान्ति विराज रही है। राजा का वेश धारण करनेवाले शङ्कर ने रमणियों के सङ्ग रहकर कामशास्त्र में विशेष निपुणता प्राप्त कर ली। लौटने की अवधि एक मास की नियत की गई थी, परन्तु उस अवधि के बीतने के साथ शिष्यों के हृदय

---

१ माला यदा मलिनभावमुपैति कण्ठे,
यस्यापि तस्य विजयेतरनिश्चयः स्यात्—शङ्करदिग्विजय ८।६४

से गुरु के स्वयं लौट आने की आशा भी टूट गई। वे बड़े चिन्तित हुए। गुरु को खोज निकालना निश्चित किया गया। पद्मपाद की सम्मति से शिष्य लोग राजदरबारों में अपने गुरु को खोजने लगे। इसी यात्रा प्रसङ्ग में वे लोग 'अमरुक' के राज्य में आये। राजा की प्रजावत्सलता तथा प्रजामण्डल की शान्ति देखकर उन्हें निश्चय हो गया कि इसी जगह शङ्कर का निवासस्थान है। कलावन्तों के वेश में लोग राजदरबार में गये। सङ्गीत-प्रेमी राजा ने उनका बड़ा आदर किया। इन गायकों ने आध्यात्मिक भाव से ओत-प्रोत इतना भावमय गायन सुनाया कि उसे सुनते ही शङ्कर के मानस पटल पर अनुभूत की गई समग्र प्राचीन घटनाएँ एक के बाद एक अङ्कित होने लगीं। उनकी विस्मृति जाती रही और उन्होंने राजा का शरीर छोड़कर असली रूप धारण कर लिया।

तदनन्तर कामकला में अलौकिक प्रवीणता प्राप्त कर शङ्कर अपनी शिष्य-मण्डली के साथ मण्डन मिश्र के घर आये और उनकी पत्नी शारदा को शास्त्रार्थ के लिये आह्वान किया। शारदा शङ्कर के इस चमत्कार को देखकर चमत्कृत हो उठी और उपस्थित विद्वन्मण्डली के सामने अपना पराजय स्वीकार किया। पति तथा पत्नी दोनों को परास्त करने के बाद शङ्कर ने मण्डन मिश्र पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली और पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार मण्डन ने शङ्कर से संन्यास की दीक्षा ली। वे सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए।

दक्षिणयात्रा : कापालिक से संघर्ष

मण्डन मिश्र के परास्त करते ही आचार्य की कीर्ति चारों ओर फैल गई। मण्डन सचमुच उस युग की पण्डित-मण्डली के मण्डन थे; उनको परास्त करना बायें हाथ का खेल न था। परन्तु शङ्कर ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर मण्डन के मत का ही खण्डन न किया प्रत्युत वाग्देवतारूपिणी उनकी पत्नी को भी परास्त कर दिया। सुरेश्वर को साथ लेकर आचार्य ने दक्षिण की यात्रा आरम्भ कर दी। महाराष्ट्र प्रान्त से होते हुए वे सुप्रसिद्ध श्रीपर्वत पर पहुँचे। मल्लिकार्जुन और भ्रमराम्बा की भक्ति-विनम्र हृदय से स्तुति की और अपनी शिष्य-मण्डली के साथ इस प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र में कुछ दिनों तक निवास किया। श्रीपर्वत कापालिकों का अड्डा था। यहीं रहते समय शङ्कर का उग्रभैरव नामक कापालिक के साथ संघर्ष हुआ। वह कापालिक आचार्य शङ्कर के विनाश का ही अभिलाषी था और इस कुत्सित उद्देश की पूर्ति के लिये पहिले तो वह आचार्य का शिष्य बन गया और अपने कार्य की सिद्धि के लिये अवसर ढूंढने लगा। एक बार उन्हें अकेला पाकर वह तलवार से उनके सिर को धड़ से उड़ा देना ही चाहता था, परन्तु इसी बीच में पद्मपाद उसके इस दुरभिप्राय को समझकर उस स्थान पर स्वयं उपस्थित हो गये और नरसिंह रूप धारण कर उसे भयभीत ही

न कर दिया बल्कि त्रिशूल चलाकर उसे वहीं मार डाला। पद्मपाद के इस विलक्षण प्रभाव को देखकर आचार्य तथा उनके शिष्य आश्चर्य से चकित हो गये।

यहाँ से आचार्य 'गोकर्ण' क्षेत्र गये जो बम्बई प्रान्त में पश्चिमी समुद्र के किनारे आज भी एक सुप्रसिद्ध शैव तीर्थ माना जाता है। यहाँ पर उन्होंने भगवान् महाबलेश्वर की स्तुति कर तीन रातें आनन्द से बिताईं। यहाँ से ये शिष्य मण्डली के साथ **हरिशङ्कर** नामक तीर्थक्षेत्र में पहुचे। इस तीर्थ के नाम के अनुरूप ही उन्होंने भगवान् हरि और शङ्कर की स्तुति श्लेषपूर्ण पद्यों में की। अनन्तर वे **मूकाम्बिका** के मन्दिर की ओर चले। रास्ते में एक आश्चर्यजनक घटना घटी। एक ब्राह्मणदम्पती अपने मृत पुत्र को गोदी में लेकर विलाप कर रहे थे। आचार्य का हृदय उनके करुण रोदन पर दया भाव से आप्लुत हो गया। आचार्य ने उस मरे हुए लड़के को जिला दिया। इसके बाद वे मूकाम्बिका के मन्दिर में पहुचे और रहस्यमय पद्यों के द्वारा भगवती की प्रशस्त स्तुति की।

हस्तामलक का चरित्र

अनन्तर वे श्रीवलि नामक अग्रहार में पहुचे। वहाँ ब्राह्मणों की ही प्रधान बस्ती थी। ब्राह्मण बालक को जिला देने की कीर्ति वहाँ पहले ही पहुच चुकी थी। आचार्य के वहाँ पहुचते ही एक ब्राह्मण देवता—'प्रभाकर'—अपने अर्ध विक्षिप्त पुत्र के रोग का निदान जानने के लिये वहाँ पहुचे। उन्होंने आचार्य से अपने पुत्र की दुःखद रामकहानी कह सुनाई। "यह न तो बोलता है, न हँसता है। खेल कूद में सही साथियों के चपत खाकर भी यह तनिक भी रुष्ट नहीं होता। इस रोग की चिकित्सा बताइए।" शङ्कर ने उस बालक से कुछ प्रश्न किये जिसके उत्तर में वह अस्खलित पद्यमयी वाणी के द्वारा गूढ आत्मतत्त्व के साक्षात्कार का विशद वर्णन करने लगा। सुननेवाली जनता दङ्ग हो गई। हस्तामलक (स्तोत्र) के इन पद्यों का आदर आज भी पण्डित समाज में अक्षुण्ण बना हुआ है। आचार्य ने इस बालक को अपने साथ रख लिया और **हस्तामलक** नाम से उसकी प्रसिद्धि हुई। ये आचार्य के पट्टशिष्य बने और द्वारिका पीठ के प्रथम अध्यक्ष बनाये गये।

शृङ्गेरी में पीठ-स्थापन

आचार्य 'श्रीवलि' के अनन्तर '**शृङ्गेरी**' में पहुचे। यह वही स्थान है जहाँ लगभग बारह वर्ष पहले शङ्कर ने एक विशालकाय सर्प को अपना फण फैलाकर भेक शावकों की रक्षा करते देखा था। आज उन्हें अपने पुरातन स्वप्न को कार्यान्वित करने का अवसर आ गया था उन्होंने अपने शिष्यों से इस स्थान

की पवित्रता की कथा कह सुनाई और मठस्थापन करने की अभिलाषा भी प्रकट की। इस प्रस्ताव से शिष्य-मण्डली नितान्त प्रसन्न हो गई और शृंगेरी के प्राचीन आश्रम में शिष्यों के अनुरोध से रहने लायक कुटियाँ तैयार की गईं। शंकर ने मन्दिर बनवाकर 'शारदा' की प्रतिष्ठा की और श्रीविद्या के सम्प्रदायानुसार तान्त्रिक पूजा-पद्धति की व्यवस्था कर दी जो उस समय से लेकर आज तक अनवच्छिन्न रूप से चल रही है। आचार्य शंकर ने शृंगेरी को अद्वैतवाद के प्रचुर प्रचार का प्रधान केन्द्र बनाया। यहीं रहकर इन्होंने अपने भाष्य-ग्रन्थों की व्याख्या कर अद्वैत के प्रचार करनेवाले पावन-चरित शिष्यों को तैयार किया।

तोटकाचार्य की प्राप्ति

आचार्य का एक बड़ा ही भक्त सेवक था जिसका नाम था गिरि। वह नाम से ही गिरि न था, प्रत्युत गुणतः भी गिरि था, पक्का जड़ था। पर था शंकर का एकान्त भक्त। भाष्यों की व्याख्या वह भी सुना करता था। एक दिन की घटना है। वह अपना कौपीन धोने के लिये तुङ्गभद्रा के किनारे गया था। उसके आने में विलम्ब हुआ। शंकर ने उसकी प्रतीक्षा की—उपस्थित शिष्यों को पाठ पढ़ाने में कुछ विलम्ब कर दिया। पद्मपाद आदि शिष्यों को यह बात बड़ी बुरी लगी। इस मृत्पिण्डबुद्धि शिष्य के लिये गुरुजी का इतना अनुरोध !! आचार्य ने यह बात ताड़ ली और अपनी अलौकिक शक्ति से उसमें समस्त विद्याओं का सञ्चार कर दिया। उसके मुख से अध्यात्मविषयक निर्दोष विशुद्ध पद्यमयी वाणी निकलने लगी। इसके शिष्यों के अचरज का ठिकाना न रहा। जिसे वे वज्रमूर्ख समझकर निरादर का पात्र समझते थे वही अध्यात्मविद्या का पारदर्शी पण्डित निकला। शिष्य के मुख से तोटक छन्द में वाणी निकली थी अतः गुरुजी ने उनका नाम 'तोटकाचार्य' रख दिया। वे आचार्य के पट्टशिष्यों में एक थे और ज्योतिर्मठ की अध्यक्षता का भार इन्हीं के जिम्मे किया गया।

वार्तिक की रचना

शृंगेरी-निवास के समय आचार्य शंकर ने अपने भाष्यों के प्रचार की ओर भी दृष्टि डाली। यह अभिलाषा बहुत दिन पहले उनके हृदय में अङ्कुरित हो उठी थी कि विपुल प्रचार तथा बोधगम्य बनाने के निमित्त शारीरक भाष्य के ऊपर वार्तिकों की रचना नितान्त आवश्यक है। भट्ट कुमारिल से भेंट का प्रधान उद्देश्य इस कार्य की सिद्धि थी, पर उनसे यह कार्य हो न सका। शृंगेरी के शान्त वातावरण में वार्तिक रचना का अच्छा अवसर था। शंकर ने सुरेश्वर से अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य कर वार्तिक

बनाना स्वीकार कर लिया, परन्तु शिष्यों ने एक बड़ा बखेड़ा खड़ा किया। आचार्य के अधिकांश शिष्य पद्मपादाचार्य के पक्षपाती थे। सुरेश्वर पूर्वाश्रम में गृहस्थ थे तथा कर्ममीमांसा के विशेष प्रचारक थे। उनका यह संस्कार अभी तक छूटा न होगा। इन्होंने सङ्कटापन्न होकर ही सन्यास ग्रहण किया है समधिक वैराग्य से नहीं। इस प्रकार के अनेक निन्दात्मक वचन कहकर शिष्यों ने गुरु के प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं किया। उनकी सम्मति में पद्मपाद ही इस कार्य के पूर्ण अधिकारी थे। पर स्वयं पद्मपाद की इच्छा थी कि हस्तामलक ही वार्तिक लिखें। आचार्य ने ये विरुद्ध बातें सुनीं और शिष्य मण्डली के समधिक अनुरोध से पद्मपाद को भाष्य पर वृत्ति लिखने का काम सौंपा। सुरेश्वर को दो उपनिषद्भाष्यों (बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय) के ऊपर वार्तिक लिखने का काम दिया गया। दोनों शिष्य अपने विषय के विशेष पारगामी थे। पद्मपाद को आचार्य ने शारीरक भाष्य तीन बार पढ़ाया था। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे तथा ब्रह्मचर्य से सन्यास ग्रहण किया था। इन्होंने बड़े परिश्रम से 'पञ्चपादिका' की रचना की। सुरेश्वर ने पहले तो 'नैष्कर्म्यसिद्धि' का निर्माण कर अपनी प्रकृष्ट योग्यता का परिचय दिया। अनन्तर पूर्वोक्त भाष्यों पर विस्तीर्ण तथा विद्वत्तापूर्ण वार्तिकों की रचना की। आचार्य ने इन ग्रन्थों को सुनकर बड़ी प्रसन्नता अभिव्यक्त की।

पद्मपाद की यात्रा

बालकपन से ही पद्मपाद उत्तर भारत में रहते थे। शृङ्गेरी में 'पञ्चपादिका' की रचना के बाद उनके हृदय में दक्षिण के तीर्थों के देखने की बड़ी अभिलाषा जगी। शङ्कर से उन्होंने इस कार्य की आज्ञा माँगी। पहले तो वे इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे, परन्तु शिष्य के आग्रह करने पर गुरु ने तीर्थयात्रा की अनुमति दे दी। अपने अनेक सहपाठियों के सङ्ग में पद्मपाद ने दक्षिण के विशिष्ट तीर्थों का दर्शन किया। वे 'कालहस्तीश्वर' नामक शिवलिङ्ग की अर्चा कर काञ्ची क्षेत्र में पहुँचे और कामाक्षीश्वर की पूजा कर वे 'शिवगङ्गा' नामक तीर्थ में पहुँचे। वहाँ से वे 'कावेरी' नदी को पार कर रामेश्वर की ओर जा रहे थे कि रास्ते में उनके मामा का गाँव मिला। पुरानी स्मृति नवीन हो उठी। मामा अपने भानजे को घर आया देख नितान्त प्रसन्न हुए। पद्मपाद ने अपने मीमांसा के रहस्य वेत्ता मातुल को अपनी कृति 'पञ्चपादिका' दिखलाई। मामा के हृदय में हर्ष तथा विषाद दोनों भावों का उदय हुआ—हर्ष अपने भानजे की अलौकिक विद्वत्ता तथा परमत-खण्डन चातुरी पर और विषाद अपने ही गुरुमत की विपुल निन्दा तथा खण्डन पर। पर उन्होंने चतुर अभिनेता की भाँति अपने हर्ष को ही प्रकट किया, विषाद को अपने हृदय की तह में दबा दिया। पञ्चपादिका पद्मपाद को प्राण के

समान प्रिय थी। रास्ते में विघ्न की आशङ्का से उन्होंने इसे अपने मामा के घर में रखना निरापद समझा। इसकी महत्ता तथा रक्षा का भार अपने मामा के ऊपर रखकर पद्मपाद सेतुबन्ध की यात्रा के निमित्त निकल चले। यात्रा के लिये वे गये अवश्य, पर उनका चित्त किसी अतर्कित विघ्न की आशङ्का से नितान्त चिन्तित था। मामा के हृदय में विद्वेष की आग जल ही रही थी। अपने ही घर में अपने ही मत को तिरस्कृत करनेवाली पुस्तक रखना उन्हें असह्य हो उठा। घर जलाना उन्हें मञ्जूर था पर पुस्तक रखना सह्य न था। बस, उन्होंने घर में आग लगा दी। अग्नि की लपटें आकाश में उठने लगीं। देखते देखते घर के साथ ही साथ पद्मपाद का वह ग्रन्थ-रत्न भस्म हो गया। उधर पद्मपाद रामेश्वर से लौटकर आये और इस अनर्थ की बात सुनी। मामा ने बनावटी सहानुभूति दिखलाते हुए ग्रन्थ के नष्ट हो जाने पर खेद प्रकट किया। पद्मपाद ने उत्तर दिया—कोई हर्ज की बात नहीं है, ग्रन्थ जरूर नष्ट हो गया, पर मेरी बुद्धि तो नष्ट नहीं हुई। फिर वह गढ लेगी। तब मामा ने विष देकर उनकी बुद्धि को भी विकृत करने का उद्योग किया। पद्मपाद को फिर वैसा ग्रन्थ बनाने की योग्यता जाती रही। इससे वे मर्माहत होकर अशान्त हो गये। मत-विद्वेष के कारण ऐसा अनर्थ कर बैठना एक अनहोनी सी घटना थी, परन्तु पद्मपाद की कृति सचमुच मामा की विद्वेषाग्नि में जल भुनकर राख हो गई।

आचार्य की केरल-यात्रा

आचार्य शङ्कर ने शृङ्गेरी में शारदा की पूजा अर्चा का भार अपने पट्टशिष्य आचार्य सुरेश्वर के ऊपर छोड़कर अपने स्वदेश केरल जाने का विचार किया। उन्हें अपनी माता के दर्शन करने की अभिलाषा उत्कट हो उठी। उन्होंने अकेले ही जाने का निश्चय किया। जब वे अपनी जन्मभूमि कालटी की ओर अपना पैर बढ़ाकर जा रहे थे, तब कितनी ही प्राचीन बातों की मधुर स्मृति उनके हृदय में जाग रही थी। उन्हें अपना बालकपन याद आ रहा था और उनके हृदय में सबसे अधिक चिन्ता थी उस तपस्विनी माता की जिसने लोक के उपकार के निमित्त अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि दी थी, जगत् के मङ्गल के लिये अपने एकलौते बेटे को संन्यास लेने की अनुमति दी थी। इतना विचार करते उनका हृदय भक्ति से गद्गद हो गया और चित्त लालायित हो रहा था कि कब अपनी वृद्ध माता का दर्शन कर अपने को कृतकृत्य बनाऊँगा। शङ्कर आठ वर्ष की उम्र में इसी रास्ते से होकर आये, आज उसी रास्ते से लौट रहे थे। अन्तर इतना ही था कि उस समय वे अपने गुरु की खोज में निकले थे और आज वे अद्वैत वेदान्त के उद्भट प्रचारक तथा व्याख्याता और अनेक शिष्यों के गुरु बनकर लौट रहे थे।

कालटी पहुंचने पर ज्ञात हुआ कि माता मृत्युशय्या पर पड़ी है। पुत्र को देखकर माता का हृदय खिल गया, विशेषत: ऐसे अवसर पर जब वह अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही थी। शंकर ने अन्तिम समय पर माता के पास आने की अपनी प्रतिज्ञा को खूब निभाया। माता ने कहा—बेटा, अब अपने इस जीर्ण शरीर को ढोने की क्षमता मुझमें नहीं है। अब ऐसा उपदेश मुझे दो जिससे मैं इस भवार्णव से पार हो जाऊं। शङ्कर ने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश अपनी माता को दिया, पर माता ने स्पष्ट कहा कि इस निर्गुण तत्त्व को मेरी बुद्धि ग्रहण नहीं कर रही है। अत: सगुण सुन्दर ईश्वर का मुझे उपदेश दो। शङ्कर ने शिव की स्तुति की। शिव के दूत हाथों में डमरू और त्रिशूल लेकर झट से उपस्थित हो गये। उन्हें देखकर माता डर गई। तब आचार्य ने विष्णु की स्तुति की। उस सौम्य रूप का ध्यान करते करते माता ने अपने प्राण छोड़ दिये। शङ्कर ने अपने जाति भाइयों से माता के दाह कार्य में सहायता चाही, परन्तु एक तो वे उनकी कीर्ति कथा सुनकर उद्विग्न थे और दूसरे सन्यासी के द्वारा मातृ-कृत्य की बात उन्हें शास्त्र विरुद्ध जँची। उन लोगों ने सहायता देने से मुँह मोड़ लिया, तब शङ्कर ने अपनी माता का अकेले ही संस्कार अपने ही घर के दरवाजे पर किया। घर के समीप सूखी हुई लकड़ियाँ बटोरीं और माता की दाहिनी भुजा का मन्थन कर आग निकाली और उसी से दाह-संस्कार सम्पन्न किया। अपने दायादों को इस हृदय हीन व्यवहार के लिये शाप दिया। तभी से इन ब्राह्मणों के घर के पास ही श्मशान भूमि हो गई। महापुरुष के तिरस्कार का विषम फल तुरन्त फलता है। क्या सत्पुरुषों का निरादर कभी व्यर्थ जाता है ?

पञ्चपादिका का उद्धार

पद्मपाद को पहले ही खबर मिल चुकी थी कि आचार्य आजकल केरल देश में विराजमान हैं। अत: वे अपने सहपाठियों के साथ शङ्कर के दर्शन के निमित्त केरल देश में आये। गुरु के सामने शिष्यों ने मस्तक झुकाया। पद्मपाद को चिन्तित देखकर आचार्य ने इसका कारण पूछा। तब उन्होंने अपनी तीर्थयात्रा की कहानी सुनाई तथा मातुल के हाथों पद्मपादिका के जला डालने की दु:खमयी घटना का उन्होंने उल्लेख किया। गुरु ने शिष्य को आश्वासन दिया कि घबड़ाने का कोई बात नहीं है। शृंगेरी में तुमने मुझे जितनी वृत्ति सुनाई थी वह मेरे स्मृति पट पर अङ्कित है। उसे तुम लिख डालो। आचार्य के इन वचनों को सुनकर शिष्य का चित्त आश्वस्त हुआ और उन्होंने गुरुमुख से पद्मपादिका लिख डाली। बस, पद्मपाद की वृत्ति का इतना ही अंश शेष है। आचार्य की अलौकिक स्मरण शक्ति को देखकर शिष्य मण्डली

आश्चर्य-चकित हो गई। क्यों न हो? अलौकिक पुरुषों की सब बातें अलौकिक हुआ करती हैं। केरल नरेश राजशेखर ने शङ्कर से भेंट की। प्रसङ्गवश आचार्य ने उनके उन तीनों नाटकों के विषय में पूछा जिन्हें उन्होंने सुनाया था। राजा ने दुःख भरे शब्दों में उनके जल जाने की बात कही। शङ्कर ने सुने हुए इन नाटकों को सुनाकर राजा के हृदय को आनन्द-मग्न कर दिया। इन दोनों घटनाओं से आचार्य की अपूर्व मेधाशक्ति का अश्रुतपूर्व दृष्टान्त पाकर शिष्य-मण्डली कृत-कृत्य हो गई।

दिग्विजय

अब आचार्य ने दिग्विजय कर अपने अद्वैत मत के प्रचार का सङ्कल्प किया। अपने मुख्य शिष्यों के साथ शङ्कर ने **'सेतुबन्ध'** की यात्रा की और मद्य-मांस से देवी की पूजा करनेवाले वहाँ के शाक्तों को परास्त किया। अनन्तर वे **'काञ्ची'** पधारे जहाँ श्रीविद्या के अनुसार उन्होंने मन्दिर बनवाकर भगवती कामाक्षी की प्रतिष्ठा की तथा तान्त्रिक विधिविधानों के स्थान पर वैदिक पूजा का प्रचार किया। वे 'वेङ्कटाचल' में आये। भगवान् का पूजन कर वे विदर्भराज की नगरी में पहुंचे और भैरवतन्त्र के उपासकों के मत का खण्डन किया। कर्नाटक देश में कापालिकों का सरदार क्रकच रहता था जिसे परास्त करने के लिये शङ्कर वहाँ गये। उनके साथ में थे उसी देश के वैदिक मार्ग परायण राजा सुधन्वा। क्रकच ने आकर आचार्य को भला बुरा कहना शुरू किया। राजा सुधन्वा ने भरी सभा में से निरादर के साथ उसे निकाल बाहर किया। फिर क्या था? उसके आयुधधारी कापालिकों की सेना निरीह ब्राह्मणों पर टूट पड़ी और उन्हें मार-पीटकर उस देश से खदेड़ना ही चाहती थी पर सुधन्वा की धन्वा ने ब्राह्मणों की पर्याप्त रक्षा की। अन्त में क्रकच ने अपनी ही शक्ति से भैरवनाथ को बुलाया परन्तु भैरव ने शङ्कर को अपना ही रूप बतलाकर उनसे द्रोह करनेवाले भक्त कापालिक को मार डाला।

अनन्तर आचार्य गोकर्णक्षेत्र गये। यहीं पर नीलकण्ठ नामक द्वैतवादी शैव निवास करते थे। इनके साथ आचार्य का तुमुल शास्त्रार्थ हुआ जिसमें परास्त होकर उन्होंने अपना शैवभाष्य फेंककर अपनी भक्तमण्डली के साथ शङ्कर से अद्वैत मत की दीक्षा ली। इस स्थान से वे **'द्वारका'** गये। यहाँ पाञ्चरात्रों का प्रधान अड्डा था। आचार्य के सामने इन्हें भी अपनी हार माननी पड़ी। यहाँ से वे **'उज्जयिनी'** में आये जहाँ भेदाभेदवादी भट्टभास्कर रहते थे। शङ्कर ने पद्मपाद को भेजकर उन्हें भेंट करने के लिये अपने पास बुलाया। वे आये अवश्य, परन्तु अद्वैत की बात सुनकर उनकी शास्त्रार्थ लिप्सा जाग उठी। अब इन दोनों विद्वानों में आश्चर्यजनक शास्त्रार्थ हुआ—ऐसा शास्त्रार्थ जिसमें भास्कर अपने पक्ष

के समर्थन में प्रबल युक्तियाँ देते थे और शङ्कर अपनी सूक्ष्म बुद्धि से उसका खण्डन करते जाते थे। विपुल शास्त्रार्थ के बाद भास्कर की प्रभा क्षीण पड़ी और उन्हें भी अद्वैतवाद को ही उपनिषद्-प्रतिपाद्य सिद्धान्त मानना पड़ा।

अभिनवगुप्त

उज्जयिनी के अनन्तर आचार्य ने पूर्व भारत की विजय करने की इच्छा की। बङ्गाल तथा आसाम विशेषकर कामाख्या में तान्त्रिक साधना का विशेष प्रचार प्राचीन काल से है। शङ्कर के समय में भी इन प्रदेशों की तान्त्रिकता अक्षुण्ण बनी थी। इस तान्त्रिक पद्धति के अशुद्ध रूप को तिरस्कृत करने के उद्देश्य से आचार्य ने उन देशों में जाना चाहा। वे भरत, शूरसेन (मथुरा), नैमिष आदि स्थानों से होकर आसाम पहुँचे। वहाँ अभिनवगुप्त नामक एक प्रख्यात तन्त्राचार्य रहते थे जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शक्तिभाष्य की रचना की थी। शङ्कर के साथ तन्त्रशास्त्र के ऊपर अभिनव का अभिनव शास्त्रार्थ हुआ जिसमें उन्होंने अपनी हार स्वीकार कर ली पर अपने विजेता को इस जगत् से ही विदा करने की कुत्सित भावना ने इनके हृदय में घर कर लिया। प्रवाद है कि इस समय वङ्ग देश में मन्त्रानन्द स्वामी नामक एक बड़े तान्त्रिक रहते थे। शङ्कर ने उनसे भी भेंट की। स्वामीजी वयोवृद्ध थे। शङ्कर की उम्र बहुत ही थोड़ी थी। उन्होंने इस बालक सन्यासी से कहा कि अभी तुम बालक हो, अवस्था में ही नहीं बल्कि विचार में भी। तुम अद्वैतवादी होने का दावा करते हो, परन्तु तुमने अभी तक अद्वैत को अपने जीवन की आधार शिला नहीं बनाया है। देश विदेश में भिन्न भिन्न मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ करते फिरना भला किसी भी अद्वैती को शोभा दे सकता है? कथनी और करनी में महान् अन्तर है। अब अभी अद्वैततत्त्व के ऊपर मनन करो, तब प्रचार के लिये उद्योग करना। कहा जाता है कि इन वचनों ने शङ्कर के ऊपर बड़ा प्रभाव डाला और उन्होंने वङ्ग देश में मठ स्थापित करने का विचार ही छोड़ दिया।

आचार्य रोग-शय्या पर

आचार्य इस प्रकार पूरे भारतवर्ष में दिग्विजय कर शृंगेरी लौट आये। नाना प्रकार के अवैदिक मतों का उन्होंने पर्याप्त खण्डन किया। अद्वैतवाद की दुन्दुभि चारों ओर बजने लगी पर आसाम से लौटने पर आचार्य का शरीर अस्वस्थ था। अभिनवगुप्त ने आचार्य का काम ही तमाम कर देने के लिये भयानक अभिचार का प्रयोग किया। अभिचार का विषम फल भगन्दर रोग के रूप में प्रकट हुआ। इस रोग से शङ्कर का शरीर नितान्त अस्वस्थ हो गया, परन्तु उन्हें अपनी देह में तनिक भी ममता न थी। विदेह पुरुष की भाँति उन्होंने

इसकी विषम वेदना को सह लिया, परन्तु शिष्यों से यह न देखा गया। उन्होंने अनेक लब्धप्रतिष्ठ प्राणाचार्यों को जुटाया, परन्तु पत्थर पर तीर के समान इन वैद्यों की रामबाण ओषधियाँ व्यर्थ सिद्ध होने लगीं। दैवी सहायता भी ली गई और वह भी व्यर्थ हुई। आचार्य के सतत निषेध करने पर भी पद्मपाद ने इस समय एक विशेष मन्त्र का जप किया जिससे अभिनवगुप्त ही इस संसार से सदा के लिये स्वयं कूच कर गया। महात्मनों पर किया गया अभिचार अपने ही नाश का कारण होता है।

गौड़पाद का आशीर्वाद

आचार्य के स्वस्थ होने पर गौडपादाचार्य ने एक दिन अपने दर्शन से उन्हें कृतार्थ कर दिया। शङ्कर ने उन्हें माण्डूक्य कारिका का अपना भाष्य पढ़ सुनाया। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया कि शङ्कर का भाष्य सर्वत्र प्रसिद्ध होगा क्योंकि इसमें अद्वैत के सिद्धान्तों का परिचय सम्प्रदाय के अनुकूल किया गया है। जिन रहस्यों को उन्होंने शुकदेवजी के मुख से सुनकर गोविन्द मुनि को उपदेश दिया था, उन रहस्यों का उद्घाटन इन भाष्यों में भली-भाँति किया गया है। माण्डूक्य कारिका लिखने में मेरा जो अभिप्राय था उसकी अभिव्यक्ति कर तुमने मेरे हृदय को अपने भाष्य में रख दिया है। मैं आशीर्वाद करता हूँ कि तुम्हारे भाष्य इस पृथ्वीतल पर अलौकिक प्रभासम्पन्न होकर जगत् का वास्तविक मङ्गल साधन करेंगे। इस प्रकार वेदव्यास तथा गौड़पाद इन उभय अद्वैताचार्यों की कृपा शंकर के प्रसन्न गम्भीर भाष्यों को प्राप्त हुई।

सर्वज्ञ पीठ का अधिरोहण

आचार्य शंकर ने सुना कि काश्मीर के शारदा मन्दिर में चार दरवाजे हैं, प्रत्येक एक दिशा की ओर। उन दरवाजों से होकर वही मनुष्य प्रवेश कर सकता है जो सकल शास्त्रों का पण्डित हो—सर्वज्ञ हो। पूरब, पश्चिम तथा उत्तर के द्वार तो खुले रहते हैं, परन्तु दक्षिण में किसी भी सर्वज्ञ के न होने से दक्षिणी दरवाजा सदा बन्द ही रहता है। आचार्य ने दाक्षिणात्यों के नाम से इस कलंक को धो डालने की इच्छा से काश्मीर की यात्रा की। शारदा-मन्दिर में पहुंचकर उन्होंने अपनी सुनी हुई बातों को सच्चा पाया। दक्षिण-द्वार खोलकर ज्योंही उन्होंने प्रवेश करना शुरू किया कि चारों ओर पण्डितों की मण्डली उन पर टूट पड़ी और चिल्लाने लगी कि अपनी सर्वज्ञता की परीक्षा दीजिए तब मन्दिर में पैर रखने का साहस कीजिए। शंकर परीक्षा में खरे उतरे। विभिन्न दर्शनों के पेचीदे प्रश्नों का उत्तर देकर शंकर ने अपने सर्वज्ञ होने के दावे को सप्रमाण सिद्ध कर लिया। भीतर जाकर ज्योंही वे सर्वज्ञ पीठ

पर अधिरोहण करने लगे, शारदा की भावना आकाशवाणी के रूप में प्रकट हुई। आकाशवाणी ने कहा—इस पीठ पर अधिरोहण करने के लिये सर्वज्ञता ही एकमात्र साधन नहीं है, पवित्रता भी उसका प्रधान सहायक साधन है। सन्यासी होकर कामकला का सीखना, शरीर में प्रवेश कर कामिनियों के साथ रमण करना नितान्त निन्दनीय है। भला ऐसा व्यक्ति पावनचरित होने का अधिकारी कैसे हो सकता है? शंकर ने उत्तर दिया—क्या अन्य शरीर में किये गये पातक का फल तद्भिन्न शरीर को स्पर्श कर सकता है? इस शरीर से तो मैं निष्कलंक हूँ। शारदा ने आचार्य की युक्ति मान ली और उन्हें पीठ पर अधिरोहण करने की अनुमति देकर उनकी पवित्रता पर मुहर लगा दी। पण्डित-मण्डली के हृदय को आश्चर्यसागर में डुबाते हुए सर्वज्ञ शंकर ने इस पवित्र शारदापीठ में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया।

आचार्य का तिरोधान

आचार्य शंकर ने अपना अन्तिम जीवन किस स्थान पर बिताया और सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किस स्थान पर किया? यह एक विचारणीय विषय है। शंकरदिग्विजयों में इस विषय में ऐकमत्य नहीं प्रतीत होता। ऊपर काश्मीर में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण का वृत्तान्त माधव के शंकरदिग्विजय के आधार पर है। अधिरोहण के अनन्तर आचार्य बदरीनाथ गये। वहाँ कुछ दिन बिताकर वे दत्तात्रेय के दर्शन के निमित्त उनके आश्रम में गये और उनकी गुहा में कुछ दिनों तक निवास किया। दत्तात्रेय ने शंकर की उनके विशिष्ट कार्य के लिये प्रचुर प्रशंसा की। इसके बाद वे कैलास पर्वत पर गये और वहीं स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर में लीन हो गये। यह वृत्तान्त शृंगेरी पीठानुसारी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है तथा अधिकांश सन्यासी लोग इसे ही प्रामाणिक तथा श्रद्धेय मानते हैं।

केरल तथा कामकोटि पीठ की परम्परा इससे नितान्त भिन्न है। केरलचरित के अनुसार (पृष्ठ ५८५) शंकर ने अपना भौतिक शरीर केरल देश में ही परित्याग किया और त्रिचूर के शिवमन्दिर के समीप ही यह घटना घटी थी। इसलिये केरल में इस शिवमन्दिर की विपुल ख्याति है। कामकोटि की परम्परा कुछ भिन्न सी है। इसके अनुसार शंकर ने अपने धर्म रक्षण कार्य को पूरा कर काञ्ची को अपने अन्तिम जीवन बिताने के लिए पसन्द किया। यहीं पर रहते समय उन्होंने शिवकाञ्ची तथा विष्णुकाञ्ची का निर्माण किया। कामाक्षी के मन्दिर को बिन्दु स्थान पर रक्खा और श्रीचक्र के अनुसार समग्र नगरी की स्थापना की। यह विलक्षण घटना है कि काञ्ची के मन्दिर कामाक्षी के मन्दिर का सामना करते हुए खड़े हैं। उन सबका मुँह इसी मन्दिर की ओर लक्ष कर

रहा है। भगवान् शंकर के द्वारा प्रदत्त पाँच शिवलिंगों में से श्रेष्ठयोगेश्वर लिङ्ग की पूजा-अर्चा करते हुए आचार्य ने सर्वज्ञपीठ का अधिरोहण इसी स्थान पर किया था। अनेक ग्रन्थों में इस घटना का संकेत भी मिलता है (द्रष्टव्य पृष्ठ ५८२-८३)।

माधव के अनुसार जो वर्णन ऊपर किया है उसके लिये यह कहना है कि कामकोटि पीठ के अध्यक्ष 'धीरशंकर' नामक आचार्य हुए थे। उन्होंने आदि-शंकर के समान समस्त भारत का विजय किया, काश्मीर में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया और वे कैलास में ब्रह्मपद लीन हो गये। उन्हीं के जीवन की घटनाएँ गलती से आदिशंकर के साथ सम्बद्ध कर दी गई हैं। शंकर काञ्ची में अपने स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर में लीन हो गये थे।

ऐसी विषम स्थिति में किसी सिद्धान्त पर पहुँचना कठिन प्रतीत हो रहा है। जो कुछ हो, इतना तो बहुमत से निश्चित है कि शंकर ने ३२ वर्ष की उम्र में भारतभूमि पर वैदिक धर्म की रक्षा की सुन्दर व्यवस्था कर इस धराधाम को छोड़ा। उनके अवसान की तिथि भी भिन्न भिन्न दी गई है। कुछ लोग उनका अवसान वैशाख शुक्ल १० को, कुछ लोग वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को और कुछ लोग कार्तिक मास की शुक्ल ११ तिथि को मानते हैं।

५—शङ्कर के ग्रन्थ

आदिशंकर के ग्रन्थों का निर्णय करना एक विषम पहेली है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उन्होंने कितने तथा किन किन ग्रन्थों की रचना की थी। शंकराचार्य की कृतिरूप से २०० से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या इन समस्त ग्रन्थों का निर्माण गोविन्द भगवत्पूज्यपाद-शिष्य श्री शंकर भगवान् के द्वारा सम्पन्न हुआ था? आदिशंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित मठों के अधिपति भी शंकर की उपाधि धारण करते हैं। वर्तमान समय में भी यह पद्धति प्रचलित है। अतः शंकरनामधारी अनेक व्यक्तियों ने समय समय पर निबन्ध निर्माण किया और यद्यपि आदिशंकर ही गोविन्द भगवत्पूज्यपाद के शिष्य थे, तथापि ग्रन्थान्त में पुष्पिका की गड़बड़ी के कारण इन विभिन्न शंकरों की रचनाओं का यथावत् पार्थक्य करना नितान्त दुरूह व्यापार है। आचार्य शंकर की ग्रन्थावली मैसूर, पूना, कलकत्ता तथा श्रीरङ्गम् (श्रीवाणी-विलास प्रेस) में प्रकाशित हुई है। इनमें श्री वाणीविलासवाला संस्करण शृङ्गेरी के शंकराचार्य की अध्यक्षता में प्रकाशित होने से नितान्त प्रामाणिक माना जाता है। यह संस्करण २० जिल्दों में है और छपाई-सफाई की दृष्टि से विशेष कलापूर्ण है। इन विभिन्न संस्करणों में भी पारस्परिक भेद है। किसी संस्करण में कोई ग्रन्थ

अधिक है, तो किसी संस्करण में कोई दूसरा। इस विषय में प्रत्येक ग्रन्थ के गाढ़ अध्ययन तथा छानबीन करने की ज़रूरत है। तभी किसी सर्वमान्य तथ्य का पता लगाया जा सकता है। आदिशंकर के ग्रन्थों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं —(१) भाष्य, (२) स्तोत्र, (३) प्रकरणग्रन्थ। आचार्य ने अद्वैत मार्ग की प्रतिष्ठा के निमित्त प्रस्थानत्रयी—ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों—पर भाष्य बनाये थे, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। प्रस्थानत्रयी के भाष्यों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्मसूत्र-भाष्य।

(२) गीताभाष्य।

(३) उपनिषद्भाष्य—(१) ईश, (२) केन पदभाष्य, केनवाक्य भाष्य, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (८) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य, (१०) बृहदारण्यक, (११) श्वेताश्वतर, (१२) नृसिंहतापनीय।

इन उपनिषद् भाष्यों की रचना आदिशंकर के द्वारा विषय हुई है, इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। प्रसिद्धि है कि केन उपनिषद् के दोनों भाष्य (पदभाष्य तथा वाक्यभाष्य) आचार्य-निर्मित हैं, परन्तु दोनों के अध्ययन से यह बात सिद्ध नहीं होती, इसलिए विद्वानों को इनके आचार्यकृत होने में सन्देह है। किसी-किसी स्थल में मूल की व्याख्या दोनों भाष्यों में परस्पर पृथक् तथा विरुद्ध है। ४।७।३२ में 'नाहो' और 'अमूम' पदों की व्याख्या दोनों भाष्यों में विरुद्ध है। २।२ के मूल का पाठ पदभाष्य में 'नाहम्' है, परन्तु वाक्यभाष्य में 'नाह' है। किसी विद्वान् की सम्मति में वाक्यभाष्य आचार्य का न होकर 'विद्यारण्य' का है। श्वेताश्वतर के भाष्य की रचनापद्धति तथा व्याख्यापद्धति शांकरभाष्य की अपेक्षा निम्न कोटि की है तथा भिन्न है। ब्र० सू० भाष्य में गौड़पाद का उल्लेख बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया गया है। १।४।१४ में व 'सम्प्रदायविद्' तथा २।१।९ में 'सम्प्रदायविद्भिराचार्यैः' कहे गए हैं, परन्तु श्वेताश्वतर भाष्य में उनका निर्देश केवल 'शुकशिष्य' शब्द के द्वारा किया गया है। माण्डूक्य उपनिषद् तथा नृसिंह तापनीय के भाष्य में व्याकरण की अशुद्धि, छन्दोभङ्ग आदि अनेक दोष होने के कारण ये आचार्य की यथार्थ रचना नहीं माने जाते[1]। इन पण्डितों

---

[1] द्रष्टव्य Asutosh Silver jubilee Volume III Part 2, PP 103-110, विश्वभारती पत्रिका खण्ड ३, अङ्क १ पृष्ठ ९१३, इस मत के खण्डन के लिए द्रष्टव्य Proceedings of Fifth Oriental Conference, Part I पृष्ठ ६९१ ७२०

की युक्तियों की छानबीन करने पर ही हम एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुच सकते हैं।

इतर ग्रन्थों के भाष्य

(१) **माण्डूक्य-कारिकाभाष्य**—माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर गौडपादाचार्य ने जो कारिकाएँ लिखी हैं उन्हीं पर यह भाष्य है। कतिपय विद्वान् लोग अनेक कारणों से इसे आचार्य कृत मानने में सन्देह प्रकट करते हैं।

(२) **विष्णुसहस्रनामभाष्य**—प्रसिद्ध विष्णुसहस्रनाम पर भाष्य।

(३) **सनत्सुजातीय भाष्य**—धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के निमित्त सनत्सुजात ऋषि ने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया था वह महाभारत उद्योगपर्व (अ० ४२ अ० ४६) में वर्णित है। उसे 'सनत्सुजातीयपर्व' कहते हैं। उसी पर यह भाष्य है।

(४) **हस्तामलकभाष्य**—आचार्य हस्तामलक के द्वारा विरचित द्वादश पद्यात्मक स्तोत्र का विस्तृत भाष्य। यह श्रीरङ्गम् से प्रकाशित आचार्य ग्रन्थावली के १६वें खण्ड में (पृष्ठ १६३-१८६) प्रकाशित किया गया है। शिष्य के ग्रन्थ पर गुरु की व्याख्या लिखना असङ्गत मानकर कुछ विद्वान् इसके आचार्यकृत होने में सन्देह करते हैं।

(५) **ललितात्रिशतीभाष्य**—ललिता के तीन सौ नामों पर भाष्य। यह भी श्रीरङ्गम् से प्रकाशित हुआ है।

(६) **गायत्रीभाष्य**—कहीं कहीं शङ्कर के नाम से गायत्रीभाष्य का उल्लेख मिलता है। पता नहीं यह आद्यशङ्कर कृत है या नहीं।

(७) **जयमङ्गला टीका**—साङ्ख्यकारिका के ऊपर शङ्कराचार्य के द्वारा लिखित 'जयमङ्गला' नामक टीका उपलब्ध है। यह कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज (न० १९) में प्रकाशित हुई है। परन्तु ग्रन्थ की लेखन शैली स्पष्ट बतलाती है कि यह आचार्य की कृति नहीं है। शङ्कराचार्य नामक पण्डित रचित 'जयमङ्गला' नामक दो कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं—एक कामन्दक नीतिसार की व्याख्या (अनन्तशयन ग्रन्थमाला न १४) और दूसरी वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या (चौखम्भा से प्रकाशित)। यह साङ्ख्यटीका भी इन्हीं ग्रन्थों की शैली से मिलती है। अत शङ्कराचार्य की रचना न होकर यह शङ्करार्य (१४०० ई०) की रचना है[1]।

---

1. द्रष्टव्य, गोपीनाथ कविराज की इस ग्रन्थ की भूमिका पृष्ठ ८९।

स्तोत्र ग्रन्थ

आचार्य परमार्थतः अद्वैतवादी होने पर भी व्यवहारभूमि में नाना देवताओं की उपासना तथा सार्थकता को खूब मानते थे। सगुण की उपासना निर्गुण की उपलब्धि का प्रधान साधन है। सगुण ब्रह्म की उपासना का इसी कारण विशेष महत्त्व है। आचार्य स्वयं लोकसंग्रह के निमित्त इसका आचरण करते थे। उनका हृदय विशाल था, उसमें साम्प्रदायिक क्षुद्रता के लिये कहीं स्थान न था। यही कारण है कि उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि देवताओं की सुन्दर स्तुतियों की रचना की है। इन स्तोत्रों का साहित्यिक महत्त्व कम नहीं है। दर्शन शास्त्र की उच्च कोटि में विचरण करनेवाले विद्वान् की रचना इतनी ललित, कोमल, रसभाव से सम्पन्न तथा अलङ्कारों की छटा से मण्डित होगी, यह देखकर आलोचक के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। शङ्कर के नाम से सम्बद्ध मुख्य स्तोत्रों की नामावली ही यहाँ दी जायगी। इनके ऊपर विस्तृत विवेचन अन्यत्र प्रस्तुत किया जायेगा।

(१) गणेश-स्तोत्र

(१) गणेश पञ्चरत्न (७ श्लोक) (२) गणेशभुजङ्गप्रयात ([illegible] श्लोक), (३) गणेशाष्टक (८ श्लोक), (४) वरदगणेशस्तोत्र।

(२) शिवस्तोत्र

(१) शिवभुजङ्ग (४० श्लोक) (२) शिवानन्दलहरी (१०० श्लोक) (३) शिवपादादि केशान्त स्तोत्र (४१ श्लोक) (४) शिवकेशादिपादान्त स्तोत्र (२९ श्लोक) (५) वेदसार शिवस्तोत्र (११ श्लोक) (६) शिवापराध क्षमापण स्तोत्र (१५ श्लोक) (७) सुवर्णमालास्तुति (५० श्लोक), (८) दक्षिणामूर्ति वर्णमाला (३५ श्लोक), (९) दक्षिणामूर्त्यष्टक (१० श्लोक), (१०) मृत्युञ्जय-मानसिक पूजा (४६ श्लोक), (११) शिवनामावल्यष्टक (९ श्लोक), (१२) शिवपञ्चाक्षर (५ श्लोक), (१३) उमामहेश्वरस्तोत्र (१३ श्लोक) (१४) दक्षिणामूर्तिस्तोत्र (१९ श्लोक), (१५) कालभैरवाष्टक (८ श्लोक) (१६) शिवपञ्चाक्षरनक्षत्रमाला (२८ श्लोक), (१७) द्वादशलिङ्गस्तोत्र (१३ श्लोक), (१८) दशश्लोकी स्तुति (१० श्लोक)।

(३) देवीस्तोत्र

(१) सौन्दर्यलहरी (१०० श्लोक) (२) देवीभुजङ्गस्तोत्र (२८ श्लोक), (३) आनन्दलहरी (२० श्लोक), (४) त्रिपुरसुन्दरीवेदपाद-स्तोत्र (११० श्लोक) (५) त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजा (१२७ श्लोक), (६) देवीचतुःषष्ट्यु

पचारपूजा (७२ श्लोक), (७) त्रिपुरसुन्दर्यष्टक (८ श्लोक), (८) ललिता-पञ्चरत्न (६ श्लोक), (९) कल्याणवृष्टिस्तव (१६ श्लोक), (१०) नवरत्नमालिका (१० श्लोक), (११) मन्त्रमातृकापुष्पमालास्तव (१७ श्लोक), (१२) गौरीदशक (११ श्लोक), (१३) भवानीभुजङ्ग (१७ श्लोक), (१४) कनकधारा स्तोत्र (१८ श्लोक), (१५) अन्नपूर्णाष्टक (१२ श्लोक), (१६) मीनाक्षीपञ्चरत्न (५ श्लोक), (१७) मीनाक्षीस्तोत्र (८ श्लोक), (१८) भ्रमराम्बाष्टकम् (८ श्लोक), (१९) शारदाभुजङ्गप्रयाताष्टक (८ श्लोक)।

(४) विष्णुस्तोत्र

(१) रामभुजङ्गप्रयात (१९ श्लोक), (२) विष्णुभुजङ्गप्रयात (१४ श्लोक), (३) विष्णुपादादिकेशान्त (५२ श्लोक), (४) पाण्डुरङ्गाष्टक (८ श्लोक), (५) अच्युताष्टक (८ श्लोक), (६) कृष्णाष्टक (८ श्लोक), (७) हरिमीडेस्तोत्र (४२ श्लोक), (८) गोविन्दाष्टक (८ श्लोक), (९) भगवन्मानसपूजा (१७ श्लोक), (१०) जगन्नाथाष्टक (८ श्लोक)।

(५) युगल देवता-स्तोत्र

(१) अर्धनारीश्वरस्तोत्र (९ श्लोक), (२) उमामहेश्वरस्तोत्र (१३ श्लोक), (३) लक्ष्मीनृसिंहपञ्चरत्न (५ श्लोक), (४) लक्ष्मीनृसिंहकरुणारसस्तोत्र (१७ श्लोक)।

(६) नदीतीर्थ-विषयक स्तोत्र

(१) नर्मदाष्टक (८ श्लोक), (२) गङ्गाष्टक (८ श्लोक), (३) यमुनाष्टक दो प्रकार का (८ श्लोक), (४) मणिकर्णिकाष्टक (८ श्लोक), (५) काशीपञ्चक (५ श्लोक)।

(७) साधारण स्तोत्र

(१) हनुमत्-पञ्चरत्न (६ श्लोक), (२) सुब्रह्मण्यभुजङ्ग (३३ श्लोक), (३) प्रातःस्मरणस्तोत्र (४ श्लोक), (४) गुर्वष्टक (९ श्लोक)।

प्रकरण ग्रन्थ

आचार्य शंकर ने बहुसंख्यक छोटे-छोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमदमादि साधन सम्पत्ति का तथा वेदान्त के मूल सिद्धान्तों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। आचार्य ने सर्वसाधारण जनता तक अद्वैत तत्त्व के सन्देश को पहुँचाने के लिये यह मनोरम प्रयत्न किया है। भाष्य विशेष कर विद्वज्जनों के काम की चीज है। सर्वसाधारण

को उनके परिनिष्ठित सिद्धान्तों तथा उपादेय उपदेशों से परिचित कराने के लिये इन प्रकरण ग्रन्थों की रचना की गई है। ऐसे प्रकरण-ग्रन्थों की संख्या अधिक है, इनके प्रामाण्य तथा कर्तृत्व के विषय में समीक्षा करना यहाँ असम्भव है। केवल **मुख्य-मुख्य** प्रकरण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। ग्रन्थों के नाम अक्षर क्रम से दिये गये हैं—

(१) अद्वैत-पञ्चरत्न—अद्वैत के प्रतिपादक पाँच श्लोक। प्रत्येक श्लोक के अन्त में 'शिवोऽहम्' आता है। इस पुस्तक का नाम कहीं कहीं पर 'आत्म-पञ्चक' अथवा 'अद्वैत पञ्चक' भी है। पञ्चक नाम होने पर भी कहीं कहीं एक श्लोक अधिक मिलता है।

(२) अद्वैतानुभूति—अद्वैत-तत्त्व का ८४ अनुष्टुपों में वर्णन।

(३) अनात्मश्री विगर्हण-प्रकरण—आत्मतत्त्व का साक्षात्कार न करनेवाले व्यक्ति की निन्दा प्रदर्शित की गई है। श्लोक संख्या १८ है। प्रत्येक के अन्त में 'येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्' चतुर्थ चरण के रूप में आता है।

(४) अपरोक्षानुभूति—'अपरोक्षानुभवामृत' नामक ग्रन्थ इससे भिन्न प्रतीत होता है। १४४ श्लोक। अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप का वर्णन है।

आत्मपञ्चक—'अद्वैत-पञ्चरत्न' का ही दूसरा नाम है। यह कोई भिन्न ग्रन्थ नहीं है।

(५) आत्मबोध—६८ श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवरण। *नाना उदाहरणों के द्वारा आत्मा की सत्ता शरीरादि वस्तुओं से पृथक् सिद्ध की गई है।* बोधेन्द्र (गीर्वाणेन्द्र के शिष्य) ने इस ग्रन्थ के ऊपर 'भावप्रकाशिका' टीका लिखी है। गुरु गीर्वाणेन्द्र किसी अद्वैत पीठ के अध्यक्ष थे तथा शिष्य बोधेन्द्र *त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे (तञ्जोर की हस्तलिखित पुस्तक सूची पृ० सं०* ७१७४)।

आत्मषट्क—निर्वाणषट्क (न १९) का नामान्तर।

(६) उपदेशपञ्चक—*पाँच पद्यों में वेदान्त के आचरण का सम्यक्* उपदेश।

(७) उपदेश-साहस्री—इस ग्रन्थ का पूरा नाम है 'सकलवेदोपनिषत्सारोपदेशसाहस्री'। इस नाम की दो पुस्तकें हैं—(१) *गद्यप्रबन्ध*—गुरु शिष्य के संवाद रूप में वेदान्त के तत्त्व गद्य में वर्णित हैं। (२) पद्य प्रबन्ध—इसमें नाना विषयों पर १९ प्रकरण हैं। श्लोकों की संख्या भी अधिक है। इसके अनेक श्लोकों को सुरेश्वर ने अपनी 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में उद्धृत किया है। इसकी शंकर रचित वृत्ति सम्भवत आचार्य की नहीं है। आनन्दतीर्थ तथा बोधनिधि की टीकाएँ

मिलती है। रामतीर्थ ने गद्य, पद्य दोनों पर टीका लिखी है। वेदान्तदेशिक (१३०० ई०) ने शतदूषणी में गद्य प्रबन्ध का उल्लेख किया है।

(८) एकश्लोकी—सब ज्योतियों से विलक्षण परम ज्योति का एक श्लोक में वर्णन। इस नाम से दो श्लोक प्रसिद्ध हैं, जिनमें से एक के ऊपर गोपाल योगीन्द्र के शिष्य स्वयप्रकाश यति का 'स्वात्मदीपन' नामक व्याख्यान है।

(९) कौपीनपञ्चक—वेदान्त तत्त्व में रमण करनेवाले ज्ञानियों का वर्णन। प्रत्येक श्लोक का चतुर्थ चरण है—'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।' इसी का नामान्तर 'यतिपञ्चक' है।

(१०) चर्पटपञ्जरिका—१७ श्लोकों में गोविन्द भजन का रसमय उपदेश। प्रत्येक श्लोक का टेक पद है—'भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते'। नितान्त सरस सुबोध तथा गीतिमय पद्य। इसी का प्रसिद्ध नाम 'मोहमुद्गर' है। कहीं कहीं यह ग्रन्थ 'द्वादशमञ्जरी' या 'द्वादशपञ्जरिका' के नाम से भी प्रसिद्ध है। 'मोहमुद्गर' एक भिन्न प्रकार का भी है।

(११) जीवन्मुक्तानन्दलहरी—शिखरिणी वृत्त के १७ पद्यों में 'जीवन्मुक्त' पुरुष के आनन्द का ललित वर्णन। प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण है—'मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमा'।

(१२) तत्त्वबोध—वेदान्त के तत्त्वों का प्रश्नोत्तर रूप से संक्षिप्त गद्यात्मक वर्णन।

(१३) तत्त्वोपदेश—'तत्' तथा 'त्वं' पदों का अर्थ वर्णन तथा गुरु-पदेश से आत्मतत्त्व की अनुभूति। ८७ अनुष्टुप्।

(१४) दशश्लोकी—दश श्लोकों में आत्मतत्त्व का विवरण। इसका दूसरा नाम 'निर्वाणदशक' है। प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण है—'तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्'। इन श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने की है जिसका नाम 'सिद्धान्त बिन्दु' है।

(१५) द्वादशपञ्जरिका—१२ पद्यों में वेदान्त का सरस उपदेश। ये पद्य अपने साहित्यिक सौन्दर्य के लिए नितान्त विख्यात हैं।

(१६) धन्याष्टक—ब्रह्मज्ञान से अपने जीवन को धन्य बनानेवाले पुरुषों का रमणीय वर्णन। अष्टक होने पर भी कहीं कहीं इसके अन्त में दो श्लोक और भी मिलते हैं।

(१७) निर्गुणमानसपूजा—गुरु शिष्य-संवाद के रूप में निर्गुण तत्त्व की मानसिक पूजा का विवरण। इसमें ३३ अनुष्टुप् हैं। सगुण की उपासना के लिए पुष्पानुलेपन आदि बाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है, परन्तु निर्गुण की उपासना के लिये नाना मानसिक भावनाएँ ही इनका काम करती हैं। इसी का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में है।

(४२) स्वात्मनिरूपण—१५६ पद्यों में आत्मतत्त्व का नितान्त विशद तथा विस्तृत विवेचन। गुरु शिष्य-संवाद रूप में यह विवेचन है।

(४३) स्वात्मप्रकाशिका—आत्मस्वरूप का ६८ श्लोकों में सुबोध रुचिर निरूपण।

साधनपञ्चक—उपदेश पञ्चक (नं० ६) का नामान्तर है। कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं।

सौन्दर्यलहरी आचार्य का बड़ा ही रमणीय तथा पाण्डित्यपूर्ण स्तोत्र ग्रन्थ है। संस्कृत स्तोत्र ग्रन्थों में ऐसा अनुपम ग्रन्थ मिलना कठिन है। प्रसिद्धि है कि स्वयं महादेवजी ने कैलास पर आचार्य को सौन्दर्यलहरी दी थी। काव्य की दृष्टि से यह जितना अभिराम तथा सरस है, पाण्डित्य की दृष्टि से यह उतना ही प्रौढ़ तथा महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने तान्त्रिक सिद्धान्तों का सार-अंश उपस्थित कर दिया है। इसके ऊपर लक्ष्मीधर की टीका सबसे प्रसिद्ध है। यह स्तोत्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आचार्य श्रीविद्या के उपासक थे।

प्रपञ्चसार—तान्त्रिक परम्परा से आदिशंकर ही इस तन्त्र ग्रन्थ के रचयिता हैं, यद्यपि आधुनिक कतिपय आलोचकों की दृष्टि में यह बात सन्दिग्ध है। इसकी विवरण टीका के रचयिता पद्मपाद माने जाते हैं। उनकी सम्मति में इस ग्रंथ के रचयिता शङ्कराचार्य ही हैं जिन्होंने 'प्रपञ्चागम' नामक किसी प्राचीन तन्त्र का सार इस ग्रंथ में रक्खा है (इह खलु'''भगवान् शंकराचार्यः'''''' समस्तागमसारसंग्रहप्रपञ्चागमसारसंग्रहरूपं ग्रन्थं चिकीर्षुः)। इसकी पुष्टि अन्यत्र भी की गई है। अमरप्रकाश शिष्य उत्तमबोधाचार्य ने प्रपञ्चसार-सम्बन्ध-दीपिका टीका में लिखा है कि प्रपञ्चसार प्रपञ्चागम नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ का सार है, यह कोई शंकर का अभिनव ग्रंथ नहीं है (मद्रास की सूची नं० ५२९९)। 'प्रपञ्चसार-विवरण' की टीका 'प्रयोगक्रमदीपिका' में स्पष्ट लिखा है कि पद्मपाद ने अपने गुरु के प्रति आदर-प्रदर्शन के निमित्त 'भगवान्' पद का प्रयोग किया है (भगवानिति पूजा स्वगुर्वनुस्मरणं ग्रन्थारम्भे क्रियते)। प्रपञ्चसार का मङ्गल-श्लोक 'शारदा' की स्तुति में है। इसका रहस्य क्रमदीपिका के अनुसार यह है कि काश्मीर में रहते समय ही शंकराचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। अतः उन्होंने उस क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी 'शारदा' की स्तुति की है (काश्मीरमण्डले प्रसिद्धेयं देवता। तत्र निवसता आचार्येणायं ग्रन्थः कृत इति तदनुस्मरणोपपत्तिः सकलागमानामधिदेवतेयमिति पृष्ठ ३८२[1])। शारदातिलक के टीकाकार

१. विवरण तथा प्रयोगक्रमदीपिका के साथ प्रपञ्चसार कलकत्ते से 'तान्त्रिक टेक्स्ट्स' नामक ग्रन्थमाला (नं० १८-१९) में दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

राघवभट्ट, षट्चक्र निरूपण के टीकाकार कालीचरण आदि तन्त्रवेत्ता टीकाकारों के मत में यह ग्रंथ आदिशंकर का ही है। वेदान्त के पण्डितों ने भी इसे आदिशंकर की कृति माना है। अमलानन्द ने 'वेदान्तकल्पतरु' (१।३।३३) में इसे आचार्यकृत माना है—तथा चावोचन्नाचार्याः प्रपञ्चसारे—

> अवनिजलानलमारुतविहायसां शक्तिभिश्च तद्बिम्बैः।
> सारूप्यमात्मनश्च प्रतिनीरया तत्तदाप्नु जयति सुधीः॥

ब्र० सू० १।३।३३ के भाष्य के अन्त में आचार्य ने श्रुति द्वारा योगमाहात्म्य के प्रतिपादन करने के निमित्त 'पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते' (श्वेता० २।१४) को उद्धृत किया है। इसी मन्त्र के अर्थ को पुष्ट करने के लिये अमलानन्द ने प्रपञ्चसार का श्लोक उद्धृत किया है।[१] इतना ही नहीं नृसिंहपूर्वतापनीय के भाष्य में भी शंकर ने प्रपञ्चसार से अनेक श्लोक ही नहीं उद्धृत किये हैं प्रत्युत प्रपञ्चागमशास्त्र को अपनी ही कृति बतलाया है—अतएव हृदयाद्यङ्गमन्त्राणामर्थ व्याख्यातैरस्माभिरुक्तं प्रपञ्चागमशास्त्रे हृदयं बुद्धिगम्यत्वात् (प्रपञ्चसार ६।७, पृष्ठ ८०)। इस उद्धरण में ग्रन्थ का नाम 'प्रपञ्चागम' दिया गया है, परन्तु इसी उपनिषद् भाष्य में (४।२) इसे 'प्रपञ्चसार' ही कहा गया है। इन प्रमाणों के आधार पर आदिशङ्कर को ही 'प्रपञ्चसार' का रचयिता मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

६—आचार्य का शिष्य-वर्ग

आचार्य शंकर जिस प्रकार अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे, दैवयोग से उन्हें वैसे शिष्यों की भी प्राप्ति हो गई थी। श्रीविद्यार्णवतन्त्र के अनुसार (प्रथम श्वास, श्लोक ८१-९०) उनके १४ शिष्य बतलाये जाते हैं जिनमें ५ शिष्य संन्यासी थे और ९ शिष्य गृहस्थ। यह तन्त्र श्रीविद्या की परम्परा के अनुकूल है और पर्याप्तरूपेण प्रामाणिक है, परन्तु इस शिष्य परम्परा का कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। प्रसिद्ध बात तो यह है कि आचार्य के चार पट्टशिष्य थे और ये चारों सन्यासी थे जिन्हें उन्होंने अपने स्थापित चारों पीठों पर अध्यक्ष बनाया। इनके नाम हैं—(१) सुरेश्वराचार्य, (२) पद्मपादाचार्य, (३) हस्तामलकाचार्य तथा (४) तो (त्रो) टकाचार्य। इन शिष्यों में प्रथम दो—सुरेश्वर तथा पद्मपाद—अलौकिक विद्वान थे और अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना कर

---

१. प्रपञ्चसार के १९वें पटल में यह ५७वाँ श्लोक है (पृष्ठ २३२)। अन्तर इतना है कि 'तद्बिम्बैः' के स्थान पर 'तद्बीजैः' पाठ है। विवरण में इस पद्य की व्याख्या नहीं है, पर अमलानन्द तथा अप्पयदीक्षित ने अर्थ किया है।

इन्होंने गुरुपदिष्ट अद्वैत मत का विपुल प्रचार किया। परन्तु हस्तामलक तथा तोटक के विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है।

(१) **सुरेश्वराचार्य** आचार्य के पट्टशिष्यों में से थे। पूर्वाश्रम में इनका नाम मण्डन मिश्र था तथा वे प्रथमतः कुमारिल के शिष्य थे और प्रौढ मीमांसक थे। आचार्य ने इन्हें शास्त्रार्थ में परास्त कर सन्यास की दीक्षा दी तब ये सुरेश्वराचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए।[१] इन्होंने नैष्कर्म्य सिद्धि, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य वार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक (अथवा मानसोल्लास), पञ्चीकरणवार्तिक आदि नितान्त विद्वत्तामय प्रौढ ग्रन्थों को बनाया था। इन्हीं वार्तिकों की रचना के हेतु ये वेदान्त के इतिहास में 'वार्तिककार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका दूसरा नाम विश्वरूपाचार्य भी था और इस नाम से याज्ञवल्क्यस्मृति की जो 'बालक्रीडा' टीका उपलब्ध है वह सुरेश्वर ही की कृति मानी जाती है। बालक्रीडा के अतिरिक्त 'श्राद्धकलिका' नामक श्राद्ध विषयक कोई ग्रन्थ इनका बनाया हुआ था जिसका उल्लेख इसी टीका में है। धर्मशास्त्र में इनका एक अन्य गद्यपद्यात्मक ग्रन्थ है जिसमें आचार का प्रतिपादन है। इस प्रकार सुरेश्वर ने धर्मशास्त्र तथा अद्वैतवेदान्त उभय शास्त्रों पर प्रौढ और उपादेय ग्रन्थों का निर्माण कर वैदिक धर्म के मार्ग को विशेष रूप से परिष्कृत कर दिया।

(२) **पद्मपाद**—इनका यथार्थ नाम 'सनन्दन' था। ये चोल देश के निवासी थे। बाल्यकाल में ही अध्ययन के निमित्त ये काशी आये और यहीं पर आचार्य से इनकी भेंट हुई तथा आचार्य ने इन्हें संन्यास दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। ये बड़े भक्त शिष्य थे। इनकी गुरु भक्ति की परीक्षा आचार्य ने शिष्य मण्डली के द्वेषभाव को दूर करने के लिये ली थी। इसका उल्लेख पहले किया गया है। इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना है—पञ्चपादिका जो ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रथमांश की वृत्ति है। इसके जलाये जाने तथा उद्धार किये जाने की बात पीछे दी गई है। इस ग्रन्थ के ऊपर प्रकाशात्म यति ने 'विवरण' नामक टीका लिखी है और इस विवरण की विशेष दो व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं—विद्यारण्य स्वामी का 'विवरणप्रमेयसंग्रह' तथा अखण्डानन्द का 'तत्त्वदीपन'। अद्वैत वेदान्त के

१. शङ्करदिग्विजयों के आधार पर सुरेश्वर और मण्डन की अभिन्नता प्रमाणसिद्ध है। सम्प्रदाय इसी की पुष्टि करता है। परन्तु दोनों के अद्वैत विषय में भी मतभेद के कारण नवीन विद्वान् लोग इस विषय में संशयालु हैं। मण्डन मिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' अभी हाल में मद्रास से प्रकाशित हुई है। इसमें निर्दिष्ट मत सुरेश्वर के मत से भिन्न पड़ता है। जिज्ञासु जनों को अधिक जानकारी के लिये 'ब्रह्मसिद्धि' की भूमिका देखनी चाहिए।

'विवरण-प्रस्थान' का मूल ग्रन्थ यही पञ्चपादिका है। इनका दूसरा ग्रन्थ है—**विज्ञानदीपिका** (प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित) जिसमें 'कर्म' का सांगोपांग विवेचन है। प्रपञ्चसार की विवरण टीका पद्मपाद की ही कृति मानी जाती है। यह कलकत्ते से प्रकाशित हुई है। इनके अतिरिक्त इन्होंने शिव के पंचाक्षर मन्त्र की विशद व्याख्या लिखी है। नाम है—**पञ्चाक्षरीभाष्य**। इस भाष्य की काशी के ख्यातनामा रामनिरञ्जन स्वामी ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी है जो 'पञ्चाक्षरीभाष्यतत्त्वप्रकाशिका' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार पद्मपादाचार्य अद्वैत के अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित प्रतीत होते हैं।

(३) **हस्तामलक**—इनका दूसरा नाम पृथ्वीधराचार्य था। इनके आचार्य के शिष्य होने की कथा विस्तार के साथ शङ्करदिग्विजय में दी गई है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये जन्म से ही विरक्त थे। इतने अलौकिक थे कि संसार के किसी भी प्रपञ्च में ये बंधे न थे। ये जीवन्मुक्त थे, उन्मत्त की भाँति रहते थे। आचार्य ने जब इनका परिचय पूछा तब इन्होंने अपने स्वरूप का जो आध्यात्मिक परिचय दिया वही 'हस्तामलक' स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें केवल १२ पद्य हैं। इसके ऊपर एक भाष्य भी मिलता है जो श्रीरङ्गम् की शङ्कर-ग्रन्थावली में छापा गया है और आचार्य की कृति माना जाता है। कुछ लोगों को इस विषय में सन्देह भी है। इस स्तोत्र की 'वेदान्तसिद्धान्तदीपिका' नामक एक टीका भी प्रसिद्ध है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इनकी किसी अन्य रचना का पता नहीं चलता।

(४) **तोटकाचार्य (त्रोटकाचार्य)**—इनका प्रसिद्ध नाम आनन्द गिरि था। मठाम्नाय में लिखा है—तोटक 'आनन्दगिरिं प्रणमामि जगद्गुरुम्।' माधव के शङ्करविजय में उनके संक्षिप्त नाम 'गिरि' का ही उल्लेख मिलता है। परन्तु शङ्कर के भाष्यों पर वृत्ति लिखनेवाले विख्याततनामा 'आनन्दगिरि' इनसे बहुत पीछे हुए हैं। दोनों भिन्न भिन्न समय के आचार्य हैं। गिरि की गुरुभक्ति का उज्ज्वल निदर्शन इसी ग्रन्थ में दिया गया है। गिरिजी एक बार कौपीन धोने के लिये तुङ्गभद्रा के किनारे गये थे, तब इनकी प्रतीक्षा में शङ्कर ने पाठ बन्द कर रखा। शिष्यों को यह बहुत बुरा लगा कि गुरुजी ऐसे वज्रमूर्ख शिष्य पर इतनी अनुकम्पा रखते हैं। आचार्य ने शिष्यों का भावना समझ ली और अपनी अलौकिक शक्ति से चतुर्दश विद्याएँ इनमें सङ्क्रमित कर दीं। आते ही ये तोटक वृत्तों में अध्यात्म का विवेचन करने लगे। आचार्य की अनुकम्पा का सद्यःफल देखकर शिष्य मण्डली आश्चर्य से चकित हो गई। इनके नाम के साथ कालनिर्णय, तोटकव्याख्या, तोटक श्लोक, श्रुतिसारसमुद्धरण आदि ग्रन्थ

सूची ग्रन्थों में उल्लिखित किये गये हैं। काशी के एक विद्वान् के पास वेदान्त पर एक बड़ा गद्यात्मक ग्रन्थ इनका लिखा हुआ है। इसकी विशेष छान-बीन करने पर अनेक तथ्यों का पता चलेगा, ऐसी आशा है।

आनन्दगिरि तथा चिद्विलासयति के 'शङ्करविजय' में पूर्वोक्त विख्यात चार शिष्यों के अतिरिक्त अन्य शिष्यों के भी नाम दिये गये हैं। इनकी प्रामाणिकता कितनी है, ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता, तथापि इन नामों का उल्लेख आवश्यक समझकर यहाँ किया जाता है। शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—चित्सुखाचार्य समित्पाण्याचार्य, विष्णुगुप्ताचार्य, शुद्धकीर्त्याचार्य, भानुमरीच्याचार्य, कृष्णदर्शनाचार्य, बुद्धिवृद्ध्याचार्य, विरञ्चिपादाचार्य, शुद्धानन्दगिर्याचार्य, सुनाभ्राचार्य, भीमदाचार्य, लक्ष्मणाचार्य आदि, आदि।

७–वैदिक धर्म का प्रचार

आचार्य के जीवन का प्रधान लक्ष्य वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रचार था। उनके समय से पूर्व अवैदिक धर्मों ने अपने वेद विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रचुर प्रचार कर वैदिक मार्ग के पालन में जनता के हृदय में अश्रद्धा पैदा कर दी थी। वेद के तथ्यों को अपसिद्धान्त का रूप देकर इनके अनुयायियों ने इस धर्म को जर्जरित करने का पर्याप्त प्रयत्न किया था। शङ्कर ने अपनी अलौकिक विद्वत्ता के बल पर इन समग्र अवैदिक या अर्धवैदिक सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा दीं उनकी निःसारता प्रमाणित कर दी तथा वेद प्रतिपाद्य अद्वैत मत का विपुल ऊहापोह कर श्रौत धर्म को निरापद बना दिया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के निमित्त आचार्य ने अनेक व्यापक तथा उपादेय साधनों का अवलम्बन लिया।

शास्त्रीय विचार से तर्क-पक्ष का अवलम्बन कर आचार्य ने विरुद्ध मतवादों के अपसिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन कर दिया। इन अवैदिकों ने भारत के अनेक पुण्यक्षेत्रों को अपने प्रभाव से प्रभावित कर वहाँ अपना अड्डा जमा लिया था। आचार्य ने इन पुण्यक्षेत्रों को इनके चङ्गुल से हटाकर उन स्थानों की महत्ता फिर से जाग्रत की। दृष्टान्त रूप से 'श्रीपर्वत' को लिया जा सकता है। यह स्थान नितान्त पवित्र है, द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से प्रधान लिङ्ग 'मल्लिकार्जुन' का यह स्थान है, परन्तु कापालिकों की काली करतूतों ने इसे विद्वानों की दृष्टि में काफी बदनाम कर रखा था। कापालिकों की उग्रता इसी से समझी जा सकती है कि कर्नाटक की उज्जैनी नगरी में 'क्रकच' कापालिकों का एक प्रभावशाली सरदार था। उसके पास हथियारबन्द सेना रहती थी। जिसे वह चाहता था अपने वश में कर लेता था। उग्र कापालिक तो आचार्य के ऊपर ही अपना हाथ साफ करने जा रहा था, परन्तु पद्मपाद के मन्त्र बल ने उसके पाखण्ड का मजा उसे ही चखा दिया। पाप का विषमय फल तुरन्त फला। आचार्य ने

इन पवित्र स्थानों को वैदिक मार्ग पर पुनः प्रतिष्ठित किया। आनन्दगिरि ने अपने ग्रन्थ में कापालिकों, शाक्तों तथा नाना प्रकार के सम्प्रदायभुक्त व्यक्तियों को परास्त कर पुण्य तीर्थों में वैदिक धर्म की उपासना को पुनः प्रचारित करने का पर्याप्त उल्लेख किया है।

(२) वैदिक ग्रन्थों के प्रति अश्रद्धा का कारण उनकी दुरूहता भी थी। उपनिषदों का रहस्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में जब पण्डितों में ही ऐकमत्य नहीं है, तब साधारण जनता किस मत को अङ्गीकार करे। आचार्य ने इसी लिये श्रुति के मस्तस्वरूप उपनिषदों की विशद व्याख्या कर उनके गूढ़ अर्थ को प्रकट किया तथा ब्रह्मसूत्र और गीता पर अपने सुबोध, प्रसन्न गम्भीर भाष्य लिखे। साधारण लोगों के निमित्त उन्होंने प्रकरण-ग्रन्थों की रचना कर अपने भाष्य के सिद्धान्त को बोधगम्य भाषा में, सरस श्लोकों के द्वारा, अभिव्यक्त किया। इतना ही नहीं, अपने ग्रन्थों के विपुल प्रचार की अभिलाषा से इन्होंने अपने शिष्यों को भी वृत्ति तथा वार्तिक लिखने के लिये उत्साहित किया। शिष्यों के हृदय में आचार्य की प्रेरणा प्रभावशालिनी सिद्ध हुई। उन्होंने इस विषय में आचार्य के कार्य का अनुकरण किया और आज जो विपुल ग्रन्थ राशि अद्वैत के प्रतिपादन के लिये प्रस्तुत की गई है उसकी रचना की प्रेरणा का मूल स्रोत आचार्य के ग्रन्थों से प्रवाहित हो रहा है। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर दिया था जिससे समग्र देश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म समझ सके और कोई भी अद्वैत-मत के उपदेश से वञ्चित न रह जाय।

(३) धर्मस्थापन के कार्य को स्थायी बनाने के लिये उन्होंने सन्यासियों को सङ्घबद्ध करने का उद्योग किया। गृहस्थ अपने ही कामों में चूर है, अपने जीवन के कार्यों को सुलझाने में व्यस्त है, उसे अवकाश कहाँ कि वह धर्म प्रचार के लिये अपना समय दे सके, परन्तु वैदिक समाज का सन्यासीवर्ग इस कार्य के लिये सर्वथा उपयुक्त है। आचार्य की पैनी दृष्टि ने इसी लिये इस वर्ग की महत्ता पहचानी और उसे सङ्घ रूप में सङ्गठित करने का नितान्त श्लाघनीय उद्योग किया। विरक्त पुरुष धर्म का सच्चा उपदेष्टा हो सकता है तथा अपने जीवन को वैदिक धर्म के अभ्युत्थान, अभ्युदय तथा मङ्गल साधन में लगा सकता है। आचार्य ने इस विरक्त तापस वर्ग को एकत्र कर, एक सङ्घ के रूप में बाँधकर, वैदिक धर्म के भविष्य कल्याण के लिये महान् कार्य सम्पन्न कर दिया है।

(४) उन्होंने भारत भूमि की चारों दिशाओं में चार प्रधान मठ स्थापित कर दिये। इनमें ज्योतिर्मठ (प्रचलित नाम जोसी मठ) बदरिकाश्रम के पास है, शारदामठ द्वारका पुरी में, शृङ्गेरी मठ रामेश्वरक्षेत्र में, तथा गोवर्धन मठ

जगन्नाथ पुरी में विद्यमान है। इन मठों का अधिकारदेश आचार्य ने निश्चित कर दिया। भारत का उत्तरी तथा मध्य का भूभाग—कुरु, काश्मीर, कम्बोज, पाञ्चाल आदि देश—ज्योतिर्मठ के शासन के अधिकार में रखा गया। सिन्धु सौवीर, सौराष्ट्र तथा महाराष्ट्र प्रभृति देश अर्थात् भारत का पश्चिम भाग द्वारका स्थित शारदा मठ के शासन में था, आन्ध्र, द्रविड, कर्नाटक, केरल आदि प्रान्त अर्थात् भारत का दक्षिणी भाग श्रृंगेरी मठ के शासनाधीन हुआ। अङ्ग, बङ्ग कलिङ्ग, मगध, उत्कल तथा बर्बर देश गोवर्धन मठ के शासनाधीन हुआ। इस प्रकार की व्यवस्था का उद्देश्य नितान्त महत्वपूर्ण है कि आचार्य के अनन्तर भी वर्णाश्रम धर्म समग्र देश में वेदान्त के दृढ़ आश्रय में सुरक्षित रहकर इन मठों तथा मठाधीशों की छत्रछाया में अपना प्रभाव फैलाता रहे। प्रत्येक मठ का कार्यक्षेत्र पृथक् पृथक था। मठ के अध्यक्षों का प्रधान कार्य है अपने क्षेत्र के अन्तर्भुक्त वर्णाश्रम धर्मावलम्बियों में धर्म की प्रतिष्ठा दृढ़ रखना तथा तदनुकूल उपदेश देना। ये अध्यक्ष आचार्य शङ्कर के प्रतिनिधि रूप हैं। इसी कारण वे भी 'शङ्कराचार्य' कहलाते हैं।

मठ के आदि-आचार्यों का नाम निर्णय

आचार्य ने इन चार मठों में अध्यक्ष के रूप में अपने चारों पट्ट शिष्यों को नियुक्त किया, परन्तु किस शिष्य को किस स्थान पर रखा? इस विषय में मठाम्नाय में हम ऐकमत्य नहीं पाते। किसी मत में गोवर्धन मठ का अध्यक्ष पद दिया गया पद्मपाद को, श्रृंगेरी का पृथ्वीधर (हस्तामलक) को और शारदा मठ का विश्वरूप (सुरेश्वर) को परन्तु मतान्तर में गोवर्धन मठ में हस्तामलक द्वारका मठ में पद्मपाद, श्रृंगेरी मठ में विश्वरूप तथा ज्योतिर्मठ में तोटक के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये जाने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार मठाम्नाय में पाठ भेद होने से इस विषय में काफी मतभेद है। इस विवाद के निर्णय की एक दिशा है जिधर विद्वानों का ध्यान नहीं आकृष्ट किया जा रहा है।

वैदिक सम्प्रदाय में वेदों का सम्बन्ध भिन्न भिन्न दिशाओं के साथ माना जाता है—ऋग्वेद का सम्बन्ध पूर्व दिशा से है, यजुर्वेद का दक्षिण दिशा से सामवेद का पश्चिम से तथा अथर्ववेद का उत्तर से। याग के अवसर पर यही पद्धति प्रचलित है। शङ्कराचार्य ने मनमाने ढङ्ग से शिष्यों को मठों में नियुक्त नहीं किया, प्रत्युत उनके चुनाव में एक विशिष्ट नियम का पालन उन्होंने किया है। जिस आचार्य का जो वेद था उसकी नियुक्ति उसी वेद से सम्बद्ध दिशा में की गई। आचार्य पद्मपाद काश्यपगोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। मठाम्नाय का प्रमाण इस विषय में अकाट्य है—

गोवर्धनमठे रम्ये विमलापीठसंज्ञके।
पूर्वाम्नाये भोगवारे श्रीमत्काश्यपगोत्रजः॥
माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाशब्रह्मचारी च ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्।
श्रीपद्मपादः प्रथमाचार्यत्वेनाभ्यषिच्यत॥

अत ऋग्वेदी पद्मपाद को आचार्य ने ऋग्वेद की दिशा—पूर्व दिशा में नियुक्त किया। शृङ्गेरी मठ में विश्वरूप (सुरेश्वर) की नियुक्ति प्रमाणसम्मत प्रतीत होती है—इस कारण नहीं कि प्रधान पीठ पर सर्वप्रधान शिष्य को रखना न्यायसङ्गत होता, प्रत्युत उनके वेद के कारण ही ऐसा किया गया था। सुरेश्वर शुक्लयजुर्वेद के अन्तर्गत काण्वशाखाध्यायी थे। इस विषय में माधव ने शङ्कर-दिग्विजय में लिखा है—

तद्वत् त्वदीया खलु कण्वशाखा
ममापि तत्रास्ति तदन्तभाष्यम्।
तद्वार्तिकं चापि विधेयमिष्टं
परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः॥१३-६६॥

आचार्य शङ्कर ने सुरेश्वर को दो उपनिषद्-भाष्यों पर वार्तिक लिखने का आदेश दिया था—तैत्तिरीय उप० भाष्य पर, क्योंकि शङ्कर की अपनी शाखा तैत्तिरीय थी तथा बृहदारण्यक भाष्य पर, क्योंकि सुरेश्वर की शाखा शुक्ल यजु की काण्व शाखा थी—

सत्यं यदात्थ विनयिन् मम याजुषी या
शाखा तदन्तगतभाष्यनिबन्ध इष्टः।
तद्वार्तिकं मम कृते भवता विधेयं
सच्चेष्टितं परहितैकफलं प्रसिद्धम्॥ १३६५॥

सुरेश्वराचार्य के इन्हीं दोनों उपनिषद्-भाष्यों पर वार्तिक-रचना का रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है। यजुर्वेद से सम्बद्ध दिशा दक्षिण है। अत आचार्य ने इन्हें ही शृङ्गेरी मठ का अध्यक्ष बनाया था। तोटकाचार्य उत्तर-दिशास्थ ज्योतिर्मठ के अध्यक्ष बनाये गये, इस विषय में किसी की विमति नहीं है। इनके अथर्ववेदी होने के कारण यह चुनाव किया गया होगा, इसका हम अनुमान कर सकते हैं। हस्तामलक की नियुक्ति परिशेषात् द्वारकामठ के अध्यक्ष-पद पर की गई थी। यही परम्परा न्यायानुमोदित प्रतीत होती है। अत इन चारों मठों के आदि आचार्यों के नाम इस प्रकार होना चाहिए (दे० पृ० ४७१)।

संख्या	आम्नाय	सम्प्रदाय	मठ-नाम	अङ्कितनाम	अद्वैत मठाम्नाय क्षेत्र-नाम	देव	देवी शक्ति	आचार्य	तीर्थ	ब्रह्मचारी	वेद	महावाक्य	स्थान	गोत्र	शासनाधीश (आयत्त) देशों के नाम
१	पश्चिम	कीटवार	शारदामठ	तीर्थ, आश्रम	द्वारका	सिद्धेश्वर	भद्रकाली	विश्वरूप	गोमती	स्वरूप	सामवेद	तत्त्वमसि	द्वारका	अविगत	सिन्धु सौवीर, सौराष्ट्र महाराष्ट्र आदि
२	पूर्व	भोगवार	गोवर्धन	वन अरण्य	पुरुषोत्तम	जगन्नाथ	विमलादेवी	पद्मपाद	महोदधि	प्रकाशक	ऋग्वेद	प्रज्ञान ब्रह्म	जगन्नाथ	काश्यप	अङ्ग, बङ्ग, कलिंग, उत्कल बर्बर आदि
३	उत्तर	आनन्दवार	ज्योतिर्मठ	गिरि, पर्वत सागर	बदरिकाश्रम	नारायण	पूर्णगिरि	तोटक	अलकनन्दा	आनन्द	अथर्व	अयमात्मा ब्रह्म	बदरी	भृगु	कुरु, काश्मीर पाञ्चाल, कम्बोज आदि
४	दक्षिण	भूरिवार	शृंगेरी	सरस्वती भारती पुरी	रामेश्वर	आदिवराह	कामाक्षी, (शारदा)	पृथ्वीधर (हस्तामलक)	तुंगभद्रा	चैतन्य	यजुर्वेद	अहं ब्रह्मास्मि	शृंगेरी	भूर्भुव	आन्ध्र, द्रविड केरल, कर्णाट आदि
५	ऊर्ध्वाम्नाय	काशी	सुमेरु	सत्य ज्ञान	कैलास	निरञ्जन	माया	महेश्वर	मानस ब्रह्म तत्त्वाव गाहितम्		सामवेद				
६	आत्माम्नाय	सत्वतोष	परमात्ममठ	योग	नमसरोवर	परमहंस	मानसी माया	चेतन	त्रिपुटी	संन्यासी	वेदान्त वाक्य				
७	निष्कलाम्नाय	सच्छिष्य	सहस्रार्क द्युतिमठ	गुरुपादुका	अनुभव	विश्वरूप	चिच्छक्ति	सद्गुरु	सत्शास्त्र श्रवणम्	संन्यासी					

पद्मपाद	ऋग्वेदी	पूर्वदिशा	गोवर्धन मठ
सुरेश्वर	यजुर्वेदी	दक्षिण	शृंगेरी "
हस्तामलक	सामवेदी	पश्चिम	शारदा "
तोटक	अथर्ववेदी	उत्तर	ज्योतिर्मठ

पूर्वोक्त अनुशीलन की पुष्टि गोवर्धनमठ के प्रधान अधिकारी के द्वारा प्रकाशित मठाम्नाय से भली भाँति हो रही है जो पाठकों के सुभीते के लिये परिशिष्ट रूप में इस ग्रन्थ के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

'मठाम्नायसेतु' के अनुसार अद्वैतमत के ७ आम्नाय हैं तथा प्रत्येक आम्नाय के सम्प्रदाय मठ, अङ्कित नाम, क्षेत्र, देव देवी, आचार्य, तीर्थ, ब्रह्मचारी, वेद, महावाक्य, स्थान, गोत्र तथा शासनाधीन देश के नाम भिन्न भिन्न हैं। इस विषय की सुगमता के लिये पृष्ठ ४७० पर तालिका दी गई है जिस पर दृष्टिपात करते ही इन विभिन्न विषयों का परिचय अनायास ही हो जायगा। 'आम्नाय' का विषय नितान्त महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इसकी समीक्षा समग्र उपलब्ध साधनों की सहायता से अपेक्षित है। कालान्तर में इसके प्रस्तुत करने की चेष्टा की जायगी।

काञ्ची का कामकोटि-पीठ

चारों आम्नायों से सम्बद्ध पीठों का विवेचन ऊपर किया गया है। ऊर्ध्वाम्नाय के अन्तर्गत काशी का सुमेरु मठ माना जाता है जहाँ आचार्य शङ्कर ने 'महेश्वर' नामक शिष्य को अध्यक्ष-पद पर नियुक्त किया। अन्तिम दोनों आम्नायों—आत्माम्नाय तथा निष्कलाम्नाय—का रहस्य गूढ़ है। इनका सम्बन्ध भौतिक जगत् से न होकर आध्यात्मिक जगत् से है। अतः इनका विवेचन यहाँ अनावश्यक है। चारों मठों के अतिरिक्त काञ्ची का कामकोटि-पीठ भी आचार्य से स्थापित पीठों में अन्यतम माना जाता है। वहाँ के अध्यक्ष पदारूढ़ आचार्यों ने कामकोटि को सर्वप्रधान पीठ सिद्ध करने के लिये अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों को रखने की चेष्टा की है। उनका कथन है कि शङ्कर ने चारों मठों पर अपने शिष्यों को नियुक्त किया तथा अपने लिये काञ्ची को पसन्द किया। यहीं योगलिङ्ग तथा भगवती कामाक्षी की पूजा अर्चा में अपना अन्तिम समय बिताकर आचार्य ने यहीं अपने भौतिक शरीर को छोड़ा था। काञ्चीस्थित आम्नाय का नाम है—मौलाम्नाय, पीठ—कामकोटि, मठ—शारदा, आचार्य—शङ्कर भगवत्पाद, क्षेत्र—सत्यव्रत काञ्ची, तीर्थ—कम्पासर, देव—एकाम्रनाथ, शक्ति—कामकोटि, वेद—ऋक्, सम्प्रदाय—मिथ्याचार, संन्यासी—इन्द्र, सरस्वती, ब्रह्मचर्य—सत्य ब्रह्मचारी, महावाक्य—ओं तत् सत्। अपने मत को पुष्ट करने के

लिये मठ से अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं।[1] इन ग्रन्थों में आचार्य का सम्बन्ध काञ्ची मठ के स्थान परिनिष्ठित रूप से सिद्ध किया गया है। इस विषय की विशेष छानबीन नितान्त आवश्यक है।

उपमठ

इन प्रधान मठों से सम्बद्ध अनेक उपपीठ भी विद्यमान हैं जिनकी संख्या कम नहीं है। ऐसे कुछ उपपीठों के नाम हैं—कूडली मठ, संकेश्वर मठ, पुष्पगिरिमठ, विरूपाक्ष मठ, हम्पल मठ, शिवगङ्गा मठ, कोप्पाल मठ श्रीशैल मठ रामेश्वर मठ आदि आदि। ये मठ प्रधान मठ के ही अन्तर्गत माने जाते हैं और किसी विशेष ऐतिहासिक घटना के कारण मूलभूत मठ से पृथक् हो गये हैं। जैसा कूडली मठ, संकेश्वर मठ तथा करवीर मठ शृङ्गेरी मठ से पृथक होने पर भी उसकी अध्यक्षता तथा प्रभुता स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार गुजरात में मूल बागल मठ द्वारका के शारदा मठ से पृथक् अवश्य है, परन्तु उसी के अधिकारभुक्त माना जाता है। इन मठों की उत्पत्ति का इतिहास बड़ा ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है, परन्तु साधनों की सत्ता रहने पर भी स्थानाभाव के कारण हमें इस विषय को यहीं समाप्त कर देना पड़ता है। अन्यत्र इसकी प्रमाणपुरःसर चर्चा विस्तार के साथ की जायगी।

मठाधीशों को आचार्य-उपदेश

आचार्य ने केवल मठों की स्थापना करके ही अपने कर्तव्य की इति श्री नहीं कर दी बल्कि जिन चार मठों की स्थापना की उन चारों मठाधीशों के लिये एक ऐसी सुव्यवस्था भी बाँध दी कि जिसके अनुसार चलने से उनका महान् उद्देश्य अवश्य पूर्ण होगा। आचार्य के ये उपदेश मठानुशासन के नाम से प्रसिद्ध हैं और पाठकों के सौकर्य के लिये वे परिशिष्ट में दे दिये गये हैं। आचार्य का यह कठोर नियम था कि मठ के अधीश्वर लोग अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिये सदा भ्रमण किया करें। उन्हें अपने मठ में नियत रूप से निवास न करना चाहिए। उन्हें अपने अपने भागों में विधिपूर्वक आचार्य प्रतिपादित वर्णाश्रम तथा सदाचार की रक्षा करनी चाहिए। सदा उन्हें उत्साहित होकर धर्म की रक्षा में लगना चाहिए। आलस्य करने से धर्म के नष्ट हो जाने का भय है। एक मठ के अधीश्वर को

1 N K Venkatesan—Sri Sankaracharya and his Kamakoti peetha, Venkat Ram—Sri Sankar and His successors at Kanchi, Sri Sankaracharya the great & his connexion with Kanchi (Bangiya Brahman Sabha, Calcutta)

दूसरे मठ के अधीश्वर के विभाग में प्रवेश न करना चाहिए। सब आचार्यों को मिलकर एक सुव्यवस्था करनी चाहिए। मठ के अधीश्वरों के लिये आचार्य का यही उपदेश है।

मठ के आचार्यों में अनेक सद्गुण होना चाहिए। पवित्र जितेन्द्रिय, वेद-वेदाङ्ग में विशारद, योग का ज्ञाता, सब शास्त्रों का पण्डित ही इन मठों की गद्दी पर बैठने का अधिकारी है। यदि मठाधिप इन सद्गुणों से युक्त न हो तो विद्वानों को चाहिए कि उसका निग्रह करें, चाहे वह अपने पद पर भले ही आरूढ हो गया हो :—

उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग्भवेत्।
अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम् ॥

यह नियम आचार्य के व्यावहारिक ज्ञान का परिचय भली भाँति दे रहा है। आचार्य ने मठों के अधीश्वरों की देख रेख उस देश के प्रौढ विद्वानों के ऊपर रख छोड़ा है। विद्वानों को बड़ा अधिकार है। यदि गद्दी पर बैठनेवाला आचार्य उक्त सद्गुणों से नितान्त हीन हो तो विद्वानों को अधिकार है कि उसे दण्ड दें और पद से च्युत कर दें। आचार्य ने मठाधीशों को रहने के लिये राजसी ठाट-बाट का भी उपदेश दिया लेकिन यह धर्म के उद्देश से ही—उपकार बुद्धि से होना चाहिए। उन्हें तो स्वयं पद्मपत्र की तरह निर्लेप ही रहना चाहिए। आचार्य का जीवन ही वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा के लिये है। उन्हें तन-मन लगाकर इस कार्य के सम्पादन के लिये प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ है तो वह उस महत्त्वपूर्ण पद का अधिकारी कभी भी नहीं हो सकता जिसकी स्थापना स्वयं आचार्य-चरणों ने वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के लिये अपने हाथ से की है। आचार्य के ये उपदेश कितने उदात्त, कितने पवित्र तथा कितने उपादेय हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य का व्यवहार-ज्ञान शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा कथमपि घट कर नहीं था। यह महानुशासन सचमुच महान् अनुशासन है और यदि मठाधीश्वर लोग इसके अनुसार चलने का प्रयत्न करें तो हमें पूरा विश्वास है कि विदेशी सभ्यता के सम्पर्क में आकर भारतीयों के हृदय में अपने धर्म के प्रति, धर्म ग्रन्थों के प्रति, अपने देवीदेवताओं के प्रति जो अनादर-भाव धीरे-धीरे घर करता जा रहा है वह न जाने कब का समाप्त हो गया होता। और भारतीय जनता निःश्रेयस तथा अभ्युदय की सिद्धि करनेवाले वैदिक 'धर्म' की धारणा में तन्मन से लग गई होती।

८—अद्वैत-मत की मौलिकता

आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है, यह तो सब कोई जानते हैं। यह अद्वैतवाद नितान्त प्राचीन सिद्धान्त है। इस मत का

प्रतिपादन केवल उपनिषदों में ही नहीं किया गया है, प्रत्युत संहिता के अनेक सूक्तों में अद्वैततत्त्व का आभास स्पष्टरूपेण उपलब्ध होता है। अद्वैतवाद वैदिक ऋषियों की आध्यात्मिक जगत् की नितान्त महत्त्वपूर्ण देन है। इन ऋषियों ने आर्ष चक्षु से नानात्मक जगत् के स्तर में विद्यमान होनेवाली एकता का दर्शन किया, उसे ढूँढ निकाला और जगत् के कल्याण के निमित्त प्रतिपादित किया। इसी श्रुति के आधार पर आचार्य ने अपने अद्वैततत्त्व को प्रतिष्ठित किया है। शङ्कर ने जगत् के काल्पनिक रूप को प्रमाणित करने के लिये 'माया' के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और इसके लिये भी ये अपने दादागुरु आचार्य गौडपाद के ऋणी हैं। गौडपादाचार्य ने जिस अद्वैत सिद्धान्त को माण्डूक्यकारिकाओं में अभिव्यक्त किया है, उसी का विशदीकरण शङ्कर ने अपने भाष्यों में किया है। इतना ही क्यों? आचार्य की गुरुपरम्परा नारायण से आरम्भ होती है। शङ्कर की गुरुपरम्परा तथा शिष्यों का निर्देश इन प्रसिद्ध पद्यों में मिलता है—

> नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
> व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥
> श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
> तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मद्गुरुं सन्ततमानतोऽस्मि॥

आचार्य की गुरुपरम्परा का प्रकार यह है—नारायण→ब्रह्मा→वशिष्ठ→शक्ति→पराशर→वेदव्यास→शुक→गौडपाद→गोविन्दभगवत्पाद→शङ्कर। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि शङ्कर ने जिस मायावाद का विशद प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में किया है उसका प्रथम उपदेश भगवान् नारायण के द्वारा किया गया। शिष्य लोग जिस उपदेश को गुरु से सुनते आये उसी की परम्परा जारी रखने के लिये अपने शिष्यों को भी उन्हीं तत्त्वों का आनुपूर्वी उपदेश दिया। इस प्रकार यह अद्वैतवाद नितान्त प्राचीन काल से इस भारतभूमि पर जिज्ञासुजनों की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करता हुआ चला आ रहा है। इसे शङ्कर के नाम से सम्बद्ध करना तथा शङ्कर को ही इस सिद्धान्त का उद्भावक मानना नितान्त अनुचित है।

कतिपय विद्वान् इस प्राचीन परम्परा की अवहेलना कर 'मायावाद' को बौद्ध दर्शन का औपनिषद संस्करण मानते हैं और अपनी युक्तियों को पुष्ट करने के लिये पद्मपुराण में दिये गये "मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा" वाक्य को उद्धृत करते हैं। श्री विज्ञानभिक्षु ने 'सांख्यप्रवचन भाष्य' की भूमिका में इस वचन को उद्धृत किया है। अवान्तरकालीन अनेक द्वैतमतावलम्बी पण्डित इस वाक्य को प्रमाण मानकर शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध और उनके मायावाद को बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का ही एक

नया रूप मानते हैं, परन्तु विचार करने पर यह समीक्षा युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती।

अद्वैतवाद और विज्ञानवाद

इस विषय में मार्के की बात यह है कि शाङ्कर मत के खण्डन के अवसर पर बौद्ध दार्शनिकों ने कहीं पर भी शङ्कर को बौद्धों के प्रति ऋणी नहीं बतलाया है। बौद्ध पण्डितों की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी। यदि कहीं भी उन्हें अद्वैतवाद में बौद्ध तत्त्वों की सत्ता का आभास भी प्रतीयमान होता, तो वे पहले व्यक्ति होते जो इसकी घोषणा डङ्के की चोट से करते, अद्वैतवाद को विज्ञानवाद या शून्यवाद का आभास मानकर वे इसके खण्डन से सदा पराङ्मुख होते। परन्तु पराङ्मुख होने की कथा अलग रहे, उन्होंने तो बड़े अभिनिवेश के साथ इसके तत्त्वों की निःसारता दिखलाने की चेष्टा की है। बौद्ध ग्रन्थों ने अद्वैतवादी के औपनिषद मत को बौद्धमत से पृथक् कहा है और उसका खण्डन किया है। शान्तरक्षित नालन्दा विद्यापीठ के आचार्य थे और विख्यात बौद्ध दार्शनिक थे। उन्होंने अपने विपुलकाय 'तत्त्वसंग्रह' में अद्वैतमत का खण्डन किया है—

> नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः।
> आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्तेऽपरे पुनः ॥३२८॥
> ग्राह्यग्राहकसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
> विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्ष्यते ॥ ३२९ ॥

'अपरे' का कमलशील ने इस ग्रन्थ की 'पञ्जिका' में अर्थ लिखा है। 'औपनिषदिकाः'। यह तो हुआ शाङ्कर मत का अनुवाद। अब इसका खण्डन भी देखिए—

> तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः।
> रूपशब्दादिविज्ञाने व्यक्तं भेदोपलक्षणात् ॥ ३३० ॥
> एकज्ञानात्मकत्वे तु रूपशब्दरसादयः।
> सकृद् वेद्याः प्रसज्यन्ते नित्येऽवस्थान्तरं न च ॥ ३३१ ॥

इससे विज्ञानवाद तथा अद्वैतवाद का अन्तर स्पष्ट है। आचार्य शङ्कर 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य ६।२।१), विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३।९।२८), इत्यादि श्रुतियों तथा युक्तियों के आधार पर विज्ञानरूप ब्रह्म को एक मानते हैं तथा उस ब्रह्म को सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद से रहित मानते हैं (पञ्चदशी २।२०-२५) परन्तु विज्ञानवादी बौद्ध लोग विज्ञान को नाना—भिन्न भिन्न मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में विज्ञान सजातीय भेद से शून्य नहीं है। ब्रह्म तो नित्य पदार्थ है, परन्तु विज्ञान क्षणिक है। उनका 'आलयविज्ञान'

क्षणिक है। अतः यह वासनाओं का अधिकरण भी नहीं माना जा सकता। आचार्य शङ्कर ने अपने शारीरक भाष्य (२।२।३१) में स्पष्टतः लिखा है—

यदपि आलयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमाद् अनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवत् न वासनाधिकरणं भवितुमर्हति।

इतने स्पष्ट विभेद के रहने पर ब्रह्माद्वैतवाद विज्ञानाद्वयवाद का ही रूपान्तर कैसे माना जा सकता है ?

इतना ही नहीं दोनों की जगत् विषयक समीक्षा नितान्त विरुद्ध है। विज्ञानवादियों का मत है कि विज्ञान या बुद्धि के अतिरिक्त इस जगत् में कोई पदार्थ ही नहीं है। जगत् के समग्र पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्यारूप हैं। जिस प्रकार स्वप्न, मायामरीचिका आदि ज्ञान बाह्य अर्थ की सत्ता के बिना ही ग्राह्य ग्राहक आकारवाले होते हैं उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भादि पदार्थ भी बाह्यार्थसत्ताशून्य हैं। परन्तु इसका खण्डन आचार्य ने किया है। उनका कहना है कि बाह्य अर्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप से हमें हो रही है। जब पदार्थों का अनुभव प्रतिक्षण हो रहा है, तब उन्हें उनकी ज्ञानके बाहर स्थिति न मानना उसी प्रकार उपहासास्पद है जिस प्रकार स्वादिष्ट भोजन कर तृप्त होनेवाला पुरुष जो न तो अपनी तृप्ति को ही माने और न अपने भोजन की ही बात स्वीकार करे (शाङ्करभाष्य २।२।२८)। विज्ञानवादी की सम्मति में विज्ञान ही एकमात्र सत्य पदार्थ है तथा जगत् स्वप्नवत् अलीक है, इस मत का खण्डन आचार्य ने बड़े ही युक्तियुक्त शब्दों में किया है। स्वप्न तथा जागरित दशा में बड़ा ही अधिक अन्तर रहता है। स्वप्न में देखे गये पदार्थ जागने पर लुप्त हो जाते हैं। अतः अनुपलब्धि होने से स्वप्न का बाध होता है, परन्तु जाग्रत् अवस्था में अनुभूत पदार्थ (स्तम्भ घट आदि) किसी अवस्था में बाधित नहीं होते। वे सदा एकरूप तथा एक स्वभाव से विद्यमान रहते हैं। एक और भी अन्तर होता है। स्वप्नज्ञान स्मृतिमात्र है, जागरित ज्ञान उपलब्धि है—साक्षात् अनुभव रूप है। अतः जाग्रत दशा को स्वप्नवत् मिथ्या मानना उचित नहीं है। इसलिए विज्ञानवाद का जगद्विषयक सिद्धान्त नितान्त अनुपयुक्त है। आचार्य के शब्द कितने मार्मिक हैं—

वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्।

—ब्र० सू० भा० (२।२।२९)

अद्वैतवाद का शून्यवाद से भेद

माध्यमिकों की कल्पना योगाचार के मत का भी खण्डन करती है। योगाचार विज्ञान की सत्ता मानते हैं, परन्तु शून्यवादी माध्यमिकों के मत में 'विज्ञान' का भी अभाव रहता है। केवल 'शून्य' ही एकमात्र तत्त्व है:—

बुद्धिमात्रं वदत्यत्र योगाचारो न चापरम्।
नास्ति बुद्धिरपीत्याह वादी माध्यमिकः किल॥

—सर्वसिद्धान्तसंग्रह।

शून्यवादी 'शून्य' को सत्, असत्, सदसत् तथा सदसदनुभय रूप—इन चार कोटियों से अलग मानते हैं:—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः॥

शिवार्कमणिदीपिका २।२।३०

परन्तु अद्वैत मत में ब्रह्म 'सत्'-स्वरूप है तथा ज्ञानस्वरूप है। शून्यवादियों की कल्पना में शून्य सत् स्वरूप नहीं है, यदि ऐसा होगा तो वह सत्कोटि में आ जायगा। वह कोटि-चतुष्टय से विनिर्मुक्त नहीं होगा। यह 'शून्य' ज्ञानरूप भी नहीं है। विज्ञान का अभाव मानकर ही तो माध्यमिक लोग अपने शून्य तत्त्व की उद्भावना करते हैं। उनकी दृष्टि में विज्ञान पारमार्थिक नहीं है:—

नेष्टं तदपि धीराणां विज्ञानं पारमार्थिकम्।
एकानेकस्वभावेन विरोधाद् वियदब्जवत्॥

—शिवार्कमणिदीपिका २।२।३०

परन्तु अद्वैत मत में नित्य विज्ञान पारमार्थिक है। ऐसी दशा में अद्वैत-सम्मत ब्रह्म को माध्यमिकों का 'शून्य' तत्त्व बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है? विद्वज्जन इस पर विचार करें।

खण्डनकार ने दोनों मतों में अन्तर दिखलाते समय स्पष्ट रूप से लिखा है कि बौद्ध मत में सब कुछ अनिर्वचनीय है, परन्तु अद्वैत मत में विज्ञान के अतिरिक्त यह विश्व ही सद् असद् दोनों से अनिर्वचनीय है—

एवं सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिम सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे—

बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥

विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिन संगिरन्ते—खण्डन।

विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से इन नितान्त स्पष्ट विभेदों के रहने पर भी यदि कोई विद्वान् अद्वैतवादी शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध बतलावे, तो यह उसका साहस मात्र है। पुराण वाक्य भी श्रुतिसम्मत होने पर ही ग्राह्य होते हैं, मीमांसा का यह माननीय मत है। अतः पद्मपुराण के पूर्वोक्त कथन को श्रुति से विरुद्ध होने के कारण कथमपि प्रामाणिकता प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी दशा में शङ्कर का सिद्धान्त नितान्त श्रुत्यनुमोदित, प्राचीन एवं प्रामाणिक है। अवैदिकमतानुयायी बौद्धों तथा जैनों ने तथा वैदिक द्वैत विशिष्टाद्वैतवादियों आदि ने 'मायावाद' के सिद्धान्त का खण्डन बड़े समारोह के साथ किया है। परन्तु यह तर्क के इन दृढ़ आधार पर अवलम्बित है कि जितना विचार किया जाता है उतना ही सच्चा प्रतीत होता है। वेदान्तियों का विवर्तवाद निपुण-तर्क की भित्ति पर आश्रित है। कार्य कारण भाव की यथापि व्याख्या के विषय में अद्वैतियों की यह नितान्त अनुपम देन है।

९–विशिष्ट समीक्षा

आचार्य शङ्कर के जीवनचरित्र, ग्रन्थ तथा मत का संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया गया है। इसकी सामूहिक रूप से आलोचना करने पर शङ्कर के महान् व्यक्तित्व, अलोकसामान्य पाण्डित्य तथा उदात्त चरित्र की झलक हमारे नेत्रों के सामने स्पष्ट रूप से चमकने लगती है। आचार्य का मानव जीवन आदर्श गुणों से सर्वथा परिपूर्ण था। उनके हृदय में माता के प्रति कितना आदर था, इसकी सूचना कतिपय घटनाओं से मिलती है। सन्यास आश्रम को अपने लिये नितान्त कल्याणकारी जानकर भी शङ्कर ने इसका तब तक ग्रहण नहीं किया, जब तक माता ने अपनी अनुज्ञा नहीं दी। उन्होंने सन्यासी होकर भी अपने हाथों माता का सत्कार किया, इस कार्य के लिये उन्हें अपने जातभाइयों का तिरस्कार सहना पड़ा, अवहेलना सिर पर लेनी पड़ी, परन्तु उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा तनिक भी टलने न दी। मातृभक्ति का इतना रमणीय आदर्श मिलना असम्भव नहीं तो दुःसम्भव जरूर है। गुरुभक्ति का परिचय आचार्य ने नर्मदा के बढ़ते हुए जल को अभिमन्त्रित कलश के भीतर पुञ्जीभूत करके दिया, नहीं तो वह गोविन्दभगवत्पाद की गुफा को जलमग्न करने पर उद्यत ही था। शिष्यों के लिये शङ्कर के हृदय में प्रगाढ़ अनुकम्पा थी। मन्द तोटक में उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा समग्र विद्याओं का सङ्क्रमण कर दिया तथा भस्मसात् होनेवाली पञ्चपादिका का उद्धार कर आचार्य ने अपनी अलौकिक मेधा शक्ति का ही परिचय नहीं दिया, प्रत्युत अपनी शिष्यानुकम्पा की भी पर्याप्त अभिव्यक्ति की। इस प्रकार आचार्य का जिस किसी के साथ सम्पर्क या उस सम्बन्ध को आपने इतने सुचारु रूप से निभाया कि आलोचक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

पाण्डित्य

आचार्य का पाण्डित्य किस कोटि का था, इसका प्रमाण तो उनकी रचनावली ही दे रही है। उन्होंने प्रस्थान-त्रयी जैसे कठिन अथ च दुरूह अध्यात्म-ग्रन्थों के अभिप्राय को अपने भाष्यों में इतनी सुगमता तथा सरलता से समझाया है कि इसका पता विज्ञ पाठकों को पद-पद पर होता है। इन भाष्यों की भाषा नितान्त रोचक, बोधगम्य तथा प्रौढ़ है। शैली प्रसन्न गम्भीर है। इन कठिन ग्रन्थों की व्याख्या इतनी प्रसादमयी वाणी में की गई है कि पाठक को पता ही नहीं चलता कि वह किसी दुरूह विषय का विवेचन पढ़ रहा है। विभिन्न मतों के सिद्धान्तों को जिस तार्किक निपुणता के बल पर आचार्य ने आमूल खण्डन किया है वह एक आश्चर्यजनक वस्तु है। मनोरम दृष्टान्तों के सहारे आचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन इतने प्रकार से किया है कि उसके समझने में संशय नहीं रह जाता। इस विषय में आचार्य शङ्कर को हम भारतीय दार्शनिकों का शिरोमणि मानें तो कथमपि अयुक्ति न होगी। जिस प्रकार कोई धनुर्धर अपना तीर चलाकर लक्ष्य के मर्मस्थल को विद्ध कर देता है, इसी प्रकार आचार्य ने अपना तर्करूपी तीर चलाकर विपक्षियों के मूल सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर दिया है। मूल सिद्धान्त के खण्डन होते ही अन्य सिद्धान्त बालू की भीत के समान भूतलशायी हो जाते हैं। वीणा के तार की एक विशेषता होती है। उससे एक ध्वनि निकलती है जिसे सर्वसाधारण सुनते हैं और पहचानते हैं, परन्तु उनके मधुर झंकार के भीतर से एक सूक्ष्म ध्वनि निकलती है जिसे कलाविदों के ही कान सुनते और पहचानते हैं। आचार्य के भाष्यों की भी ठीक ऐसी ही दशा है। उनके ऊपरी अर्थों का बोध तो सर्वसाधारण करते ही हैं, परन्तु इनके भीतर से एक सूक्ष्म, गम्भीर अर्थ की भी ध्वनि निकलती है जिसे विज्ञ पण्डित ही समझते-बूझते हैं। भाष्यों की गम्भीरता सर्वथा स्तुत्य तथा श्लाघनीय है।

कवित्व

पाण्डित्य के अतिरिक्त आचार्य की कवित्व शक्ति भी अनुपम है। कवित्व तथा पाण्डित्य का सम्मिलन नितान्त दुर्लभ होता है। आचार्य की कविता पढ़कर सचमुच विश्वास नहीं होता कि यह किसी तर्क-कुशल पण्डित की रचना है। शङ्कर की कविता निःसन्देह रसभाव-निरन्तरा है, आनन्द का अक्षय स्रोत है, उज्ज्वल अर्थरत्नों की मनोरम पेटिका है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। शङ्कराचार्य की कविता में एक विचित्र मोहकता है, अनुपम मादकता है, उसे पढ़ते ही मस्ती छा जाती है, चित्त अन्य विषयों को बरबस भूलकर उन भावों में बहने

लगता है। कौन ऐसा भावुक होगा जिसका मनोमयूर 'भज गोविन्द' स्तोत्र की भावभंगी पर नाच नहीं उठता?

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते, १
प्राप्ते सन्निहिते ते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।

की मधुर स्वर लहरी हमारे कानों में जब सुधा बरसाने लगती है, तब श्रोता इस समय भौतिक जगत् से बहुत ऊँचे उठकर किसी अलौकिक लोक में पहुंच जाता है और सद्य ब्रह्मानन्द का आस्वाद लेने लगता है। कल्पना की ऊंची उड़ान, अर्थों की नवीनता भावों की रमणीयता देखने के लिये अकेले सौन्दर्य लहरी का अध्ययन ही पर्याप्त होगा। भगवती कामाक्षी के सीमन्त तथा सिन्दूर रेखा का यह वर्णन वस्तुतः साहित्य संसार के लिये एक नई चीज है, कल्पना की कमनीयता का एक अभिराम उदाहरण है —

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी
परीवाहः स्रोतः सरणिरिव सीमन्तसरणी।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-
द्विषां बृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम् ॥

भगवती से दयादृष्टि डालने की प्रार्थना किन सुकुमार शब्दों में की गई है—

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे!
अनेनायं धन्यो भवति न च ते हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः ॥

कर्मठ जीवन

विद्वान् लोग मायावाद के पुरस्कर्ता होने के नाते आचार्य शङ्कर के ऊपर जगत् को काल्पनिक बतलाने का दोषारोपण करते हैं। उनकी दृष्टि में इस देश में अकर्मण्यता तथा आलस्य के फैलने का सारा दोष 'मायावाद' के उपदेष्टा के ऊपर है। जब समग्र जगत् ही मायामय, मायिक ठहरा तब इसके लिये उद्योग करने की आवश्यकता ही क्या ठहरी? ऐसे तर्काभासों को दूर करने के लिये आचार्य के कर्मठ जीवन की समीक्षा आवश्यक है। उन्होंने अपने भाष्यों के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उन्हीं का व्यवहार स्वयं पालन अपने जीवन में किया। इस प्रकार आचार्य का जीवन उनके ग्रन्थों के ऊपर भाष्यस्वरूप है। शङ्कर के उपदेशों के प्रभावशाली होने का रहस्य इसी बात में छिपा है कि वे अनुभव की

दृढ़ प्रतिष्ठा पर आश्रित है। अनुभूत सत्य का ही उपदेश सबसे अधिक प्रभावशाली होता है, और आचार्य के उपदेश स्वानुभूति की दृढ़ भित्ति पर अवलम्बित थे, यह तो प्रत्येक आलोचक को मान्य है। अद्वैत मत का प्रभाव भारतीय जनता पर खूब गहरा पड़ा। रामानुज, मध्व तथा अन्य आलोचकों ने 'मायावाद' का खण्डन करने में जो जान से उद्योग किया और अद्वैतवाद को वेद विरुद्ध सिद्धान्त बतलाने का भी साहस किया, परन्तु शङ्कराचार्य की व्याख्या इतनी सारगर्भित है कि इन विरोधियों के होने पर भी हिन्दू जनता अद्वैतवाद में भरपूर श्रद्धा रखती है। वैदिक धर्म को पुनः प्रतिष्ठा करने तथा पुनः जागर्ति प्रदान करने का समग्र श्रेय कुमारिलभट्ट के साथ-साथ आचार्य शङ्कर को है। बौद्धों के वैदिक कर्मकाण्ड के खण्डन का युक्तियों से निराकरण कर कुमारिल ने कर्मकाण्ड में लोगों की आस्था दृढ़ की। आचार्य शङ्कर ने बौद्धों के विशेषतः आध्यात्मिक सिद्धान्तों का ज़ोरदार खण्डन कर उन्हें अपदस्थ कर दिया। उनका प्राचीन गौरव जाता रहा और धीरे-धीरे इस देश से वह धर्म ही लुप्तप्राय-सा हो गया। यह कार्य आचार्य के कर्मठ जीवन का एक अङ्ग था। इतनी छोटी उम्र में ऐसे व्यापक कार्य को देखकर वस्तुतः आलोचक की दृष्टि आश्चर्य से चकित हो उठती है। अष्टमवर्ष में चारों वेदों का अध्ययन, बारहवें वर्ष समग्र शास्त्रों की अभिज्ञता और षोडश वर्ष में भाष्य की रचना—यह सचमुच आश्चर्यपरम्परा है:—

> अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
> षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

आचार्य शङ्कर ने भाष्य की रचना करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री न कर दी, प्रत्युत उन्होंने अपने शिष्यों को प्रोत्साहित कर ग्रन्थों की रचना करवाई। संन्यासियों की संघ रूप में प्रतिष्ठा तथा मठों की स्थापना आचार्य के कर्मठ जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा अक्षुण्ण रखने तथा उसकी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये आचार्य को अपना काम स्थायी बनाना नितान्त आवश्यक था और इसी महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन के निमित्त आचार्य ने पूर्वोक्त कार्यों की नींव डाली। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आचार्य ने जिस वृक्ष का बीजारोपण किया था, वह फूला फला, जिस उद्देश्य की पूर्ति की आकांक्षा से वह आरोपित किया गया था, वह सिद्ध हुआ। आज भारत भूमि के ऊपर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तथा मर्यादा जो कुछ भी दीख पड़ती है उसके लिये अधिक अंश में आचार्य को श्रेय देना चाहिए। उनके स्थापित चारों मठों के मठाधीश्वरों ने भी यथासाध्य अपने उदात्त कर्तव्य के निभाने का विशेष उद्योग किया। अतः आचार्य का कर्मठ जीवन सचमुच सफल रहा, इस बात को अद्वैत मत के विरोधियों को भी मानना ही पड़ेगा।

तान्त्रिक उपासना

आचार्य के जीवन की एक विशिष्ट दिशा की ओर विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त आवश्यक है। वह है उनकी विशिष्ट तान्त्रिक उपासना। शङ्कर ने अपने तान्त्रिक रूप को भाष्यों के पृष्ठों में कहीं भी अभिव्यक्त होने नहीं दिया। इसमें एक रहस्य था। भाष्य की रचना तो सर्वसाधारण के लिए की गई थी। उनमें ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन है। इसके लिये उतनी विशिष्ट कोटि के अधिकार की आवश्यकता नहीं होती जितनी तान्त्रिक उपासना के लिए। उपासना एक नितान्त अन्तरङ्ग साधना है। उसके लिये उपयुक्त अधिकारी होना चाहिए। तभी उसे उपदेश दिया जा सकता है। यही कारण है कि शङ्कर ने इस विषय को अपने भाष्यों में न आने दिया। परन्तु इसका प्रतिपादन उन्होंने सौन्दर्य-लहरी तथा प्रपञ्चसार में पर्याप्त मात्रा में कर दिया। वे साधना साम्राज्य के सम्राट थे, वे भगवती त्रिपुरा सुन्दरी के अनन्य उपासक थे, अपने मठों में उन्होंने श्रीविद्यानुकूल देवी की पूजा अर्चा का विधान प्रचलित किया है, यह छिपी हुई बात नहीं है। आचार्य का यह साधक रूप उनके जीवन मन्दिर का कलश स्थानीय है। उनका जीवन क्या था? परमार्थ साधन की दीर्घव्यापिनी परम्परा था। वे उस स्थान पर पहुँचे चुके थे जहाँ स्वार्थ का कोई भी चिह्न अवशिष्ट न था, सब कुछ परमार्थ ही था। उस महान व्यक्ति के लिये हमारे हृदय में कितना आदर होगा जो स्वयं हिमालय के ऊँचे शिखर पर चढ़ गया हो और घाटी के विषम मार्ग में धीरे धीरे पैर रखकर आगे बढ़ने वाले राहियों के ऊपर सहानुभूति दिखलाकर उनको राह बतलाता हो। आचार्य की दशा भी ठीक उसी व्यक्ति के समान है। वे स्वयं प्रज्ञा के प्रासाद पर आरूढ़ थे और उस पर चढ़ने की इच्छा करनेवाले व्यक्तियों के ऊपर सहानुभूति तथा अनुकम्पा दिखलाकर उनके मार्ग का निर्देश कर रहे थे। चढ़ने के अभिलाषी जनों के ऊपर कभी उन्होंने अनादर की दृष्टि न डाली, प्रत्युत उन पर दया दिखलाई, अनुकम्पा की—जिससे वे भी उत्साहित होकर आगे बढ़ते आयें और उस अनुपम आनन्द के लूटने का सौभाग्य उठावें।

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य ह्यशोच्यान् शोचतो जनान्।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थ प्रज्ञया प्रतिपद्यते॥

आचार्य शङ्कर का जो महान् उपकार हमारे ऊपर है उसके लिये हम किन शब्दों में अपनी कृतज्ञता प्रकट करें? वे भगवान शङ्कर के साक्षात् अवतार थे, अन्यथा इतने दीर्घकालसाध्य कार्यों का सम्पादन इतने अल्प काल में करना एक प्रकार से असम्भव होता। हम लोग उनके जीवनचरित का अध्ययन कर अपने जीवन को पवित्र बनावें उनके उपदेशों का अनुसरण कर अपने भौतिक

जीवन को सफल बनावें—आचार्य के प्रति हमारी यही श्रद्धांजलि होगी। इसी विचार से यह वाक्य पुष्पाञ्जलि आचार्य शंकर के चरणारविन्द पर अर्पित की गई है।

सर्वेऽत्र सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत्॥
तथास्तु। ओ३म् शान्ति शान्ति शान्ति।

आचार्य शंकर के जीवन चरित का कुछ विस्तार के साथ ऊपर जो वर्णन दिया गया है वह माधव रचित शंकर-दिग्विजय के अनुसार है। आचार्य का यह जीवन चरित नितान्त लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध है और इसी लिये इसी दिग्विजय को आधार मानकर पूरे जीवन-चरित का विश्लेषण किया गया है। परन्तु आचार्य शंकर के जीवन चरित के ऊपर अनेक अवान्तरकालीन लेखकों ने भी बहुत कुछ लिखा है। इनमें से कतिपय शृङ्गेरी मठ की परम्परा को अग्रसर करते हैं तो दूसरे काची कामकोटि पीठ की परम्परा को। यहाँ अन्य शङ्कर दिग्विजयों का सार अंश तुलनात्मक अध्ययन के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। इन ग्रन्थों में जो कुछ नया तथा उल्लेखनीय है उसी का संक्षेप विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

इतर शङ्करविजयों का सारांश

१—शङ्करविजय

ग्रन्थकार

यह 'शङ्करविजय' आनन्दगिरि के नाम से प्रसिद्ध है। इसे पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने कलकत्ते से प्रकाशित किया है। आनन्दगिरि के नाम से विख्यात होने पर भी इस शङ्कर विजय के रचयिता का नाम 'अनन्तानन्दगिरि' है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त की पुष्पिका में रचयिता के नाम का स्पष्ट उल्लेख है। अत आनन्दगिरि (१२०० ई० के आसपास) को इसका कर्ता मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है। यह ग्रन्थ आचार्य के जीवन वृत्त का सांगोपांग वर्णन करने के लिये उतना उपादेय नहीं है जितना विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों तथा मतों के सिद्धान्तों के विवरण प्रस्तुत करने में यह श्लाघनीय है। पूरा ग्रन्थ ७६ प्रकरणों में विभक्त है तथा अधिकतर गद्य में है। स्थान स्थान पर प्रमाण देने के लिये प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। इसके अनुशीलन से भारतीय विभिन्न धार्मिक विचार धाराओं के रहस्य तथा पारस्परिक पार्थक्य का परिचय भली भाँति हो सकता है।

जीवनवृत्त

दक्षिणभारत के विख्यात शैवपीठ 'चिदम्बरम्' में सर्वज्ञ और कामाक्षी नामक एक ब्राह्मण-दम्पती रहते थे। इनकी एक कन्या थी—विशिष्टा जिसका सर्वज्ञ ने 'विश्वजित्' के साथ विवाह कर दिया। ये ही विश्वजित् और विशिष्टा शङ्कर के पिता माता हैं। विश्वजित् तो तपस्या के निमित्त जङ्गल में चले गये। विशिष्टा ने चिदम्बरेश्वर की अलौकिक भक्ति के प्रभाव से 'शङ्कर' को पुत्ररूप में पाया (दूसरा प्रकरण)। तीसरे वर्ष चौल संस्कार तथा पाँचवें वर्ष उपनयन संस्कार किया गया। ग्राहवाली घटना का उल्लेख इसमें नहीं है। गोविन्द मुनि के उपदेश से व्याससूत्र के ऊपर भाष्य लिखने के बाद अनेक शिष्यों ने इनसे संन्यास दीक्षा ली। इन शिष्यों के नाम हैं—पद्मपाद, हस्तामलक, समित्पाणि, चिद्विलास, ज्ञानकन्द, विष्णुगुप्त, शुद्धकीर्ति, भानुमरीचि, दर्शनशुद्धि, विरिञ्चिपाद, अनन्तानन्दगिरि। इन्हें साथ लेकर शङ्कर चिदम्बर से 'मध्यार्जुन' गये और इनके प्रार्थना करने पर शिव ने शरीर धारण कर अद्वैत तत्त्व को ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य रहस्य बतलाया। वहाँ से उन्होंने 'रामेश्वर' में जाकर दो मास तक निवास किया तथा शैवमत के अनुयायियों को परास्त कर अद्वैत का अनुयायी बनाया (तीसरा प्रकरण)। रामेश्वर से वे 'अनन्तशयन' गये और अपने शिष्यों के साथ एक महीने तक वहाँ निवास किया। यह तीर्थ वैष्णवों का प्रधान केन्द्र था। आचार्य ने भक्त, भागवत, वैष्णव, पाञ्चरात्र, वैखानस तथा कर्महीन—इन षड्प्रकार के वैष्णवों के मत का खण्डन किया (६ प्रकरण—१० प्रकरण)। वहाँ से पश्चिम ओर जाकर वे पन्द्रह दिनों में 'सुब्रह्मण्य' नामक स्थान में पहुँचे जो कुमार (कार्तिकेय) की उत्पत्ति का स्थान बतलाया जाता है (ग्यारह प्रकरण)। वहाँ से उत्तर पश्चिम की ओर जाकर वे 'गणवर' नामक नगर में पहुँचे। यहाँ उन्होंने एक मास तक निवास किया। वहाँ से 'भवानी नगर' पहुचकर उन्होंने एक महीने तक निवास किया और शाक्त मत का खण्डन किया (उन्नीस प्रकरण)। इसके पास ही 'कुवलयपुर' नामक स्थान था जहाँ के निवासी लक्ष्मी के परम भक्त थे। उनको भी शङ्कर ने परास्त किया। अनन्तर वे उत्तर ओर जाकर 'उज्जयिनी' में पहुँचे। यह स्थान कापालिकों का प्रधान अड्डा था। शङ्कर से उनका ही गहरा शास्त्रार्थ न हुआ, बल्कि चार्वाक, क्षपणक तथा सौगतों का भी हुआ। यहाँ से वे उत्तर-पश्चिम दिशा में 'अनुमल्ल' नगर में पहुँचे, जहाँ उन्होंने इक्कीस दिन बिताये। वहाँ से वे पश्चिम दिशा में 'मरुन्ध' गये और फिर उत्तर ओर 'मगधपुर' पहुँचे। फिर वे पहले 'इन्द्रप्रस्थ' गये और पीछे 'यमप्रस्थ', जहाँ एक मास तक निवास किया (२३ और २४ प्रकरण)। यमप्रस्थ यमपूजकों का प्रधान स्थान था। शास्त्रार्थ होने पर यमपूजकों ने भी शङ्कर से हार मानी।

आचार्य ने 'प्रयाग' में बहुत दिनों तक निवास किया और नाना मतों के खण्डन में समय लगाया। यहाँ से पूर्व दिशा में लगभग सात दिनों तक चलकर 'काशी' में पहुँचे (४३ प्र०) और यहाँ कुछ दिनों तक ठहरे। पीछे कुरुक्षेत्र के रास्ते से होकर वे 'बदरीक्षेत्र' में गये तथा केदारेश्वर का दर्शन किया और तप्त जल का कुण्ड उत्पन्न कर दिया। अनन्तर 'द्वारका' जाकर वे 'अयोध्या' आये। यहाँ से 'गया' होकर जगन्नाथ के रास्ते 'श्रीपर्वत' पर पहुँचे। वहाँ शिवपार्वती—मल्लिकार्जुन और भ्रमराम्बा—के दर्शन से आचार्य ने अपने को कृतकृत्य माना। उनके वहाँ निवास-काल में रुद्रपुर से ब्राह्मणों ने आकर कुमारिल भट्ट के प्रायश्चित्त की बात कह सुनाई। शङ्कर ने 'रुद्रपुर' में कुमारिल से साक्षात्कार किया (५५ प्र०)। उनकी सम्मति से वे उत्तर दिशा में जाकर हस्तिनापुर से अग्निकोण में स्थित एक प्रसिद्ध विद्यालय में पहुँचे जिसे वहाँ के लोग 'विजुलबिन्दु' कहते थे। यहीं था मण्डनमिश्र का निवास। ये कुमारिल के भगिनीपति बतलाये गये हैं। उनका निवासस्थान एक विशालकाय प्रासाद था। वहीं शङ्कर ने शास्त्रार्थ में मण्डन को हराया (५६ प्र०)। मण्डन की धर्मपत्नी का नाम 'सरसवाणी' था। पति के संन्यास लेने पर वे स्वर्ग में जाने लगीं तब शङ्कर ने वनदुर्गा मन्त्र से उन्हें रोक लिया (५७ प्र०)। कामकला के अभ्यास के वास्ते शङ्कर ने 'अमृतपुर' के राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया (५८ प्र०)। शृंगेरी में विद्यापीठ की स्थापना कर शङ्कर ने शिष्यों के साथ १२ वर्ष तक निवास किया। अनन्तर सुरेश्वर को पीठाध्यक्ष बनाकर नृसिंह के आविर्भूत होने की जगह 'अहोवल' में गये। नृसिंह की स्तुति कर वे 'वेंकटाचलगिरि' होकर 'काञ्ची' आये। 'शिवकाञ्ची' और 'विष्णुकाञ्ची' को शङ्कर ने अलग अलग बसाया तथा ब्रह्मयज्ञ कुण्ड से उत्पन्न 'वरदराज' की प्रतिष्ठा विष्णुकाञ्ची में की। कामाक्षी की बिम्ब प्रतिष्ठा को मैं अन्यथा करूँगा, यह विचार कर उन्होंने विद्याकामाक्षी की प्रतिष्ठा कर दी तथा श्रीचक्र का भी वहाँ निर्माण किया (६५ प्र०)। अनन्तर अपने एक-एक शिष्य के द्वारा सौर, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य आदि मतों का स्थापन कर काञ्ची में ही आचार्य ने स्थूल शरीर को सूक्ष्म में लीन कर अपनी ऐहिक-लीला का संवरण किया (७४ प्र०)। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अनुसार शङ्कर की अन्तिम लीलाओं का निकेतन काञ्ची नगरी ही थी।

२—शङ्करविजय-विलास

परिचय

इस शङ्करविजय के रचयिता का नाम है—चिद्विलासयति। इनके मुख्य शिष्य का नाम 'विज्ञानकन्द' था। इन्होंने अपने गुरु से आचार्य शङ्कर का पवित्र चरित्र पूछा। इसी जिज्ञासा की निवृत्ति के निमित्त चिद्विलास ने इस ग्रन्थ

का निर्माण किया। आनन्दगिरि ने अपने शङ्करविजय में चिद्विलास तथा विज्ञानकन्द को आचार्य का साक्षात् शिष्य बतलाया है। तो क्या हम अनुमान कर सकते हैं कि यह ग्रन्थ आनन्दगिरि को ज्ञात था ? सम्भवतः यह आनन्दगिरि के शङ्करविजय का भी अनन्तरवर्ती प्रतीत होता है। आचार्य के जीवन की विविध घटनाओं की समानता इन दोनों ग्रन्थों में अवश्य है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, मद्रास ओरियन्टल लाइब्रेरी में तेलगुअक्षरों में इसकी प्रति रक्षित है। उसी के आधार पर यह संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

जीवनवृत्त

इसमें ३२ अध्याय हैं। नारदजी भूमण्डल की अवस्था देखते देखते केरल देश में गये। वहाँ वृषभाचल के ऊपर 'शिवगुरु' नामक ब्राह्मण को तपस्या करते हुए देखा। नारदजी ने उनसे अनेक प्रश्न किये। इनकी पत्नी का नाम 'आर्या' था। उनके गाँव के पास चूर्णी नदी बहती थी। नारद जी सत्यलोक में गये और ब्रह्मा को साथ लेकर कैलास गये। उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् शङ्कर ने शिवगुरु की पत्नी आर्या के गर्भ में जन्म लेना स्वीकार किया (४ अध्याय)। शङ्कर का जन्म वैशाख महीने में दोपहर के समय आर्द्रा नक्षत्र में हुआ। बालक की बुद्धि बहुत ही प्रखर थी। (५–६ अ०)। पाँचवें साल उनके पिता ने स्वयं शङ्कर का उपनयन किया। पिता ने विवाह के लिये सब बातें ठीक कर रक्खी थीं, परन्तु उनकी मृत्यु ने बड़ा भारी विघ्न उपस्थित कर दिया और शङ्कर का विवाह न हो सका। चूर्णी नदी में स्नान के समय ग्राह ने शङ्कर को पकड़ा था। यह मकर पूर्वजन्मों में गन्धर्वों का अधीश्वर पुष्परथ था। किसी शाप वश यह ग्राह बना था। आचार्य के संसर्ग से मुक्त हो गया (८ अ०)। शङ्कर अपने गुरु की खोज में उत्तर भारत में आये। बदरी वन में अपने गुरु गोविन्दपाद से मिले जिन्होंने उन्हें विधिवत् सन्यास की दीक्षा दी और अद्वैत वेदान्त का तत्त्व समझाया। प्रस्थान त्रयी के ऊपर भाष्य लिखने की प्रेरणा गोविन्दपाद ने शङ्कर को दी। (९ अ०)

दसवें अध्याय में पद्मपाद के चरित का वर्णन है। इनके पिता का नाम माधवाचार्य और माता का नाम था लक्ष्मी। ये दोनों बहुत दिनों तक पुत्र-हीन थे। अनन्तर नृसिंह की उपासना करने से इन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था विष्णुशर्मा। नृसिंह ने ही विष्णु शर्मा को शङ्कर के पास वेदान्त पढ़ने तथा सन्यास ग्रहण करने के लिये भेजा। सनन्दन तथा पद्मपाद ये दोनों नाम सन्यास देने के अनन्तर आचार्य ने ही दिये थे। माता के स्मरण करने पर आचार्य केरल देश में गये। माता के मर जाने पर अपने घर के पास ही चूर्णी

नदी के तट पर उन्होंने अपनी माता का संस्कार किया। सहायता न करने के कारण इन्होंने अपने जाति भाइयों को शाप दिया।

माता के संस्कार के अनन्तर ये प्रयाग क्षेत्र में आये। यहीं पर हस्तामलक से इनकी भेंट हुई तथा शङ्कर ने इन्हें अपना शिष्य बनाया। शिष्यों के साथ ये काशी आये। वेदान्त की व्याख्या करने के कारण इनकी कीर्ति इतनी फैली कि काशी के राजा स्वयं इनके पास आये और छत्र, चामर आदि देकर इनके प्रति अपना आदर भाव दिखलाया (१२ अध्याय)। काशी में रहते समय इन्होंने नोटकाचार्य को अपना शिष्य बनाया। यहीं मणिकर्णिका घाट पर वेदव्यासजी स्वयं पधारे तथा सूत्रकार और भाष्यकार में वेदान्त सूत्र की व्याख्या के विषय में खूब शास्त्रार्थ हुआ (१३ अध्याय)। सन्तुष्ट होकर व्यासजी ने शङ्कर को आशीर्वाद दिया जिससे शंकर को और सोलह वर्ष की आयु प्राप्त हुई। (१४ अध्याय) रुद्र नामक नगर में कुमारिलभट्ट से शङ्कर की भेंट हुई और कुमारिल के कहने पर मण्डन मिश्र को जीतने के लिये शङ्कर काश्मीर गये और उन्हें जीतकर सन्यास की दीक्षा दी। (१७-१८ अध्याय) सरस्वती को पराजित करने के लिये शंकर ने अमरुक राजा के मृतक शरीर में में प्रवेश किया तथा समग्र काम कलाएँ सीखकर सरस्वती को परास्त किया। (१९-२० अ०) तुङ्गभद्रा नदी के किनारे विभाण्डक और ऋषिशृंग ने जिस पर्वत पर तपस्या की थी वहीं पर आचार्य ने शारदा मठ की स्थापना की और सुरेश्वर को वहाँ का अध्यक्ष नियुक्त किया। (२३, २४ अ०) शृङ्गेरी में पीठ स्थापना के अनन्तर आचार्य काञ्चीपुरी गये तथा श्रीचक्र का निर्माण कर उसकी प्रतिष्ठा की। यहीं पर आचार्य ने समस्त वेद-विमुख मतों तथा सम्प्रदायों का खण्डन कर सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किया (२५ वाँ अ०)। यहीं से उन्होंने अपना दिग्विजय प्रारम्भ किया। काञ्ची से वे वेंकटाचल आये तथा वैखानस मत का खण्डन किया। अनन्तर चिदम्बरक्षेत्र में उन्होंने सौर-मत का खण्डन किया। उसके बाद मध्यार्जुन क्षेत्र में उन्होंने कुछ दिन तक निवास किया। (२६ वाँ अ०) यहाँ से वे रामेश्वर गये और वहाँ कापालिकों के मत का खण्डन किया। (२७ वाँ अ०) अनन्तर वक्रतुण्ड नगर गये जहाँ गणपति के उपासकों को परास्त किया। अनन्तर दक्षिण मथुरा (वर्तमान मदूरा) तथा अनन्तशयन (वर्तमान त्रावणकोर रियासत) में जाकर उन्होंने वैष्णव मत का खण्डन किया। पश्चात् वे 'वामुक्षेत्र' में गये जहाँ स्वामी कार्तिकेय विराजमान थे। आचार्य ने कुमारधारा में स्नान किया और सर्व रोग और भय को दूर करनेवाले सुब्रह्मण्य की पूजा की। अनन्तर 'मृडपुरी' में जाकर उन्होंने बौद्धमत का खण्डन किया। गोकर्ण क्षेत्र में जाकर उन्होंने समुद्र में स्नान किया और महाबलेश्वर महादेव का

दर्शन कर अपने को कृतकृत्य माना (२८-२९ अ०)। अनन्तर जगन्नाथपुरी में जाकर उन्होंने 'भोगवर्धन' नामक मठ की स्थापना की। यहाँ से वे उज्जयिनी में आये और प्रबल शाक्त मत का (३० वाँ अ०) खण्डन कर उन्होंने अद्वैतमत का प्रचार किया। पीछे वे द्वारकापुरी में गये और अपना मठ बनाकर उन्होंने यहाँ पर कुछ दिन तक निवास किया। अनन्तर वे हरिद्वार होते हुए बदरी क्षेत्र गये जहाँ ज्योतिर्मठ की स्थापना की और त्रोटकाचार्य को इस मठ का अध्यक्ष बनाया। शङ्कर ने गरम जल के तालाब का निर्माण किया। यहीं पर शङ्कर और दत्तात्रेय से योग तथा वेदान्त के विषय में संवाद हुआ। वे दत्तात्रेय के आश्रम में कुछ दिन तक रहे। भाष्य की रचना से भगवान् विष्णु आनन्द प्रसन्न हुए और शङ्कर को अपना दर्शन दिया। दत्तात्रेय की गुहा म प्रवेश कर आचार्य कैलास पर्वत पर चले गये और वहीं ब्रह्मलीन हो गये। (३१ अ०) बत्तीसवें अध्याय में इस पवित्र कथा के श्रवण का फल बतलाकर ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

२-शङ्करचरित

(कामकोटि पीठानुसार)

आधार ग्रन्थ

काञ्ची का नाम कामकोटि पीठ आचार्य के द्वारा स्थापित मुख्य पीठों में से अन्यतम है। इस पीठ के सम्प्रदायानुसार आचार्य का चरित कई बातों में विभिन्न है। इस चरित का आधार इसी पीठ के अध्यक्षों के द्वारा समय-समय पर लिखित ये ग्रन्थ हैं —

(१) **पुण्यश्लोकमञ्जरी**—शंकराचार्य से ५४वें पीठाध्यक्ष सर्वज्ञ सदाशिवबोध (१५२३–१५३९ ई०) के द्वारा विरचित प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें १०९ श्लोक हैं जिनमें इस पीठ के आचार्यों का जीवनवृत्त संक्षेप में दिया गया है।

(२) **गुरुरत्नमाला**—काञ्ची के ५५वें अध्यक्ष परम शिवेन्द्र सरस्वती के शिष्य सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की यह कृति है जिसमें यहाँ के पीठाधीशों का वृत्त ८९ आर्याओं में निबद्ध किया गया है।

(३) **परिशिष्ट तथा सुषमा**—काञ्ची के ६१वें अध्यक्ष महादेवेन्द्र सरस्वती के शिष्य, आत्मबोध की ये दोनों रचनाएँ हैं। परिशिष्ट में केवल १२ श्लोक हैं जो मञ्जरी के अनन्तर होनेवाले (५४वें–६०वें) अध्यक्षों का वर्णन करता है। सुषमा गुरुरत्नमाला की टीका है जिसका निर्माण १६४२ शके (= १७२० ई०) में किया गया था। इनमें आचार्य के जीवनवृत्त की दी गई सूचनाएँ संक्षेप में यहाँ दी जाती है—

जीवनवृत्त

कलिगतवत् २५९३ (= ५०९ ईस्वी पूर्व) के नन्दन संवत् में वैशाख शुक्ल पञ्चमी तिथि को शंकर का जन्म कालटी ग्राम में हुआ था। तीसरे वर्ष उनका चौलकर्म तथा पाँचवें वर्ष उपनयन संस्कार किया गया। उसी साल पिता की मृत्यु हो गई। आठवें वर्ष में 'चूर्णी' नदी में स्नान के अवसर पर ग्राह ने उन्हें पकड़ा था। उसी समय उन्होंने माता की अनुमति से सन्यास ले लिया।

गोविन्द मुनि नर्मदा के तीर पर रहते थे। उन्हीं से इन्होंने अद्वैत वेदान्त का अध्ययन किया। गुरु की आज्ञा से उन्होंने प्रस्थानत्रयी और विष्णुसहस्रनाम पर भाष्य लिखा तथा अपने शिष्यों के साथ अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए वे कैलाश पधारे। वहाँ शङ्कर ने कैलासपति महादेव की मनोरम स्तुति की जो अद्वैत-तत्त्व की प्रतिपादक होने से 'वेदान्तचूर्णिका' के नाम से प्रसिद्ध है। महादेव ने शङ्कराचार्य को ५ स्फटिकलिङ्ग, 'सौन्दर्यलहरी' और 'शिवरहस्य' आदि ग्रन्थ दिये। तब वे काश्मीर में मण्डन मिश्र को परास्त करने गये तथा उनकी स्त्री 'शारदा' को भी परास्त कर दिया।

तब इन्होंने शृङ्गेरी में अपना मठ बनाया और शारदा को उस स्थान की अधिष्ठात्री देवी बनाया। 'भोगलिङ्ग' की (कैलास में प्राप्त पाँच लिङ्गों में से अन्यतम) वहाँ स्थापना की और पृथ्वीधराचार्य (आचार्य हस्तामलक) को उस पीठ का अध्यक्ष बनाया। अनन्तर वे चिदम्बरम् आये और 'मोक्षलिङ्ग' की स्थापना की। तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में वे दक्षिण भारत में त्रिचनापल्ली के समीप स्थित 'जम्बुकेश्वर' तीर्थ में पहुँचे और वहाँ की देवी अखिलाण्डेश्वरी के कानों में ताडङ्क के स्थान पर श्रीचक्र रखकर उन्होंने भगवती की उग्र कला को न्यून बना दिया। 'ज्योतिर्मठ' की अध्यक्षता तोटकाचार्य को देकर शङ्कर केदारक्षेत्र में गये और वहाँ 'मुक्तिलिङ्ग' की प्रतिष्ठा की। वहाँ से वे नेपाल गये जहाँ 'वीरलिङ्ग' की स्थापना कर वे अयोध्या होकर द्वारका गये और मठ बनाकर एक शिष्य को अध्यक्ष बना दिया। जगन्नाथ क्षेत्र का मठ पद्मपाद की अध्यक्षता में रक्खा गया।

आचार्य ने इस प्रकार अपने जीवन का कार्य पूर्ण कर तथा भारतभूमि में वैदिक धर्म को अक्षुण्ण बनाये रखने की व्यवस्था कर अपने लिये 'काञ्ची' को पसन्द किया। उन्होंने देवी की उग्र कला को अपनी शक्ति से शान्त कर उसे मृदु तथा मधुर बना दिया।[1] कामाक्षा के मन्दिर में 'श्रीचक्र' की स्थापना कर

---

१. प्रकृतिं च सुदारुणां महोग्रां स्वकृते चक्रवरे प्रवेश्य योगे।
प्रकृताश्रितसौम्यमूर्तिमार्यां, सुतरां नः स विनोतु शङ्करार्यः॥

—गुरुरत्नमालिका।

'कामकोटि' पीठ की प्रतिष्ठा की। काञ्ची में ही आचार्य ने सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किया। काञ्ची के राजा का नाम राजसेन था। उसने आचार्य की अनुमति से अनेक मन्दिर तथा देवालय बनाये। शङ्कराचार्य ने कामाक्षी के मन्दिर को बिल्कुल मध्य (बिन्दु स्थान) में स्थित मानकर 'श्रीचक्र' के आदर्श पर काञ्ची को फिर से बसाया। अब आचार्य ने कामकोटि पीठ को ही अपनी लीलाओं का मुख्य स्थल बनाया और कैलास से लाये गये पाँचों लिङ्गों में सबसे श्रेष्ठ 'योगलिङ्ग' की स्थापना यहीं की।[1]

आचार्य शङ्कर ने पीठ की स्थापना के अनन्तर अपने मुख्यतम शिष्य सुरेश्वराचार्य को यहाँ का अध्यक्ष बना दिया, परन्तु 'योगलिङ्ग' की पूजा का अधिकार उन्हें नहीं दिया। सुरेश्वर पूर्वाश्रम में गृहस्थ थे और आचार्य की यही अभिलाषा थी कि इस शिवलिङ्ग और देवी की पूजा ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास लेनेवाला व्यक्ति करे। इसी कारण उन्होंने अपने पीछे सर्वज्ञात्म श्रीचरण को यह अधिकार दे दिया, क्योंकि सन्यास लेने से पूर्व वे भी शङ्कर के समान ही ब्रह्मचारी थे। इस प्रकार अपने जीवन-कार्य को पूर्ण कर शिवावतार आचार्य शङ्कर ने २६२५ कलिवर्ष (=४७७ ई० पू०) में अपने जीवन के ३२वें वर्ष में अपनी ऐहिक लीला यहीं संवरण की।[2] इस घटना की सूचना अनेक ग्रन्थों में मिलती है—

तद् योगभोगवरमुक्तिसुमोक्षयोगलिङ्गार्चनात्प्राप्तजयस्वकाश्रये ।
तान् वै विजित्य तरसाक्षतशास्त्रवादैर्मिश्रान् स काञ्च्यामथ सिद्धिमाप॥

—शिवरहस्ये

---

१. योगलिङ्ग की स्थापना का निर्देश अनेक ग्रन्थों में मिलता है—

(क) काञ्च्यां श्रीकामकोटौ तु योगलिङ्गमनुत्तमम् ।
प्रतिष्ठाप्य सुरेशार्यं पूजार्थं युयुजे गुरुः ॥

—मार्कण्डेयपुराण।

(ख) सिन्धोर्जैत्रमयं पवित्रमसृजत् तत्कीर्तिपूर्ताद्भुतम्
यत्र स्नान्ति जगन्ति, सन्ति कवयः के वा न वाचंयमाः ।
यद् बिन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो
यस्यासौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागर्ति योगेश्वरः ॥

नैषधचरित सर्ग १२।३८

२. द्रष्टव्य N. K. Venkatesan—Sri Sankaracharya and His Kamkoti peeth पृष्ठ ७१७।

महेशांशाज्जातो मधुरमुपदिष्टाद्वयनयो
महामोहध्वान्तप्रशमनरविः षण्मतगुरुः ।
फले स्वस्मिन् स्वायुष्यपि शरचराब्देऽपि हि कले-
र्विलिल्ये रक्षाक्षिण्यधिवृषसितैकादशि परे ॥
—पुण्यश्लोकमञ्जरी

४—केरलीयशङ्करचरितम्

परिचय

मालाबार प्रान्त में आचार्य के जीवनचरित के विषय में अनेक प्रवाद तथा किवदन्तियाँ अन्यत्र उपलब्ध चरित से नितान्त भिन्न तथा विलक्षण हैं। इन केरलीय प्रवादों से युक्त आचार्य का जीवनचरित 'शङ्कराचार्यचरितम्' में उपलब्ध होता है। इसके रचयिता का नाम है **गोविन्दनाथ यति** जो सम्भवतः सन्यासी थे, परन्तु निश्चित रूप से केरलीय थे। यमक काव्य गौरीकल्याण के रचयिता, राम वारियर के शिष्य, वरिकाट ग्रामन् के निवासी गोविन्दनाथ से सम्भवतः ये भिन्न न थे। इस चरित की विशेषता है गम्भीर उदात्त शैली। न तो इसमें कल्पना की ऊँची उड़ान है और न अतिशयोक्ति का अतिशय प्रदर्शन। स्वाभाविकता इसकी महती विशेषता है जो विषय के नितान्त अनुरूप है।

विषय-सूची

इसमें ९ अध्याय हैं। पहले अध्याय में है कथा-संक्षेप, दूसरे में आचार्य की उत्पत्ति, तीसरे में व्यासजी से वार्तालाप, चौथे में शिष्यों का वृत्तान्त, पाचवें में सुरेश्वर का संन्यास ग्रहण, छठे में हस्तामलक और त्रोटक नामक शिष्यों का वर्णन, सातवें में मुक्तिदायिनी काशी का माहात्म्य-कीर्तन, आठवें में रामेश्वर-यात्रा तथा माहात्म्य का वर्णन, नवें अध्याय में ज्ञाननिधि शङ्कर की परमानन्द प्राप्ति। संक्षेप में यही कथा वर्णित है। पुस्तक के रचनाकाल का निर्देश उपलब्ध नहीं होता, परन्तु यह ग्रन्थ १७वीं शताब्दी के पीछे का प्रतीत नहीं होता।

घटनाएँ

शङ्कर के माता पिता पहले पञ्जियूर ग्राम के निवासी थे और पीछे आकर अलवाई नदी के तीर पर कालटी नामक ग्राम में रहने लगे थे। इसी ग्राम में रहते हुए शङ्कर के पिता ने पुत्र प्राप्ति के लिये घोर तपस्या की थी। सपने में भगवान शंकर ने दर्शन दिया और पिता से पूछा कि सर्वज्ञ एक पुत्र चाहते हो अथवा अल्पज्ञ बहुत से पुत्र। पिता ने सर्वज्ञ पुत्र की अभिलाषा प्रकट की। तदनुसार शङ्कर का जन्म हुआ। पाँच ही वर्ष में इनके पिता मर गये, और

इन्होंने साल भर तक अपने पिता का श्राद्ध उसी भाँति किया जिस प्रकार आज भी केरल में हुआ करता है। पीछे इनका उपनयन संस्कार हुआ। उपनयन होने के अनन्तर शङ्कर ने संस्कृतसाहित्य का गाढ़ अध्ययन किया। सोलहवें वर्ष में ये अपने जन्मस्थान को छोड़कर काशी के लिये रवाना हुए। केरल में यह परम्परा आज भी प्रसिद्ध है कि आचार्य ने अपनी पूरी शिक्षा केरल देश में ही समाप्त की। आचार्य के चार प्रधान शिष्यों में से तीन शिष्य केरलदेशीय थे। पद्मपादाचार्य स्वयं नम्बूदरी ब्राह्मण थे। गृहस्थाश्रम का नाम था विष्णु शर्मा। ये अलत्तर ग्राम के निवासी थे। आचार्य शङ्कर का घर कोचीन राज्य के अन्तर्गत था। उस समय कोचीन की राजगद्दी पर "राजराज" नामक राजा राज्य कर रहे थे परन्तु थोड़े ही दिनों के पीछे इनकी मृत्यु हो गई और 'राजशेखर' नामक राजा उनके उत्तराधिकारी होकर गद्दी पर बैठे। आचार्य शङ्कर के ये ही समकालीन थे। ये अपने समय के बड़े भारी कवि और नाटककार थे।

शंकर का अन्तकाल

इस ग्रन्थ के अनुसार शङ्कराचार्य की मृत्यु केरल देश में ही हुई थी। काशी में सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण कर आचार्य ने वहाँ कुछ दिनों तक निवास किया था। अनन्तर रामेश्वर में महादेव का दर्शन और पूजन कर शिष्यों के साथ घूमते घामते "वृषाचल" पर आये। यह स्थान बड़ा पवित्र है। इसे दक्षिण कैलास कहते हैं। यहीं रहते हुए उन्हें मालूम पड़ गया कि अब अन्तकाल आ गया है। उन्होंने विधिवत् स्नान किया और शिवलिङ्ग का पूजन किया। 'श्रीमूल' नामक स्थान में आकर उन्होंने उसकी प्रदक्षिणा की। अनन्तर भगवान् कृष्ण और भगवान् भार्गव को विधिवत् प्रणाम किया। फिर भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए आचार्य परमानन्द में लीन हो गये। इस कथन की पुष्टि आजकल के प्रसिद्ध प्रवाद के द्वारा होती है। आचार्य ने अन्तिम दिन 'त्रिचूर' के मन्दिर में बिताये थे और उनका शरीर इसी मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में समाधि रूप में गाड़ा गया था। जिस स्थान पर यह घटना घटी थी उस स्थान पर महाविष्णु के चिह्नों के साथ एक चबूतरा बनवा दिया गया है। इस बात का समर्थन एक अन्य प्रमाण से भी होता है। त्रिचूर के पास ही एक ब्राह्मण वंश निवास करता है जो अपने को मण्डन मिश्र या सुरेश्वराचार्य का वंशज बतलाता है। त्रिचूर का मन्दिर केरल भर में सब से पवित्र माना जाता है। इसका प्रधान कारण यही प्रतीत हो रहा है कि जगद्गुरु आचार्य की समाधि इसी मन्दिर के पास थी। इन कतिपय

घटनाओं को छोड़कर अन्य घटनाएं प्रसिद्ध शङ्करदिग्विजय के समान ही हैं। अन उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं।

५–गुरुवंश काव्य

(शृंगेरी मठानुसारी शङ्करचरित)

परिचय

'गुरुवंश काव्य' का केवल प्रथम भाग (१ सर्ग—७ सर्ग) श्री वाणीविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। इसकी मूल प्रति शृंगेरी मठ के पुस्तकालय से प्राप्त हुई थी। इसकी रचना हुए सौ वर्ष से कुछ ही अधिक बीते होंगे। इसके रचयिता का नाम है—काशी लक्ष्मण शास्त्री, जो आजकल के शृंगेरी मठाधीश के पूर्व चतुर्थ अध्यक्ष श्री सच्चिदानन्द भारती स्वामी के सभापण्डित थे। लक्ष्मण शास्त्री नृसिंह भारती के शिष्य थे जिनकी कृपा से वे विद्याविशारद बने थे। ग्रन्थकार के शृंगेरी मठ के पण्डित होने से तथा हस्तलिखित प्रति के शृंगेरी से उपलब्ध होने के कारण यह अनुमान करना असङ्गत न होगा कि इस ग्रन्थ में दिया गया चरित शृंगेरी परम्परा के अनुसार ही है। ग्रन्थ की पुष्पिका में 'सच्चिदानन्दभारतीमुनीन्द्रनिर्मापिते' से इसकी पुष्टि भी होती है। इस ग्रन्थ के केवल प्रथम तीन सर्गों में ही आचार्य का जीवनवृत्त संक्षेप में उपस्थित किया गया है, अन्य सर्गों में शृंगेरी-गुरु परम्परा का साधारण उल्लेख कर श्री विद्यारण्य स्वामी का ही चरित कुछ अधिकता से वर्णित है। शङ्करचरित में अनेक विशेषताएँ हैं। मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख यहाँ किया जायगा।

जीवन वृत्त

दक्षिण के श्रीसम्पन्न केरल देश में शङ्कर का जन्म हुआ था। रमणीय नदी के किनारे 'कालटी' नाम ग्राम में इनका उदय हुआ था। भगवान् शंकर जगत् पर दया करने के लिये शङ्कर के रूप में अवतीर्ण हुए। शङ्कर के पिता का नाम था शिवगुरु तथा पितामह का विद्याधिराज (१ सर्ग ३७-३९ श्लोक)। केरल के राजा राजशेखर ने अपने नाटक शङ्कर को पढ़ सुनाये थे। उन नाटकों का नाम 'राजशेखर' था (९ सर्ग ९ श्लोक)। शङ्कर के चरण छूने के अनन्तर यह ग्राह मुक्त होकर गन्धर्व बन गया। (२। १४), गोविन्द मुनि के अद्वैत उपदेश सुनकर शङ्कर ने विष्णुसहस्रनाम, गीता, दशोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा सनत्सुजातीय पर विशदार्थक भाष्य लिखा और उपदेशसहस्री, सौन्दर्यलहरी,

प्रपञ्चसार, सुभगोदयपद्धति तथा नाना देवताओं के स्तोत्र बनाये (३।२५ ३६)। आचार्य बदरी आश्रम में गये और भगवान् ने बालक शङ्कर के ऊपर अनुग्रह कर वहाँ एक कुण्ड के जल को गरम बना दिया (३।३८)। यहीं पर शङ्कर की वेदव्यासजी से भेंट हुई। त्रिवेणी के तट पर भट्टपाद कुमारिल से भेंट होने पर उन्हीं की प्ररणा से शङ्कर मगध में रहनेवाले विश्वरूप के पास शास्त्रार्थ के लिये गये (३।४५)। शङ्कर ने प्रस्थान के समय मण्डन मिश्र को जिन्होंने कुमारिल से इक्कीस बार शाबर भाष्य पढा था, अद्वैत का उपदेश दिया (३।४९) [इस प्रकार ग्रन्थकार की दृष्टि में विश्वरूप और मण्डन भिन्न भिन्न व्यक्ति थे]। विश्वरूप का ही नाम सुरेश्वर हुआ जिन्होंने आचार्य के कहने पर अनेक वार्तिकों का निर्माण किया (३।५९)। शङ्कर माता के पास गये और उन्हें शिवभुजङ्ग तथा विष्णुभुजङ्ग स्तोत्र सुनाया (३।६४)। शङ्कर को उनके जाति भाइयों ने माता के अग्नि संस्कार के समय किसी प्रकार की सहायता न दी जिससे शङ्कर ने उन्हें शाप दिया। (३ ६६) केरलाधिपति राजशेखर के तीनों नाटकों को फिर से सुनकर शङ्कर ने उनका उद्धार किया। (३।६८) पद्मपाद की भाष्यवृत्ति उनके मामा ने जला दी थी। उन्हें विष भी दिया, पर आचार्य ने जितना सुना था उतना (आदिम ५ पादों की टीका) उन्होंने सुना दिया। वहनी ही 'पद्मपादिका' विख्यात हुई (३।१-५)। शङ्कर तब शिष्यों के साथ 'मध्यार्जुन' नामक स्थान में गये और भगवान् महादेवजी से उपनिषद् के रहस्य के विषय में पूछा। शिव ने रमणीय मूर्ति धारण कर भुजा ऊंची उठाकर तीन बार कहा— 'अद्वैत ही श्रुति का सत्य तत्त्व है' (३।७)। शंकर अनन्तशयन, सेतुबन्ध, धनुष्कोटि आदि तीर्थों का दर्शन कर सौलह ग्रामों में श्रेष्ठ 'श्रीशैव्यपीठ' नामक नगर में गये जहाँ उन्होंने अनन्तेश्वर और चन्द्रेश्वर की पूजा की। (३।१०) यहीं पर उन्होंने 'हस्तामलक' को अपना शिष्य बनाया। (३।१३) शंकर को भगन्दर रोग हो जाने पर एक शिष्य ने उनकी बड़ी सेवा की। आगे चलकर यही शिष्य 'तोटकाचार्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (३।१६) योगबल से शंकर ने अश्विनीकुमारों का आवाहन किया जिन्होंने उन्हें इस रोग से मुक्त कर दिया (३।१९)।

दिग्विजय

गोकर्ण की यात्रा के बाद वे तुङ्गभद्रा के उद्गम स्थान में गये। तुङ्गभद्रा के तट पर विभाण्डक मुनि के आश्रम में साँप को अपना फन फैलाकर मेढकों की रक्षा करते देखा। (३।२१) श्रीशैल गोपाचल, नरसिंह गिरि तथा जगन्नाथ की यात्रा की। (३।२२) वहाँ से वे काशी आये और शिष्यों के साथ अपने

लिये पाँच मठों की स्थापना यहाँ की। (३।२३) काशी से काश्मीर गये और शारदा के मन्दिर में प्रवेश कर सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण के समय आकाशवाणी हुई कि अपनी सर्वज्ञता दिखलाकर पीठ पर चढ़ो। शारदा से आचार्य का शास्त्रार्थ हुआ। कामशास्त्र के प्रश्नों के उत्तर के लिये इन्होंने अवकाश माँगा, फिर अमरुक के मृतकाय में प्रवेश किया। 'अमरुकशतक' (कृति चामरुक—३।२८) बनाया। शारदा को हराया और उन्हें शृंगेरी में अपने साथ ले आये। शारदा की प्रतिष्ठा की और चन्द्रमौलीश्वर लिङ्ग, जिसे रैवण महायोगी ने दिया था, रत्नगर्भ विनायक तथा शारदा की पूजा का भार सुरेश्वर पर रखकर वे काञ्ची पधारे। शिवकाञ्ची तथा विष्णुकाञ्ची को बसाया और कामाक्षी की सुन्दर मूर्ति की प्रतिष्ठा की। (३।३५) काञ्ची से आचार्य बदरी गये और वहाँ विष्णु-भगवान् ने उन्हें स्वप्न दिया कि मेरी मूर्ति जलमग्न है, आप उसे निकालिए। शङ्कर ने अलकनन्दा के भीतर से उस मूर्ति को निकाला, प्रतिष्ठित किया और वैदिक रीति से पूजन के लिये अपने देश के ब्राह्मण को नियत किया। नारायण का एक मन्दिर बनवाने के लिये अपने शिष्य पद्मपाद को रख दिया और आप काशी चले आये। (३।३७-४०) पद्मपाद ने मन्दिर बनवा दिया। एक बार वे श्रीनगर के राजा के पास भिक्षार्थ गये। घर में श्राद्ध के निमित्त भोजन तैयार था, राजा स्नानार्थ बाहर गया था। जेठी रानी ने पद्मपाद से कहा—स्नान करके पधारिए, तब आपको भिक्षा होगी। क्षुधा से पीड़ित पद्मपाद नदी में नहाने न गये, प्रत्युत अपने दण्ड के दो प्रहारों से जल की दो धाराएँ वहीं उत्पन्न कर दीं। जेठी रानी ने श्राद्धान्न में से इनके लिये भिक्षा दी। (३।४४) छोटी रानी के चुगली खाने पर जब राजा ने तलवार उठाकर इन्हें मारना चाहा, तब पद्मपाद ने नृसिंह का रूप धारण कर उसके हाथ को स्तम्भित कर दिया। राजा ने प्रसन्न हो मुनि को अपना समग्र राज्य दे डाला। (३।४७) काशी-निवास के समय एक भैरव नामक कापालिक आचार्य का चेला बन गया। उसकी इच्छा थी कि शङ्कर का सिर काटकर भैरव को बलि चढ़ाऊँ। पद्मपाद ने बदरी के पास नृसिंह मन्दिर में ध्यान के समय इस रहस्य को जान लिया और स्वयं उपस्थित होकर उस कापालिक के मस्तक को काट गिराया, जब वह एकान्त में शङ्कर के ऊपर प्रहार करना चाहता था। (३।४८-५४) आचार्य अपनी शिष्यमण्डली के साथ नारायण के मन्दिर को देखने के लिये बदरी आश्रम में गये। वे मन्दिर तथा भगवद्विग्रह को देखकर नितान्त प्रसन्न हुए और उन्होंने आज्ञा दी कि केरलदेशीय ब्राह्मण ही नारायण की पूजा किया करें। वे राजा के यहाँ गये और श्रीचक्र के क्रमानुसार उन्होंने 'श्रीनगर' का निर्माण किया तथा राजा का वहीं पट्टाभिषेक किया। (३।५५-५८)

शङ्कर ने अपने चारों शिष्यों को भारतवर्ष की चार दिशाओं में 'निज-सम्प्रदायप्रवर्तक' 'लोकगुरु' बना दिया—(१) सुरेश्वर को शृंगेरी मठ का अध्यक्ष बनाकर दक्षिण भारत के धार्मिक निरीक्षण का कार्य उनके सुपुर्द कर दिया; (२) पद्मपाद को पूर्वी भारत के लिये जगन्नाथ मठ का अध्यक्ष बनाया, (३) हस्तामलक को पश्चिम दिशा में द्वारका क्षेत्र में मठ बनाकर रख दिया, (४) तोटकाचार्य को उत्तर दिशा में बदरी के पास ज्योतिर्मठ का अधीश्वर बना दिया (३।५९-६२) शिष्यों को इन स्थानों पर रखकर शङ्कराचार्य 'सिद्धेश्वरी' के दर्शन के लिये स्वयं नेपाल देश में गये। सिद्धेश्वरी ने उन्हें अपनी गोद में बैठाकर स्वामी कार्तिकेय के समान उन्हें मधुर वचनों से अभिनन्दित किया। इस घटना को देखकर सिद्ध लोग रुष्ट हो गये और उन्होंने इन दोनों के ऊपर पत्थरों की वृष्टि की। आचार्य ने अपनी अलौकिक शक्ति से इस शिला वृष्टि को रोक दिया। (३।६३ ६५)। शङ्कर ने अपनी प्यास बुझाने के लिये देवी से थोड़ा जल माँगा। तब देवी ने वहाँ तक की नदी उत्पन्न कर दी जो आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। (३।६६) मुनि ने अपना काम अब सम्पूर्ण माना। वे दत्तात्रेय के आश्रम में (जो हिमालय में कैलास के पास था) गये। उनके पास केवल दण्ड और कमण्डलु ही बच गये थे। पुस्तकों को और शिष्यों को वे छोड़ ही चुके थे। अब इन दोनों चीजों को छोड़ दिया। दण्ड तो वृक्ष बन गया और कमण्डलु का जल तीर्थ रूप में परिणत हो गया। (३।६९) शङ्कर दत्तात्रेय से मिले और अपना समस्त कार्य कह सुनाया। दत्तात्रेय ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और आचार्य के कार्य की भूरि भूरि प्रशंसा की। इस प्रकार इन दोनों सिद्ध पुरुषों ने बहुत दिनों तक एकत्र निवास किया (३।७०)।



परिशिष्ट १

कविप्रशस्तयः

(आलोचकों की दृष्टि में प्राचीन कवियों
और काव्यों का स्वरूप)

संग्रहकर्ता

बलदेव उपाध्याय

(१) अकालजलद

१

अकालजलदेन्दोः सा हृद्या वचनचन्द्रिका।
नित्यं कविचकोरैर्या पीयते न च हीयते॥

—राजशेखरस्य (सूक्तिमुक्तावली ४।८३)

२

स मूर्तो यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलदः
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा।
न चान्ये गण्यन्ते तरल-कविराज-प्रभृतयो
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले॥

—बालरामायण (प्रस्तावना)

(२) अगस्त्य

चतुःसप्ततिकाव्योक्तिव्यक्तवैदुष्यसंपदे।
अगस्त्याय जगत्यस्मिन् स्पृहयेत् को न कोविदः॥

(३) अचल

कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधति॥

—राजशेखर (सूक्तिमुक्तावली ४।६७; शार्ङ्ग० १७६)

(४) अभिनन्द (प्रथम)

अनुष्टुप्-सततासक्ता साऽभिनन्दस्य नन्दिनी।
विद्याधरस्य वदने गुलिकेव प्रभावभूः॥

—क्षेमेन्द्र (सुवृत्ततिलक)

(५) अभिनन्द (द्वितीय)

१

किं शीधुभिर्मधुतु फाणितशर्कराद्यैः
किं वा सितासहचरैः क्वथितैश्च दुग्धैः।
दुग्धाब्धिलब्धसुधयापि न किञ्चिदेव
यत्राभिनन्दसुकवेर्विचरन्ति वाचः॥

—अभिनन्दस्य (रामचरिते)

२

एषोऽस्म्यहं निजवचःसु चिरादिदानीं
निःसाध्वसः कविसहस्रसमागमेऽपि।
श्रीहारवर्षनरलोकपतेः पुरस्ताद्
विस्तारिविष्णुवनमालिविचारितेषु॥

—अभिनन्द (रामचरित पृ. ८१)

३

आश्चर्यसूर्यं निदधे जगत्सु व्यासस्य यद्वज्जनमेजयेन।
एषोऽभिनन्दस्य महाप्रबन्धः क्षोणीभुजा भीमपराक्रमेण॥

—अभिनन्द (रा० च० पृ. १९०)

४

जयति जगन्ति भ्रमन्ती कीर्त्या सह हारवर्षनृपशशिनः।
शिरसि कृता कृतविद्भिः कृतिरियमार्याविलासस्य॥

—तत्रैव पृ० ३३१

५

यथा पूर्वं कवेः कस्य निर्गतं जीवतो यशः।
हारवर्षप्रसादेन शतानन्देर्यथाऽधुना॥

—अभिनन्द (रा० च० पृ ७२)

६

धन्यः स विद्वानभिनन्दनामा
विस्रम्भपात्रं वचसोऽधिदेव्याः।
समर्पिता यस्य खलु स्वकीय-
कोशाधिकारेषु सुवर्णमुद्रा॥

—सोड्ढलस्य

७

हालेनोत्तमपूजया कविवृषा श्रीपालितो लालितः
ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना ॥
श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं
सद्यः सत्क्रिययाभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत् ॥

—अभिनन्द (रा० च०, पृ.२९६)

८

वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्दन-
मर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे ।
रसेश्वरं नौमि च कालिदासं
बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि ॥

—सोड्ढलस्य

(६) अमरसिंह

प्रयोगव्युत्पत्तौ प्रतिपदविशेषार्थकथने
प्रसत्तौ गाम्भीर्ये रसवति च काव्यार्थघटने ।
अगम्यायामन्यैर्दिशि परिणतेरर्थवचसो
मतं चेदस्माकं कविरमरसिंहो विजयते ॥ ५ ॥

शालिकस्य—(सु० र० को०)
(सदुक्ति० ५।२७।२)

(७) अमरुक

१

भ्राम्यन्तु मारवग्रामेष्विमूढा रसमीप्सवः ।
अमरूदेश एवासौ सर्वतः सुलभो रसः ॥

—हरिहरस्य (सुभा० १२)

२

अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता न सञ्चरति ।
शृंगारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणविवरेषु ॥

—अर्जुनदेवस्य (सू० मु० ४।१०१)

३

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ॥
—आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक)

(८) आढ्यराज

१

आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि।
जिह्वान्तःकृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते ॥
—बाणस्य (ह० च० १।१८)

२

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः।
काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतभाषिणः ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरणे (२।१५)

(९) आनन्द

येन जाड्यैकपीठाभिः पुष्णतः कम्पसम्पदः।
विषुतानन्ततापस्य विहितं लङ्घनं कले ॥ ९६ ॥
अशेषभिषगग्रण्यं शरण्यं शास्त्रपद्धतेः।
ववन्देऽथ तमानन्दं सुतं शंभु-महाकवेः ॥ ९७ ॥
—मङ्खक श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(१०) आनन्दवर्धन

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥
—राजशेखर

(११) कर्णामृत कवि

मन्दारमञ्जरीस्यन्दिमकरन्दरसाब्धयः।
कस्य नाह्लादनायालं कर्णामृतकवेर्गिरः ॥

(१२) कर्दमराज

सन्तु कर्दमराजस्य कथं हृद्या न सूक्तयः।
कविस्त्रैलोक्यसुन्दर्या यस्य प्रज्ञानिधिः पिता ॥
—धनपाल (तिलकमंजरी श्लो० २६)

(१३) कल्याण

श्रीमानलकदत्तो यमनल्पं काव्यशिल्पिषु ।
स्वपरिश्रमसर्वस्वन्याससभ्यममन्यत ॥ ७८ ॥
तथोपचस्करे येन निजवाङ्मयदर्पणः ।
विद्वत्प्रौढिसंक्रान्तौ यथायोग्यत्वमग्रहीत् ॥ ७९ ॥
तत्तद्बहुकथाकेलिपरिश्रमनिरङ्कुशम् ।
तं प्रश्रयप्रयत्नेन कल्याणं समभीमनत् ॥ ८० ॥
—श्रीकण्ठचरित, सर्ग २५।

(१४) कविराज

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥
—राघवपाण्डवीये

(१५) कादम्बरीराम

अकालजलदश्लोकैश्चित्रमात्मकृतैरिव ।
जातः कादम्बरीरामो नाटके प्रवरः कविः ॥
—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।७४)

(१६) कालिदास

१

श्रोत्रेतराणि भुवने करणान्यसंख्ये-
रचत्वारि तृप्तिमहतां विषयैर्लभन्ते।
श्रोत्राय पक्वसुकृतस्य जनस्य पुण्याः
श्रीकालिदासगिर एव दिशन्ति तृप्तिम् ॥ सू० मु० ४।५५

२

अन्तर कियदास्थान्ति सन्तो रघुकिरातयो ।
अन्तर तावदास्थान्ति सन्तो रघुकिरातयो ॥

—सू० मु० ४।५६

३

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥

—राजशेखरस्य

४

लिप्ता मधुद्रवेनासन् यस्य निर्विवशा गिर ।
तेनेद वर्त्म वैदर्भ कालिदासेन शोधितम् ॥

—दण्डी (अवन्तिसुन्दरी कथा० १५)

५

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥

—बाण (ह० च १।१९)

६

म्लायन्ति सकला कालिदासेनासन्नवर्तिना ।
गिर कवीना दीपेन मालतीकलिका इव ॥

—धनपालस्य (तिलकमजरी, श्लोक २५)

७

प्रसादोत्कर्षमधुरा कालिदासीर्वय स्तुम ।
पीतवाग्देवतास्तन्यरसोद्गारायिता गिर ॥

—हरिहरस्य (सुभा० १०)

८

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ती ॥

—गोवर्धनाचार्यस्य (आ० स० ३५)

९

ख्यात कृती सोऽपि हि कालिदास
शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य ।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्र—
सिन्धो पर पारमवाप कीर्ति ॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

१०

कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी ।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम् ॥

कृष्णभट्टस्य (शा० प १७५)

पद्यमिदं सुभाषितरत्नकोशेऽप्युपलभ्यते । 'वस्तुत्वमुभयोरपि' इति तत्र चतुर्थचरणपाठः ॥

११

कालिदासः कविर्जात. श्रीरामचरितस्य यत् ।
स एव शर्करायोगः पयस' समपद्यत ।।

—सोमेश्वरस्य (कीर्तिकौमुद्याम् ११२)

१२

कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च ।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधते ॥

सुभाषितरत्नभाण्डागारस्य (प्र० २। १६ श्लो०)

१३

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

सुभाषितरत्नभाण्डागारस्य (प्र० २।२१ श्लो०)

१४

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

१५

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

—श्रीकृष्णकवे.

१६

भासयत्यपि भासादौ कविवर्गे जगत्त्रयीम् ।
के न यान्ति निबन्धारः कालिदासस्य दासताम् ॥

—भोजस्य (सरस्वतीकण्ठाभरण)

१७

जर्मनदेशीयमहाकविग्वेटे—कृतस्य पद्यस्य देववाण्यां परिणतिः केनापि नवीनेन विदुषा इत्थं व्यधायि—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

—जर्मनदेशीयो महाकवि गेटे

१८

अमुष्मै चौराय स्वरसहतमृत्युप्रतिभिये
प्रभुः प्रीतः प्रादात् तदुपहृतपद्यद्वयकृते ।
सुवर्णानां कोटीर्दशदशनकोटिक्षतगिरीन्
करीन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितगुञ्जन्मधुलिहः ॥

१९

दासता कालिदासस्य कवयः के न बिभ्रति ।
इदानीमपि तस्यार्थानुपजीवन्त्यमी यतः ॥

२०

महाकविं कालिदासं वन्दे वाग्देवतागुरुम् ।
यज्ज्ञाने विश्वमाभाति दर्पणे प्रतिबिम्बितम् ॥

—हलायुध

२१

अनघा गुणसंपूर्णा समुचित विच्छित्ति युक्त रीतिरसौ ।
प्रस्तुतरससन्दोहा सरस्वती जयति कालिदासस्य ॥

—अभिराम

२२

पुष्पेषु जाती नगरेषु काञ्ची, नारीषु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः ।
नदीषु गङ्गा नृपतौ च रामः काव्येषु माघः कविकालिदासः ॥

—पटसर्परस्य

२३

जयति -कविकण्ठहारः श्रीरघुकारः प्रमेयकेदारे
यन्मतिदात्रविलूने शिलोञ्छमिव कुर्वते कवयः ॥

—सुभाषितरत्नकोश ५०।१२

२४

कथंचित् कालिदासस्य कालेन बहुना मया ।
अवगाढेव गम्भीरमसृणौघा सरस्वती ॥

—सु० र० को० ५०।३५

२५

सुभगा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ॥

—क्षेमेन्द्र (सुवृत्ततिलके)

(१७) कुमारदास

१

बभूवुरन्येऽपि कुमारदासभासादयो हन्त कवीन्द्रवस्ते।
यदीयगोभिः कृतिनां द्रवन्ति चेतांसि चन्द्रोपलनिर्मितानि॥

—सोड्ढलस्य

२

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु ४।७६)

(१८) कुलशेखर वर्मा

दूरादपि सतां चित्ते लिखित्वाऽऽश्चर्यमञ्जरीम्।
कुलशेखरवर्माऽऽढ्यां चकाराश्चर्यमञ्जरीम्॥

—राजशेखरस्य (सू० मु ४।८६)

(१९) केशट

उन्नीतौ भवभूतिना प्रतिदिनं बाणे गते यः पुरा
यश्चीर्णः कमलायुधेन सुचिरं येनागमत् केशटः।
यः श्रीवाक्पतिराजपादरजसां संपर्कपूतश्चिरं
दिष्ट्या श्लाघ्यगुणस्य कस्यचिदसौ मार्गः समुन्मीलति॥

—योगेश्वर सु० र० को० संख्या १७३२

—सदु० कर्णा० ५।२६।४।

(२०) गङ्गाधर

स्तुमस्तमपरं व्यासं गङ्गाधरमहाकविम्।
नाटकच्छद्मना दृष्टां यश्चक्रे भारतीं कथाम्॥

(२६) गुन्न

भाति केशकटप्रेण यत्रयीधूमबभ्रुणा ।
उपासनार्द्रया नित्यममुक्त इव सन्ध्यया ॥ ८७ ॥
अगार्हबार्हतमतन्यायोपन्यासदेशिकम् ।
श्रीगुन्नमुन्नमत्प्रीति ततस्तं प्रत्यपद्यत ॥ ८८ ॥

—श्रीकण्ठचरित (१५ सर्ग)

(२७) गोनन्दन

अनुप्रासिनि सन्दर्भे गोनन्दनसमः कुतः ।
यथार्थनाम तैवास्य यद्वाग् वदति चारुताम् ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।८५)

(२८) गोवर्धन

१

गाम्भार्यैश्चिरादासीत् कामं गोवर्धनः क्षितौ ।
सोऽप्यर्थवान् बभूवाहो शालिवाहोपजीवनात् ॥

—हरिहरस्य (सुभा० २।१५)

२

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः ।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः ॥

—गोवर्धनस्य (आ० स० ५१)

३

वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः ।
शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ॥

—जयदेव (गीतगोविन्द)

(२९) गोविन्द

यो रञ्जयति सत्पूरसञ्चारणोज्ज्वलैः ।
स कस्य स्वप्रबन्धोक्तिवर्णैः पर्णैरिवाननम् ॥ ७६ ॥

पुनानमाभिजन्येन कृत्यं पाण्डित्यपद्धतेः ।
निसर्गोत्तमसंदिग्धं श्रीगोविन्दमविन्दत ॥ ७७ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(३०) गोविन्दराज

इन्दुप्रभारसविदं विहगं विहाय
कीराननने स्फुरसि भारति ! का रतिस्ते ।
आद्यं यदि श्रयसि जल्पतु कौमुदीनां
गोविन्दराजवचसां च विशेषमेषः ॥

—देवेश्वर (शार्ङ्ग १८१)

(३१) चन्द्रक

नाट्यं सर्वजनप्रेक्ष्यं यश्चक्रे स महाकविः ।
द्वैपायनमुनेरंशस्तत्काले चन्द्रकोऽभवत् ॥

—राजतरंगिणी, द्वितीय तरंग ।

(३२) चाणक्यचन्द्र

निष्पन्ने सति चन्द्रचूडचरिते तत्तन्नृपप्रक्रिया-
जातैः सार्द्धमराविराजकशिरोरत्नावलीनां त्रयम् ।
तप्तस्वर्णशतानि विंशतिशती रूप्यस्य लक्षत्रयं
ग्रामाणां शतमन्तरङ्गकवये चाणक्यचन्द्रो ददौ ॥

—उमापति (सदुक्ति० ५।२९।१)

(३३) चित्तप

१

किं वीणाक्वणितेन किं मधुकरीझङ्कारितेनापि किं
कन्दर्पायुधशिञ्जितेन तरुणीहुङ्कारितेनापि किम् ।
श्रीमच्चित्तपसत्कवेर्यदि वचो हेरम्बकुम्भस्थली-
मुक्ताम्भ सुभगं सुधासहचरं कर्णोदरं गाहते ॥

—सू० मु० ४।१०५

२

वाल्मीकेः कतमोऽसि कस्त्वमथवा व्यासस्य येनैव भोः
श्लाघ्यः स्यात्तव भोजभूपतिभुजस्तम्भस्तुतावुद्यमः।
पङ्गुः पर्वतमारुरुक्षसि विधुस्पर्शं करेणेहसे
दोर्भ्यां सागरमुत्तितीर्षसि यदि ब्रूमः किमत्रोत्तरम् ॥

—चित्तपस्य

३

वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजो
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमाङ्को नृपः।
भोजश्चित्तपबिल्हणप्रभृतिभिः कर्णोऽपि विद्यापतेः
ख्यातिं यान्ति नरेश्वराः कविवरैः स्फारैर्न भेरीरवैः ॥

—सुभाषितावल्याम् १८६.

(३४) जगन्नाथ (पण्डितराज)

१

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि संभाविता
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।
सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाद्भुतम् ॥

—भामिनीविलासे

२

श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः ॥
पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम् ॥

—रसगंगाधरे

३

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रवन्-
मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद् बहिर्मा कृथाः ॥

—पण्डितराजस्य

४

आकूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशंकं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

५

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
कदाचित् केषांचित् खलु हि विदधीरन्नपि मुदम्।
ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथभणितिः॥

६

कथयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः।
नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः॥ ३७॥

७

माधुर्यैरपि धुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम्।
वन्द्यैव माधुरीयं पण्डितराजस्य कवितायाः॥ ३८॥

८

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते-
रधुन्वन्मूर्धानं नृपशुरथवायं पशुपतिः॥ ३९॥

—सु० र० भा० (प्रकरण २)

(३५) जनकराज

व्याख्याभिरुयासु भाष्यस्य यो यागोपक्रमेषु च।
इष्टीर्विवृणुते धुर्यो बुधानामिव यज्वनाम्॥ ६२॥
आवन्दत् विनयानतं दूरनम्रेण मौलिना।
ततो जनकराजेन तेन संतुष्य तुष्टुवे॥ ६३॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(३६) जयदेव

१

आकर्ण्य जयदेवस्य गोविन्दानन्दिनीर्गिरः ।
बालिशाः कालिदासाय स्पृहयन्तु वयं न तु ॥

—हरिहर (सुभा० १७)

२

साध्वी माध्वीकचिन्ता न भवति भवतः शर्करे कर्कशासि,
द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृतमृतमसि क्षीर नीरं रसस्ते ।
माकन्द क्रन्द कान्ताधर धरणितलं गच्छ यच्छन्ति भावं
यावच्छृङ्गारसारस्वतमिह जयदेवस्य विष्वग्वचांसि ॥

—गीतगोविन्द

३

गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः ।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ॥

—प्राचीन पद्य ।

(३७) जयन्तभट्ट

सरसाः सदलङ्काराः प्रसादमधुरा गिरः ।
कान्तास्तातजयन्तस्य जयन्ति जगतीगुरोः ॥

—अभिनन्द (कादम्बरीकथासार १।२)

(३८) जल्हण

पथा चरति वक्रेण वाग् यस्य चतुरैः पदैः ।
सरस्वत्यै विनिर्मातुमुद्यतेव प्रदक्षिणम् ॥ ७३ ॥
प्रक्रमैर्हठवक्रिम्णो मुरारिमनुधावतः ।
श्रीराजशेखरगिरो नीवी यस्योक्तिसम्पदाम् ॥ ७४ ॥
श्रीमद्राजपुरीसन्धिविग्रहस्य नियोगिनम् ।
अथानर्चं वचोभिस्तं जह्लणं विनयाश्रितैः ॥ ७५ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(३९) जिन्दुक

व्यज्यते येन निर्मृष्टनि शेषकलिपासुना ।
भट्टप्रभाकरनयद्वयस्रोतोनदीष्णता ॥ ७१ ॥
सुवृत्त कमलब्धोर्ध्वपदं परिचित दृशोः ।
त च वागीश्वरीकेलिकन्दुक जिन्दुकं व्यधात् ॥ ७२ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(४०) जीवदेव

प्राकृतेषु प्रबन्धेषु रसनिष्यन्दिभि पदै ।
राजन्ते जीवदेवस्य वाच पल्लविता इव ॥

—धनपालस्य (तिलक २४)

(४१) जोगराज

अविस्मृतस्वजननीजनक्षीररसा अपि ।
बटवो निन्यिरे येन सूक्तिदेवीरसज्ञताम् ॥ १०६ ॥
जोगराजमुपाध्याय ध्यायन्त शुभमञ्जसा ।
अथ भक्त्या तमानर्चत् तत्तच्चर्चाभिरर्चितम् ॥ १०७ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(४२) ज्योतिरीश

यश्चत्वारि शतानि बन्धघटनालकारभाञ्जि द्रुत
श्लोकाना विदधाति कौतुकवशादेकाहमात्रे कवि ।
ख्यात क्ष्मातलमण्डलेष्वपि चतु षष्टे कलाना निधि
सगीतागमनागरो विजयते श्रीज्योतिरीश कृती ।

(४३) तपस्वी कवि

षट्तर्कीमपि शब्दशासनमपि स्थाने स्थित पञ्चभि
मीमासाद्वयमप्यनन्यसदृशीं साहित्यविद्यामपि ।

विद्मः किं च महाविकल्पबहुलज्वालावलीतापिते-
ष्वास्माकेषु न जल्पवह्निषु पुनः कैः कैः पतंगायितम्॥
—तपस्विनः (सदु० क० ५।३०।१)

(४४) तरंगवती कथा

१

प्रसन्नगम्भीरपथा रथाङ्गमिथुनाश्रया ।
पुण्या पुनाति गङ्गेव गां तरङ्गवती कथा ॥
—धनपालस्य (१।२६)

२

निम्मलगुणेन गुरुमएण परमत्थरयणसारेण ।
पालित्तयेण हालो हारो व सहइ गोट्ठीसु ॥
चक्काम जुवलसुहया रमत्तणरामहसकयहरिसा ।
जस्स कुलपव्वयस्स न वियरइ गंगा तरंगमई ॥
—इन्द्रसूरि : कुवलयमाला (रचनाकाल ७७८ ई०)

३

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स ।
जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला नई वूढा ॥
—प्रभावकचरित

(४५) तरल

यायावरकुलश्रेणेर्हारयष्टेश्च मण्डनम् ।
सुवर्णबन्धरुचिरस्तरलस्तरलो यथा ॥
—राजशेखरस्य (सू० मुक्ता० ४।८६)

(४६) तिकप

तिवकयस्य कवेः सूक्तिः कौमुदीव कलानिधेः ।
सतृष्णैः कविभिः स्वैरं चकोरैरिव सेव्यते ॥
—कस्यापि

(४७) तेजकण्ठ

कनय साधुवादेषु नृत्यद्भिर्दशनांशुभिः ।
विद्वज्जनेन साम्राज्ये सभ्यानामभ्यषिच्यत ॥ १०८ ॥
वचोभिर्नुनुदे दन्तद्युतिश्रीखण्डपाण्डुभिः ।
वादिनः वादर्दर्पोष्मा येन शूर्पारकावनम् ॥ १०९ ॥
यं श्रीमदपरादित्य इति दूत्यप्रसिद्धये ।
प्रजिघाय घनश्लाघः काश्मीरान्कोङ्कणेश्वरः ॥ ११० ॥
तेन श्रीतेजकण्ठेन सोत्कण्ठमनुबध्नता ।
इति सोऽर्ध्यकवैशद्यनिरवद्यमगद्यत ॥ १११ ॥

—श्रीकण्ठचरित (सर्ग २५)

(४८) त्रिलोचन

कर्तुं त्रिलोचनादन्यो न पार्थविजयं क्षमः ।
तदर्थः शक्यते द्रष्टुं लोचनद्वयिभिः कथम् ॥

—राजशेखरस्य (सूक्तिमुक्तावल्याम् ४।७१)

(४९) त्रिविक्रम भट्ट

शक्तिस्त्रिविक्रमस्येव जीयाल्लोकातिलङ्घिनी ।
दमयन्तीप्रबन्धेन सदा बलिमतोदिता ॥

—चण्डपालस्य (नलचम्पूटीकायाम्)

(५०) त्रैलोक्य

दृष्टोऽपि तर्ककार्कश्ये प्रगल्भः कविकर्मणि ।
यः श्रीतुलातितस्येव पुनर्जन्मान्तरग्रहः ॥ ६५ ॥
त श्रीत्रैलोक्यमालोक्य गण्यं सत्कर्मिणां धुरि ।
ययौ मुहुरधिज्यस्य कार्मुकस्य सधर्मताम् ॥ ६६ ॥

—श्रीकण्ठचरित, २५ सर्ग ।

(५१) दङ्क अथवा दक्ष

१

विकच कुमुद-क्रोड-क्रीडन्मधुव्रतझांकृते-
र्मदकलकुहूकण्ठोत्कण्ठाविपञ्चितपञ्चमात् ।
अभिनववधूप्रेमालापादपि श्रुतिसंमदं
विदधति कवेर्दङ्कस्यैताः सुधामधुरा गिरः ॥ १ ॥

—दङ्कस्य (सदुक्ति० ५।२७।१

२

हा कष्टं कविचक्रमौलिमणिना दक्षेण यन्नेक्षितः
श्रीमानुत्पलराजदेवनृपतिर्विद्यावधूवल्लभः ॥
यस्याप्यर्थिजनैकरोहणगिरेर्लक्ष्मीवृथैवाभवद्
दक्षस्यास्य न येन सुन्दरगिरः कर्णावतंसीकृताः ॥

—दक्षस्य (सु० र० को० ४०।३०)

(५२) दण्डी

१

त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिपु लोकेषु विश्रुताः ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।७४)

२

जाते जगति वाल्मीकौ शब्दः कविरिति स्थितः ।
व्यासे जाते कवी चेति कवयश्चेति दण्डिनि ॥

(सु० र० भा० ३।३९)

३

आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसम्पदाम् ।
विकासो वेधसः पत्न्या विलासमणिदर्पणः ॥

—कस्यापि

(५३) दामोदर

सर्वमानातिरिक्तेन विवृता पूर्वजन्मना ।
योऽधिकार्यस्थितिर्भाति नियोगेनेव चेतसा ॥ ६७ ॥

सूक्तिभूरिगुणानर्घमरलाघव स वोप्सया।
दामोदर तदासीददादरग्रह्वकंधरः ॥ ६८ ॥
—श्रीकण्ठचरिते, (२५ सर्ग)

(५४) दिवाकर

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्माण्डालदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्य समो बाणमयूरयोः ॥
—राजशेखरस्य (शा० प० १८९)

(अत्र 'चाण्डाल' स्थाने 'मातङ्ग' पाठोऽप्युपलभ्यते)

(५५) देवधर

प्रदीपरुचिसंचारचारु योऽव्यास्य मन्दिरम्।
कृगित्येव स्वय विष्णोस्तत्तत्त्व परमेश्वव ॥ ५७ ॥
अनिरुद्धाच्युतबलरलाघ्यदर्पकलाञ्चिता।
एकायनस्य यस्यासन्नातुरास्याञ्चिता गिरः ॥ ५८ ॥
सुधासधर्मिभिर्ह्रिग्रैरिति लङ्कचाटुभिः।
अभ्यर्ण कर्णयोस्तस्य स श्रीदेवधरोऽधिनोत् ॥ ५६ ॥
—श्रीकण्ठचरित, २५ सर्ग

(५६) देवबोध

१

तावत्तार्किकचक्रवर्तिपदवी तावत्कवीनां गिर-
स्तावच्चाप्रतिमल्लनामडमरः साहित्यपाण्डित्ययोः।
यावन्न प्रतिपर्व निर्भरसुधानिर्व्याजबीज क्षणाद्
वाग्वल्ल्यो विलसन्ति कर्णकुहरे श्रीदेवबोधेरिताः ॥
—देवबोधस्य (सदुक्ति० ५।३०।२)

२

यद्योगः परविग्रहे निज इव स्वेच्छाप्रवेशावधि-
र्यद्ध्यान व्यपनिद्रचिन्मयरसज्योतिः प्रबन्धावधिः।

यद् वाग्बन्धघनोदयो रसनदीकल्लोललीलावधि-
स्तस्यास्मिन् श्रतिदेवबोधयमिनः को वा गुणस्यावधिः ॥

—सू० मु० ४।९८

२

वेदव्यासमुखाम्भोजगलितं वाङ्मयामृतम् ।
संभोजयन्तं भुवनं देवबोधं भजामहे ॥

—अर्जुनमिश्रस्य ('भारतार्थ दीपिका' टीकायाम्)

(५७) द्रोण

सरस्वतीपवित्राणां जातिस्तत्र न देहिनाम् ।
व्यासस्पर्धी कुलालोऽभूद् यद् द्रोणो भारते कविः ॥

—राजशेखरस्य
(शार्ङ्गधरपद्धतौ १५०)
(सू० मु० ४।६९)

(५८) धनद

यदेयं पाञ्चाली सुकविमुखवासव्यसनिनी
कुहूकण्ठीकण्ठे विलसति तथा चेदनवधिः ।
तदा भूमीभागे निरुपमतमः किञ्चिदिय वा
समाधत्ते साम्यं धनदभणितीनां मधुरिमा ॥

—धनददेवस्य (शा० प० श्लोक ८२)

(५९) धनञ्जय

१

द्वि सन्धाने निपुणतां स तां चक्रे धनञ्जयः ।
यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनं जयः ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।९७)

२

माघे सन्ति शतं दोषा भारवौ तु शतत्रयम्।
कालिदासे न गण्यन्ते कविरेको धनञ्जयः॥

—कस्यापि।

(६०) धनपाल

वचनं धनपालस्य चन्दनं मलयस्य च।
सरसं हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृतः॥

—प्रबन्धचिन्तामणौ।

—सोमेश्वरस्य (कीर्ति कौमुदी १।१६)

(६१) घोयीक

दन्तिव्यूहं कनककलितं चामरे हैमदण्डे
यो गौडेन्द्रादलभत कविक्ष्माभृतां चक्रवर्ती।
ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी-
विद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्॥

—सदुक्ति० ५।२९।२

(६२) नन्दन

नित्यं नृत्यद्वचो देवीमञ्जीरोच्चरवैरिव।
घटते शास्त्रचिन्तासु यस्य निद्रादरिद्रता॥ २२॥
महाभूतानि पञ्चापि विरञ्चेन विमुञ्चता।
योऽवैमि वाङ्मयैरेव निर्ममे परमाणुभिः॥ २३॥
क नु कानि कियत्कालमहो तेपे तपांसि यः।
वैदुष्ये लग्नकान्यन्ययोगव्यावृत्तिसाक्षिणि॥ २४॥
पुनानमन्तिकं तस्य प्रथमं ब्रह्मवादिनाम्।
विद्वत्संक्रन्दनं तत्र स नन्दनमवन्दत॥ २५॥

—श्रीकण्ठचरितस्य पञ्चविंशसर्गे

(६३) नरचन्द्र

कवीन्द्रश्च मुनीन्द्रश्च नरचन्द्रो जयत्ययम्
प्रशस्तिर्यस्य काव्येषु संक्रान्ता हृदयादिव ॥

सोमेश्वरः कीर्तिकौमुदी १।२२

(६४) नरहरि

यशोधननिधेर्यदा नरहरेर्वचो वर्ण्यते
तदा गतमदा मदालसमरालबालारवाः ।
न विभ्रमचरी करी भवति चाधरी माधुरी
सुधाकरसुधाकरी मधु यथा वृथा जायते ॥

—इत्यपि

(६५) नाग (=नागधर)

बहुराः श्रवणो यस्य कश्चिदुत्कर्षमीयुषी ।
नाम्नि पुष्यति याथार्थ्यमुदात्तपदशालिश्रियः ॥ ६२ ॥
यस्य पाणिनिबद्धेन वररुच्यञ्चितश्रिया ।
व्यज्यते कङ्कणेनेव लक्षणेनादरिद्रता ॥ ६३ ॥
वयसो मध्यमत्वेऽपि गुणैरधिकवार्धकम् ।
नागं साहित्यविद्यायाः सौविदल्लं समैक्षत ॥ ६४ ॥

—श्रीकण्ठचरित, २५ सर्ग

(६६) नायक (भट्ट नायक)

द्विजस्तयोर्नायकाख्यो गौरीशसुरसद्मनोः ।
चातुर्विद्यः कृतस्तेन वाग्देवीकुलमंदिरम् ॥

—राजतरंगिणी ५।१६२

(६७) नारायण

व्याप्तुं पादत्रयेणापि यः शक्तो भुवनत्रयम् ।
तस्य काव्यत्रयं व्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम् ॥

—दण्डी (अवन्ति० श्लोक १७)

(६८) नीलकण्ठ

स्तुमः सुमनसां श्रेष्ठं नीलकण्ठमहर्निशम् ।
दर्पकोपचितं यस्य सर्वज्ञस्य न मानसम् ॥

—कीर्तिकौमुदी १।१९

(६९) पटु

नेत्रे कवित्वपाण्डित्यमये दधद्वचार्मणे ।
योऽक्लेशाददखिलं वर्त्म सारस्वतमवैक्षत ॥ १२६ ॥
चरतः पथि शास्त्राणां यस्यासच्चर्मचक्षुपः
देव्याः करावलम्बेन न जातु स्खलितं पदे ॥ १३० ॥
सकृदाकर्णनघ्रातसमस्तग्रन्थसंसृतेः ।
इति तस्य पटोः पद्वीं गिरं चिरमचर्चयत् ॥ १३१ ॥

—श्रीकण्ठचरित, २५ सर्ग

(७०) पद्मराज

वञ्चिने पथि वैदर्भे कठोरपदकण्टकैः ।
निसर्गललिता यस्य स्वैरं चरति भारती ॥ ८५ ॥
अतुतुपमिस्तुपया भूषितं कविविद्यया ।
त पद्मराजमभ्याजव्याहारविनियुक्तिभिः ॥ ८६ ॥

—श्रीकण्ठचरित, २५ सर्ग

(७१) पाणिनिः

१

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह ।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ॥

—राजशेखरस्य

२

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः ।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥

—क्षेमेन्द्रस्य (सुवृत्ततिलके)

३

बभूव जिह्वाभिनयः कवीनां यदनुग्रहात्।
अनुशासितारं शब्दानां तन्नमामि कवीश्वरम्॥

—दण्डी (अवन्ति० श्लोक ४)

(७२) पुराण-प्रशंसा

१

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणानां समुच्चयम्।
यस्मिन् ज्ञाते भवेज्ज्ञातं वाङ्मयं सचराचरम्॥
यस्मिन् श्रुते श्रुतं सर्वं ज्ञाते ज्ञातं कृते कृतम्।
वर्णाश्रमाचारधर्मं ससंस्कारमुपैष्यति॥

—बृहन्नारदीय पूर्व खं० ९२।१९६

२

आत्मनो वेदविद्या च ईश्वरेण विनिर्मिता।
शौनकीया च पौराणी धर्मशास्त्राश्रिता च या॥
तिस्रो विद्या इमा मुख्याः सर्वशास्त्रविनिर्णये।
पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम्॥
यो न वेद पुराणं हि न स वेदात्र किञ्चन।
कतमः स हि धर्मोऽस्ति किंवा ज्ञानं तथाविधम्॥
अन्यद्वा यत्किमप्याह पुराणे यन्न दृश्यते।
वेदाः प्रतिष्ठिताः पूर्वं पुराणे नात्र संशयः॥
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।
इतिहासपुराणैश्च कृतोऽयं निश्चयः पुरा॥
आत्मा पुराणं वेदानां पृथगङ्गानि तानि षट्।
यच्च दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिभिः किल।
उभाभ्यां यत्तु दृष्टं हि तत्पुराणेषु गीयते॥

—स्कन्द पु० रेवा०

३

अन्यो न दृष्टः सुखदो हि मार्गः पुराणमार्गो हि सदा वरिष्ठः।
शास्त्रं विना सर्वमिदं न भाति सूर्येण हीना इव जीवलोकाः॥

—शिवपु० उमा सं० १३।४२

४

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धं च यत्फलम्॥
इदं पवित्रं यशसो निदानमिदं पितृणामतिवल्लभं च।
इदं च देवेष्वमृतायितं च नित्यं त्विदं पापहरं च पुंसाम्॥

—मत्स्य पुराण अ० ५३

५

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना॥

—ब्रह्माण्ड उ० भा० ४।१०

इदं गृहस्थैः श्रोतव्यं यतिभिर्ब्रह्मचारिभिः।
धनसौख्यप्रदं नृणां पवित्रं पापनाशनम्॥
तथा ब्रह्मपरैर्विप्रैर्ब्राह्मणाद्यैः सुसंमतैः।
श्रोतव्यं सुप्रयत्नेन सम्यक् श्रेयोभिकांक्षिभिः॥
यं यं काममभिध्यायन् शृणोति पुरुषः शुचिः।
तं तं काममवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः॥

—ब्रह्म० पुराण अ० २४५

६

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्।

—बृहदारण्यके।

७

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥

—श्रीमद् भागवत तृ० स्क०

८

यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

—ब्रह्माण्डे प्रक्रियापादे

९

निस्ताराय तु लोकानां स्वयं नारायणः प्रभुः ।
व्यासरूपेण कृतवान् पुराणानि महीतले ॥
पठनाच्छ्रवणाद्येषां नृणां पापक्षयो भवेत् ।
धर्माधर्मपरिज्ञानं सदाचारप्रवर्तनम् ।
गतिश्च परमा तद्भक्तिर्भगवति प्रभो ॥

—पद्मपुराण

१०

पुरा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः ।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः ॥
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम् ।
नित्यशब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥

स्कन्द, प्रभास खण्ड, ३।३-४

११

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रदर्शितः ।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥

—विष्णु पु०

१२

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥

—नारदीय ३।२४।१७

१३

वेदवन्निश्चलं मन्ये पुराणं वै द्विजोत्तमाः ।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥
यन्न दृष्टं हि वेदेषु न दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः ।
उभयोर्यन्न दृष्टं च तत्पुराणेषु गीयते ॥

—स्कन्द, प्रभास खण्ड (२।९०)

१४

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥

—अथर्व० ११।७।२४

१५

पुराणं श्रुतिसम्मतम्।
मङ्गलं मङ्गलार्हं च मङ्गल्यं मङ्गलालयम्।
सर्वमङ्गलबीजं च सर्वदा मङ्गलप्रदम्।
सर्वामङ्गलनिघ्नं च सर्वसम्पत्करं परम्॥
हरिभक्तिप्रदं शश्वत् सुखदं मोक्षदं भवेत्।
तत्त्वज्ञानप्रदं दारपुत्रपौत्रविवर्धनम्॥

—ब्रह्मवै० (आनन्दाश्रम) ब्रह्मखण्ड १।७-९

१६

यथा पापानि पूयन्ते गंगावारिविगाहनात्।
तथा पुराणश्रवणाद् दुरितानां विनाशनम्॥'

वामन पु० ९५।८६ (वेंकटेश्वरसं०)

१७

पुराणश्रवणे बुद्धिर्यस्य पुंसः प्रवर्तते।
पुरार्जितानि पापानि तस्य नश्यन्त्यसंशयम्॥

—१।१।६१-६२

वेदार्थश्रवणे बुद्धिः पुराणश्रवणे तथा।
सत्सङ्गेऽपि च यस्यास्ति सोऽपि वन्द्यः सुरोत्तमैः॥

—१।३।६२

सर्ववेदार्थसाराणि पुराणानीति भूयते।

—१।९।९७

तर्कस्तु वादहेतुः स्यान्नीतिस्त्वैहिकसाधनम्॥
पुराणानि महाबुद्धे इहामुत्र सुखाय हि॥

—१।९।१००

अष्टादश पुराणानि यः शृणोति नरोत्तमः।
कथयेद्वा विधानेन नेह भूयः स जायते॥ १।१०९।२९

—नारदपुराण

(७३) प्रकट

व्यनक्ति पृथु सामर्थ्यमाख्याया एव योऽक्षरैः।
जयेऽभिनवगुप्तस्य प्रकटः प्रथमो गुरुः॥ ६४॥

तं तत्रागमतन्त्रेषु सूचितानङ्कुराश्रमम् ।
ततः संकेतसदनं प्रागल्भ्यस्याभ्यभापत ॥ ६२ ॥

—श्रीकण्ठचरित, २५ सर्ग

(७४) प्रद्युम्न

प्रद्युम्नाद्यापरस्येह नाटके पटवो गिरः ।
प्रद्युम्नान्नापरस्येह पौष्पा अपि शराः खराः ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।७१)

(७५) प्रभुदेवी

सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभूः ।
प्रभुर्देवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।१४)

(७६) प्रवरसेन

१

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला ।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥

—बाणस्य (ह० च० १।१४)

२

जितं प्रवरसेनेन रामेणेव महात्मना ।
तरत्युपरि यत्कीर्तिः सेतुर्वाङ्मयवारिधेः ॥

—धनपालस्य (ति० २२)

३

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥

—दण्डी : काव्यादर्श

(७७) प्रह्लादन देव

श्रीप्रह्लादनदेवोऽभूद् द्वितयेन प्रसिद्धिमान् ।
पुत्रत्वेन सरस्वत्याः पतित्वेन जयश्रियः ॥
श्रीभोजमुञ्जदुःस्वार्तां रम्यां वर्तयता कथाम् ।
प्रह्लादनेन साह्लादा पुनश्चक्रे सरस्वती ॥

—कीर्तिकौमुदी १।२०।२१

(७८) बाणभट्टः

१

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन् ।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानपुलिन्ध्रकृतसन्निधिः ॥

—धनपालस्य (तिलकमंजरी श्लोक २६)

२

कादम्बरीसहोदर्या सुधया वैबुधे हृदि ।
हर्षाख्यायिकयाऽख्यायि बाणोऽब्धिरिव लब्धवान् ॥

—तत्रैव श्लोक २७

३

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि ।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति

—गोवर्धनस्य (आ० स० ३७)

४

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य
शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति
मान्द्यं न कस्य च कवेरिह कालिदास-
वाचां रसेन रसितस्य भवत्यधृष्यम् ॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

५

वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्दमर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे ।
रसेश्वरं स्तौमि च कालिदासं बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि ॥

—तत्रैव

६

बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती चकास्ति यस्योज्ज्वलवर्णशोभा।
एकातपत्रं भुवि पुष्यभूतिवंशाश्रयं हर्षचरित्रमेव ॥

—तत्रैव

७

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

—धर्मदासस्य (शा० प० ५११)

८

सहर्षचरिता शश्वद् धृतकादम्बरीस्पदा।
बाणस्य वाण्यनार्येव स्वच्छन्दा चरति क्षितौ ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।५)

९

बाणेन हृदि लग्नेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत् (प्राय:) कविकुरङ्गाणां चापलं तत्र कारणम् ॥

—राघशेखरस्य शा० प० १६६,
सू० मु०४।६७, मु० र० भा० २।२५

१०

दण्डिन्युपस्थिते सद्यः कवीनां कम्पतां मनः।
प्रविष्टे त्वान्तरं बाणे कण्ठे वागेव रुद्ध्यते ॥

—हरिहरस्य (सुभा० ११)

११

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरे-
ऽलङ्कारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने।
आः सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
सञ्चारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः ॥

—श्रीचन्द्रदेवस्य (शा० प० १३३)

१२

युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः।
बाणध्वनावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः ॥

—क्षेमेन्द्रस्य (कौ० क्षौ० १।१५)

१३

उच्छ्वासोऽपि न निर्याति बाणे हृदयवर्तिनि ।
किं पुनर्विकटाटोप-पदबन्धा सरस्वती ॥

—सु० र० को० ४०१२३

१४

यादृग् गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः ।
गत्यां गत्यामियं देवी विचित्रा हि सरस्वती ॥

—भोजराजस्य (सर० कण्ठा० २।२०)

१५

बाणीपाणिपरामृष्टवीणानिक्वाणहारिणीम् ।
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम् ॥

—कस्यापि

(७६) बिल्हण

१

सर्वस्वं गृहवर्ति कुन्तलपतिर्गृह्णातु तन्मे पुन-
भाण्डागारमखण्डमेव हृदये जागर्ति सारस्वतम् ।
भोः क्षुद्रास्त्यजत प्रमोदमचिरादेष्यन्ति मन्मन्दिरं
हेलान्दोलितकर्णतालकरटिस्कन्धाधिरूढाः श्रियः ॥

—बिल्हणस्य (सदुक्ति० ५।३०।५)

२

वपुर्यौमावासः कुचपरिवृतश्चेदिनृपतिः (?)
परिभ्रान्ता रत्नाकरपरिधिरेषा वसुमती ।
न मुक्त्वा रामाणां पदमिह शिरोऽन्यस्य नमितं
कवीन्द्रै राजेन्द्रैर्ललितमियती बिल्हणकथा ॥

—सू० मु० ४।१०२

३

वासः शुभ्रमृतुर्वसन्तसमयः पुष्पं शरन्मल्लिका
धानुष्कः कुसुमायुधः परिमलः कस्तूरिकोऽस्त्रं धनुः ।

वाचस्तर्करसोज्ज्वलाः प्रियतमा श्यामा वपुर्नूतनं
मार्गः सौगत एव पञ्चमलया गीतिः कविर्बिल्हणः ॥

—सू० मु० ४।१०३

४

बिल्हणस्य कवेः प्राप्तप्रसादेव सरस्वती ।
नीयते जातु कालुष्यं दुर्जनैर्न घनैरपि ॥

—सोमेश्वरस्य (की० कौ० १।१९)

५

विद्वद्वृन्दतरङ्गितामरमणिः कर्ता शिरोबिन्दुकं,
कर्मेति प्रतिबोधितान्वयविदो ये येऽपि तेभ्यो नमः ।
ये तु ग्रन्थसहस्रशाणकषणत्रुट्यत्कलङ्कैर्गिरा-
मुल्लेखैः कथयन्ति बिल्हणकविस्तेऽप्येव सनह्यति ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागारस्य (प्र० २।२५ श्लोक)

६

अमुष्मै चौराय स्वरसहतमृत्युप्रतिभिये
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपहतवसादद्वयकृते ।
सुवर्णानां कोटीर्दश दशनकोटिक्षतगिरीन्
करीन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितगुञ्जन्मधुलिहः ॥

—अमरो (सदुक्ति० ५। २९।४)

(८०) भट्टारहरिचन्द्र

पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः ।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥

बाणभट्ट (हर्षचरित १।१२)
सुभाषित (प्र० २ श्लोक ४१)

(८१) भद्रकीर्ति

भद्रकीर्तेर्भ्रमत्याशा कीर्तिस्तारागणाध्वनः ।
प्रभा ताराधिपस्येव श्वेताम्बरशिरोमणेः ॥

—धनपालस्य

(८२) भर्तृमेण्ठ

१

तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणाः श्रीभर्तृमेण्ठप्रमुखा जयन्ति ।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥

२

पूर्णेन्दुबिम्बादपि सुन्दराणि तेषामदूरे पुरतो यशांसि ।
ये भर्तृमेण्ठादिकवीन्द्रसूक्ति-व्यक्तोपदिष्टेन पथा प्रयान्ति ॥

पद्मगुप्तस्य (नव० १।५,६)

३

यः कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे
प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः ।
रसप्लवेऽपि स्फुरति प्रकामं
वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव ॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

४

यस्मिन्नितिहासार्थानपेशलान् पेशलान् कविः कुरुते ।
स हयग्रीववधादिप्रबन्ध इव सर्गबन्धः स्यात् ॥

—शृंगारप्रकाश (प्र० ११प्र १२६)

५

वक्रोक्त्या भर्तृमेण्ठस्य वहन्त्या सृणिरूपताम् ।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः ॥

—धनपालस्य ।

६

इह कालिदास-भर्तृमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः ।
हरिचन्द्र-चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥

—राजशेखर : काव्यमीमांसा

७

हयग्रीववधं मेण्ठस्त्वदग्रे दर्शयन् नवम् ।
आसमाप्ति ततो नापत् साध्वसाध्विति वा वचः ॥
अथ प्रयातुं तस्मिन् पुस्तकं प्रस्तुते न्यधात् ।
लावण्यनिर्माणधिया तदधः स्वर्णभाजनम् ॥

अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसत्कृतिः ।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम् ॥
—राजतरंगिणी ३।२६०-२

(८३) भर्तृ

अवन्तिः काव्यमानर्च भर्तोर्मौरारिशेखरः ।
शिष्यो बाणस्य संक्रान्तकान्तवैद्यवचाः कविः ॥
—राजशेखरस्य

(८४) भवभूति

१

स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता ।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ॥
—धनपालस्य (तिलक ३०)

२

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा ।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्या हसतः स्म स्तनावपि ॥
—हरिहरस्य (सुभा० ११)

३

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥
—गोवर्धनाचार्यस्य (आ० स० ३६)

४

मान्यो जगत्यां भवभूतिरार्यः सारस्वते वर्त्मनि सार्थवाहः ।
वाचं पताकामिव यस्य दृष्ट्वा जनः कवीनामनुपृष्ठमेति ॥
—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

५

रत्नावलीपूर्वकमन्यदास्तामसीममोगस्य वचोमयस्य ।
पयोधरस्येव हिमाद्रिजायाः परं विभूषा भवभूतिरेव ॥
—कस्यापि (सू० मु० ४।७९)

६

सुकविद्वितयं मन्ये निखिलेऽपि महीतले ।
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्तु तृतीयकः ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागारस्य (प्र० २, २२ श्लोक)

७

भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति ।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथाविशेषेषु ॥

—गउडवहो

८

सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम् ।
विशुद्धोक्तौ शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाऽप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥

९

सा कापि सुरभिः शङ्के भवभूतेः सरस्वती ।
कर्णेषु लब्धवर्णानां सूते सुरमयीं सुधाम् ॥

१०

कवयः कालिदासाद्या कवयो वयमप्यमी ।
पर्वते परमाणौ च वस्तुत्वमुभयोरपि ॥

—सु०र० कोश (५०।१६)

११

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी ।
रुचिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥

—क्षेमेन्द्रस्य (सुवृत्ततिलक)

(८५) भागवत (श्रीमद्भागवत)

१

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥ २ ॥

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥ ३ ॥

—भागवत १।१

२

आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम् ।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ॥ ११ ॥
सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥ १२ ॥

× × ×

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥
निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥ १६ ॥
क्षेत्राणां चैव सर्वेषां यथा काशी ह्यनुत्तमा ।
तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥ १७ ॥
श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥ १८ ॥

—भागवत १२।१३

३

दारिद्र्यदुःखज्वरदाहितानां
मायापिशाचीपरिमर्दितानाम् ।
संसारसिन्धौ परिपातितानां
क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति ॥ ६२ ॥
कलौ भागवती वार्ता भवरोगविनाशिनी ॥ ६७ ॥
कृष्णप्रियं सकलकल्मषनाशनं च
मुक्त्येकहेतुमिह भक्तिविलासकारि ।
सन्तः कथानकमिदं पिबतादरेण
लोके हितार्थपरिशीलनसेवया किम् ॥ ६८ ॥

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः
क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम् ।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित् साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥ १०० ॥
इति च परमगुह्यं सर्वसिद्धान्तसिद्धं
सपदि निगदितं ते शास्त्रपुञ्जं विलोक्य ।
जगति शुककथातो निर्मलं नास्ति किञ्चित्
पिब परसुखहेतोर्द्वादशस्कन्धसारम् ॥

—पद्मपुराण : भागवतमाहात्म्य अ० ६

(८६) भानुकवि

नव्या न व्याकरणसरणिर्यस्य माधुर्यधुर्यं
नो सौन्दर्यं नवनवरसस्रोतसां न प्रवाहः ।
यादृक् श्रोत्या कथयति गिरां देवता देव तादृक्
काव्यं श्राव्यं कथयति भिषग् भानुनामा स एषः ॥

—भानुकवेः (सू० मु० ४।१०१)

(८७) भारवि

१

लब्धैर्बन्धविसं बध्वा भारवीयं सुभाषितम् ।
प्रकान्तपुत्रहत्यार्थं निशि माघं न्यवारयत् ॥

—हरिहरस्य (सुभा० ३१४)

२

जनिताञ्जुनतेजस्कं तमीश्वरमुपाश्रिता ।
राकेव भारवेर्भाति कृतिः कुवलयप्रिया ॥

—सोमेश्वरस्य (को० कौ० १।१४)

३

विमर्दे व्यक्तसौरभ्या भारती भारवेः कवेः ।
धत्ते बकुलमालेव विदग्धानां चमत्क्रियाम् ॥

४

प्रदेशकृत्यापि महान्तमर्थं
प्रदर्शयन्ती रसमादधाना ।
सा भारवे सत्पथदीपिकेव
रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या ॥

—कस्यापि

५

भारवेरर्थगौरवम्

६

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः

—मल्लिनाथ

७

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वशस्थस्य विचित्रता ।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता ॥

—क्षेमेन्द्रस्य (सुवृत्ततिलक)

(८८) भास

१

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

—बाणभट्टस्य (ह० च० १।१५)

२

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

—राजशेखरस्य

३

सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ॥

—दण्डिनः (अवन्ति० ११)

४

भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अजस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो॥
[भासे ज्वलनमित्रे कुन्तीदेवे च यस्य रघुकारे।
सौबन्धवे च बन्धे हारिचन्द्रे च आनन्दः॥]

—गउडवहो, गाथा ८०० ॥

(८९) भीम कवि

न मधुरं मधु, फल्गु च फाणितं
रसपरा न सिताऽपि, सुधा मुधा।
अधर एव नवप्रमदाधरो
लसति भीमकवेः कविता रसे॥

—रामचरित पृ० ३६८

(९०) भीमट

कालिञ्जरपतिश्चक्रे भीमटः पञ्चनाटकीम्।
प्राप प्रबन्धराजत्वं तेषु स्वप्नदशाननम्॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।८१)

(९१) भुड्ड

यावाविष्कुरुतो वक्त्रमुकुचन्दनपुण्ड्रकम्।
मुद्रितं सूक्तिदेव्येव कोपं काव्यकलाश्रियः॥ ८१॥
भुड्डश्रीरत्नसमानौ सूरी सब्रह्मचारिणौ।
वाक्यैर्जितामृतस्वादैः सादरं तावभाषत॥ ८२॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग

(९२) भोजराज

सत् पिबन्त्वमृतं देवा. काव्यमेवामृतं भुवि।
यत्सम्बन्धेन जीवन्ति भोजराजादयो मृताः॥

—हरिहरस्य (सुभा० २४)

(९३) मङ्खक

१

निष्कलङ्कं तवैकस्य श्रीमङ्ख कविवाङ्मतम् ।
स्पृष्टोक्तियस्य नास्तुत्यस्तुतिकीर्तनपांसुभिः ॥

(२५।११२)

२

शिक्षन्ते भिक्षितुं सर्वे त्वयैकेन न शिक्षितम् ।
भिक्षाकृतं निराकर्तुमशेषविदुषामपि ॥

(२५।११९)

३

संभेदः श्रीसरस्वत्योः केवलं न विपन्मयम् ।
त्वं मोहमयमप्याशु मलं कस्य न लुम्पसि ॥

—तेजकण्ठस्य श्रीकण्ठचरित (२५।११४)

४

आराधिता भगवती भवतैव सत्यं
प्राग्जन्मसुव्रतशतोर्मिभिरक्तिदेवी ।
यस्त विनाप्यधिवसन् कविकर्म गर्भं
सारस्वतत्वमिव योऽलमभिव्यनक्ति ॥

—रम्यकस्य (२५।१३६)

५

धन्यस्त्वं विनिवेशितैर्महतिथैरर्थैः स्थितिं बिभ्रती
न क्वापि स्ववपुः प्रसारितवती पण्यत्वसंसिद्धये ।
सालङ्कारपदाधिकध्वनिजुषा मूर्त्या नरीनर्त्यसौ
शम्भोर्येन पुरोऽर्पिता भगवती वाग्देवतानर्तकी ॥

—रुय्यकस्य (श्रीकण्ठ० २५।१३५)

६

सारस्वतस्य महसः प्रथमा शिखेव
सा मराकस्य वहते धुरि सूक्तिरेका ।
दग्धुं मनः खलजनस्य कपोलराग-
भग्ना व्यधत्त वचनेष्विव या स्वमोजः ॥

—श्रीकण्ठ० २५।१४१

(९४) मण्डन

चतुर्दशापि यस्यान्तर्द्विजराजश्रितोन्नतेः ।
कृष्णस्य भुवनानीव विद्यास्थानानि शेरते ॥ ५१ ॥
श्लिष्यत्कवित्वपाण्डित्यमयसंदंशवर्त्मना ।
बाल्य एवोद्धृता येन मोहकर्दमतो मतिः ॥ ५२ ॥
क्रमादजनि सौन्दर्यरसस्मेरमुखः सखा ।
श्रृंगभिर्मण्डनस्तस्य पारणाय स चक्षुषोः ॥ ५३ ॥
ततो न्यधित निःशेषवैदुषीकेलिसद्मनि ।
श्रीकण्ठे विहितोत्कण्ठे दृश तदनुजन्मनि ॥ ५४ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(९५) मम्मट

काव्यप्रकाशो यवनः काव्याली च कुलाङ्गना ।
अनेन प्रसभाकृष्टा पष्टामेणाऽश्नुते दशाम् ॥

—कस्यापि

(९६) मयूरभट्ट

१

दर्पं कविभुजङ्गानां गता श्रवणगोचरम् ।
विषविद्येव मायूरी मायूरी वाङ् निकृन्तति ॥

—राजशेखरस्य

२

भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः ।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः······ ॥

—दण्डिनः (अवन्ति० १९)

३

तावत्कविविहगानां ध्वनिर्लोकेषु शस्यते ।
यावन्नो विशति श्रोत्रे मयूरमधुरध्वनिः ॥

त्रिलोचनस्य (शा० प० १८०)

४

श्रीहर्ष इव सघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥

—पद्मगुप्तस्य (नवसाहसाङ्कचरित)

(९७) महाभारत

१

भगवन् भारताख्यानं व्यासेनोक्तं महात्मना ।
पूर्णमस्तमलैः शुभ्रैर्नानाशास्त्रसमुच्चयैः ॥ २ ॥
जातिशुद्धिसमायुक्तं साधुशब्दोपशोभितम् ।
पूर्वपक्षोक्तिसिद्धान्तपरिनिष्ठासमन्वितम् ॥ ३ ॥
त्रिदशानां यथा विष्णुर्द्विपदां ब्राह्मणो यथा ।
भूषणानां च सर्वेषां यथा चूडामणिर्वरः ॥ ४ ॥
यथाऽऽयुधानां कुलिशमिन्द्रियाणां यथा मनः ।
तथेह सर्वशास्त्राणां महाभारतमुत्तमम् ॥ ५ ॥
अत्रार्थश्चैव धर्मश्च कामो मोक्षश्च वर्ण्यते ।
परस्परानुबन्धाश्च सानुबन्धाश्च ते पृथक् ॥ ६ ॥
धर्मशास्त्रमिदं श्रेष्ठमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
कामशास्त्रमिदं चाग्र्यं मोक्षशास्त्रं तथोत्तमम् ॥ ७ ॥
चतुराश्रमधर्माणामाचारस्थितिसाधनम् ।
प्रोक्तमेतन्महाभाग ! वेदव्यासेन धीमता ॥ ८ ॥
तथा तात ! कृतं ह्येतद्व्यासेनोदारकर्मणा ।
यथा व्याप्तं महाशास्त्रं विरोधैर्नाभिभूयते ॥ ९ ॥
व्यासवाक्यजलौघेन कुतर्कतरुहारिणा ।
वेदशैलावतीर्णेन नीरजस्का मही कृता ॥ १० ॥
कलशब्दमहाहंसं महाख्यानपराम्बुजम् ।
कथाविस्तीर्णसलिलं कार्ष्णं वेदमहाह्रदम् ॥ ११ ॥

—मार्कण्डेयपुराण १।२।११

२

मतिमन्थानमाविध्य येनासौ श्रुतिसागरात् ।
प्रकाशं जनितो लोके महाभारतचन्द्रमाः ॥

—वायु १।१।१२८

३

येन त्वया तु वेदार्था भारते प्रकटीकृताः ।
कः शक्नोति गुणान् वक्तुं तव सर्वान्महामुने ॥ १ ॥
अधीत्य चतुरो वेदान् साङ्गान्व्याकरणानि च ।
कृतवान्भारतं शास्त्रं तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ २ ॥
येन त्वया भारततैलपूर्णः ।
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ ३ ॥

—ब्रह्मपुराण २४५।९।११

४

पराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं,
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा,
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ।

—भविष्य, ब्रह्मखण्ड १।४

५

विविधार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम् ।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥ ३५ ॥
आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम् ।
इतिहासप्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥ ३६ ॥
अनाश्रित्येदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३७ ॥
तदेतद् भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ ३८ ॥
इतिहासोत्तमे यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा ।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ॥ ३९ ॥
तस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थभूषितस्य च ॥ ४० ॥
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः ।

—आदि पर्व, अध्याय २

६

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥ ३८२ ॥

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ ३८३ ॥
श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥ ३८४ ॥
इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥ ३८५ ॥
आख्यानस्यास्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ॥ ३८६ ॥
क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनःक्रियाः ॥ ३८७ ॥
अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३८८ ॥
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ ३८९ ॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे।
साधोरिव गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥ ३९० ॥

× × ×

द्वैपायनौष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवञ्च।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ ३९२ ॥
यदह्ना कुरुते पापं ब्राह्मणस्त्विन्द्रियैश्चरन्।
महाभारतमाख्याय संध्यां मुच्यति पश्चिमाम् ॥ ३९३ ॥
यद् रात्रौ कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
महाभारतमाख्याय पूर्वां सन्ध्यां प्रमुच्यते ॥ ३९४ ॥
यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति,
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय।
पुण्यां च भारतकथां शृणुयाच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥ ३९५ ॥

—आदिपर्व, द्वितीय अध्याय
(पर्वसंग्रहपर्व)

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा ॥ १४ ॥

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम्॥ १६॥
अस्मिन्नर्थश्च कामश्च निखिलेनोपदेक्ष्यते।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी॥ १७॥

त्रिभिर्वर्षैर्लब्धकामः कृष्णद्वैपायनो मुनिः॥ ४१॥
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः।
तपो नियममास्थाय कृतमेतन्महर्षिणा॥ ४२॥
न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते॥ ४६॥
यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महागिरिः।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते॥ ४८॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥ ५३॥

—अध्याय ६२

अष्टादशपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः।
वेदाः सांगास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम्॥ ४६॥
श्रूयतां सिंहनादोऽयमृषेस्तस्य महात्मनः।
अष्टादशपुराणानां कर्तुर्वेदमहोदधेः॥ ४७॥

—स्वर्गारोहण (१८) पर्व अ० ५

स्थावरं जङ्गमञ्चैव जगत्सर्वं सुरासुरम्।
भारते भरतश्रेष्ठ एकस्थमिह दृश्यते॥ ८६॥
भारतं परमं पुण्यं भारते विविधाः कथाः।
भारतं सेव्यते देवैर्भारतं परमं पदम्॥ ९०॥
भारतं सर्वशास्त्राणामुत्तमं भरतर्षभ।
भारतात्प्राप्यते मोक्षस्तत्त्वमेतद् ब्रवीमि ते॥ ९१॥
महाभारतमाख्यानं श्रुतिं गाञ्च सरस्वतीम्।
ब्राह्मणान् केशवं चैव कीर्तयन्नावसीदति॥ ९२॥
वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥ ९३॥
यत्र विष्णुकथा दिव्याः श्रुतयश्च सनातनाः।
तच्छ्रोतव्यं मनुष्येण परं पदमिहेच्छता॥ ९४॥

—हरिवंश भारतश्रवणप्रशंसा

(९८) महेन्द्रसूरि

सूरिर्महेन्द्र एवैको वैबुधाराधितक्रमः
यस्य मर्त्योचितप्रौढिकविविस्मयकृद् वचः।

—धनपालस्य (तिलक० ३४)

(९९) माघ

१

नैतच्चित्रमहं मन्ये माघमासाद्य यन्मुहुः।
प्रौढताविप्रसिद्धापि भारवेरवसीदति ॥

हरिहरस्य—(सुभा० १४)

२

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

—कस्यापि

३

विरक्तश्चेद् दुरुक्तिभ्यो निर्वृतिं वाऽथ वाञ्छसि।
वयस्य कथ्यते तथ्यं माघसेवां कुरुष्व तत् ॥

—सोमेश्वरस्य (कीर्तिकौमुद्याम् १।११)

४

कृत्स्नप्रबोधकृत् वाणी भारवेरिव भा रवेः।
माघेनेव च माघेन कम्प कस्य न जायते ॥

—राजशेखरस्य

५

माघेन विघ्नितोत्साहा न सहन्ते पदक्रमम्।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा ॥

—धनपालस्य (तिलक २८)

—शा० प० १८५

६

नवसर्गे गते माघे नवशब्दो न विद्यते।

७

श्रीमाघोऽस्ताघधीः श्लाघ्यः प्रशस्यः कस्य नाभवत् ।
चित्तजाड्यहरा यस्य काव्यगङ्गोर्मिविप्रुषः ॥

—प्रभावकचरिते

८

मुरारिपदचिन्ता चेत् तदा माऽघे रतिं कुरु ।
मुरारिपदचिन्ता चेत् तदा माघे रतिं कुरु ॥

(१००) मायुराज

मायुराजसमो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः ।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।८२)

(१०१) मुरारि

१

संपूरयन्तु धामैव धावकस्य घनैर्गिरः ।
गिरे मुरारेर्दारिद्र्यस्तरोऽपि स्पृहयामहे ॥

—हरिहरस्य (सुभा० १८)

२

भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया ।
मुरारेः पदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ॥

—कस्यचित् (सू० मु० ४।१००)
(शा० प० १७८)

३

मुरारिपदभक्तिश्चेत्तदा माऽघे रतिं कुरु ।
मुरारिपदभक्तिश्चेत्तदा माघे रतिं कुरु ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागार प्र० २।३२ श्लोक

४

आक्रान्तकृत्स्नभुवनः क्व गतः स दैत्य-
नाथो हिरण्यकशिपुः सह बन्धुभिर्वा।
अंकोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्॥

—हरविजय

५

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः।
अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः॥

—मुरारे (सदुक्ति० ५।२७।५,
सु० र० को० ५०१८)

६

मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु॥

७

दत्तादरा गुरुमलकमुरस्थकुलप्रशस्ति-
सौरभ्यनिर्भर-गभीर-मनोहराणि।
वाल्मीकि-वागमृतकूपनिपातलक्ष्मी-
मेतानि बिभ्रति मुरारिकवेर्वचांसि॥

—मुरारेः (सु० र० को० ५०१५)

(१०२) यशोवर्मा

कविर्वाक्पतिराज श्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

—कल्हण: राजतरंगिणी ४।१४४

(१०३) यशोवीर

१

न माघः श्लाघ्यते कैश्चिन्नाभिनन्दोऽभिनन्द्यते ।
निष्कलः कालिदासोऽपि यशोवीरस्य संनिधौ ॥ २६ ॥

२

प्रकाश्यते सदा साक्षाद् यशोवीरेण मन्त्रिणा ।
मुखे दन्तयुता ब्राह्मी करे श्रीः स्वर्णमुद्रया ॥ २७ ॥

३

अर्जितास्ते गुणास्तेन चाहमानेन्द्रमन्त्रिणा ।
विधेरब्धेश्च नन्दिन्यौ, यैरनेन नियन्त्रिते ॥ २८ ॥
वस्तुपाल यशोवीरौ सत्यं वाग्देवतासुतौ ।
एको दानस्वभावोऽभूदुभयोरन्यथा कथम् ॥ २९ ॥

—कीर्तिकौमुदी · प्रथमसर्ग ।

(१०४) युवराज

१

सृष्टं यदत्र युवराजनरेश्वरेण
यद्दुष्करं किमपि येन गिरः श्रियश्च ।
मत्यायनं स्फुटमकारि निजे कवीन्द्र-
मेकासने समुपवेशयताऽभिनन्दम् ॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

२

पातालयाम्बुजननैकविरोचनाय
तस्मै नमोऽस्तु युवराजनरेश्वराय ।
कोटिप्रदानघटितोज्ज्वलकीर्तिमूर्ति-
र्येनामरत्वपदवीं गमितोऽभिनन्दः ॥

३

किमिन्दुना चन्दनवारिणापि किं
किमब्जकन्दैरभिनन्दवत्सलः ।

(१०६) रत्नखेट दीक्षित

विपश्चितामपश्चिमे विवादकेलिनिश्चले
सपत्ननित्ययत्नतस्तु रत्नखेटदीक्षिते ।
बृहस्पति क जल्पति प्रसर्पति क सर्पराड्
सुसमुरस्तु षण्मुख सुदुर्मुखश्चतुर्मुख ॥

(१०७) रत्नाकर

१

मा स्म सन्तु हि चत्वार प्रायो रत्नाकरा इमे ।
इतीव स कृतो धात्रा कवी रत्नाकरोऽपर ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।७७)

२

माघ शिशुपालवध विदधत् कविमदवध विदधे ।
रत्नाकर स्वविजय हरविजय वर्णयन् व्यवृणोत् ॥

—अलकारविमर्श

३

वसन्ततिलकारूढा वाग्वल्लीगाढसगिनी ।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्यानन्दकानने ॥

—क्षेमेन्द्र (सुवृत्ततिलक)

४

ललितमधुरा सालङ्कारा प्रसादमनोहरा-
विकट-यमक-श्लेषोद्गार-प्रबन्धनिरर्गला ।
असदृशमतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरपि शङ्कते ॥

—रत्नाकर (हरविजय)

५

अस्तगतभारविरवि कालवशात् कालिदासविधु विधुरम् ।
निर्वाणबाणदीप जगदिदमद्योति रत्नेन ॥

—सु० र० को० ५०।९

—भोजदेवस्य (सदुक्ति० ५।२६।२)

(१०८) रम्यदेव

यस्य व्यनक्ति कषायप्रहमारक्तया रुचा ।
नित्योपन्याससंक्रान्तवेदान्तार्थं इवाधरः ॥ ३१ ॥
नीत्वा सफलां वल्लीरिष्टसिद्धि विधृण्वता ।
प्रतीना पथि शिष्येषु येन कल्पद्रुमायितम् ॥ ३२ ॥
निस्तुषीकृतवैदुष्यं स्मयमात्सर्यसङ्गतेः ।
धृतप्रणतिपारम्य रम्यदेवं तमैक्षत ॥ ३३ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(१०९) राजशेखर

१

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः ।
नृत्यत्युदारं भणिते गुणस्था नटीव यस्योदरसा पदश्रीः ॥

—श्रीहृल्लस्य

२

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते संप्रति राजशेखरः ॥

—राजशेखरः बालभारत

३

पातुं कर्णरसायनं रचयितुं वाचं सतां संमतां,
व्युत्पत्ति परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः ।
भोक्तुं स्वादु फलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं,
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ॥

—शङ्करवर्मणः

सदुक्ति० ५।२७।३; सुभाषितरत्नकोशे ५०।३

४

कर्णाटी-दशनाङ्कितः शितमहाराष्ट्रीकटाक्षाहतः
प्रौढान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः ।
लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः
सोयं संप्रति राजशेखरकविः वाराणसीं वाञ्छति ॥

—राजशेखरस्य

५

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ॥

—धनपालस्य (तिलक० ३३)

६

सौजन्याङ्कुरकन्द सुन्दरकथासर्वस्व सीमन्तिनी-
चित्ताकर्षणमन्त्र मन्मथसरित्-कल्लोलवाग्वल्लभ ।
सौभाग्यैकनिवेश पेशलगिरामाधार धैर्याम्बुधे
धर्मोद्द्रुम राजशेखर सखे दृष्टोऽसि यामो वयम् ॥

—सु० र० को० (कवेर्नाम नोपलभ्यते,
सुभाषितावली-अभिनन्दस्य)

७

बालकई कइराओ णिब्भरराअस्स तह उवज्झाओ ।
इअ जस्स परहिं परं पराइ माहप्प मारूढं ॥

—अपराजित (कर्पूरमंजरी १।९)

८

बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः ।
इत्येतस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः ॥

(११०) रामचन्द्रः

१

प्रबन्धानाधातुं नवभणितिवैदग्ध्यमधुरान्
कवीन्द्रा निस्तन्द्राः कति नहि मुरारिप्रभृतयः ।
ऋते रामान्नान्यः किमुत परकोटौ घटयितुं
रसान् नाट्यप्राणान् पटुरिति वितर्को मनसि नः ॥

२

पञ्चप्रबन्धमिषपञ्च मुखानकेन
विद्वन्मनःसदसि नृत्यति यस्य कीर्तिः ।
विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्यतन्द्रं
कस्तं न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम् ॥

—रघुविलासस्य प्रस्तावनायाम्

(१११) रामायण

१

यः कर्णाञ्जलिसंपुटैरहरहः सम्यक्पिबत्यादराद्
वाल्मीकेर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान् विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥

२

वदुपगतसमाससन्धियोगं सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥

३

वाल्मीकिगिरिसंभूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥

४

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसंकुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥

५

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना ॥

—पारायण मंगल

६

इदमाख्यानमायुष्यं सौभाग्यं पापनाशनम् ।
रामायणं वेदसमं श्राद्धेषु श्रावयेद् बुधः ॥
एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः ।
सपुत्रपौत्रो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य चेह महीयते ॥
आदिकाव्यमिदं त्वार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ।
यः शृणोति सदा भक्त्या स गच्छेद् वैष्णवीं तनुम् ॥
पुत्रदाराश्च वर्धन्ते सम्पदः सन्ततिस्तदा ।
सत्यमेतद् विदित्वा तु श्रोतव्यं नियतात्मभिः ॥
गायत्र्याश्च स्वरूपं तद् रामायणमनुत्तमम् ।

—रामायण (उ० का० १११ सर्ग)

७

कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च ।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम् ॥
आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च ।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिराख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः ॥

—तत्रैव, युद्धकाण्ड (१२८ सर्ग)

८

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम् ।
यः पठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९८ ॥
एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः ।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ ९९ ॥
पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयात्
जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥ १०० ॥

—तत्रैव, बालकाण्ड, प्रथम सर्ग ।

९

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥ ३६ ॥

१०

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोहरैस्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः ॥ ४२ ॥

—बालकाण्ड, द्वितीय सर्ग ।

(११२) रुद्रः

१

स मदान्धकविध्वंसी रुद्रः कैर्नाभिनन्द्यते ।
सुश्लिष्टललिता यस्य कथा त्रैलोक्यसुन्दरी ॥

—धनपालस्य (तिलक० ३१)

२

त्रिपुरवधादेव गतामुल्लासमुमां समस्तदेवानाम् ।
श्रृङ्गारतिलकविधिना पुनरपि रुद्रः प्रसादयति ॥

(११३) रुय्यक

व्याख्यासु यस्य वदनं रदनांशुभिरीद्यते।
आकर्षदिव वाग्देव्या धौतक्षौमपटाञ्चलम् ॥ २६ ॥
अर्पयन् कमपि स्पन्दं धाम्नः सारस्वतस्य भूः।
य एव सर्वशास्त्राणां साकारमिव जीवितम् ॥ २७ ॥
विधृतीर्यो लिखत्यात्तलेखन्येकाङ्गुलीबलः।
ग्रन्थेभ्योऽर्थस्य विश्रान्त्यै सूत्रिकामर्पयन्निव ॥ २८ ॥
यत्कृतिप्रग्रधानेन मूर्धा कस्य न धीप्सया।
सारस्वतरसावर्तवलनेनेव चेष्टते ॥ २९ ॥
तं श्री रुय्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत्।
सौहार्दप्रश्रयरसस्रोतःसंभेदमज्जनम् ॥ ३० ॥

—मङ्खक श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(११४) लक्ष्मणसेन

सकलकलाः कल्पयितुं प्रभुः प्रबन्धस्य कुमुदबन्धोश्च
सेनकुलतिलकभूपतिरेको राकाप्रदोषश्च ॥

—गोवर्धनस्य (आ० स० ३९)

(११५) लक्ष्मीदेव

धिन्वन्पवित्रचारित्रो विश्वामित्र इव त्रयीम्।
पाठबोधावनुष्ठानसौष्ठवेन पुनाति यः ॥ ८९ ॥
वक्त्रटङ्को निसर्गेण व्यञ्जन् सदनुरक्तताम्।
न जहात्यसुरो यस्य सामराभिस्थितिग्रहम् ॥ ९० ॥
स्वतन्त्रः शास्त्रवीथीषु प्रथमः सोमपीथिनाम्।
लक्ष्मीदेवस्तमाशीर्भिः स निर्भरमवीवृधत् ॥ ९१ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(११६) लङ्कक

१

एकं श्रीजयसिंहपार्थिवपतिं काश्मीरमीनध्वजं
तस्योपासितसन्धिविग्रहमलङ्कारं द्वितीयं स्तुमः।

भूभारः प्रथमेन पन्नगपतेः क्ष्मां रक्षता वारितो
नीतोऽन्येन कृतार्थतां प्रवचनैर्भाष्योपदेशश्रमः ॥
—देवधरस्य (श्रीकण्ठचरित २५।६१)

२

मार्गे पदस्य पथि वाक्यकथाप्रथानां
मानस्य वर्त्मनि च कन्दलिताभिषेकः ।
राज्ञेव मन्त्रिवर लङ्कक सूक्तिदेव्या
सर्वाधिपत्यपदवीमधिरोपितोऽसि ॥

३

बाणोपमः प्रबन्धो लङ्कक तव पत्त्रलब्धदूरगतिः ।
विध्यति कस्य न हृदयं विविधसमज्यानिवेशेन ॥

४

श्रीमल्लङ्कक यद् विशङ्कमुरगाधीशस्य हालाहल-
ज्वालाडम्बरडामराद् वदनतस्तात्पर्यतो निर्ययौ ।
वाग्देवीकरकुम्भनिर्यदमृतोद्रिक्तेन सिक्ते महा-
भाष्ये काव्यरसेन यत्तव चिरं यत्नेऽद्य विश्राम्यति ॥
—शेषदेवस्य

५

अलङ्काराभिधो बाह्यराज्यस्थानाधिकारभाक् ।
अघृण्यो मातुपैर्दैर्विरुद्धान् बहुधाऽवधीत् ॥
—राजतरङ्गिणी ८।२६५८

६

तीक्ष्णा पृथुलोहमयी गुरुतरगुणनिकरसंग्रहव्यग्रा ।
द्रढयति धर्मपटच्चरमचिरादिह लङ्ककस्य गतिः ॥
—लोष्टदेवस्य

(११७) लोष्टदेव

१

वाग्देवताजिनीलीलाधूतपक्षविचातुरीम् ।
वदनाम्बुरुहे यस्य भाषाः षडधिशेरते ॥ ३४ ॥
स्खलाना यत्प्रबन्धेषु दृढव्युत्पत्तिवर्मसु ।
प्रोद्यच्चोद्यमया दूरे कुण्ठिता इव पत्त्रिणः ॥ ३५ ॥

यविचिल्लोष्टदेवस्य तस्येति मुखतोऽशृणोत् ।
श्रीलङ्कं प्रति प्रोतचास्चाटुरसा गिरः ॥ ३६ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

२

प्रकृत्यैवातिवक्रेऽत्र गुणदैर्घ्यं वितन्वता ।
मया शरासनेनेव बाणो दूरं निरस्यते ॥

—लोष्टदेव (सु० मु०)

३

केचिद् गर्वगलग्रहेण विषमद्वेषज्वरेणापरे
केचिन्मौर्ख्यमलेन सन्ततममी मीलन्ति शान्तोत्तराः ।
तद् भो मन्दिरभित्तयो ! भवत नः सूक्तेषु सभ्याः पुन-
स्तत्पाठे वरमस्ति वो घमुघमुप्रायं किमप्युत्तरम् ॥

—लोष्टसर्वज्ञ (सू० मु० ४–१०७, १०८)

(११८) वङ्गाल

घनरसमयी गभीरा वक्रिमसुभगोपजीविता कविभिः ।
अवगाढा च पुनीते गङ्गा वङ्गालवाणी च ॥

—वङ्गालस्य (सदुक्ति० ५।२९।२)

(११९) वटुदास

१

पयोधिपरिमाणेषु घनेषु च रणेषु च ।
वन्दीन्द्राणां नरेन्द्राणां वटुदासस्तरण्डकः ॥

—वेतालस्य

२

अलमादिवराहेण वटुदासं परं स्तुमः ।
जगदुद्धरता येन न वक्रीकृतमाननम् ॥

—उमापतिधरस्य

३

तत्प्राङ्गणान्तमधिरोहति कल्पवल्ली
चिन्तामणिर्लुठति पादतले च तस्य ।

येनेक्षितः सुकृतसागरपारदृश्वा
विश्वानुरञ्जनपटुर्बटुदासदेवः ॥

(सदुक्तिकर्णामृत ५।७६)

(१२०) वररुचि

यथार्थता कथं नाम्नि याऽभूद् वररुचेरिह ।
व्यधत्त कण्ठाभरणं स सदारोहणप्रियः ॥

—राजशेखरस्य

(१२१) वल्लण

१

धिग्धिक् तान्समयान्परिश्रमरुजो यत्रं गिरो नीरसाः
यत्रामूर्नभवन्ति वल्लणगुणोत्खातामृतप्रीतयः ।
रोम्णां नृत्यभुवो विलोचनपयः पूराङ्किचन्द्रोदयाः
साहित्यप्रतिगण्डगर्वगलनग्लानिक्रियाहेतवः ॥

—वल्लणस्य (सु० र० को० ५०।६)

(सदुक्ति० ५।२७।४)

२

परमाद्भुतरसधामन्युत्सलिले जगति वल्लणाम्भोधौ ।
विश्रान्तो रसभागस्त्विमिवयति यथा गभीरिमा कोऽपि ॥

—वल्लणस्य, सु० र० को० ५०।२७

बिन्दुद्वन्द्वतरङ्गिताग्रसरणिः कर्ता शिरोबिन्दुकं
कर्मेत्यन्वयकल्पनां विदधते ये केऽपि तेभ्यो नमः ।
ये तु ग्रन्थसहस्रशाणकषणत्रुट्यत्कलङ्कैर्गिरा-
मुल्लासैः कवयन्ति वल्लणकविस्तेष्वेव संनह्यते[1] ॥

—सदुक्ति० ५।३०।३

---

1 पद्यमिदं सूक्तिमुक्तावल्यामपि दृश्यते (सू० मु० ४।१०६) । पर 'वल्लण' स्थाने 'रल्हण' पाठो दृश्यते । परन्तु 'वल्लण' इत्येव समीचीन पाठ ।

(१२२) वसुकल्प

बाणः प्राणिति, केरटः स्फुटमसौ, जागर्ति योगेश्वरः
प्रत्युज्जीवति राजशेखरगिरां सौरभ्यमुन्मीलति ।
येनायं कलिकालपुष्पधनुषो देवस्य शिक्षावशा-
दाकल्पं वसुकल्प एव वचसि प्रागल्भ्यमभ्यस्यति ॥ ३ ॥

—वसुकल्पस्य (सदुक्ति० ५।२६।३)

(१२३) वस्तुपाल

१

कुलमुज्ज्वलमाकारं चारुमाचारमुत्तमम् ।
प्रज्ञामाक्लिष्टलावण्यां दयां भग्नभयोदयाम् ॥
श्लोकं भूषितभूर्लोकं मन्त्रितां न्याययन्त्रिताम् ।
विलोक्य वस्तुपालस्य भक्तिं चात्मनि निर्भराम् ।
श्रीसोमेश्वरदेवेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

—कीर्तिकौमुदी १।४४-४६

२

दूर्वा-पुष्प-फलाक्षतैरुपचितं पात्रं दधत्यः करे,
यस्मै मंगलमङ्गनाः प्रणयिनां चक्रुस्तदा सम्मदात् ।
सर्वत्र स्वयशांसि बन्दिगदितान्याकर्णयन् कर्णवद्
दानोद्दामकराम्बुजः स जयतु श्रीवस्तुपालश्चिरम् ॥

—वही, ९।७८

३

कल्पान्तेषु यशोभरे तव हरिद्दुर्गाधिवासस्पृशं
मार्तण्डस्त्रिदिवापगारयपयःस्नानोत्सवं लप्स्यते ।
मिथ्योक्तिः कवितेति नात्र वचसि श्रद्धास्ति चेत् तच्चिरं
नन्दश्रीस्सुत वस्तुपाल भवतु प्रत्यक्षमेतत्त तव ॥

—अमरपंडितः सुकृतसंकीर्तन पृ० १६०

४

तात ख्यातगिरः सुता मम हता ही कालिदासादयो
नन्वेकस्तु चिरायुरस्तु जगति श्रीवस्तुपालोऽधुना ।

मार्कण्डः स्फुटमाशिषा शमवतामल्पायुरप्येष यत्
कल्पायुर्जयतीति वाग्मिगदने धातास्तुजावादरः ॥

—अमरपण्डित' सुकृतसंकीर्तन (१० सर्ग)

५

विश्वं न स्यादनीदृग् निखिलमपि कदाप्येष लोकप्रवादः,
कल्पे-कल्पे ततस्त्वं मदयति विदुषो लब्धपुण्यावतारः।
कल्पद्रुः कामधेनुस्त्रिदशमणिरपि श्रीवसन्त श्रवन्ती-
भूपाम्भोधि गतानामिति भवति भवद्दानभारां विवर्तः ॥

— अमरपण्डित, तत्रैव पृ० ११६।

६

मारयमारयनर ! नाम्बरे यशः
श्रीवसन्त तव सन्ततस्मितम्।
इत्यनन्यमहिमानमानसो
मानसाश्रयमहो महीयसाम् ॥

—तत्रैव पृ० ११५

७

शौर्यैर्वज्रधरस्य दैत्यमरुतामाचार्ययोः प्रज्ञया,
दानैर्देवगवी-मणि-क्षितिरुहां स्वर्गश्चिरं गर्वितः।
एकेनैव विभूषणेन भवता श्रीवस्तुपाल ! क्षिति-
स्त्वं निर्जित्य मुदा तथाशिषमदाद्देयं महायुर्भव ॥

—तत्रैव पृ० १२१

(१२४) वाक्पतिराज

१

अह तस्स थिर-भुय-क्खम्भ-णिमिय-णीसेस-भुयणभारस्स।
आसि कइ-राय-इन्धो वप्पइ-राओत्ति पणइ-लवो ॥ ७९७ ॥
[अथ तस्य स्थिरभुजस्तम्भनिमितनिःशेषभुवनभारस्य।
आसीत् कविराजचिह्नः वाक्पतिराज इति प्रणयिलवः ॥]

२

अप्पा एतिअ-मेत्तेण णवर विरसोवि जस्स पडिहाई।
सिरि-कमलाबद्द-चलणेहिं कहवि जं गहिय बहुमाणो ॥ ७९८ ॥

[आत्मा एतन्मात्रेण केवल विरसोपि यस्य प्रतिभाति ।
श्रीकमलायुधचरणैः कथमपि यत् गृहीतबहुमानः ॥]

३

भवभूइ-जलहि-णिग्गय-कव्वामय-रस-कणा इव फुरन्ति ।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहा-णिवेसेसु ॥ ७९९ ॥
[भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति ।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु ॥]

४

भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे ।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो ॥ ८०० ॥
[भासे ज्वलनमित्रे कुन्तीदेवे च यस्य रघुकारे ।
सौबन्धवे च बन्धे हारिचन्द्रे च आनन्दः ॥]

—गउडवहो ७९७–८००

५

दृष्ट्वा वाक्पतिराजस्य शक्तिं गौडवधोद्धुराम् ।
बुद्धिः श्वासोपरुद्धेव वाच न प्रतिपद्यते ॥

—धनपालस्य तिलक० ३१

(साध्वसरुद्धेवेति तिलकमञ्जरीपाठ)

(१२५) वाक्पतिराज (द्वितीय)

१

उन्नीतो भवभूतिना प्रतिपदं वाणे गते यः पुरा
यच्छीर्णः कमलायुधेन सततं येनागमत्केशटः ।
यः श्रीवाक्पतिराजपादरजसा सपर्कभूविश्चिर
दिष्ट्या श्लाघ्यगुणस्य कस्य चिदसौ मार्गः समुन्मीलति ॥ ४ ॥

—अभिनन्दस्य (सदु० ४।२६।४)

२

अतीते विक्रमादित्ये गतेऽस्तं सातवाहने ।
कविमित्रे विशश्राम यस्मिन् देवी सरस्वती ॥

—पद्मगुप्तस्य (नवसाहसांक)

३

सरस्वतीकल्पलतैककन्दं वन्दामहे वाक्पतिराजदेवम् ।
यस्य प्रसादाद् वयमप्यनन्यकवीन्द्रचीर्णे पथि संचरामः ॥

—पद्मगुप्तस्य (१।७)

४

सामन्यजन्मापि कवीश्वराणां
महत्तमो वाक्पतिराजसूरिः ।
यच्छाययाप्यन्यमपीढयन् स-
न्नुत्पादयत्यर्थमनन्यदृष्टम् ॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

५

स जयति वाक्पतिराजः सकलार्थिमनोरथकल्पतरुः ।
प्रत्यर्थिभूतपार्थिवलक्ष्मीहठहरणाद् दुर्ललितः ॥

—हलायुध (पिंगलसूत्र टीका)

(१२६) वामन भट्ट बाण

बाणादन्ये कवयः
बाणाः खलु सरसगद्यसरणीषु ।
इति जगति रूढमयशो
वामनबाणोऽपमार्ष्टि वत्सकुलः ॥

—वामन भट्ट (वेम भूपालचरित, श्लोक ६)

(१२७) वाल्मीकिः

१

यस्मादियं प्रथमतः परमामृतौघ-
निर्घोषिणी सरससूक्तितरङ्गभङ्गिः ।
गङ्गेव धूर्जटिजटाञ्चलतः प्रवृत्ता
वृत्तेन वाक् तमहमादिकविं प्रपद्ये ॥

—वामननागस्य
(सूक्तिमुक्तावली ४।३१)

२

चर्चाभिश्चारणाना क्षितिरमण ! परां प्राप्य संमोदलीला
मा कीर्तेः सौविदल्लानवगणय कविव्रातवाणीविलासान् ।
गीतं ख्यातं न नाम्ना किमपि रघुपतेरद्य यावत् प्रसादाद्
वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलयति यशोमुद्रया रामभद्रः ॥

३

तमृषिं मनुष्यलोकप्रवेशविश्रामशाखिनं वाचाम् ।
सुरलोकादवतारश्रान्तरखेदच्छिदं वन्दे ॥

—मुरारेः (सू० मु० ४।४१ ४२)

४

भास्वद्वंशाव्रतसकीर्तिरमणीरङ्गप्रसङ्गस्वनद्-
वादित्रप्रथमध्वनिर्विजयते वल्मीकजन्मा कविः ।
पीत्वा यद्वदनेन्दुमण्डलगलत्काव्यामृताब्धेः किम-
प्याकल्पं कविनूतनाम्बुदमयी कादम्बिनी नृत्यति ॥

—जयदेवस्य (सू० मु० ४।४३)

५

कवीन्द्रं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम् ।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः ॥

शार्ङ्गधरस्य (शा० प० १७२)

सुभाषितरत्नभाण्डागार प्र० २—१

६

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला ।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥

—त्रिविक्रम भट्ट (दमयन्ती चम्पू १।११)

सू० र० २।२

७

योगीन्द्रश्छन्दसां स्रष्टा रामायणमहाकविः ।
वल्मीकजन्मा जयति प्राच्यः प्राचेतसो मुनिः ॥

—राजशेखर (बालभारत १।१५)

८

आदिकवी चतुरास्यौ कमलजवल्मीकजौ वन्दे ।
लोकश्लोकविधात्रोर्ययोर्भिदा लेशमात्रेण ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागारस्य २।५ श्लो.

९

विहितघनालङ्कारं विचित्रवर्णावलीमयस्फुरणम् ।
शक्रायुधमिव वक्रं वल्मीकभुवं मुनिं नौमि ॥

गोवर्धनाचार्य (आ० स० ३०)

१०

सति काकुत्स्थकुलोन्नतिकारिणि रामायणेऽपि किं काव्यम् ।
रोहति कुल्या गङ्गापूरे किं बहुरसे वहति ॥

—गोवर्धनाचार्य (आ० स० १२)

सुभाषितरत्नभाण्डागारस्य प्र २, ८ श्लोक.

११

इद्धो रामायणं नाम यन्मुखान्मधुनिर्झरः
... ...

—दण्डी (अवन्ति १।१२)

१२

सुभाषितगुणेनैव मुनेर्वल्मीकजन्मनः ।
नद्धमद्यापि नार्पेति रामायणमयं यशः ॥

—हरिहर (सुभाषिते ३।७)

१३

आसीदसीमस्फुरितोरुधामा वाल्मीकिरभ्यस्तसमो मुनीनाम् ।
निर्याणमार्गैकमहाध्वगोऽपि संवर्कितः क्वापि न यो रजोभिः ॥

१४

ब्राह्मीनिवासानुमितः स साक्षाद् देवः स्वयम्भूरिति कीर्त्तितो यः ।
कोऽन्य. कमस्यापितवर्णसारां सृष्टिं कृती काव्यमयीं चकार ॥

१५

छन्दोविचित्रैर्निहितैः क्रमेण पदैः समन्ताद् मसृणीकृतान्तः ।
निषेव्यते वर्णमहाटवीषु यस्यैष दिव्यैरपि काव्यमार्गः ॥

१६

वंशः कवीनामुदियाय तस्मान्मूर्ध्नो धृतो भूमिभृतां गणेन ।
अच्छिद्रितेऽपि त्रिदशप्रतोषी वाणीगुणः स्फूर्जति कोऽपि यत्र ॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

१७

मधुना लसदुत्कर्षां कविषट्पद पद्मिनीम् ।
रामायणकवेस्तस्य हृद्यां वन्दे सरस्वतीम् ॥

१८

स्तुमस्तमेव वाल्मीकिं यत्प्रसादात् प्रशस्यते ।
लोकैर्दाशरथं वृत्तमपि श्रवणदु स्त्कृत् ॥

—सोमेश्वरस्य कीर्तिकौमुद्याम् १।९–१०

१९

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं विरचितवान् भारताख्यममृतं यः ।
तमहमरा॰ मतृष्ण कृष्णद्वैपायनं वन्दे ॥

२०

प्रस्तावनादिपुरुषौ रघुकौरववंशयोः ।
वन्दे वाल्मीकिकानीनौ सूर्याचन्द्रमसाविव ॥

—धनपाल तिलकमञ्जरी श्लोक २० ।

२१

चेतसोऽस्तु प्रसादाय सता प्राचेतसो मुनिः ।
पृथिव्यां पद्यनिर्माणविद्यायाः प्रथमं पदम् ॥

२२

ये विद्यापरमेश्वरा॰ स्तुतिधियां ये ब्रह्मपारायणे
येषा वेदवदादृता स्मृतिमयी वाग् लोकयात्राविधौ ।
स्नाताः स्वर्गतरङ्गिणीमपि सदा पूतां पुनन्त्यत्र ये
व्युत्पत्त्या परया रसोपनिषदा रामायणस्यासते ॥

—राजशेखर (बालभारत १।१९)

२३

यदुक्तिमुद्रासुहृदर्थवीथी
कथारसो यच्चुलुकैश्चुलुक्यः ।
तथाऽमृतस्यन्दि च यद् वचांसि
रामायण सत् कवितॄन् पुनाति ॥

—राजशेखर (बालभारत १।१७)

२४

कूजन्त रामरामेति मधुर मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखा वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

२५

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥

२६

ज्येष्ठो जयति वाल्मीकिः सर्गे बन्धे प्रजापतिः ।
यः सर्वहृदयालीनं काव्यं रामायणं व्यधात् ॥ २ ॥
स्वच्छप्रवाहसुभगा मुनिमण्डलसेविता ।
यस्मात् स्वर्गादिवोत्पन्ना पुण्या प्राची सरस्वती ॥ ३ ॥
नुमः सर्वोपजीव्यं तं कवीनां चक्रवर्तिनम् ।
यस्येन्दुधवलैः श्लोकैर्भूषिता भुवनत्रयी ॥ ४ ॥

—क्षेमेन्द्र : रामायणमंजरी, प्रथमोपाख्यान

२७

स वः पुनातु वाल्मीकेः सूक्तामृतमहोदधिः ।
ओंकार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनिः ॥

—क्षेमेन्द्र : रामायणमंजरी

(१२८) विकटनितम्बा

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रञ्जिताः ।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरं वचः ॥

—राजशेखरस्य (सु. मु. ४।९२)

(१२९) विक्रमादित्य

१

कनककुण्डलमण्डितभाषिणो शकरिपुर्विपयान् दश विद्विषः ।
मगध-केकय-केरल-कोशलान् करिशतं च मदालसलोचनम् ॥

२

अमुष्मै चौराय स्वरसहतमृत्युप्रतिभिये
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपड्डलवसादद्वयकृते
सुवर्णानां कोटीर्दश कनककोटिक्षतगिरीन्
करीन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितगुञ्जन्मधुलिहः ॥

३

श्लोकोऽयं हरिपाभिधानकविना देवस्य तस्याग्रतो
यावद्यावदुदीरितः शकवधूवैधव्यदीक्षागुरोः।
तावत्तावदुपोढसान्द्रपुलकस्तस्मै स देवो ददौ
लक्षं लक्षमखण्डित मधुकरव्यालोलगण्डान् गजान् ॥

—अमरो (सदुक्ति० ५।२६।३–५)

४

श्रीविक्रमो नृपतिरत्र पतिः समाना-
मासीत् स कोऽप्यसदृश' कविमित्रनामा।
यो धार्थमात्रमुदितः कृतिना गृहेषु
दत्त्वा चकार करटीन्दुघटान्धकारम् ॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दरी, प्रथमोच्छ्वासे)

(१३०) विजयसिंह

मुनेर्विजयसिंहस्य सुधामधुरया गिरा।
भारतीमञ्जुमञ्जीरस्वरोऽपि परुषीकृतः ॥

—कीर्तिकौमुदी १।२३

(१३१) विजया (विजयाङ्का)

१

सरस्वती तु कर्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरा वासः कालिदासादनन्तरम् ॥

—राजशेखर, सू० मु० ४।९३,
शा० प० संख्या १८४
सु० र० भा० २।५८

२

एकोऽभूत्नलिनात्ततश्च पुलिनाद् वल्मीकतश्चापर-
स्ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया ॥

२५

वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥

२६

ज्येष्ठो जयति वाल्मीकिः सर्गे वन्द्ये प्रजापतिः ।
यः सर्वहृदयालीनं काव्यं रामायणं व्यधात् ॥ २ ॥
स्वच्छप्रवाहसुभगा मुनिमण्डलसेविता ।
यस्मात् स्वर्गाद्विवोत्पन्ना पुण्या प्राची सरस्वती ॥ ३ ॥
नुमः सर्वोपजीव्यं तं कवीनां चक्रवर्तिनम् ।
यस्येन्दुधवलैः श्लोकैर्भूषिता भुवनत्रयी ॥ ४ ॥

—क्षेमेन्द्र : रामायणमंजरी, प्रथमोपाख्यान

२७

स च पुनातु वाल्मीकेः सूक्तामृतमहोदधिः ।
ओंकार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनिः ॥

—क्षेमेन्द्र : रामायणमंजरी

(१२८) विकटनितम्बा

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रञ्जिताः ।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरं वचः ॥

—रामयेशरस्य (सु. मु ४।९२)

(१२९) विक्रमादित्य

१

कनककुण्डलमण्डितमाथियो शकरिपुर्वितरवान् दश विद्विषः ।
मगध केकय केरल-कोशलान् करिशतं च मदालसलोचनम् ॥

२

अमुष्मै चौराय स्वरसहतमृत्युप्रतिभिये
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरितवसादद्वयकृते
सुवर्णाना कोटीर्दश कनककोटिक्षतगिरीन्
करीन्द्रानप्यष्टौ मदमुदितगुञ्जन्मधुलिहः ॥

३

श्लोकोऽयं हरिणाभिधानकविना देवस्य तस्याग्रतो
यावद्यावदुदीरितः शकवधूवैधव्यदीक्षागुरोः ।
तावत्तावदुपोढसान्द्रपुलकस्तस्मै स देवो ददौ
लक्षं लक्षमखण्डितं मधुकरव्यालोलगण्डान् गजान् ॥

—अमरो (सदुक्ति० ५।२९।३–५)

४

श्रीविक्रमो नृपतिरत्र पतिः समाना-
मासीत् स कोऽप्यसदृशः कविमित्रनामा ।
यो बार्थमात्रमुदितः कृतिनां गृहेषु
दत्त्वा चकार करटीन्दुघटान्धकारम् ॥

—चोट्टलस्य (उदय-न्दरी, प्रथमोच्छ्वासे)

(१३०) विजयसिंह

मुनेर्विजयसिंहस्य सुधामधुरया गिरा ।
भारतीमञ्जुमञ्जीरस्वरोऽपि परुषीकृतः ॥

—कीर्तिकौमुदी १।२३

(१३१) विजया (विजयाङ्का)

१

सरस्वती तु कर्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥

—राजशेखर, सू० मु० ४।९२,
शा० प० संख्या १८४
सु० र० भा० ३।५८

२

एकोऽभून्नलिनात्ततश्च पुलिनाद् वल्मीकतश्चापर-
स्ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे ।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया ॥

(१३२) विज्जिका

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां तामजानता[1]।
वृथैव दण्डिनाप्युक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

—सु० र० भा० २१५७,
सू० मु० ४।९६
शा० प० १८०

(१३३) व्यास

१

यदाननेन्दोरमृतप्रवाहिनी विनिःसृता पञ्चमवेदचन्द्रिका।
तमश्च तापं च निहन्ति देहिनां ननु श्रुतीनां व्यसिता स नैकशः॥

—सू० मु० ४।४४

२

व्यासादिभिः कविवरैरवसादितोऽपि
शून्यत्वमाप कलयापि न वाक्प्रपञ्चः।
आनन्दनिर्भरचकोरसहस्रपीतं
चान्द्रं महः क्षयमुपैति न मात्रयापि ॥

—भट्टसोमेश्वरस्य (सू० मु० ४।४०)

३

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे।
चक्रे सृष्टिं सरस्वत्या यो वर्षमिव भारतम् ॥

बाण (हु० च० १।३)

४

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ॥

सुभाषितरत्नभाण्डागार प्र० २,११ श्लोक

५

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं विरचितवान् भारताख्यममृतं यः।
तमहमरागमतृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे ॥

—नारायणभट्टस्य (शा० प० १७३)
सुभाषितरत्नभाण्डागार (प्र० २,१२२ श्लोक)

---

१. 'मामजानता' इति शार्ङ्गधरपद्धतिपुनः पाठः।

६

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे ।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति ॥

—गोवर्धनाचार्य (आ० स० ३१)

सुभाषितरत्नभाण्डागार प्र० २,१३१ श्लोक

७

व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम् ।
पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे ।
नमो वै ब्रह्मनिधये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

(महाभारत : भीष्मपर्व)

८

मर्त्यंयन्त्रेषु चैतन्यं महाभारतविद्यया ।
अर्पयामास तत्पूर्वं यस्तस्मै मुनये नमः ॥

—दण्डी (अवन्ति० ३)

९

प्रस्तावनादिपुरुषौ रघुकौरववंशयोः ।
वन्दे वाल्मीकिकानीनौ सूर्याचन्द्रमसाविव ॥

—धनपालस्य (तिलक० २०)

१०

भारताख्यं सरो भाति व्यासवागमृतैर्भृतम् ।
यत्र क्षत्रकुलाब्जेषु हंसीयति हरेर्यशः ॥

—हरिहरस्य (८)

११

व्यासः क्षमावतां श्रेष्ठो वन्द्यः स हिमवानिव ।
सृष्टा गौरीदृशी येन भवे विस्तारिभारता ॥

—त्रिविक्रमस्य (न० च० १।१२)

१२

कर्णान्तविभ्रमभ्रान्तकृष्णार्जुनविलोचना ।
करोति कस्य नाह्लादं कथा कान्तेव भारती ॥

—त्रिविक्रमस्य (न० च० १।१३)

१३

ये नाम केचिदमुना कवितारसेन
व्यासादयः कृतधियो भुवनेषु सिद्धाः ।
तेषामुपासितपदाः कवयः किमन्य-
दासादयन्ति परमत्र सुवर्णसिद्धिम् ॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

१४

यस्मिन्नभूदमभवः कवीनां
व्यासो मुनिर्यस्य गुणैर्विजेतुः ।
ध्वजच्छटेवोन्नतसोमवंश-
मालंबिता वल्गति भारते गीः ॥

—तत्रैव

१५

स नमस्यः कथं न स्यात् सतां सत्यवतीसुतः ।
सुपर्वोपचितं चक्रे यः स्वर्गमिव भारतम् ॥

—सोमेश्वरस्य (कीर्तिकौमुद्याम् १।११)

१६

दन्तोदूखलिभिः शिलोञ्छिभिरिदं कन्दाशनैः फेनपैः
पर्णाशानिभिर्मिताम्बुकवलैः काले च पक्काशिभिः ।
नीवारप्रसृतिंपचैश्च मुनिभिर्यद् वा त्रयीध्यायिभिः
सेव्यं भव्यमनोभिरर्थपतिभिस्तद् वै महाभारतम् ॥

—राजशेखर (बालभारत १।११)

१७

वैयासिक्ये गिरां गुम्फे पुण्ड्रेक्षाविव लभ्यते ।
सद्यः सहृदयाह्लादी सारः पर्वणि पर्वणि ॥

१८

महासूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे ।
ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवते हरेः ॥

—भारती (मंगलश्लोक)

१९

यन्न्यासमूत्रग्रथितात्मबोध-
सौरभ्यगर्भश्रुतिपद्ममाला ।
प्रसाधयत्यद्वयमात्मतत्त्वं
तं व्यासमाद्यं गुरुमानतोऽस्मि ॥

—वेदान्तकल्पतरु (मंगलश्लोक)

२०

व्यासाष्टकस्तोत्रम्

नमो ज्ञानानलशिखापुञ्जपिङ्गजटाभृते ।
कृष्णायाकृष्णमहसे कृष्णद्वैपायनाय ते ॥ १३ ॥

नमस्तेजोमयश्मश्रुप्रभाशबलितत्विषे ।
वक्त्रवागीश्वरीपद्मरजसेवोदितश्रिये ॥ १४ ॥

नमः सन्न्यासमाधाननिष्पीतरवितेजसे ।
त्रैलोक्यतिमिरच्छेददीपप्रतिमचक्षुषे ॥ १५ ॥

नमः सहस्रशाखाय धर्मोपवनशाखिने ।
सत्त्वप्रतिष्ठापुष्पाय निर्वाणफलशालिने ॥ १६ ॥

नमः कृष्णाजिनजुषे बोधनन्दनवासिने ।
व्याप्तायेवालिजालेन पुण्यसौरभलिप्सया ॥ १७ ॥

नमः शशिकलाकारब्रह्मसूत्रांशुशोभिने ।
श्रिताय हंसकान्त्येव संपर्कोर्कमलौकसः ॥ १८ ॥

नमः विद्यानदीपूर्णशास्त्राब्धिसकलेन्दवे ।
पीयूषरससाराय कविव्यापारवेधसे ॥ १९ ॥

नमः सत्यनिवासाय स्वविकासविलासिने ।
व्यासाय धाम्ने तपसां संसारायामहारिणे ॥ २० ॥

—क्षेमेन्द्र : भारतमञ्जरी पृष्ठ ८५०-८५१

(१३४) शङ्करकवि

स्थिता माध्वीकपाकत्वान्निसर्गमधुरापि हि ।
किमपि स्वदते वाणी केषाञ्चिद् यदि शाङ्करी ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।९०)

(१३५) शङ्करमिश्र

नवीनामनवीनां वा कवीनां लुम्पतां स्मृतिम् ।
नैव शङ्करमिश्रेण शङ्कराचार्यविस्मृतिः ॥

—हरिहरस्य (सुभा० २०)

(१३६) शङ्कराचार्य

शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
भाष्यसूत्रकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥

(१३७) शङ्कुक

कविर्बुधमनः सिन्धु-शशाङ्कः शङ्कुकाभिधः ।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥

—राजतरंगिणी ४।७०४

(१३८) शम्भु

अशेषमिषगामण्यं शरण्यं शास्त्रपद्धतेः ।
वन्देऽथ रामानन्दं सुतं शम्भुमहाकवेः ॥

—मङ्खक

(१३९) शाकल्ल मल्लः

एकोऽभूत्पुलिनात्ततस्तु नलिनाच्चान्योऽपि वल्मीकतोऽभून्
प्राचास्ते त्रय एव दिव्यकवयो दीव्यन्तु देव्या गिरा ।
अर्वाचो यदि गद्यपद्यरचनाचातुर्यगाढोद्धता-
स्तान्सर्वानतिशय्य खेलतितरां शाकल्लमल्लः कविः ॥

(१४०) शातवाहन

१

जगत्यां प्रथिता गाथाः शातवाहनभूभुजा ।
व्यधुर्धृतेस्तु विस्तारमहो चित्रपरम्परा ॥
—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।५३)

२

अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥
—बाणस्य (ह० च० १।१३)

३

गाथारत्नैश्चिरादासीत् कामं गोवर्धनः क्षितौ ।
सोऽप्यर्थवान् बभूवाहो शालिवाहोपजीवनात् ॥
—हरिहर सुभाषित

(१४१) शिवस्वामी

वाक्यं च द्विपदीशतान्यथ महाकाव्यानि सप्त क्रमात्
व्यश्रप्रत्यहनिर्मितस्तुतिकथालक्षाणि चैकादश ।
सूत्वा नाटकनाटिकाप्रकरणप्रायान् प्रबन्धान् बहून्
विश्राम्यत्यधुनापि नातिशयिता वाणी शिवस्वामिनः ॥
—कस्यापि (सू० मु० ४।८०)

(१४२) शीलाभट्टारिका

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते ।
शीलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥
—राजशेखर

(१४३) शूद्रक

शूद्रकेनासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया ।
जगद् भूयोऽप्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया ॥
—दण्डी (अवन्ति० ९)

(१४४) श्री आनन्द

तीक्ष्णसारस्वतज्योतिरनुस्यूतरसात्मना ।
श्रुतिभ्यां लिह्यते सद्भिर्यस्योक्तिः पाकसीधुपी ॥ ८३ ॥
तं स तर्कमहाम्भोधिकुम्भसम्भवमार्चिचत् ।
अथानन्दं स्निग्धदृङ्न्यासनीर्येन्दीवरदामभिः ॥ ८४ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(१४५) श्रीगर्भ

आक्रान्ता यस्य वक्रिम्णा दीर्घदीर्घगुणा गिरः ।
वाग्देवीकरवल्लक्या इव पुष्णन्ति माधुरीम् ॥ ४८ ॥
द्विजराजेन भजता प्रभाकररुचिप्रदम् ।
पावकेन श्रिता येन धामत्रयमयी स्थितिः ॥ ४९ ॥
तमदर्शदथ श्रोत्रपथसख्यस्पृशा दृशा ।
अवभ्रगुणसद्गर्भश्रीगर्भं हर्षनिर्भरः ॥ ५० ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(१४६) श्रीहर्ष

१

यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥

—श्रीहर्षस्य

२

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥

—कस्यापि

(१४७) यशु

यः सर्वतः निसर्गेण विनयानतकन्धरः ।
व्यनक्ति पात्रवृहच्छायाभारन्यञ्चिततामिव ॥ ६१ ॥

पादोपसंग्रहव्यग्रविवृतपाणिपल्लवः ।
तं पट्टं विबुधप्रष्ठं स सोत्कण्ठमवैक्षत ॥ ७० ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(१४८) समरादित्यकथा

निरोद्धुं पार्यते केन समरादित्यजन्मनः ।
प्रशमस्य वशीभूतं समरादित्यजन्मनः ॥

—धनपालस्य (तिलक १९)

(१४९) साहसाङ्क

सूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसाङ्कः स भूपतिः ।
सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम् ॥

—सू० मु० ४।६७

(१५०) सुदर्शन

न मुग्धशशिनाधरे न विषभाजि रत्नाकरे
न राहुमुखकोटरे न किल तार्क्ष्यपक्षान्तरे ।
सुदर्शनकवीश्वरे रसिकचक्रचूडामणौ
गुणीकृति सुधाबुधास्त्यजत सान्द्रचन्द्रभ्रमम् ॥

—हरिहरस्येव (शार्ङ्ग० प० १८३)

(१५१) सुभद्रा

पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया ।
कवीनां च वचोवृत्ति-चातुर्येण सुभद्रया ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।९२)

(१५२) सुबन्धु

१

कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया ।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ॥

—हर्षचरित १।११

२

सुबन्धु किल निष्क्रान्तो बिन्दुसारस्य बन्धनात् ।
तस्यैव हृदय बध्वा वत्सराजो ॥

—दण्डी (अवन्ति० ९)

३

रसैनिरन्तर कण्ठे गिरा श्लेषैकलग्नया ।
सुबन्धुर्विदधे दृष्ट्वा करे यदरवज्ञगत् ॥

—हरिहरस्य (सुभा० १९)

(१५३) सुभट

सुभटेन पदन्यास स कोऽपि समितौ कृत ।
येनाधुनापि धीराणा रोमाञ्चो नापचीयते ॥

—कीर्तिकौमुदी १।२४

(१५४) सुरानन्द

नदीना मेकलसुता नृपाणा रणविग्रह ।
कवीना च सुरानन्दश्चदिमण्डलमण्डनम् ॥

—राजशेखरस्य (सू० मु० ४।८८)

(१५५) सुहल

१

नागरप्रकृतिश्चारु फलात्मा विधृताभय ।
श्रीणात्यातुरानङ्गैर्भेषजैक्मयैरिव ॥ ९८ ॥
ततस्तदनु जन्मानमगदकारपुगवम् ।
सुहल गाढया प्रीत्या त पुन पुनरैक्षत ॥ ९९ ॥

—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(१५६) सुहल

पाणिनीयापत्रेण पवित्र यस्य तन्मुखम् ।
सद्म स्वप्नेऽप्यवाप्नोति नापशब्दरज कणै ॥ १०० ॥

स्वस्येश्वरस्पयो व्यञ्जन् मण्डले मन्त्र-संस्क्रियाम् ।
धत्ते सदागमप्रीतिर्देशिकानां धुरि स्थितम् ॥ १०१ ॥
अन्य' स सुहलस्तेन ततोऽवन्यत्र पण्डितः ।
दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः ॥ १०२ ॥
—श्रीकण्ठचरित (२५ सर्ग)

(१५७) सोड्ढल

तस्मिन् सुवशे कविमौक्तिकानामुत्पत्तिभूमौ कविदेकदेशो
कश्चित् कवि सोड्ढल इत्यजात निष्पत्ति रासीज्जलबिन्दुरेव ॥
यो वत्सराजेन वरेण राज्ञा लाटावनीमण्डलनायकेन ।
सूक्ष्मादृढम्लोकगुणाश्रितोऽपि मित्रीकृतो भानुमतेव पद्मः ॥
जडेन तेनोदयसुन्दरीति कथा दुरालोकिनि काव्यमार्गे
सारस्वतालोकलवैकदृष्टा सृष्टा कविंमन्यमनोरथेन ॥

(१५८) सोमकवि

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिते
तर्के वा मयि सविधातरि समं लीलायते भारती ।
शय्या वास्तु मदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिः सुभ्रुवः ॥
—सू० मु० ४।१०४

(१५९) हनुमान

न कस्यानुमत. काव्ये गुणो हनुमतः कवेः ।
यद्रसोऽन्तश्चिरं मग्नैरुपलैरपि धार्यते ॥
—हरिहर (सुभा० ९)

(१६०) हरिहर

स्वयाकपाकेन यो वाचा पाक शास्त्यपरान् कवीन् ।
स्वय हरिहर. सोऽभूत् कवीना पाकशासनः ॥
—कीर्तिकौमुदी १।२५

(१६१) हर्षवर्धन

१

स चित्रवर्णविच्छित्ति हारिणोरवनीपतिः ।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥
—पद्मगुप्तस्य (नव० चरित २।१८)

२

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु ।
गीर्हर्ष एव निजसंसदि येन राज्ञा
संपूजितः कनककोटिशतेन बाणः ॥
—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

३

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत् ।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तयः
ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम् ॥
—सारसमुच्चये, सुभाषितावल्याम् १८०

४

श्रीहर्षो वितार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम् ॥
—सुभाषितावल्याम्

५

अर्थार्थिनां प्रिया एव श्रीहर्षोदीरिता गिरः ।
सारस्वते तु सौभाग्ये प्रसिद्धा तद्विरुद्धता ॥
—हरिहर (सुभा० १९)

६

सुश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम् ।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम् ॥
—कुट्टनीमत (आर्या ९४७)

७

श्लोकोऽयं हर्षाभिधानस्विना देवस्य तस्याभवो
यावद्यावदीरितं शाक्यधूर्वैधन्यदीक्षागुरो ।

तावत्तावदुपोढसान्द्रपुलकस्तस्मै स देवो ददौ,
लक्षं लक्षमखण्डितं मधुकरव्यालोलगण्डान् गजान् ॥

(१६२) हारवर्ष (युवराज)

१

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम् ।
स्वकोशः कविकोशानामाविर्भावाय संभृतः ॥

—अभिनन्द (रामचरित ३५।८१)

२

किमिन्दुना चन्दनवारिणापि किं
किमङ्गकन्दैरभिनन्दवल्लभः ।
निचिन्त्य नामान्तरतापशान्तये
स केवलं विक्रमशीलनन्दनः ।

—अभिनन्द (रा० च०, पृ० २९, ६३, ८०)

३

श्रीधर्मपालकुल कैरवकाननेन्दु
राजा विलासकृतिपङ्कजिनीविवस्वान् ।
सर्वाभिरामगुणपत्ररथव्रजैक-
नीडद्रुमो विजयते युवराजदेवः ॥

—अभिनन्द (रा० च० पृ० २४३)

४

पालान्वयाम्बुजवनैकविरोचनाय
तस्मै नमोऽस्तु युवराजनरेश्वराय ।
कोटिप्रदानघटितोज्ज्वलकीर्तिमूर्तिः
येनामरत्वपदवीं गमितोऽभिनन्दः ॥

अभिनन्द (रा० च० पृ० २०,१३०)

५

एते निकामसरसस्य जयन्ति पादाः
श्रीहारवर्षयुवराजमहीतलेन्दोः ।
यैर्दारिद्रशार्ककिरणोत्करदुर्निवारः
सद्योऽभिनन्दकुमुदस्य महाविकासः ॥

—अभिनन्द (रा० च० पृ० ५५)

६

दीपः सतां स खलु पालकुलप्रदीपः
श्रीहारवर्ष इति येन कविप्रियेण ।
सद्यः प्रसादभरदत्तमहाप्रतिष्ठे
निष्ठापितः पिशुनवाक्प्रसरोऽभिनन्दे ॥

—अभिनन्द (रा० च० पृ० १०३)

७

नाश्चर्यमावहति कस्य चराचरेऽस्मिन्
श्रीहारवर्षनृपचन्द्रमसः प्रभावः ।
येनानिशं ललितकोमलकाव्यमूर्तेः
सृष्टोऽभिनन्दकुमुदस्य महाविकासः ॥

—अभिनन्द (रा० च० पृ० १५३)

८

सम्यग्गुणग्रहपवित्रधियां प्रभूणा-
मेकः परं जयति सम्प्रति हारवर्षः ।
दोषं नवत्वमवधूय दधे प्रसह्य
येनैष रामचरितं प्रति पक्षपातः ॥

—अभिनन्द (रा० च० पृ० १७०)

९

एकः परं सम्प्रति सत्क्रियाभिः
मनीषिषु व्याकुरुते विशेषम् ।
निबन्धनिर्वाहपरिश्रमज्ञो
महाकविश्रीयुवराजदेवः ॥

—अभिनन्द (रा० च०, पृ० १७८)

१०

शकभूपरिपोरनन्तरं कवयः कुत्र पवित्रसंकथाः ।
युवराज इवायमीक्षितो नृपतिः काव्यकलाकुतूहली ॥

—अभिनन्द (रा० च०, पृ० १९०)

११

एकः स पालतिलकश्चिरमस्तु सम्राट्
कोटिव्ययो न गणितः प्रतिपाठकालम् ।

येनास्य रामचरितस्य सम सदस्यै-
रेकैकसूक्तिपरिभावनगद्गदेन ॥

—तत्रैव, पृ० २०६

१२

तथा गृही न पौत्राणां नवोढानां च योषिताम्।
युवराजः कवीन्द्राणां प्रणयान्मोदते यथा॥

—तत्रैव पृ० ३०५

१३

प्रतिनृपमुरमौलिरत्नराजी-
रुचिरुचिरप्रसवार्पिताङ्घ्रिपूजः।
कृतसदशतुतिर्महाकवीन्द्रै-
र्जयति चिरं युवराजमेदिनीन्द्रः॥

—तत्रैव पृ० ३११

(१६३) हाल

हाले गते गुणिनि शोकभराद् बभूवु-
रुच्छिन्नवाङ्मयजडाः कृतिनस्तथाऽमी।
यत्तस्य नाम नृपतेरनिशं स्मरन्तो
हेत्यक्षरं प्रथममेव पर विदन्ति॥

—सोड्ढलस्य (उदयसुन्दर्याम्)

(१६४) हेमचन्द्र

१

सदा हृदि वहेम श्रीहेमसूरेः सरस्वतीम्।
सुवृत्त्या शब्दरत्नानि ताम्रपर्णी जिता यया॥

—कीर्तिकौमुदी १।१८

२

शब्दप्रमाणसाहित्य-छन्दोलक्ष्मविधायिनाम्।
श्रीहेमचन्द्रपादानां प्रसादाय नमो नमः॥

—रामचन्द्रस्य नाट्यदर्पणविवृतौ।

(१६५) नानाकवयः

१

भासो रामिलसोमिलौ वररुचि श्रीसाहसाङ्क कवि
मेण्ठो भारविकालिदासतरला स्कन्द सुबन्धुश्च य ।
दण्डी बाणदिवाकरौ जनपति कान्तश्च रत्नाकर
सिद्धा यस्य सरस्वती यदि भवेत् के तस्य सर्वेऽपि ते ॥

—कस्यापि (सू० मु० ४।९९, शा० प० १८८)

२

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुर कर्णपूरो मयूरो
हासो भास कविकुलगुरु कालिदासो विलास ।
हर्षो हर्षो हृदयवसति पञ्चबाणस्तु बाण
केषा नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥

—जयदेवस्य (सू० मु० ४।९९२)

३

धन्वन्तरि क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासा ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभाया
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

४

मेण्ठे स्वर्द्विरदाधिरोहिणि, वश याते सुबन्धौ विधे
शान्ते हन्त च भारवौ, विघटिते बाणे विषादस्पृश ।
वाग्देव्या विरमन्तु यत्र विधुरा द्राक् दृष्टयश्चेष्टते
शिष्ट कश्चन स प्रसादयति ता यद्वाणि सद्वाणिनी ॥

—मङ्खक (श्रीकण्ठचरित)

६

सुबन्धौ भक्तिर्न क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम् ।
विशुद्धोक्ति शूर प्रकृतिसुभगा भारविगिर
स्तथाप्यन्तर्मोद कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥

—सुभाषितरत्नकोश ५०१
सदुक्तिकर्णामृत ५।२६।५।

७

तौ शूद्रककथाकारौ वन्द्यौ रामिलसौमिलौ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीश्वरोपमम् ॥

—राजशेखर

८

श्रीरामायणभारतबृहत्कथानां कवीन्नमस्कुर्मः।
त्रिस्रोता इव सरसा सरस्वती स्फुरति यैर्भिन्ना ॥ ६३ ॥

९

प्राचेतसव्यासपराशराद्याः प्राञ्चः कवीन्द्राजमदङ्कितास्ते।
गोष्ठी नवीनापि महाकवीनां पूज्या गुणैर्भुवनोपकर्त्री ॥ ६४ ॥

१०

वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः संदर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्द्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोईकविक्ष्मापतिः ॥

११

माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्याह्वयो भोजराजः।
श्रीदण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति ॥

१२

शीलाविज्जामारुलामोरिकाद्याः काव्यं कर्तुं सन्तु विज्ञाः स्त्रियोऽपि।
विद्यां वेत्तुं वादिनो निर्विजेतुं दातुं वक्तुं यः प्रवीणः स वन्द्यः ॥

—श्रीधनदेवानाम् (शा० प० १६३)

परिशिष्ट २

ऐतिहासिक परिचय

('कविप्रशस्ति' में उल्लिखित कवियों और काव्यों का
संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय)

(१) अकाल जलद

ये कविवर राजशेखर के प्रपितामह थे। इसका उल्लेख राजशेखर ने अपने नाटकों में किया है। 'विद्धशालभंजिका' की प्रस्तावना में (अकाल जलदस्य प्रणप्तु) तथा बालरामायण की प्रस्तावना में राजशेखर इनके प्रनप्ता (प्रपौत्र) तथा अकाल-जलद से चतुर्थ बतलाये गये हैं (तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्र-चूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकि (दौहिकि·) शीलवतीसूनुरुपाध्याय श्री राजशेखर·)। इनका कोई काव्य उपलब्ध नहीं होता, केवल 'भेकैः कोटर-शायिभि.' श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति आदि सूक्तिसंग्रहों में मिलता है। समय लगभग ८०० ईस्वी। देश महाराष्ट्र।

(२) अगस्त

प्राचीन काल के कोई लेखक थे। इनका परिचय उपलब्ध नहीं होता।

(३) अचल

अचल तथा अचल सिंह एक ही कवि की ओर संकेत करते हैं। सम्भवतः ये कोई बौद्ध कवि थे; नाम सम्भवत· बौद्ध है। दोनों के नाम से अलग-अलग दिये गये श्लोकों की संख्या बीस से कम नहीं है। 'सुभाषित रत्नकोष' में उपलब्ध ये पद्य इनके समय की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। सम्भवत· १२वीं शती। स्थान भारत का पूर्वी प्रदेश। कविता पर्याप्तरूपेण शोभन तथा रुचिकर है। मानिनी की दशा का परिचायक एक पद्य पर्याप्त होगा—

> यदा त्वं चन्द्रोऽभूरविकलकलापेशलवपु-
> स्तदाहं जाताद्रा शशधरमणीनां प्रतिकृतिः।
> इदानीमर्कस्त्वं खरकविसमुत्सारितरसः
> किरन्ती कोपाग्नीन् अहमपि रविग्रावघटिता ॥

—(सु० र० को० श्लोक संख्या ६४८)

(सदुक्ति० २।४७।५)

यह श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में अचल का बतलाया गया है। फलतः अचल तथा अचलसिंह एक ही कवि के अभिधान हैं।

(४) अभिनन्द

इन्होंने 'कादम्बरी कथासार' में अपना विस्तृत परिचय दिया है। इनके पिता थे जयन्त भट्ट, पितामह थे कल्याण स्वामी तथा प्रपितामह थे शक्ति स्वामी

जिनके पितामह शक्ति मूलत गौड के निवासी थे। दार्वाभिसार नामक काश्मीर ग्राम में आकर विवाह कर वहीं बस गये। इनके पिता जयन्त भट्ट 'न्यायमंजरी' के लेखक प्रख्यात नैयायिक थे, और शक्ति स्वामी ललितादित्य के कवि थे। शतानन्द के पुत्र तथा रामचरित महाकाव्य के प्रणेता अभिनन्द इनसे नितान्त भिन्न थे। क्षेमेन्द्र ने इनके अनुष्टुप् छन्द की प्रशंसा की है। और कादम्बरी कथा का सारांश प्रस्तुत करने वाला इनका 'कादम्बरी कथासार' सुन्दर अनुष्टुपों में विरचित एक बढ़िया अष्टसर्गी काव्य है—छोटा परन्तु प्रौढ़, रोचक तथा हृदयावर्जक। 'योगवासिष्ठसार' इनका दूसरा ग्रन्थ है। 'कादम्बरी कथासार' काव्यमाला (सख्या ११) मुम्बई में प्रकाशित है। इनके पुरखों की परम्परा इस प्रकार है—शक्ति–मित्र–शक्तिस्वामी (मुक्तापीड के मन्त्री)—कल्याण स्वामी जयन्त भट्ट (वृत्तिकार)—अभिनन्द।

(५) अभिनन्द (द्वितीय)

रामचरित महाकाव्य के प्रख्यात कर्ता। इनके समय के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। इन्होंने अपने आश्रयदाता का नाम **हारवर्ष युवराजदेव** लिखा है जो पालवंश के थे तथा विक्रमशील के पुत्र थे। इस महाकाव्य के सम्पादक ने (गायकवाड ओरियन्टल सीरिज) इस नरेश को जो किसी भी शिलालेख से ज्ञात नहीं है, पालवंशीय **देवपाल** (लगभग ८१० ८५० ई०) से अभिन्न माना है। सुभाषितरत्नकोश के सम्पादकों का मत है कि इस समता के निमित्त कोई जोरदार प्रमाण नहीं है (देखिये पृष्ठ ५९)। उनका कहना है कि युवराज **राज्यपाल** नामक राजा से भिन्न नहीं थे जो देवपाल के दीर्घ राज्यकाल में उनकी ओर से राजाओं के ऊपर हस्ताक्षर किया करते थे। प्रतीत होता है कि इन राज्यपाल की मृत्यु बहुत ही शीघ्र हो गई। क्योंकि देवपाल के अनन्तर शासन का अधिकार किसी दूसरे वश मे चला गया। हारवर्ष युवराज केवल कवियों के आश्रयदाता ही नहीं, प्रत्युत स्वयं कवि भी बतलाये गये हैं। यह घटना उनकी राज्यपाल से समता तथा अभिन्नता की पोषक मानी जानी चाहिये, क्योंकि राज्यपाल के दो श्लोक सुभाषितरत्नकोश में उद्धृत किये गये हैं (सख्या ३६० तथा ७०१) इनमें से अन्तिम श्लोक बौद्ध शैव अभिरुचि का परिचायक है। पाल नरेश शिव और बुद्ध दोनों के उपासक तथा समर्थक थे। यदि यह समता स्वीकार की जाय तो अभिनन्द का समय ८५० ई० से लेकर इस शती के अन्त तक मानना उचित होगा। अभिनन्द के पिता **शतानन्द** भी कवि थे जिनके लगभग दस श्लोक सुभाषितरत्नकोश में उद्धृत किये गये हैं। दोनों पालवंशीय नरेशों के समकालीन पूर्वांचलीय कवि निश्चित रूप से प्रतीत होते हैं।

(६) अमरसिंह

प्रसिद्ध कोषकार से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। शालिक या शालिक नाथ ने इस श्लोक में इनकी काव्यरचना की प्रशंसा की है। 'अमर' इन्हीं का संक्षिप्त नाम प्रतीत होता है। सुभाषितरत्नकोष तथा सदुक्तिकर्णामृत में इनके पद्य उद्धृत मिलते हैं। इनमें से प्रथम ग्रन्थ की रचना ११०० ईस्वी के आसपास मानी जाती है जिससे प्राचीन होने के हेतु अमरसिंह का आविर्भाव दशवीं शती से घट कर नहीं माना जा सकता।

(७) अमरुक

संस्कृत में शृंगारी पद्यों के मान्य कवि। इनकी कविताओं का संग्रह अमरुक शतक के नाम से प्रकाशित है। (निर्णय सागर, बम्बई) जिसमें वस्तुतः एक सौ से ऊपर पद्य संगृहीत मिलते हैं। ग्रन्थ नितान्त लोकप्रिय। मम्मट तथा आनन्दवर्धन ने ध्वनि के दृष्टान्त के लिये इनके पद्यों को उद्धृत किया है। आनन्दवर्धन इनके शृंगारस्यन्दी मुक्तकों को प्रबन्ध के समान रसपूर्ण तथा सौन्दर्यमण्डित मानते हैं। नवमशती से प्राचीन। एक एक पद्य लघुचित्र के समान रोचक और आकर्षक है।

(८) आढ्यराज

यह शब्द राजा शालिवाहन के लिए प्रयुक्त किया गया है। शालिवाहन (प्रथम-द्वितीय शती) का युग प्राकृतभाषा की समृद्धि का युग है। (देखिए 'हाल' पर टिप्पणी)। उस समय प्राकृतभाषा का बोलबाला था तथा उसके बोलने वालों की संख्या बहुत ही अधिक थी। राजा शालिवाहन तथा उनकी महारानी की कथा इस प्रसंग में स्मरणीय है जिसमें 'मोदकं देहि' की सन्धि न जानने के कारण प्राकृतवेत्ता राजा से भयंकर भूल हो गई थी और जिसे थोड़े समय में संस्कृत सिखाने के लिए शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण का प्रणयन किया था। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रत्नदर्पण नामक व्याख्या में आढ्यराज का संकेत शालिवाहन हाल के ही लिए किया गया है तथा साहसाङ्क से विक्रमादित्य का उल्लेख है। फलतः आढ्यराज तथा राजा हाल एक ही अभिन्न व्यक्ति हैं।

(९) आनन्द

इस कवि का उल्लेख मङ्खक ने अपने श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के अन्तिम पचीसवें सर्ग में किया है। मङ्खक के जेठे भाई अलंकार तत्कालीन काश्मीर नरेश जयसिंह (११२९–५० ई०,) के प्रधान मन्त्री थे। उनकी सभा तत्कालीन कवियों का एक प्रकार से अखाड़ा था जहाँ वे अपनी कविता सुनाते, काव्य चर्चा

करते, पुरस्कार तथा प्रशंसा पाते थे। आनन्द भी ऐसे ही कवि थे। ये **शंभु महाकवि** के पुत्र थे जो अपने समय के एक प्रौढ कवि थे। शंभु कवि की रचनायें अन्योक्ति मुक्तालता तथा राजेन्द्रकर्णपूर प्रसिद्ध हैं तथा काव्यमाला गुच्छक में प्रकाशित है (निर्णयसागर प्रेस बम्बई)। आनन्द उस युग के मर्मज्ञ वैद्य थे— समस्त भिषग्जनों में अग्रगण्य तथा साथ ही साथ शास्त्रों के भी ज्ञाता थे।

) आनन्दवर्धन

इनकी महत्त्वपूर्ण युगान्तरकारी कृति है ध्वन्यालोक, जिसमें ध्वनि का शास्त्रीय विवेचन पहिली बार प्रस्तुत किया गया है। कल्हण के कथनानुसार ये काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५० ई०–८८६ ई०) के राज्यकाल में प्रसिद्ध कवि लेखकों में अन्यतम थे—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥

इन्होंने अर्जुन चरित (महाकाव्य), आदि कतिपय काव्यों की भी रचना की हैं परन्तु इनका कविरूप विशेषतः स्फुरित नहीं हुआ। अनेक विद्वानों की सम्मति में ये 'ध्वन्यालोक' की केवल वृत्ति के रचयिता हैं, ध्वनिकारिकाओं का प्रणयन किसी 'सहृदय' नामक लेखक ने किया है, परन्तु विद्वानों की विपुल सम्मति इन्हें कारिकाकार भी मानने के पक्ष में हैं।

'अर्जुनचरित' से एक संस्कृत श्लोक का उद्धरण 'नाटयदर्पण' में किया जाता है (कारिका ३।१२)। यह संस्कृत महाकाव्य है, ऐसा उल्लेख ध्वन्यालोक में उपलब्ध होता है यथा (च मदीय एव अर्जुनचरिते महाकाव्ये) नमि साधुने रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका में जो इसे प्राकृत काव्य बतलाया है (अर्जुनचरितमानन्दवर्धनाचार्यकृत प्राकृतकाव्यम्) वह नाटयदर्पण के उल्लेख से भ्रान्त ठहरता है।

(११) कर्णामृत कवि

कोई प्राचीन कवि जिनकी सूक्तियों की पर्याप्त प्रशंसा मिलती है, परन्तु उनके देशकाल का परिचय उपलब्ध नहीं होता।

(१२) कर्दमराज

धनपाल (१० शती का अन्तिम भाग) के द्वारा प्रशंसित कर्दमराज की सूक्तियों का परिचय जिज्ञासुजनों को बहुत ही कम है। धनपाल द्वारा वर्णित 'त्रैलोक्यसुन्दरी' के रचयिता रुद्र इनके पूज्य पिता थे। इस प्रकार ये दोनों पितापुत्र सरस्वती के सेवक तथा सुभग कवि प्रतीत होते हैं। समय दशम शती से पूर्व सम्भवतः नवम शती।

(१३) कल्याण

कल्याण राजतरंगिणी के कर्ता कल्हण का संस्कृत नाम है । 'अलंकार' की सभा के ये भी एक रत्न थे । समय बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग तथा देश कश्मीर । इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है राजतरंगिणी जो आठ तरंगों में विभक्त है जिनमें आठवाँ तरंग ग्रन्थ के आधे से भी मात्रा में अधिक है। यह संस्कृत साहित्य का एकमात्र प्रौढ इतिहास ग्रन्थ माना जाता है। काश्मीर का प्राचीन इतिहास वाला भाग तो कल्पना के आधार पर निर्मित है, परन्तु कवि ने अपने समय की घटनाओं का वर्णन बड़ी ही छानबीन, अनुभव तथा प्रत्यक्षदर्शन के आधार पर किया है। राजनीतिक इतिहास के साथ यह उन युगों के समाज, धर्म तथा साहित्य का भी पूरा परिचायक है। इस ग्रन्थ का आरम्भ कल्हण ने ११४८ ई० में किया तथा दो वर्ष के भीतर (११५० ई०) समाप्त किया। इनके काव्य के ऊपर बिल्हण कवि का प्रभाव विशेष लक्षित होता है। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ के संस्करण तथा अनुवाद अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है। इन पद्यों में से प्रथम पद्य का संकेत टीकाकार के मन्तव्यानुसार यह है कि कवियों में अग्रगण्य सान्धिविग्रहिक अलकदत्त ने अपने काव्य के न्यास के लिए कल्याण को योग्य समझा जिससे इनके ऊपर अलकदत्त का प्रभाव लक्षित होता है। ये अलकदत्त उस युग के कोई विशिष्ट मन्त्री प्रतीत होते हैं।

(१४) कविराज

इस नाम के अनेक कवि संस्कृत साहित्य के इतिहास में उपलब्ध होते हैं। परन्तु इस पद्य से ही ये 'राघवपाण्डवीय' नामक महाकाव्य (१३ सर्ग तथा ६६८ पद्य) के रचयिता ही सिद्ध होते हैं। इनका पूरा नाम कविराजसूरि था। के० बी० पाठक के मत में कविराज उपाधि थी; वास्तव नाम माधव भट्ट था। जयन्तीपुर के कादम्ब नरेश राजा कामदेव (११८२-११८७ ई०) के ये सभा-कवि थे जिनकी तुलना इन्होंने राजा मुंज के साथ की है। समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध तथा देश दक्षिण भारत। कुछ लोग 'कविराज' को कवि का वास्तविक नाम ही मानते हैं। शशधर की टीका के साथ काव्यमाला सीरीज में प्रकाशित, १८९७ बम्बई। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश की टीका के साथ कलकत्ते में प्रकाशित १८८९। द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३०४-३०५, काशी, षष्ठ संस्करण।

(१५) कादम्बरी राम

इनकी प्रशंसा में राजशेखर की जो सूक्ति उपलब्ध होती है उससे इतना ही पता चलता है कि ये नाटककार थे तथा अकालजलद के श्लोकों को छाया इनकी

कवित्व पर पड़ा था। अकाल जल्द का परिचय ऊपर दिया ही गया है। इनका समय लगभग ८-९ शती में कभी होना चाहिए। विशेष विवरण नहीं मिलता।

(१६) कालिदास

संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि। राजशेखर (९०० ई०) के समय तक कालिदास त्रयी की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चली थी परन्तु आज इन तीनों की रचनाओं का पृथक् निर्धारण एक विषम समस्या है। आज कालिदास की निर्भ्रान्त रचनायें सात ही संख्या में हैं—चार श्रव्य काव्य तथा तीन रूपक। ऋतुसंहार, कुमारसंभव, मेघदूत, रघुवंश, विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञानशाकुन्तल ये ही वे सात ग्रन्थ। कालिदास का देशकाल आज भी निर्णय की प्रतीक्षा कर रहा है। मेघदूत के भूगोल की सूक्ष्म विवेचना कालिदास को उज्जयिनी का निवासी (या कम से कम विशेष परिचित) सिद्ध कर रही है। काल इनका मैं प्रथम शती ईसापूर्व मानता हूँ। इनमें एक प्रमाण बढ़ाना चाहता हूँ—प्रयाग के निकट भीटा नामक स्थान से प्राप्त पदक का साक्ष्य। यह पदक पकी हुई मिट्टी का बना हुआ है। इस पदक के मध्य में चार घोड़ों से जुता हुआ रथ है और उस पर दो मनुष्य बैठे हुए हैं जो निःसन्देह सारथि तथा रथी हैं। उसमें एक मुनि हाथ उठा कर राजा को मृग पर प्रहार न करने के लिए कह रहा है। दो व्यक्तियों के समीप खड़ी हुई एक बालिका पौधों को सींच रही है। तपस्वी की झोपड़ी भी एक ओर अंकित की गई है जिसके सम्मुख ही कन्या पौधों को सींच रही है। इस पदक के निर्माण का काल ईसापूर्व प्रथम शती है। पदक की समग्र रचना शाकुन्तल के प्रथम अंक की आरम्भिक घटनाओं से साम्य रखती है। फलतः यह पदक कालिदास को प्रथम शती का कवि सिद्ध कर रहा है (इस पदक के वर्णन के लिए देखिए सन् १९०९-१० का भारतवर्ष के पुरातत्त्व विभाग सम्बन्धी अनुसन्धान का वार्षिक विवरण, पृष्ठ ४०-४१)। इस विवरण में यह घटना महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से सम्बद्ध बतलाई गई है, परन्तु उस आख्यान में कोई तपस्वी राजा और सारथि को मृग पर प्रहार करने से रोकता नहीं और न शकुन्तला ही पौधों को सींचती है। फलतः हम निःसन्देह कह सकते हैं कि इस पदक की रचना की प्रेरणा कालिदास के ही शाकुन्तल नाटक से रचयिता को मिली है, अन्यत्र से नहीं। पुरातत्त्व-सम्बन्धी यह खोज कालिदास को प्रथम शती में सिद्ध करने में सहायक मानी जा सकती है।

कालिदास की काव्य-प्रतिभा पाश्चात्य तथा पौरस्त्य उभय आलोचना पद्धतियों में श्रेष्ठ मानी गई है। कालिदास की प्रतिभा तीन अंशों को अपने में समेटे हुए है—प्रबन्ध-रचना, गीति-रचना तथा रूपक-रचना। कुमार तथा रघुवंश उनके प्रबन्ध काव्य हैं, मेघदूत संस्कृत का मनोरम गीतिकाव्य है,

विक्रमोर्वशीय ऐतिहासिक आधार पर निर्मित त्रोटक है। मालविकाग्निमित्र शुंग काल का विश्लेषक एक ऐतिहासिक नाटक है, अभिज्ञानशाकुन्तल कालिदास का रहस्यात्मक रूपक है जो देशकाल की परिधि से बहिर्भूत एक अलोकसामान्य कृति है। ऐसी विविध प्रतिभा का उज्ज्वल निदर्शन कालिदास निःसन्देह सार्वभौम कवि हैं।

(१७) कुमारदास

इनका काल विवादास्पद है, परन्तु निर्णय के लिए साधन निकाला जा सकता है। इनका समय कालिदास के अनन्तर तथा ८०० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए। कुमारदास ने कालिदास का अनुकरण अपने काव्य में किया है तथा जानाश्रयी (रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित श्री वेंकटेश्वर ओरियण्टल सीरीज, न० २१, तिरुपति, १९५०) में इनके दो श्लोक उद्धृत मिलते हैं और यह ग्रन्थ ६०० ई० के आसपास की रचना माना जाता है। इनका **'जानकी हरण'** महाकाव्य दो संस्करणों में प्रकाशित हुआ है—(१) धर्मराम स्थविर के द्वारा सिंघली अक्षरों में सम्पादित १-१५ सर्ग सिंघली अनुवाद पर आधारित, कोलम्बो, १८९१। (२) श्री गोपाल रघुनाथ नन्दरगीकर, के द्वारा संस्कृत हस्तलेखों के आधार पर १ सर्ग से कर १० सर्ग तक सम्पादित, बम्बई, १९०७, १६ वाँ सर्ग एल० डी० बार्नेट द्वारा सम्पादित, लण्डन, १९२६। वैदर्भी रीति में निबद्ध रामचरित विषयक रमणीय काव्य। राजशेखर कुमारदास को जन्मान्ध बतलाते हैं। ये सिंघल के राजा थे जिन्होंने कालिदास के वियोग में उनकी चिता पर अपने प्राणों का विसर्जन किया था।

(१८) कुलशेखर वर्मा

'आश्चर्यमञ्जरी' कोई ग्रन्थ प्रतीत होती है। अमर के टीकाकार मुकुट ने अपनी अमरटीका में वारिवर्ग में 'श्रप' पद की व्याख्या के प्रसंग में इसे उद्धृत किया है—'पाणिनि प्रत्याहारो वा महाप्राणसमाश्लिष्टो श्रपालिङ्गितश्च समुद्र' इत्याश्चर्यमञ्जरी। राजशेखर के द्वारा निर्दिष्ट होने से समय ९१५ ई० से पूर्व। कहा नहीं जा सकता कि यह कवि केरल के नरेश प्रसिद्ध आलवार सन्त कुलशेखर के साथ अभिन्नता रखता है या नहीं। आलवार सन्त कुलशेखर रामचन्द्र के विशेष भक्त तथा उपासक थे। उनकी प्रसिद्ध रचना **मुकुन्दमाला** सरस्तस्तोत्र साहित्य का एक स्वर्ण स्तोत्रकाव्य है जिसका एक सटीक सं० अन्नमलै विश्वविद्यालय, चिदम्बरम् से प्रकाशित हुआ है।

(१९) केदार

इस कवि के नाम के विभिन्न पाठान्तर मिलते हैं—सूक्ति मुक्तावलि में केटस, सदुक्ति० में केशर। वसुकल्प ने इनकी प्रशंसा की है (सदुक्ति० ५।२६।२) तथा

योगेश्वर की प्रशंसा इस पद्य में मिलती है। ११ शती के अन्त में प्रणीत 'सुभाषित रत्नकोश' में उद्धृत होने से इनका समय दशम शती के आसपास होना चाहिए। इनके आठ श्लोक सु० र० को० में उद्धृत मिलते हैं जिनमें यह सुन्दर श्लोक किसी राजस्थानी रमणी के द्वारा उपकारी ऊँट की विचित्र सेवा का वर्णन करता है—

> *आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुल्लङ्घ्य दुर्लङ्घ्यतां*
> गेहिन्या परितोष-बाष्पतरलामासज्य दृष्टिं मुखे।
> दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान् स्वेनाञ्चलेनादरात्
> आमृष्टं करभस्य केशरसटाभारावलग्नं रजः॥

—सु० र० को०, संख्या ५१२
(= सदुक्ति० २।६०।१)

(२०) गंगाधर

इस प्रशस्ति पद्य से इतना ही पता चलता है कि इन्होंने महाभारत की कथा को आधार मानकर किसी नाटक का प्रणयन किया था। परन्तु इससे अधिक इनके विषय में कुछ प्राप्त नहीं होता।

(२१) गंगाधर शास्त्री

आधुनिक युग में काशी के एक मान्य विद्वान तथा कवि जिनके शिष्यों में संस्कृत कालेज, बनारस के तत्कालीन प्रिन्सिपल डा० वेनिस भी थे। पण्डित रामावतार शर्मा, गोस्वामी दामोदर लाल जी आदि काशी के गण्यमान्य विद्वान आप ही के शिष्य थे। इनका सर्वातिशायी काव्य ग्रन्थ है—**अलिविलासि संलाप** जिसमें दर्शनों का काव्यदृष्टि से बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण तथा विवरण दिया गया है तथा अद्वैत तत्त्व का मार्मिक समर्थन है।

(२२) गणपति

कवि गणपति का परिचय नहीं मिलता। श्लेष विधान के द्वारा यह श्लोक इनके काव्य **'महामोद'** की ओर संकेत कर रहा है। यह गणपति के नाम से भी इनकी प्रसिद्धि है। राजशेखर से प्रशसित। नवम शती का अन्तिम काल। सु० र० को० में चार श्लोक उद्धृत हैं जिनमें यह सुन्दर पद्य है—

> लब्धोदये सुहृदि चन्द्रमसि स्वबुद्धिम्
> आसाद्य भिन्नसमयस्त्रिदशोद्धृतानि।
> रत्नानि लिप्सुरिव दिग्भुवनान्तराले
> ज्योत्स्नाछलेन धवलो जलधिर्जगाह॥

—श्लोक संख्या १३४।

(२३) गणेश्वर

गणेश्वर पूरबी प्रदेश के कवि प्रतीत होते हैं। सम्भवतः ये मैथिल थे। परन्तु विशेष सामग्री के अभाव में इनका विशिष्ट परिचय नहीं दिया जा सकता।

(२४) गर्ग

काश्मीर के महाकवि। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध। राजतरंगिणी में उल्लिखित। लङ्क की सभा के एक महनीय सदस्य। श्रीकण्ठ चरित में उल्लिखित होने के अतिरिक्त इनका और कुछ परिचय नहीं मिलता। इस युग के एक महनीय कवि के रूप में उनकी ख्याति थी।

(२५) गुणाढ्य

पैशाची भाषा में निबद्ध 'वड्डकहा' (बृहत्कथा) के अमर कवि। मूल ग्रन्थ तो इस समय उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इसके तीन संस्कृत अनुवाद विशेष प्रसिद्ध हैं—(१) बुधस्वामी प्रणीत बृहत्कथा श्लोक संग्रह, (२) क्षेमेन्द्र रचित बृहत्कथा मञ्जरी तथा (३) सोमदेव निर्मित लोकप्रिय कथासरित्सागर। यत् किञ्चित् पार्थक्य होने पर भी इन तीनों के आधार पर मूल ग्रन्थ के कथानकों का रूप भली भाँति जाना जा सकता है। भारत के बाहर बृहत्तर भारत में ग्रन्थ की प्रसिद्धि इसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का स्पष्ट निदर्शन है। तमिल भाषा में भी प्राचीन अनुवाद मिलने की बात कही जाती है। प्राचीन काल की विविध कथाओं का विराट् संग्रह होने से तत्कालीन लोकव्यवहार, समाज तथा राजनीति का यह दर्पण माना जा सकता है। उदयन के पुत्र नरवाहन दत्त से सम्बद्ध कथाचक्र का विस्तृत विवरण होने से उपयोगी तथा उपादेय। राजा विक्रमादित्य के विषय में उपलब्ध लोक-कथाओं का भी इसमें उल्लेख मिलता है। 'कथासरित्सागर' का अंग्रेजी अनुवाद प्रोफेसर टानी ने किया है जो उपयोगी टिप्पणी तथा व्याख्या के साथ लण्डन से दश भागों में 'ओशन आफ स्टोरिज' के नाम से नवीन संस्करण में प्रकाशित हुआ है। हिन्दी अनुवाद दो भागों में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, परिषद् से तथा एक खण्ड में सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली से प्रकाशित।

(२६) गुन्न

काश्मीर के प्रौढ़ मीमांसक। यजुर्वेद के कर्मकाण्ड के विशेष उपासक, सदाचारी विद्वान प्रतीत होते हैं। प्रभाकर गुरु के द्वारा प्रणीत 'बृहती' के अध्यापन के कारण इनकी विद्वानों में विशेष ख्याति थी। लङ्क की सभा के ये भी मान्य सभासद् थे। समय १२ शती का पूर्वार्ध।

(२७) गोनन्दन

सु० र० को० में उद्धृत गोनन्द से इनकी अभिन्नता माननी चाहिए। राजशेखर के पद्य के अनुसार इनके काव्य में अनुप्रास की छटा विशेष उल्लेखनीय है। इनके केवल दो श्लोक सु० र० को० में उद्धृत किये गये हैं जिनमें 'मानिनी व्रज्या' में यह सुन्दर पद्य सम्मिलित है—

> सखि कलितः स्खलितोऽयं द्वेयो नैव प्रणाममात्रेण।
> चिरमनुभवतु भवत्या बाहुलताबन्धनं धूर्तः॥
>
> —श्लोक सं० ६७१

(२८) गोवर्धन

काव्यगत भूयसी प्रतिष्ठा के कारण ये आचार्य गोवर्धन के नाम से विख्यात थे और यह उपाधि जयदेव जैसे महाकवि से इन्हें प्राप्त थी। गीतगोविन्दकार की सम्मति में शृंगार रस से उत्तर तथा उदात्त रचना में इनका प्रतिस्पर्धी उस समय कोई भी विश्रुत न था। लक्ष्मणसेन की सभा के अन्यतम रत्न होने से इनका समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। 'आर्या सप्तशती'—इनकी प्रसिद्ध रचना है—सात सौ मुक्तकों का नितान्त सुन्दर संग्रह। आर्या छन्द के निर्माण में गोवर्धन की काव्यकला अपना जौहर दिखलाती है। जीवन की विविध दशाओं के चित्रण में, शृङ्गार रस की कमनीयता प्रदर्शित करने में आर्या सप्तशती निःसन्देह बेजोड़ है। प्रकाशन काव्यमाला में (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)।

(२९) गोविन्द

१२ वीं शती में काश्मीर के एक विशिष्ट पंडित जो अपनी विद्या तथा विनय के लिए उस समय प्रख्यात थे। महामन्त्री लङ्कक की सभा के विशिष्ट पण्डितों में से अन्यतम थे।

(३०) गोविन्दराज

परिचय उपलब्ध नहीं।

(३१) चन्द्रक

यह श्लोक राजतरंगिणी के द्वितीय तरंग का है। ये काश्मीर के राजा तुंजीन के समय में विद्यमान थे तथा नाट्य प्रबन्ध का निर्माण किया था। परन्तु इनकी नाट्य-रचना के नाम धाम का पता नहीं चलता। तुंजीन का समय भी विवाद रहित नहीं है। कोई द्वितीय शती में और कोई चतुर्थ शती में मानते हैं। इनके कुछ श्लोकों को क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में उद्धृत किया है। 'चन्द्रकवि' के नाम से चन्द्रक का ही उल्लेख कहीं कहीं मिलता है। अभिनव

भारती में सैन्धवक (जो लास्य का एक कोमल प्रकार होता है) के सम्बन्ध में चन्द्रक का नामनिर्देश किया गया है। प्रतीत होता है कि इन्होंने संस्कृत भाषा में वीर तथा रौद्र रस से सम्पन्न अनेक नाटकों का प्रणयन किया था—चन्द्रकेन स्वानि रूपकाणि वीररौद्राधिकोपयोगीनि संस्कृत भाषयैव—अभिनवभारती।

(खण्ड ३, पृष्ठ ७२।)

(३२) चाणक्यचन्द्र

सदुक्ति कर्णामृत (५।२९।१) में उमापति के नाम से यह श्लोक उद्धृत है। इस पद्य में चाणक्य-चन्द्र नामक किसी राजा या राजपुरुष की दानशीलता का वर्णन है। इनके देशकाल का पता नहीं चलता। श्रीधरदास (१२०३ ई०) के द्वारा उद्धृत होने से समय १२ शती प्रतीत होता है। 'चन्द्रचूड चरित' नामक काव्य की समाप्ति होने पर चाणक्यचन्द्रक ने अन्तरंग नामक किसी तल्लेखक कवि को विपुल सम्पत्ति दान में दी थी। फलतः ये नितान्त गुणग्राही तथा सरस्वती के सेवकों के आश्रयदाता थे। ये बंगाल के कोई धनी मानी जमीन्दार प्रतीत होते हैं।

(३३) चित्तप

इनका नाम छकारादि भी मिलता है—छित्तप। ये धारा के प्रख्यात राजा भोज के मुख्य सभा-कवि थे। इस विषय का परिचय इन पद्यों से भली भाँति चलता है। भोजराज के दर्शनमात्र से उत्पन्न किसी सुन्दरी की विरह-वेदना का यह वर्णन इन्हें भोज का दरबारी कवि सिद्ध कर रहा है—

> किं घातेन विलङ्घिता, न न, महाभूतार्दिता किं, न न,
> भ्रान्ता किं, न न, सन्निपातलहरी प्रच्छादिता किं, न न।
> तत् किं रोदिति मुह्यति श्वसिति किं स्मेरं च धत्ते मुखं,
> दृष्टः किं कथयाम्यकारणरिपुः श्री भोजदेवोऽनया॥
>
> —सु० र० को०, श्लोक सं० ७४९

अपने समय के बड़े ही प्रौढ़ कवि। भोज के अतिरिक्त किसी कुन्तल देश के शासक के भी आश्रय में रहे थे जिनकी स्तुति इन्होंने एक पद्य में की है (सु० र० को०, संख्या १००५ जो छित्तप के नाम से सदुक्ति० में है—३।५०।१)। सदुक्ति० में इनके ३८ श्लोक उद्धृत हैं जिनमें एक नर्मदा की स्तुति में है जो भोज का धारानरेश के साथ निश्चय सम्बन्ध जोड़ती है।

(३४) जगन्नाथ (पण्डितराज)

काशीवासी तैलङ्ग कुलावतंस पेरुभट्ट तथा लक्ष्मी देवी के पुत्र जगन्नाथ १७ वीं शती के कवि पण्डितों में अग्रणी थे। इन्होंने सब शास्त्र अपने पिता

पेरुभट्ट से ही पढ़ा जो न्याय वैशेषिक तथा मीमांसा वेदान्त के विशेष मर्मज्ञ विद्वान् थे। पेरुभट्ट ने महेन्द्र नामक विद्वान से न्याय वैशेषिक, खण्डदेव उपाध्याय से जैमिनि मीमांसा, ज्ञानेन्द्र भिक्षु से वेदान्त तथा शेष वीरेश्वर पण्डित से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया था और काव्यकला के भी प्रवीण उपासक थे (श्लोक संख्या १ तथा २)। 'पण्डितराज' उपाधि इन्हें दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ से मिली थी जिनके निमन्त्रण पर जेठे पुत्र दारा शिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए ये जवानी में दिल्ली में रहते थे। वृद्धावस्था में मधुपुरी (= मथुरा अथवा किसी के मत में काशीपुरी) अन्धक शासनस्थ नगर) में निवास करते थे। भट्टोजि दीक्षित तथा अप्पय दीक्षित के समकालीन थे तथा कारणवश दोनों से इनकी विशेष लाग डाट रहती थी। समय १७ वीं शती का मध्यभाग। पाण्डित्य तथा कवित्व का अद्भुत सम्मिलन इनमें पाया जाता है। इनके छोटे बड़े ग्रन्थों की संख्या १३ है—

अमृतलहरी, करुणालहरी, गंगालहरी (या पीयूषलहरी), लक्ष्मीलहरी, तथा सुधालहरी—यह पंचलहरी गीतिकाव्य का निदर्शन है। आसफविलास, जगदाभरण, प्राणाभरण, यमुनावर्णन (गद्यकाव्य), भामिनीविलास (स्फुट श्लोक संग्रह), मनोरमा कुचमर्दन (व्याकरण) तथा चित्रमीमांसा खण्डन (अलंकार) के अतिरिक्त इनका मूर्धन्य ग्रन्थ है—रसगंगाधर, जो संस्कृत आलोचना का बड़ा ही प्रौढ़ तथा मौलिक ग्रन्थ है। रसगंगाधर मूल तथा टीका के साथ निर्णयसागर तथा चौखम्बा से प्रकाशित। इतर लघु ग्रन्थों का एकत्र सं० हैदराबाद से तथा पूरे रसगंगाधर का तीन खण्डों में अनुवाद नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित है।

(३५) जनकराज

ये अपने युग के प्रौढ़ याज्ञिक तथा प्रकाण्ड वैयाकरण थे। पण्डितों के सामने पतञ्जलि के इष्टियों का विवरण उसी प्रौढ़ता से करते थे जिस प्रकार वेद की इष्टियों—यज्ञ यागों—का। जयसिंह की सभा के अन्यतम सदस्य। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध। देश काश्मीर। इन श्लोकों से पता चलता है कि ये व्याकरण महाभाष्य के प्रौढ़ व्याख्याता थे तथा वैदिक कर्मकाण्ड के भी मार्मिक ज्ञाता थे।

(३६) जयदेव

लक्ष्मणसेन की सभा के सर्वश्रेष्ठ कवि। समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध। 'प्रसन्न राघव' नाटक के रचयिता मैथिल जयदेव इनसे भिन्न तथा परवर्ती। अलाउद्दीन खिलजी का उल्लेख करने वाले 'साहित्य दर्पण' में निर्दिष्ट होने के कारण प्रसन्नराघव का समय १३ वीं शती के आसपास माना जाता है। गीतगोविन्द उससे कम से कम एक शताब्दी पूर्व की रचना है। इसमें राधाकृष्ण

की ललित केलियों का नितान्त मनोरम तथा रस स्निग्ध वर्णन है। इसी ग्रन्थ में संस्कृत में गीति शैली के प्रयोग का प्रथम अवसर लक्षित होता है। संस्कृत भाषा के माधुर्य का चरम निदर्शन। राणा कुम्भकर्ण तथा एक अज्ञातनामा लेखक की व्याख्या के साथ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित। ये बंगाली माने जाते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में ये उत्कल के निवासी थे। विशेष द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ—'भारतीय वाङ्मय में श्री राधा' (प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३)

(३७) जयन्तभट्ट

ये कादम्बरी कथासार के रचयिता अभिनन्द के पूज्य पिता थे। ये 'वृत्तिकार' के नाम से दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध थे। इनकी विख्यात दार्शनिक रचना *न्यायमञ्जरी* है जिसमें न्यायदर्शन के कतिपय सूत्रों पर बड़ी ही विस्तृत प्रमेयबहुल व्याख्या लिखी गई है। इसका गद्य बड़ा ही सरस, सरल तथा प्रवाहमय है। भाषा तथा भाव—दोनों दृष्टियों से ग्रन्थ अप्रतिम तथा अनुपम है। संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज में वाराणसी से।

(३८) जल्हण

काश्मीर के एक प्रख्यात कवि जो कल्हण की काव्यगोष्ठी में अन्तर्भुक्त थे। ये राजपुरी (आजकल काश्मीर में रजौरी नाम से प्रसिद्ध नगर) के स्वामी के सान्धिविग्रहिक के पद पर प्रतिष्ठित थे। उस समय सोमपाल वहाँ शासक थे—

> राजपुर्यामाकुलत्वं नीतायामाससाद तत्।
> तद्भर्तुः सोमपालस्य दूरस्थस्यान्तिकं चिरात्॥
>
> —राजतरंगिणी ८।१४६७

जल्हण इन्हीं सोमपाल के मन्त्री थे जिनके विषय में इन्होंने सोमपाल विलास नामक काव्य का प्रणयन किया है। वक्रोक्ति की रचना में विशेष निपुण थे। मुरारि तथा राजशेखर की समता करने वाली उक्तियों की रचना में ये नितान्त चतुर थे। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध।

(३९) जिन्दुक

काश्मीर के एक कवि जो कल्हण की कविगोष्ठी में अन्तर्भुक्त थे। ये काश्मीर के उस युग के एक प्रौढ़ मीमांसक थे जिन्होंने भाट्टमय (कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त) तथा प्रभाकर नय (गुरुमत) दोनों सिद्धान्तों में कुशलता प्राप्त की थी। आचार इतना उन्नत था कि प्रतीत होता था कि इन्होंने कलियुग के समस्त दोषों को अपने शोभन आचरणों से धो डाला हो। समय १२वीं शती का पूर्वार्ध।

(४०) जीवदेव

धनपाल के इस पद्य से स्पष्ट है कि य प्राकृत प्रबन्ध के रचयिता थे, परन्तु इनका विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता। धनपाल के द्वारा निर्दिष्ट होने से इनका समय ११ शती से पूर्व ही होना चाहिए।

(४१) जोगराज

काश्मीर में १२ शती के एक प्रमुख कवि तथा साहित्याध्यापक जिनकी सूक्तियों का पान कर बालक अपनी माता के दूध के रस को भी भूल जाते थे। मंखक की सभा के एक सभ्य।

(४२) ज्योतिरीश

सम्भवत मिथिला के महनीय कवि ज्योतिरीश्वर से अभिन्न। विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता।

(४३) तपस्वी कवि

इनकी केवल यही एक ही गर्वोक्ति मिलती है जो सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत है। परिचय नहीं मिलता। समय १२ शती के आसपास।

(४४) तरल

तरल' शब्दक अर्थ होता है मध्यमणि, सुमेरु। इसी अर्थ को लक्ष्य ■ उक्त श्लोक में तरल यायावर कुलश्रेणी के मध्यमणि के समान उज्ज्वल तथा सुन्दर कविता करने वाले बतलाये गये हैं। राजशेखर के य कोई पूर्वपुरुष थे (देखिये 'अकालजलाद' के विषय में उद्धृत श्लोक)। राजशेखर भी तो इसी यायावर कुल में उत्पन्न हुए थे। अन्य का परिचय नहीं मिलता।

(४५) तरंगवती कथा

इस बहुचर्चित प्राकृत कथा के लेखक पादलिप्त (प्राकृतनाम पालित्तय) जैन कथा लेखकों में अग्रणी है। प्राकृत कथा के साहित्यमें यह तरंगवती कथा सबमे प्राचीन, अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और जैन कथा को नया मोड देने वाली मानी गई है। जैन आगम की टीका और भाष्यमें इस कथा का उल्लेख बहुश उपलब्ध होता है। इसके लेखक पादलिप्त सातवाहन वंशी प्रख्यात राजा हाल की विद्वत्सभा के एक प्रतिष्ठित रत्न थे। इनकी सगृहीत 'गाहासत्तसई' (गाथा सप्तशती) में पादलिप्त की भी कवितायें उद्धृत पाई जाती हैं। हाल तथा पादलिप्त के परस्पर सम्बन्ध का उल्लेख उद्योतनसूरिकी 'कुवलयमाला' में किया गया है। 'प्रभावकचरित' से पता चलता है कि ये कोशल के निवासी थे। पिता का नाम या फुल्ल तथा माता ■ प्रतिमा। बाल्यकाल में जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण

कर इन्होंने पर्याप्त देशों में पर्यटन किया। दुर्भाग्यवश यह बहुशश्चर्चित कथा उपलब्ध नहीं होती। उपलब्ध होता है केवल इसका संक्षिप्तरूप 'तरंगलोला' के नाम से प्रख्यात जिसका वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमचन्द्रगणि ने १० वीं शती में १६४२ गाथाओं में प्रणयन किया। मूल ग्रन्थ का प्रकाशन तथा जर्मन भाषा में प्रोफेसर लायमन के द्वारा तथा गुजराती में नरसिंह भाई पटेल द्वारा अनुवाद आज उपलब्ध है। कथा के स्वरूप के लिए देखिए—डाक्टर जगदीश चन्द्र जैन द्वारा रचित 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ३७८–३८० (प्रकाशक, चौखम्बा विद्याभवन, काशी, १९६१)

(४६) तिक्षय

परिचय उपलब्ध नहीं।

(४७) तेजकण्ठ

कोंकण के राजा अपरादित्य ने इन्हें अपना दूत बनाकर काश्मीर के राजा जयसिंह के दरबार में भेजा था। ये केवल राजनीतिवेत्ता ही न थे, प्रत्युत काव्यकला के भी पारखी थे, ऐसा श्रीकण्ठ चरित के वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है। समय १२ शती। देश महाराष्ट्र (अनुमानत)

(४८) त्रिलोचन

त्रिलोचन के 'पार्थ विजय' नाटक से चार उल्लेख नाट्यदर्पण में मिलते हैं जिनमें उन-उन अंशों की कथा तथा श्लोक भी दिये गये हैं। भोजराज ने 'शृंगार प्रकाश' में इस नाटक का दो बार उल्लेख किया है जिससे इसकी प्रसिद्धि का पता चलता है, राजशेखर से इनके प्राचीन होने से इनका समय नवम शती प्रतीत होता है। न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में वाचस्पतिमिश्रने अपने गुरु के रूप में किसी 'त्रिलोचन' का निर्देश अवश्य किया है, परन्तु इन दोनों की एकता का सूचक कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। तथ्य यह है कि ये बौद्ध कवि थे—लोकेश्वर के भक्त तथा उपासक। सुभाषित रत्न कोष में इनके चार पद्य उद्धृत हैं जिनमें से संख्या १३ तथा १४ सुगत की स्तुति में, श्लोक सं० २० लोकेश्वर की स्तुतिमें तथा श्लोक सं० १६७ वसन्त के वर्णन में हैं।

(४९) त्रिविक्रम भट्ट

नलचम्पू के रचयिता श्लेषमयी कविता के लेखक महाकवि। परिचय इसी ग्रन्थ में पहिले दिया गया है।

(५०) त्रैलोक्य

काश्मीर के कवि तथा मीमांसक। मंखक ने इनकी प्रशंसा में जो पद्य लिखे हैं उनसे प्रतीत होता है कि ये कविकर्म में जितने प्रौढ थे, उतने ही दृढ थे तर्क की

कर्कशता में। कौतुकवश इसने ऊँचे स्वर से पूछा कि क्या यह लोक है या नये सुवाचित (=कुचरित) से इसके स्थानों का उल्लेख किया है। ये मदकौशल में कुशल थे और इसलिये नवकों करने पर कन्दर्प ने इन्हें सम्मान कर स्वागत किया। समय १२ वीं शती का मध्यभाग। देखो काश्मीर।

(५१) दक्ष (या दक्ष)

एक दरबारी कवि। सम्भवतः जयदेव (राजा मुञ्ज परमार १०८ ई० का कन्या) के पोते का मन्त्र पद्दे उनका जन्म हुआ था। इसीलिए दूसरे पद में इन्होंने इस बात के लिए खेद प्रकट किया है कि उनका नाम जयदेव के साथ न हो सका। ये अपने समय के रौनक कवि प्रतीत होते हैं। सु० र० को० में इनके १२ पद उद्धृत किये गए हैं जो इनकी लोकप्रियता के सूचक हैं। इनमें से एक श्लोक उद्धृत किया जाता है—

अपनय महामोहं पाडम्नेन वसातिना
कथय कुहक कौडाव्यर्थं कथं क च विलसितम्।
यदरि रविरं पायं पायं कुसुम्भरसारुणं
हसिति वनति कीराम्भोजविभ्रमहासितं यदा॥

(श्लोक संख्या १०११)

इसमें प्रभात के समय का वर्णन है।

(५२) दण्डी

दण्डी की ख्याति संस्कृत गद्य के रचयिता के रूप में विशेष है। ये दक्षिण भारत के निवासी थे और सम्भवतः सिंह-विष्णु नामक पल्लवराज के आश्रय में रहते थे। इनके ग्रन्थ 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में कादम्बरी की कथा संक्षेप में दी गई है जिससे इनकी बाणभट्ट से किंचित् उत्तरकालीनता प्रतीत होती है। समय सप्तम शती का मध्यभाग। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनके नाम का निश्चय अभी तक नहीं हुआ। 'काव्यादर्श' तो प्रसिद्ध ही है। अवन्तिसुन्दरी कथा तथा दशकुमारचरित का पारस्परिक सम्बन्ध अभी तक निर्णीत नहीं हुआ है। 'द्विसन्धान' नामक किसी काव्य की भी रचना दण्डी ने की थी, ऐसी प्रसिद्धि है।

(५३) दर्पोत्कट

नन्दक की सभा के एक विशिष्ट कवि। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध। देखो काश्मीर। ये वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति नितान्त श्रद्धालु प्रतीत होते हैं—मङ्खक की स्तुति का इसी ओर संकेत है।

(५४) दिवाकर (मातङ्ग)

इनका वास्तविक नाम 'दिवाकर' था, परन्तु चाण्डालकुल में उत्पन्न होने के कारण ये मातङ्ग या चाण्डाल दिवाकर के नाम से विशेष प्रख्यात हैं। ये हर्ष-वर्धन ([illegible]) की सभा के अन्यतम कवि थे तथा बाण और मयूर के समकक्ष ही सत्कार पाते थे। राजा की स्तुति में किसी काव्य ग्रन्थ का प्रणयन इन्होंने किया था जो इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु 'अभिनव भारती' में इनका उद्धृत यह पद्य सम्भवतः इसी ग्रन्थ का प्रतीत होता है—

आसीन्नाथ पितामही तव मही जाता ततोऽनन्तरं
माता सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये।
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुलं॥

इस पद्य में मही राजा की पितामही, माता, जाया तदनन्तर स्नुषा कही गई है। इस अर्थ को अभिनवगुप्त ने ग्राम्यदोष से दूषित बतलाया है। सुभाषितावलि में इनके अनेक पद्य उद्धृत हैं (संख्या २०, २१९६, २२४४, तथा २२४६)

(५५) देवधर

मङ्खक की सभा के एक श्रेष्ठ सभासद्। श्रीकण्ठचरित के इन पद्यों की व्याख्या के अनुशीलन से पता चलता है कि ये उस युग (१२ वीं शती) के एक विशिष्ट शैवाचार्य थे। जोनराज ने इन्हें 'भावनाचार्य' की उपाधि से मण्डित किया है। इन्होंने मन्दिर शास्त्र के ऊपर प्रदीप नामक किसी विवरण का प्रणयन किया था। (प्रदीपो मन्दिरशास्त्रविवरणं तद्विरचनारेण चारु सुबोध मन्दिरशास्त्र शास्त्रमाश्रित्य टीका) इन्होंने पञ्चरात्र के विषय में भी किसी सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की थी। साथ ही साथ ये उच्च कोटि के कवि भी थे। मङ्खक की स्तुति में इनके दो प्रशस्त पद्य 'श्रीकण्ठ चरित' में उद्धृत किये गये हैं (सर्ग २५, श्लोक ६० तथा ६१) जो काव्य की दृष्टि से सुन्दर हैं।

(५६) देवबोध

महाभारत के उपलब्ध आद्य टीकाकार। 'देवस्वामी' इन्हीं का नामान्तर था। इनकी टीका महाभारत के चार पर्वों पर प्रकाशित हो चुकी है (आदि, सभा तथा भीष्म पर्व भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से तथा उद्योग पर्व विद्याभवन बम्बई से)। 'ज्ञानदीपिका' नाम्नी यह टीका विस्तृत नहीं है, प्रत्युत कठिन शब्दों का अर्थ देकर विषम स्थलों का तात्पर्य भी देती है। इसकी पुष्पिका में परमहंस परिव्राजकाचार्य कहे गये हैं। फलतः ये अद्वैतवादी संन्यासी थे। पिछले युग के टीकाकारों पर इस टीका का बड़ा ही उत्कृष्ट प्रभाव पड़ा है और उन लोगों ने इनका स्मरण बड़े ही आदर तथा सत्कार के साथ किया है।

विमल बोध ने अपनी महाभारतीय व्याख्या 'विषम श्लोक' में देवबोध को उद्धृत किया है। विमलबोध का समय ११ शती का मध्यकाल है। अतः देवबोध का समय इससे पूर्व होना चाहिए।

(५७) द्रोण

राजशेखर के इस पद्य से तो इतना ही पता चलता है कि द्रोण नामक कवि ने महाभारत के विषय पर काव्य रचना की थी, परन्तु उस ग्रन्थ के नाम का पता नहीं चलता। राजशेखर द्वारा उद्धृत होने से इनका समय १० शती से पूर्व ही कभी होना चाहिए। ये जाति से कुलाल थे, परन्तु काव्य प्रतिमा की दृष्टि से व्यास के स्पर्धी थे। परिचय अन्वेषणीय है। महाभारत के प्रसिद्ध वीर द्रोणाचार्य के अतिरिक्त भी कोई 'द्रोण' थे जिनका उल्लेख पाणिनी ने 'द्रोण पर्वत जीवन्ता-दन्यतरस्याम्' सूत्र में किया है जिनके पुत्र को द्रौणायन संज्ञा प्राप्त है ('द्रौणि' नहीं) परन्तु यहाँ कोई तीसरे द्रोण निर्दिष्ट हैं।

(५८) धनद कवि

परिचय नहीं मिलता।

(५९) धनञ्जय

इनकी प्रमुख रचना द्विसन्धान काव्य (जिसका अपर नाम 'राघव पाण्डवीय भी है) इस काव्य में श्लेष के द्वारा रामायण तथा महाभारत दोनों की कथाओं का एकत्र वर्णन है। राजशेखर की पूर्वोक्त प्रशस्ति से इनका समय १०म शती के आरम्भ से पूर्वतर होना चाहिए। 'नाममाला' कोश के रचयिता होने से ये नैघण्टुक धनञ्जय भी कहे जाते थे। द्रष्टव्य लेखक का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृष्ठ २०४।

(६०) धनपाल

'प्रबन्ध चिन्तामणि' में इनके जीवन की घटनाओं का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। उज्जैनी में मध्यप्रदेशवासी काश्यपगोत्री सर्वदेव नामक ब्राह्मण के दो पुत्र थे। धनपाल बड़े थे तथा शोभन मुनि कनिष्ठ थे जिन्में शोभनमुनि प्रथम ही जैन धर्म में दीक्षित हो गये और उन्होंने ही धनपाल को भी इस धर्म में दीक्षित किया। वाक्पतिराज राजा मुञ्ज के दरबार में ये अपनी विद्या बुद्धि के लिए इतने प्रख्यात थे कि राजा मुञ्ज ने इन्हें 'सरस्वती' की उपाधि दे रखी थी। धारानरेश राजा भोज की सभा में भी ये सत्कार के साथ रहते थे। इन दोनों राजाओं के समकालीन होने से इनका समय ९९० ई० से लेकर १०४० ई० के आस पास माना जा सकता है। ग्रन्थ—तिलक मञ्जरी (प्रसिद्ध

कथा), ऋषभ पचाशिका (ऋषभदेव की ५० पद्यों में स्तुति काव्यमाला सप्तम गुच्छक में प्रकाशित) पाइय लच्छी नाममाला (प्राकृतकोष)

(६१) धोयी

कविक्ष्मापति = कविराज धोयी राजा लक्ष्मणसेन की सभा के अन्यतम रत्न थे। समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध। पवनदूत इनकी सर्वमान्य कृति है जिसमें शास्त्रविद्या तथा कल्पना का अभूतपूर्व सम्मेलन है। कालिदास के मेघदूत के आदर्श पर लिखित सन्देश काव्यों में पवनदूत अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसे हम मेघदूत की सर्वप्राचीन अनुकृति तो नहीं कह सकते, तथापि अपने सौन्दर्य तथा शैली के कारण नितान्त सफल अनुकृति माना जा सकता है। प्रकाशन बंगीय संस्कृत परिषद्, कलकत्ता।

(६२) नन्दक

काश्मीर के महान् तत्त्वचिन्तक। लङ्क की काव्यगोष्ठी के *प्रमुख सदस्य।* अद्वैतवादियों में इन्हें प्रथम कहा गया है। समय १२ वीं शती का मध्यकाल। प्रतीत होता है कि ये अद्वैत वेदान्त के विशेषज्ञ विद्वान् थे। काश्मीर में वेदान्त तथा मीमांसा दोनों शास्त्रों का विशेष अध्ययन अध्यापन प्रचलित था। इनकी शिक्षा देने वाले योग्य आचार्य भी थे तथा इन्हें पढ़ने वाले छात्रों की भी कमी न थी।

(६३) नरचन्द्र

सोमेश्वर के द्वारा प्रशंसित कवि। अन्यत्र अज्ञात। उस युग के कोई अप्रसिद्ध या अल्प प्रसिद्ध काव्य रचयिता *प्रतीत होते हैं, परिचय गवेषणीय।*

(६४) नरहरि

परिचय नहीं मिलता।

(६५) नाग (नागधर)

मङ्खक ने इनका नाम 'नाग' ही लिखा है, परन्तु जोनराज की टीका में इनका पूरा नाम 'नागधर' दिया हुआ है। ये भी लङ्कक की सभा के सभ्य थे। ये व्याकरण शास्त्र के पारंगत पण्डित थे। उम्र तो अभी बहुत ही थोड़ी थी, परन्तु गुणों की दृष्टि से ये वृद्ध प्रतीत होते हैं—ये गुण वृद्ध थे, वयोवृद्ध नहीं। मङ्खक ने इन्हें साहित्य विद्या का सौविदल्ल—कंचुकी या रक्षक कहा है जिससे इनकी साहित्य शास्त्र के विषय में विशेष वैदुषी का परिचय मिलता है। देश काश्मीर। समय १२ वीं शती का मध्यकाल।

(६६) नायक (भट्टनायक)

अलंकार शास्त्र के एक मान्य आचार्य जिन्होंने 'ध्वन्यालोक' के खण्डन में 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा जो इस समय उपलब्ध नहीं है। इनके मत का उल्लेख तथा खण्डन अभिनवगुप्त ने लोचन में किया है (ध्वन्यालोक १।१३)। राजतरंगिणी में इनके विषय में यह पद्य मिलता है—

> द्विजस्तयोर्नायकाख्यो गौरीशसुरसद्मनोः।
> चातुर्विधः कृतस्तेन वाग्देवीकुल मन्दिरम् ॥

जिसमें ये अवन्तिवर्मा के पुत्र शङ्कर वर्मा के समय में बतलाये गये हैं। फलत इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध है। ध्वन्यालोक (पृ० ६१) में अभिनवगुप्त ने इनका मीमांसक होने से बड़ा उपहास किया है—'जैमिनीयसूत्रे एवं योजना, न काव्येऽपीत्यलम्'।

(६७) नारायण (या भट्टनारायण)

इनके देश का ठीक पता नहीं चलता। कहा जाता है कि ये कान्यकुब्ज (आधुनिक कन्नौज) के मूलत निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे जिन्हें गौड़ (बंगाल) के राजा आदिशूर ने बंगाल में बुला लिया था। पालवंश (अष्टम शती) से पूर्ववर्ती किसी राजवंश के प्रतिष्ठाता के रूप में आदिशूर माने जाते हैं। भट्टनारायण की एक मात्र रचना महाभारत विषयक षडंकी नाटक **वेणीसंहार** है। महाभारत को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इस नाटक को नि सन्देह प्राप्त है। इसकी ख्याति की सूचना अलंकार ग्रन्थों के विपुल उद्धरणों से मिलती है। मम्मट, धनंजय, आनन्दवर्धन तथा वामन ने अपने आलोचना ग्रन्थों में इसका उद्धरण दिया है। वामन (८०० ई०) द्वारा उद्धरण इनके समय का पर्याप्त निर्धारक है—अष्टम शती का मध्यभाग। वेणीसंहार की आलोचना के लिए देखिए मेरा ग्रन्थ—सं० सा० इति० पृ० ५५०–५५७।

(६८) नीलकंठ

सोमेश्वर (१३ शती का मध्य भाग) ने इनकी स्तुति कीर्ति कौमुदी (१।१९) में की है, परन्तु ये उस युग के—१३ शती के—एक सामान्य कवि ही प्रतीत होते हैं। इनकी रचना तथा जीवनी का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं होता।

(६९) पटु

काश्मीर के एक मान्य कवि-पण्डित। इनमें काव्य विरचन की पटुता तथा शास्त्र चिन्तन की प्रौढ़ता—दोनों पाई जाती थी। स्मृति इतनी तीव्र थी कि एकबार सुनने से ही समग्र ग्रन्थ इनके सामने उपस्थित हो जाते थे। मंखक के स्तुति पद्यों में यही स्पष्ट संकेत पाया जाता है। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध।

(७०) पद्मराज

काश्मीर के वैदर्भी रीति के एक विशिष्ट कवि। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध। देश काश्मीर।

(७१) पाणिनि

संस्कृत व्याकरण के प्रतिष्ठापक, अष्टाध्यायी के रचयिता महर्षि पाणिनि की प्रसिद्धि विश्वविश्रुत है। इनके नाम से अनेक पद्य सुभाषित ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। राजशेखर (९०० ई०) ने 'जाम्बुवतीजय' महाकाव्य के रचयिता पाणिनि को वैयाकरण पाणिनि से भिन्न नहीं माना है। संस्कृत की यही विश्रुत परम्परा है। इसके विरुद्ध हम उन आधुनिक आलोचकों के कथन में आस्था नहीं रखते जो कतिपय क्षुद्र तर्कों के आधार पर दोनों की भिन्नता का समर्थन करते हैं। पाणिनि के 'उपजाति' छन्द की भूयसी प्रशंसा क्षेमेन्द्र ने सुवृत्त तिलक में की है। और पाणिनि की उपलब्ध सूक्तियों में इस छन्द की ही सुन्दरता है। जाम्बुवतीजय (अपर नाम पातालविजय) इस प्रकार संस्कृत भाषा का शास्त्रीय काव्य महाकाव्य ठहरता है। कल्पना उदात्त, उत्प्रेक्षा की बहुलता, भाषा की प्रौढि दर्शनीय है। पूरे संग्रह के लिए देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका का प्रथम भाग।

(७२) पुराण

'पुराणं पञ्चलक्षणम्'—पुराण का लोकप्रिय लक्षण है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

सृष्टि, प्रलय, नाना ऋषि तथा राजाओं का, एक मनु से लेकर दूसरे मनु तक का काल (मनु + अन्तर) तथा वंशों में प्रख्यात पुरुषों के चरित का विस्तारशः वर्णन—इन पाँचों लक्षणों का अस्तित्व किसी भी पुराण के पुराणत्व के निमित्त पर्याप्त माना जाता है। दशविध पुराण लक्षण का उल्लेख भागवत में है। पुराण भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की जानकारी के लिए अनुपम सामग्री प्रस्तुत करता है। पुराणों की संख्या अठारह है जिनका निर्देश इस अनुष्टुप में है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं व-चतुष्टयम्
अनापल्लिंग कूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते।

मत्स्य, मार्कण्डेय (२), भागवत तथा भविष्य (२) ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त तथा ब्रह्माण्ड (३), विष्णु वामन, वायु तथा वराह (४), अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुड, कूर्म तथा स्कन्द (८)।

पुराणों के सामाजिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व तथा आविर्भाव काल के लिए द्रष्टव्य मेरा ग्रन्थ—संस्कृत साहित्य का इतिहास (षष्ठ सं०) पृ० ४०–५७,

काशी १९६० । तथा मेरा दूसरा ग्रंथ 'आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ' संशोधित द्वितीय सं० काशी १९६२ पृ० १४६–१५० ।

(७३) प्रकट (या प्रकट गुप्त)

१२ वीं शती के तन्त्रों के एक महनीय आचार्य। मंखक का यह कथन कि इन्होंने अपनी आख्या (नाम) के अक्षरों में अभिनवगुप्त के पराजय को प्रकट किया था केवल कपोलकल्पना है या यथार्थतः सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता। शैव आगमशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित तथा व्याख्याकार थे।

(७४) प्रद्युम्न

परिचय उपलब्ध नहीं।

(७५) प्रभुदेवी

राजशेखर के श्लोक से इनका लाटदेशीय (गुजराती) होना सिद्ध होता है और इनका समय दशमी शती के पूर्वार्ध से हटकर इधर नहीं हो सकता। इनका न परिचय ही मिलता है और न कोई पद्य ही।

(७६) प्रवरसेन

प्राकृत महाकाव्य **'सेतुबन्ध'** के रचयिता कवि। समय तथा देश का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। महाकवि कालिदास ने सेतुबन्ध का प्रणयन किया, यह व्याख्याकार रामदास (जिन्होंने इस काव्य की व्याख्या १५९५ ई० में 'रामसेतु प्रदीप' नाम से बनाई थी) की कोरी कल्पना है। दण्डी के अनुसार सेतुबन्ध सूक्ति रत्नों का सागर है तथा महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध है। बाण के द्वारा प्रशंसित होने से प्रवरसेन पञ्चमशती के कवि प्रतीत होते हैं। अनेक विद्वान् वाकाटक वंशीय राजा प्रवरसेन द्वितीय को सेतुबन्ध के कर्ता से अभिन्न मानते हैं। प्राकृत भाषा का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव सेतुबन्ध को नियमतः प्राप्त है। इसमें १५ आश्वास या सर्ग हैं। कथा युद्धकाण्ड की है। सेतुबन्धन से लेकर रावणवधतक की लघु कथा महाकाव्य के प्रमुख उपकरणों से समृद्ध होकर एक विपुल काव्य में उपस्थित होती है। आरम्भ के ८ आश्वासों में शरद्, रात्रिशोभा, चन्द्रोदय, प्रभात आदि के वर्णन किये गये हैं जिससे इसके ऊपर संस्कृत महाकाव्य की शैली का पूरा प्रभाव सुतरां लक्षित होता है। उत्प्रेक्षा तथा कल्पनायें मौलिक तथा चमत्कारी हैं बीच बीच में सूक्तियाँ भी कम मनोहारिणी नहीं हैं। सज्जनों के विषय में दी गई यह सूक्ति सुन्दर और प्रभावमयी है—

ते विरला सप्पुरुसा-
जे अभणन्ता घडेन्ति कज्जालावे।

थोअ चिअ ते वि दुमा
जे अमुणिअ कुसुम निग्गमा देन्ति फलं ॥
—सेतुबन्ध ३।९

[वे विरल होते हैं सत्पुरुष, जो बिना कहे ही कार्यों को घटित कर देते हैं। थोड़े ही होते हैं वे पेड़, जो फूल के उदय को बिना सूचित किये ही (अर्थात् बिना फूले ही) फल को दे देते हैं] रण की अभिलाषा के वर्णन में कवि का यह कथन कितना सुन्दर है—

भिज्जइ उरो ण हिअअं
गिरिणा भज्जइ रहो ण उण उच्छाहो ।
छिज्जन्ति सिरणि हाणा
तुंगा ण उण रणदोहला सुहडाणम् ॥

[युद्धभूमि म ुभटों क वक्षस्थलों का भेदन होता है, उनके हृदय का नहीं। गिरि से रथ का भेदन होता है, उत्साह का नहीं। सुभटों के शिरों का छेदन होता है, उनकी रण की अभिलाषाओं का छेदन नहीं होता।]

इसका दूसरा नाम 'रावणवहो' (रावणवध) है। इसका प्रभाव अवान्तर-कालीन महाकाव्य 'गउडवहो' आदि पर विशेष लक्षित होता है। राजतरंगिणी के कथनानुसार प्रवरसेन काश्मीर के ही राजा थे। आनन्दवर्धन ने आलोचना के एक विशिष्ट तथ्य का उल्लेख किया है—काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग अच्छा नहीं होता, परन्तु रससमाहित चित्त वाले कवि के सामने वे अनायास ही चले आते हैं। उस दशा में वे ग्राह्य होते हैं, उपेक्षणीय नहीं। इस सिद्धान्त का दृष्टान्त सेतुबन्ध का वह प्रसंग है जहाँ राम के मायामय शिरश्छेदन को देखकर सीतादेवी विह्वल हो उठती है—

अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति यथा कादम्बर्यां कादम्बरी-दर्शनावसरे। यथा च मायारामशिरोदर्शनविह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ।—ध्वन्यालोक पृ० ८७।

(७७) प्रह्लादन देव

ये १३ वीं शती में आबू पर राज्य करने वाले परमारवंशी शासक थे। सामान्य कोटि के ही थे, परन्तु सोमेश्वर ने इनको जो सरस्वती का पुत्र तथा जयलक्ष्मी का पति कहा है तथा राजा मुंज और भोजराज की श्रेणी में रखा है यह कोरी कल्पना है। इसमें कवि की चापलूसी ही प्रकट होती है, ऐतिहासिक यथार्थता नहीं। सोमेश्वर की मनोवृत्ति इसी प्रकार की थी। गुर्जर राजा के

पुरोहित होने का जो गौरव उन्हें प्राप्त था। इनकी कविता का उदाहरण सूक्ति मुक्तावली में बहुश: मिलता है। (द्रष्टव्य पृष्ठ ६८, ६९, ७०)

(७८) बाणभट्ट

संस्कृत गद्य के सार्वभौम सम्राट्। 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' के प्रख्यात रचयिता। समय सप्तम शती का पूर्वार्ध। विशेष परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्यत्र दिया गया है।

(७९) बिल्हण

काश्मीर के प्रख्यात कवि। समय ११ शती का पूर्वार्ध। प्रमुख रचनायें—(१) विक्रमाङ्कदेवचरित (महाकाव्य) (२) कर्णसुन्दरी (नाटिका) तथा (३) चौरपञ्चाशिका (गीतिकाव्य)। विशेष द्रष्टव्य मेरा इतिहास पृष्ठ २८०—२८२।

(८०) भट्टार हरिचन्द्र

बाणभट्ट के उल्लेख से प्रतीत होता है कि ये षष्ठशती के विशिष्ट गद्य लेखक थे। परन्तु इनके गद्यग्रन्थ का न तो नाम ही मिलता है, और न कोई वर्णन ही। परन्तु शैली नितान्त उदात्त तथा रोचक थी। 'धर्मशर्माभ्युदय' महाकाव्य के रचयिता हरिश्चन्द्र इस गद्य लेखक से भिन्न प्रतीत होते हैं।

(८१) भद्रकीर्ति

धनपाल के श्लोक से पता चलता है कि ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के एक मान्य ग्रन्थकार थे। इन्होंने 'तारागण' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसकी उपलब्धि अभीतक नहीं हुई है। धनपाल के द्वारा उल्लिखित होने के कारण इनका समय ११ शती से प्राचीन होना चाहिए।

(८२) भर्तृमेण्ठ हयग्रीववध

वैदर्भी रीति के एक प्रमुख प्राचीन कवि। 'मेण्ठ' शब्द का अर्थ है हाथी वान, या महावत। इसलिए विद्वानों का अनुमान है कि ये जाति से महावत थे, परन्तु अपने विलक्षण काव्य गुणों के कारण ये अपने युग के एक महनीय कवि सिद्ध हुए। इनकी प्रमुख रचना है—हयग्रीववध नामक महाकाव्य। अलङ्कार ग्रन्थों में बहुश: चर्चित तथा अतिशय प्रशंसित यह महाकाव्य आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु इनकी मार्मिक सूक्तियाँ आज भी रसिकों का मनोरंजन करती हैं। काश्मीर के विद्वान् नरेश मातृगुप्त इनके आश्रयदाता थे। हयग्रीववध के उपलब्ध पद्य इसी ग्रन्थ में एकत्र किये गये हैं। समय षष्ठ शती। देश का परिचय नहीं। ये कालिदास के अनन्तर वैदर्भी रीति के प्रमुख कवि माने जाते हैं। तथ्य तो यह है कि इनकी रचनायें वैदर्भी की

आदर्शभूत हैं जो उन्नतिशील कवि के लिए सर्वदा स्पृहणीय तथा उपास्य मानी जाती थीं।

(८३) भर्तृ

बाणभट्ट के हर्षचरित से पता चलता है कि भर्तृ उनके काव्य गुरु थे तथा मौखरि नरेशों के दरबार में उनका विशेष आदर सत्कार तथा प्रतिष्ठा मर्यादा थी। समय षष्ठ शती का अन्त। देश उत्तरी भारत। दो चार श्लोकों से अधिक रचना उपलब्ध नहीं होती। वर्णन के निमित्त इस ग्रन्थ का बाणभट्ट का वर्णन देखिए। 'भर्तृ' के स्थान पर 'भरचु' नाम भी मिलता है।

(८४) भवभूति

कालिदास के अनन्तर संस्कृत के अमर नाटककार। राजशेखर (९०० ई०) अपने आप को भवभूति का अवतार मानते हैं—

स्थित पुनर्यो भवभूति-रेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखर ॥

वामन (८०० ई०) ने उत्तररामचरित का एक पद्य उद्धृत किया है। कान्यकुब्ज के नरेश यशोवर्मा की सभा के मान्य सभाकवि भवभूति गउडवहो के रचयिता वाक्पतिराज के काव्य गुरु थे। यशोवर्मा स्वयं काव्य कला के उपासक मानी महीपति थे, परन्तु उन्हें जीवन की संध्या में काश्मीर नरेश जयापीड ललितादित्य (६९३ ई०—७२९ ई०) के द्वारा पराजित होना पड़ा था। कल्हण ने इस घटना का उल्लेख इस श्लोक में किया है—

कविर्वाक्पतिराज—श्रीभवभूत्यादि सेवित ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुण स्तुतिवन्दिताम् ॥

इन उल्लेखों से इनके आविर्भाव काल का पर्याप्त परिचय मिलता है—अष्टमशती का आरम्भिक काल।

ये विदर्भ के अन्तर्गत पद्मपुर के निवासी थे, जो आज ग्वालियर के पास 'पवाया' के नाम से उल्लिखित माना जाता है। तैत्तिरीयशाखा के अध्येता उदुम्बर वंशी ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था। इनके तीन रूपक प्रख्यात हैं जो रचना-क्रम से इस प्रकार हैं—(१) महावीर चरित्र, (२) मालती-माधव तथा (३) उत्तररामचरित।

भवभूति प्रतिभा के धनी केवल कवि नहीं थे, प्रत्युत तार्किक शक्ति से मण्डित दार्शनिक भी थे—विशेषतः मीमांसक। मीमांसा-गोष्ठी में ये उम्वेक के नाम से प्रख्यात थे। कुमारिलभट्ट के शिष्य ही न थे, प्रत्युत उनके प्रख्यात ग्रन्थ श्लोक-वार्तिक के टीकाकार भी, जो टीका मद्रास से हाल में प्रकाशित हुई है।

(८५) भागवत

पुराणों में सबसे अधिक लोकप्रिय पुराण भागवत ही है। भागवत नाम से दो ग्रन्थों का संकेत मिलता है—विष्णु भागवत (श्रीमद्भागवत) तथा देवी-भागवत। इन दोनों में प्रथम ही महापुराणों के अन्तर्गत माना गया है। इसके लिए विशेष कारण है। इस ग्रन्थ के स्वरूप तथा महत्त्व वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यास जी के वर्णन प्रसंग में दिया गया है। भक्ति के शास्त्रीय विवेचन के लिए भागवत का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। मध्ययुग के वैष्णव सम्प्रदायों के उदय तथा अभ्युदय पर इस ग्रन्थ का सर्वातिशायी प्रभाव पड़ा है। इसकी विभिन्न टीकाओं के लिए द्रष्टव्य मेरा 'भागवत सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ (प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पृ० १५५–१६१)

(८६) भानुकवि

इन्होंने अपने आश्रयदाता जल्हण के नाम से संस्कृत पद्यों का एक नितान्त मनोरम संग्रह प्रस्तुत किया जिसका नाम है सूक्तिमुक्तावली। इसकी सूचना इस पद्य से भलीभाँति मिलती है—

शाकेऽङ्काद्रीश्वर परिमिते वत्सरे पिङ्गलाख्ये
चैत्रे मासि प्रतिपदि तिथौ वासरे सप्तसप्तेः।
पृथ्वीं शासत्यतुलमहसा यादवे कृष्णराजे
जह्लस्यार्थे व्यरचि भिषजा भानुना संग्रहोऽयम्॥

—सूक्तिमुक्तावली पृ० ४६३

ग्रन्थ का रचनाकाल ११७१ शक सम्वत् (=१२५८ ई०) है जब देवगिरि में यादववंशी राजा कृष्ण (१२४७ ई०–१२६० ई०) राज्य कर रहे थे। जल्हण कृष्णराज के ही करिवाहिनीपति थे जिनको यह पद वंशपरम्परया प्राप्त हुआ था। इन्हीं के नाम पर भानुकवि ने यह संग्रह बनाया। 'सूक्ति मुक्तावली' गायकवाड़ ओ० सी० बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है (संख्या ८२, १९३८) भानुकवि की कविता पर्याप्तरूपेण रोचक है जिनके उदाहरण इस संग्रह में मिलते हैं—

आघ्रातचित्तवियत
सन्ति कियन्तो न कानने तरव।
परिमल भर मिलदलिकुल
दलितदला शाखिनो विरला॥
कुर्वन्तु नाम जनतोपकृतिं प्रसून
च्छायाफलैरविकलैः सुलभैर्द्रुमौघा।

सोढास्तु कर्तनरुजः पररक्षणार्थ
मेकेन भूर्जतरुणा करुणापरेण ॥

(८७) भारवि

बृहत्त्रयी के अन्तर्निविष्ट मान्य कवि। इनकी एकमात्र कृति है—**किरातार्जुनीय** जिसमे किरात वेषधारी शिव के साथ अर्जुन के युद्ध का वर्णन किया गया है। महाभारत की लघुकाय कथा को ऋतु, जलकेलि, प्रभात, रात्रि आदि के विस्तृत वर्णनों से मण्डित कर परिवृंहित किया गया है। अर्थगौरव के लिए इस महाकाव्य की संस्कृत साहित्य में विपुल-ख्याति है। रविकीर्ति के ऐहोड शिलालेख में (रचना-काल ५५६ शकाब्द = ६३४ ईस्वी) कालिदास के साथ भारवि का नामोल्लेख पाया जाता है—

येनायोजि नवेऽश्म
स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
स विजयतां रविकीर्ति
कविताश्रित-कालिदास-भारवि-कीर्तिः ॥

इससे इनका समय षष्ठ शती का उत्तरार्ध (५५०—६०० ई०) प्रतीत होता है। दण्डी की 'अवन्ति सुन्दरी कथा' के आधार पर इनका दाक्षिणात्य होना निश्चितप्राय है। संस्कृत महाकाव्य को अलङ्कृत शैली में ढालने का श्रेय भारवि को ही प्राप्त है जिसका अनुसरण माघ तथा रत्नाकर आदि ने अपने अपने काव्यों में किया। इसकी विपुल टीका-सम्पत्ति इसकी लोकप्रियता की परिचायिका मानी जा सकती है (देखिए 'सारस्वतालोक'—सरस्वती भवन बुलेटिन में प्रकाशित, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)।

(८८) भास

पूर्वकालिदासीय युग के प्रख्यात नाटककर्ता। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावनामें अपने युग में इनकी विपुल ख्याति का उल्लेख किया है। बाणभट्ट, राजशेखर आदि अनेक कवियों द्वारा प्रशसित भास के नाटकचक्र तथा उनके प्रमुख नाटक **स्वप्नवासवदत्त** की सत्ता में अविश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु गणपति शास्त्री के द्वारा आविष्कृत और प्रकाशित छोटे बड़े १३ रूपकों की रचना का श्रेय इसी भासकवि को दिया जाना चाहिए, इस विषय में आलोचकों के मतों में एकता नहीं है। कुछ लोग इन्हें केरल के चाक्यारों (मन्दिरों में संस्कृत नाटकों के अभिनयकर्ता नटों) की कृति मानते हैं, अन्य लोग भास की ही अभ्रान्त तथा निःसंदिग्ध रचना। सम्भव है कि मूल भासीय रूपकों को काट-छाँट कर चाक्यारों ने इन लघुकाय अभिनेय नाटकों का सर्जन किया। समय में पर्याप्त मतभेद है। गणपति शास्त्री वि० पू० चतुर्थ शतक मानते हैं,

है, परन्तु अधिक मत भास को कालिदास (चतुर्थशती) से पूर्व द्वितीय-तृतीय शती में रखने के पक्ष में है। इन १३ रूपकों में स्वप्नवासवदत्त, प्रतिमा नाटक, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायाण निःसन्देह सुन्दर, सुभग तथा सरस है। भाषा सरल, नाटक अभिनेय तथा कविता प्रसादमयी है। इनका प्रकाशन मूलतः अनन्तशयन ग्रन्थावली में किया गया था। भास का नाटकचक्र एक जिल्द में पूना से भी प्रकाशित था। चौखम्भा काशी से हिन्दी अनुवाद के साथ समग्र नाटकों का प्रकाशन हाल में किया गया है।

(८९) भीम कवि

इन्होंने अभिनन्द के रामचरित के अन्त में चार सर्गों (३७ सर्ग—४० सर्ग) का प्रणयन किया। ये कायस्थ कुल में उत्पन्न थे और यह श्री देवपाल के पुत्र थे जैसा ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय की पुष्पिका से पता चलता है। 'रामचरित' के सम्पादक का कथन है कि यह अंश केवल एक ही प्रति के आधार पर है जो बड़ोदा के ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट (हस्तलेख-पुस्तकालय) से ही प्राप्त है। अत भीमकवि गुजरात के निवासी प्रतीत होते हैं जहाँ बंगाल तथा उत्तरी भारत से कायस्थों का आगमन १० म शती में हो गया था।

(९०) भीमट

राजशेखर के श्लोक से स्पष्ट है कि ये कालिंजर के राजा थे और इनके नाटक-पंचक में 'स्वप्नदशानन' विशेष प्रख्यात था। इनके एक अन्य नाटक का उल्लेख रामचन्द्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' में किया है। उसका नाम है—**मनोरमा-वत्सराज** जिसका उदयन वत्सराज के कथानक से सम्बन्ध नाटक की संज्ञा से ही चलता है। यह एक बार ही निर्दिष्ट है तथा इसका एक पद्य उद्धृत है जिसमें पाञ्चालराज को नाश करने के लिए उस का बनावटी नौकर बनकर उसे विश्वास दिलाने के अभिप्राय से वत्सराज के अन्तःपुर में आग लगाकर मंत्री रुमण्वान की यौगन्धरायण आदि से उक्ति है (द्रष्टव्य नाट्यदर्पण हिन्दी अनुवाद, पृ० २१९; प्रकाशक हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६१)। समय लगभग नवम शती का पूर्वार्ध। भीम तथा भीमट एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं—इसी संभावना के आधार पर इनके एक इतर नाटक का भी परिचय मिलता है जिसका सम्बन्ध चाणक्य की कथा के साथ है। इसका नाम **प्रतिज्ञा-चाणक्य** है जिसे अभिनवगुप्त ने दो बार उद्धृत किया है (अभिनव भारती, द्वितीय खण्ड, पृ० १६१ तथा ४२५, बड़ोदा संस्करण)। अभिनव भारती (खण्ड ३, पृष्ठ ६२ तथा ६४) भीम के पुत्र **वसुनाग** के एक नाटक—**प्रतिमानिरुद्ध**—को उद्धृत करती है। इस में उदाहरण की कथा नाटकरूप में निबद्ध है। सूत्रधार के द्वारा उच्चरित वाक्य के अर्थ को ग्रहण

कर पात्र प्रवेश के दृष्टान्त रूपसे इस नाटक का यह श्लोकार्ध उल्लिखित किया गया है—'पीताम्बर गुरु शक्त्या हरत्वया प्रसभमनिरुद्ध' (प्रतिमा निरुद्ध) अभि० भा० तृतीय खण्ड, पृ० ९४। निष्कर्ष यह है कि ये पितापुत्र दोनों, भाम तथा बहुनाग, संस्कृत में लोकप्रिय रूपकों के निर्माता थे। यह तथ्य सौभाग्य से ही विदित हुआ है।

(९१) मुद्ड

काश्मीर में १२वीं शती के एक विद्वान्। इनके सहपाठी का नाम श्रीवत्स बतलाया गया है। इन दोनों का वेष तथा आचरण एक ही प्रकार का बतलाया गया है। माथे पर चन्दन का बड़ा त्रिपुण्ड विराजमान था। और परिचय नहीं मिलता।

(९२) भोजराज

धारा के प्रख्यात विद्यारसिक तथा स्वयं विद्वान् नरपति। अपनी दान-शीलता तथा रसिकता के कारण भोजराज की गणना विक्रमादित्य तथा शालिवाहन जैसे महनीय भूपालों की मान्य श्रेणी में की जाती है। इनकी सभा के रत्नों में से प्रमुख थे चित्तप या छित्तप नामक कवि (परिचय द्रष्टव्य)। इनका समय है ११ शती का पूर्वार्ध (१०१० ई०–१०६० लगभग)। इन्होंने कतिपय ग्रन्थों की रचना स्वयं की और कतिपय की रचना में इनकी प्रेरणा स्फूर्ति जागरूक रही। अलंकार ग्रन्थों में विपुलकाय सरस्वती कण्ठाभरण तथा शृंगार प्रकाश इनकी ही मूर्धन्य रचनायें हैं। इनकी कृतियों के लिए देखिए औफ्रेक्ट का 'कैटेलोगुस कैटेलोगारम' नामक बृहत्सूची ग्रन्थ।

(९३) मंखक

काश्मीर के मान्य रससिद्ध कवि। **'श्रीकण्ठ चरित'** महाकाव्य के रचयिता। समय १२ वीं शती। यह महाकाव्य साहित्यिक सौन्दर्य से मण्डित होने के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व से भी पूर्ण है उस युग के कवियों के वृत्तान्त की जानकारी के लिए। इनके अग्रज लङ्कक (या अलङ्कार) काश्मीर के राजा जयसिंह के प्रधान मन्त्री ही न थे, प्रत्युत स्वयं सरस्वती के पुत्रों के विद्वान् आश्रयदाता थे। काव्य के २५ वें सर्ग में इन अज्ञात या अल्पज्ञात कवि विद्वानों का एक सरस परिचय उपन्यस्त है जिसका उपयोग लेखक ने प्रस्तुत संग्रह में किया है। ये कोषकार भी थे। इनके नाम से प्रख्यात 'मङ्खकोश' काश्मीरी कवियों द्वारा व्यवहृत शब्दों का, जो अन्य साधनों से अज्ञात हैं, पूरा परिचायक है।

(९४) मण्डन

श्रीगर्भ के ज्येष्ठ पुत्र होने से विशेष विख्यात। कवि तथा पण्डित थे। चरित्र के भी बड़े उदात्त तथा पवित्र थे जिन्होंने बालपन में ही अपनी मति को मोह के पंक से निकाल रखा था। लङ्क की सभा में अपने पिता श्रीगर्भ तथा अनुज श्रीकण्ठ के साथ रहते थे तथा आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध। देश काश्मीर।

(९५) मम्मट

काव्यप्रकाश' के रचयिता मम्मट का समय ग्रन्थ में निर्दिष्ट भोजराज (१०१०–१०५१ लगभग) से अनन्तर तथा इनके प्रथम टीका संकेत (१२०० ई०) से पूर्ववर्ती है—११०० ईस्वी के आसपास। ये काश्मीर के निवासी थे। इनके विषय में टीकाकार भीमसेनका यह कथन कि ये कैयट तथा उव्वट के भाई थे, काल्पनिक सा प्रतीत होता है। काव्यप्रकाश अलङ्कारशास्त्र का नितान्त प्रौढ ग्रन्थ है जिसके ऊपर विद्वानों की एक लम्बी परम्परा ने व्याख्यायें लिखी हैं। मम्मट काव्य के दोष दर्शन में अप्रतिम माने जाते हैं और इसी की सूचना इस पद्य में भी दी गई है।

(९६) मयूर भट्ट श्री सूर्यशतक

राजा हर्षवर्धन (६०६ ई०—६४८ ई०) की सभा के मान्य कवि। इनका विस्तृत परिचय इसी ग्रन्थ में पहिले दिया गया है। 'सूर्यशतक' तथा 'मयूराष्टक' इनकी मान्य रचनायें हैं।

(९७) महाभारत

संस्कृत का मान्य उपजीव्य ग्रन्थ। साधारण रीति से यह महाकाव्य की श्रेणी में अन्तर्भुक्त होने पर भी वस्तुत 'इतिहास' ही है। अपनी विशालता तथा व्यापकता के कारण यह नितान्त अनुपम तथा अनुपमेय है। इसके परिचय, महत्त्व, तथा टीका सम्पत्ति के लिए द्रष्टव्य लेखक का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (षष्ठ संस्करण, १९६०, पृष्ठ ५० से पृष्ठ ११० तक।)

(९८) महेन्द्रसूरि

परिचय नहीं मिलता।

(९९) माघ

शिशुपाल महाकाव्य के रचयिता संस्कृत के महनीय कवि। समय सप्तमशती का उत्तरार्ध। स्थान गुजरात। वैष्णव कवि जिन्होंने श्रीमद्भागवत से स्फूर्ति ग्रहण कर पूर्वोक्त काव्य का प्रणयन किया। विशेष के लिए द्रष्टव्य प्रकृत ग्रन्थ का माघवाला प्रसंग।

(१००) मायूराज

इनकी एकमात्र रचना 'उदात्तराघव' की ख्याति संस्कृत नाटक साहित्य में बड़ी व्यापक तथा विपुल है। कभी यह नितान्त लोकप्रिय था। राम को उदात्त रूप में चित्रित करने के लिए इन्होंने अनेक रामायणीय घटनाओं में किंचित् परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। दशरूपक की टीका (अवलोक) के अनुसार छल से बाली का वध मायूराज ने इस नाटक में छोड़ दिया है। कुन्तक ने भी मारीच-वध के प्रसंग का अन्यथा कर देने का उल्लेख किया है। दशरूपकावलोक में उदात्तराघव से तीन श्लोक उद्धृत किये गये हैं (३।५९, ३।३१, ४।२३) भोजदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण (पृ० ६४५) में तथा हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ टीका में इस नाटक से श्लोक उद्धृत किया है। इस प्रकार यह बहु-प्रशंसित नाटक राम नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी अनुपलब्धि नाटक साहित्य के इतिहास के लिए नितान्त खेदजनक है।

मायूराज कल्चुरि वंश के कोई क्षत्रिय राजा प्रतीत होते हैं। कल्चुरि लोगों का राज्य मध्यदेश में फैला हुआ था। राजशेखर के 'बालरामायण' में (३।३५) इस वंश की राजधानी का उल्लेख माहिष्मती (इन्दौर के पास मान्धाता) में किया गया है—

> यन्मेखला भवति मेकल-शैलकन्या
> 	धीतेन्धनो वसति यत्र च चित्रभानुः।
> तामेष पाति कृतवीर्ययशोऽवतंसां
> 	माहिष्मतीं कलचुरेः कुलराजधानीम् ॥

चेदिदेश में नर्मदा के किनारे त्रिपुरी' (जबलपुर के पास 'तेवुर') द्वितीय कल्चुरि राजधानी के रूप में विख्यात थी—

> सीतास्वयंवर निदान धनुर्धरेण
> 	दग्धात् पुरत्रितयतो विभुना भवेन।
> खण्डं निपत्य भुवि या नगरी बभूव
> 	तामेष चेदितिलकस्त्रिपुरीं प्रशास्ति ॥

(बालरामायण ३।३८)

इनके कतिपय श्लोक सूक्ति-सग्रहों में मिलते हैं जो रामकथा से सम्बद्ध होने से 'उदात्तराघव' के पद्य प्रतीत होते हैं।

(१०१) मुरारि

मुरारि के पिता का नाम वर्धमानक और माता का नाम तन्तुमती देवी था। ये मौद्गल्य गोत्र में उत्पन्न हुए थे। इनकी एकमात्र रचना रामायण विषयक

सशक्त नाटक है जो अनर्घ राघव के नाम से प्रख्यात है। इस नाटक का आरम्भ होता है महर्षि विश्वामित्र द्वारा यज्ञ-रक्षार्थ रामलक्ष्मण की दशरथ से याचना से और अन्त होता है लंका विजय के अनन्तर राम के राज्याभिषेक से वाल्मीकिरामायण की कथा से इस कथानक में कई महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। सूक्ति (संख्या १०१।२) से स्पष्ट है कि मुरारि के ऊपर माघ कवि का प्रभाव पड़ा है सूक्ति (सं० १०१।४)। महाकवि रत्नाकर के हरविजय से यहाँ उद्धृत है जिसमें मुरारि के नाटक का निःसंदिग्ध उल्लेख है। फलतः इनका समय माघ (७०० ई०) के अनन्तर तथा रत्नाकर (८५० ई०) से पूर्ववर्ती है—लगभग ८०० ई० के आस पास।

(१०२) यशोवर्मा

'रामाभ्युदय' नाटक की प्रसिद्धि किसी समय बहुत ही अधिक थी। ध्वन्यालोक, शृङ्गारप्रकाश, भावप्रकाशन, नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में इस नाटक का बहुशः उल्लेख मिलता है। ध्वन्यालोक लोचन (उद्योत ३, पृष्ठ १४८) से पता चलता है कि रामाभ्युदय के रचयिता यशोवर्मा थे। सम्भव ही नहीं निश्चित ही है कि भवभूति आदि के आश्रयदाता ये ही यशोवर्मा थे जिन्हें काश्मीरनरेश ललितादित्य के हाथों युद्ध में पराजय का दुःख झेलना पड़ा। ये अपने युग के बड़े प्रख्यात साहित्यसेवी प्रतीत होते हैं। ललितादित्य के समकालीन होने से इनका समय अष्टमशती का प्रथमार्ध मानना युक्तियुक्त है। 'गउडवहो' के प्रणेता वाक्पतिराज तथा भवभूति की इनके राजकवि के रूप में प्रसिद्धि तो है ही। अभिनवगुप्त के कोई पूर्वज अत्रिगुप्त भी इन्हीं के दरबार में रहते थे। कान्यकुब्ज के राजा इन यशोवर्मा को युद्ध में पराजित कर ललितादित्य बड़े सम्मान के साथ इन्हें (अत्रिगुप्तको) अपने देश ले गये जहाँ इनका परिवार सदा के लिए बस गया। इस घटना का उल्लेख अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में किया है—

> निःशेष शास्त्र सदनं किल मध्यदेशः
> तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
> कोऽप्यत्रिगुप्त इति नाम निरुक्त गोत्र
> शास्त्राब्धिचर्वण कलोद्यदगस्त्य गोत्रः॥
> तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्
> प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्॥
>
> (तन्त्रालोक, अ० ३७

'रामाभ्युदय' नाटक की उपलब्धि अब तक नहीं हुई है। परन्तु इस नाटक के इतने अधिक उद्धरण साहित्य ग्रन्थों में दिये गये हैं कि इनकी सहायता

से पूरे ग्रन्थ का विषय—प्रत्येक अक का भी अलग अलग-जाना जा सकता है। यह नाटक था तथा इसमें छ अक थे (षडङ्कं दृश्यते लोके रामाभ्युदय नाटकम्—भावप्रकाश पृ० २३७, बडोदा स०) इस नाटक की कथावस्तु की विशिष्टता यह थी कि इसमें वाल्मीकि के द्वारा वर्णित कथा का कहीं अतिक्रमण नहीं किया गया है। रामचरित के चित्रण में जो कथाभाग राम के उदात्त चरित्र के अनुकूल नहीं प्रतीत हुआ, उसे राम नाटककारों ने सुभीते से अपने नाटकों में या तो बिल्कुल छोड दी दिया अथवा उसे अन्यथा कर दिया है—यही पद्धति साहित्य जगत् में प्रचलित थी जिसका प्रतिवाद यशोवर्मा ने अपने नाटक में (सम्भवत इसके प्रस्तावना भाग में) इस पद्य में किया है—

औचित्यं वचसा प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टि' स्वावसरे रसस्य, कथामार्गे न चातिक्रम ।
शुद्धि प्रस्तुत संविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयो
विद्वद्भि परिभाव्यतामवहितैरेतावदेवास्तु न. ॥

इस पूरे पद्य को भोजराज ने शृंगार प्रकाश में उद्धृत किया है तथा कथामार्गे न चातिक्रम' अश आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में (३।११ कारिका तथा वृत्ति, पृ० १४४ तथा १४८ नि० सा० स०)। इन समस्त सद्गुणों का अस्तित्व इस नाटक में नियमेन उपलब्ध होता है। यशोवर्मा के सभाकवि भवभूति ने ही अपने 'महावीर चरित' में अनेक स्थलों पर वाल्मीकीय रामायण के द्वारा वर्णित घटनाओं का 'अन्यथाकरण' कर दिया है। ऐसे ही नाटकों के प्रतिवाद के रूप में 'रामाभ्युदय' का प्रणयन किया गया था। कलापक्ष भी इस नाटक का मनोहर तथा हृदयावर्जक प्रतीत होता है। साहित्य-ग्रन्थों में बहुश चर्चित यह पद्य यशोवर्मा के इसी नाटक के उस अङ्क से सम्बद्ध है जिसमें राम सीता-वियोग के समय अपनी मनोव्यथा का वर्णन करते हैं—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्-बलाका घना
वाता शीकरिण. पयोदसुहृदामानन्दकेका. कला' ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि ! धीरा भव ॥

१ विशेष के लिए देखिए डा० राघवन—सम ओल्ड लॉस्ट रामप्लेज (अन्नमलै यूनि०, १९६१ पृष्ठ १-२८)

(१०३) यशोवीर

१३ वीं शती के गुजराती कवि। विशेष परिचय नहीं मिलता। चौहान राजा के मन्त्री थे। कवि होने के अतिरिक्त शासन-कार्य में भी निपुण थे।

परन्तु सोमेश्वर द्वारा की गई यह स्तुति कोरी कल्पना प्रतीत होती है—वास्तविकता से दूर, बहुत दूर। वस्तुपाल के साथ उनका साहचर्य तथा सामान्य भाव में रखना उचित नहीं प्रतीत होता।

(१०४) युवराज

'रामचरित' महाकाव्य के रचयिता महाकवि अभिनन्द के आश्रयदाता इनका नाम 'हारवर्ष' भी था। ९ म शती में पूरबी भारत पर राज्य करने वाले पालवंशी नरेश। विशेष के लिए द्रष्टव्य 'अभिनन्द' का परिचय तथ मेरा इतिहास ग्रन्थ पृ० २४८-४९।

(१०५) योगेश्वर

अपने युग के नितान्त लोकप्रिय कवि। अवानन्द ने तथा वसुकल्प ने इनकी प्रशस्त स्तुति की है। वसुकल्प का समय लगभग दशम शती का मध्यकाल स्थिर किया गया है (द्रष्टव्य 'वसुकल्प' विषयक परिचय) क्योंकि इन्होंने राजशेखर का उल्लेख इसी श्लोक में किया है। मेरी दृष्टि में बाण, केराड, योगेश्वर तथा राजशेखर का यह एकत्र उल्लेख ऐतिहासिक क्रम से है। फलतः योगेश्वर का समय राजशेखर (९१० ई०) से पूर्वतर होना चाहिए—नवम शती का मध्यकाल। सदुक्तिकर्णामृत (र० का० १२०३ ई०) में इनके लगभग पचासों पद्य नाना विषयों के उद्धृत किये गये हैं। सूक्तिमुक्तावली में भी इनके उद्धरण हैं जिनके अनुशीलन से इनकी रचना की विपुलता तथा प्रतिभा की कमनीयता का स्पष्ट संकेत आलोचकों को निःसन्देह मिलता है। ये रेवानदी तथा विन्ध्यपर्वत का वर्णन करते हैं (द्रष्टव्य सदुक्तिकर्णामृत ५।८।३,४) जिससे ये विन्ध्य-प्रान्त के कवि प्रतीत होते हैं। यहाँ नमूने के तौर पर 'संताप कथन' के विषय में यह पद्य उद्धृत है जिसमें कामज्वर के उद्दाम सन्ताप की तीव्रता का वर्णन अत्युक्ति के द्वारा चमत्कारी ढंग से किया गया है—

> एतस्याः स्मरसंज्वरः करतलस्पर्शैः परीक्ष्योऽद्य न
> स्निग्धेनापि जनेन दाहभयतः प्रस्थंपचः पाथसाम्।
> निर्वीजीकृतचन्दनौषधविधौ तस्मिन् चटत्कारिणो
> लाजस्फोटममी स्फुटन्ति मणयो विश्वेऽपि हारस्रजाम्॥
> (सदुक्ति० २।३३।३)

(१०६) रत्नखेट दीक्षित

भवस्वामि के पुत्र तथा कृष्ण के पौत्र था निवास दीक्षित का ही उपनाम रत्नखेट दीक्षित था। गोत्र विश्वामित्र। भाष्य के रचयिता भवस्वामी से ये छठी पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। चोल के राजा ने, जो इनके [illegible]ध्या वर्णन से नितान्त

आह्लादित हुआ था, इन्हें रत्नखेट की उपाधि दी। और ये इसी नाम से आज प्रसिद्ध हैं। ये अप्पय दीक्षित के समसामयिक थे। अतएव इनका समय सोलह शती का उत्तरार्ध है। अपने युग के विशिष्ट विद्वान् ये साहित्य तथा दर्शन उभय क्षेत्रों में जिनकी प्रौढ़ि नितान्त प्रख्यात थी। इनकी अनेक उपाधियाँ थीं—षड्भाषा चतुर, अद्वैत विद्याचार्य तथा अभिनव भवभूति। अठारह रूपक तथा आठ काव्यों की रचना का श्रेय इन्हें दिया जाता है। **शितिकण्ठविजय** शिव की लीला का वर्णन करने वाला काव्य ग्रन्थ है, तो **भैष्मी परिणय** रुक्मिणी के विवाह का वर्णन करने वाला चम्पू है। **भैमी परिणय** दमयन्ती के विवाह का वर्णन करने वाला एक नाटक है। साहित्य सञ्जीवनी, भावोद्भेद, रसार्णव, अलंकारकौस्तुभ, काव्यदर्पण, काव्यसार-संग्रह और साहित्य-सूक्ष्म सरणि—इनके अलङ्कार के ऊपर रचे गये ग्रन्थ हैं। इनके पुत्र रत्नचूडामणि दीक्षित भी अपने पिता के समान ही एक मान्य दार्शनिक, विद्वान् आलङ्कारिक तथा प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। इन पिता पुत्र के परिचय के लिये देखिए—कृष्णमाचार्य हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास १९३७।

(१०७) रत्नाकर

रत्नाकर काश्मीर के कवियों में अग्रणी माने जा सकते हैं। इनका प्रौढ़ महाकाव्य **हरविजय** अपने विस्तार के कारण संस्कृत महाकाव्यों में सबसे बड़ा तथा अद्भुत माना जा सकता है। काश्मीर नरेश **अवन्तिवर्मा** के राज्य काल (८५५ ई०–८८० ई० लगभग) में प्रसिद्धि पाने से इनका समय नवम शती का मध्यकाल माना जाता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय 'हरविजय' से भलीभाँति चलता है। कल्पना की उड़ान में, वैदर्भी के विन्यास में, कमनीय अर्थ तथा सुन्दर शब्दों की रचना में यह काव्य निसन्देह एक महनीय स्थान रखता है। मेरी दृष्टि में शैवकाव्यों में इसकी कोटी का काव्य संस्कृत भाषा में है ही नहीं। कवि ने ग्रन्थ के अन्त में जो प्रतिज्ञा की है कि इस काव्य का अध्येता अकवि कवि बन जाता है और कवि महाकवि बन जाता है, उसके सच होने में सन्देह नहीं किया जा सकता—

हरविजयमहाकवेः प्रतिज्ञां शृणुत कृतप्रणयो मम प्रबन्धे।
अपि शिशुरकविः कविः प्रभावात् भवति कविश्च महाकविः क्रमेण॥

ग्रन्थ का संस्करण काव्यमाला सीरीज, बम्बई [redacted]।

(१०८) रङ्गदेव

काश्मीर के महान् वेदान्तचिन्तक दार्शनिक। इस साहित्यिक विवरण में इनके रूप तथा स्वभाव का पूरा परिचय प्राप्त होता है। उपनिषदों के मार्मिक अध्येता ही [redacted] थे, अध्यापक भी थे। विद्यार्थियों के लिए कल्पवृक्ष थे।

श्रीकण्ठचरित के टीकाकार जोनराज के कथनानुसार **'इष्टसिद्धि'** नामक वेदान्तग्रन्थ पर इन्होंने विवरण भी लिखा है। ये विद्वान् होने के साथ ही साथ उच्चाशय व्यक्ति थे—*मात्सर्य तथा अहंकार से कोसों दूर। समय १२ शती का मध्यभाग।*

(१०९) राजशेखर

राजशेखर महाराष्ट्र के साहित्यिक परम्परा से मण्डित एक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। इनका यायावर कुल गलती से क्षत्रिय कुल समझा जाता है, वस्तुतः यह ब्राह्मण कुल है। अन्यथा उस युग के सर्वमान्य कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल तथा महीपाल के राजगुरु होने का गौरव इन्हें कथमपि प्राप्त नहीं हो सकता था। इनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी अवश्यमेव चाहमान (चौहान, क्षत्रिय) कुल में उत्पन्न होने वाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषा की विशेष विदुषी महिला थी। इस विवाह-सम्बन्ध से इनकी उदारवृत्ति का परिचय मिलता है। इनके उपलब्ध चार रूपकों में तीन संस्कृत में हैं (बालरामायण, बालभारत तथा विद्धशालभंजिका नाटिका) तथा एक प्रख्यात सट्टक कर्पूरमञ्जरी प्राकृत में है। ये संस्कृत काव्य तथा कवियों के मर्मज्ञ आलोचक थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। **काव्यमीमांसा** इनकी आलोचना-शक्ति का परिचायक ग्रन्थ है। संस्कृत कवियों की साहित्यिक आलोचना के विषय में इनके ही सबसे अधिक पद्य उपलब्ध होते हैं। पता नहीं कि ये पद्य किसी व्यवस्थित ग्रन्थ के अन्तर्भुक्त थे या स्वतः स्फुट रचनायें हैं। ये पद्य बड़े ही महत्त्व के हैं जिनमें अनुष्टुप के माध्यम से उस कवि का वैशिष्ट्य बड़ी सुन्दरता से थोड़े में प्रकट किया गया है। महेन्द्रपाल के शिलालेख ९०३-४ ई० तथा ९०७-८ ई० में प्राप्त होते हैं। इनके उत्तराधिकारी महीपाल के आश्रय में रहने से राजशेखर का समय ९१०—९१५ ईस्वी के आसपास माना जाता है। इनके इन स्फुट प्रशंसा श्लोकों से कवियों के समय निरूपण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(११०) रामचन्द्र

हेमचन्द्र के पट्टशिष्य जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से तथा गुणचन्द्र के साथ मिलकर अनेक उत्तम ग्रन्थों का प्रणयन किया। समय द्वादश शती तथा देश गुजरात। इनका प्रधान नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है **नाट्यदर्पण** जिसमें इनके नाटकों तथा काव्यों का भी निर्देश तथा उद्धरण मिलता है। भिन्न भिन्न विषयों पर रूपकों की रचना में इनकी प्रतिभा विशिष्ट रूप से उद्भासित होती है।

(१११) रामायण

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि की अनुपम रचना। 'महाकाव्य' का स्वरूप निर्देशन हमें इसी आदि काव्य से प्राप्त हुआ। संस्कृत कवियों के लिए महनीय

उपजीव्य ग्रन्थ। इसीका आश्रय लेकर कालान्तर में अनेक महाकाव्यों तथा नाटकों की रचना संस्कृत भाषा में की गई। रामायण की लोकप्रियता तथा आकर्षण शक्ति के विषय में 'प्रसन्नराघव' के कर्ता जयदेव का यह पद्य नितान्त उपयुक्त है—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः।
यदेतैर्निःशेषैरपरगुणलुब्धैरिव जग-
त्यसावेकश्चक्रे सततं सुखसंवासवसतिः॥

रामायण के आविर्भावकाल तथा आलोचना के विषयमें देखिये मेरा इतिहास-ग्रन्थ पृष्ठ ७०–९०।

(११२) रुद्र

रुद्र ने 'त्रैलोक्यसुन्दरी' नामक कथा का निर्माण किया था। इस घटना का उल्लेख धनपाल ने दो बार किया है। इस कथा का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। 'शृङ्गारतिलक' के रचयिता का भी नाम 'रुद्र' था। दोनों की अनेकता या एकता के विषय में निर्णयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। 'रुद्रटालङ्कार' के प्रणेता रुद्रट के साथ कभी कभी रुद्र की एकता भी प्रतिपादित की जाती है। परन्तु नाम तथा सिद्धान्त का स्पष्ट पार्थक्य होने के हेतु, रुद्र तथा रुद्रट की एकता कथमपि न्याय्य तथा सुसंगत नहीं है।

(११३) रुय्यक

कश्मीर के मान्य आलङ्कारिक। 'अलङ्कारसर्वस्व' के मान्य रचयिता। इस ग्रन्थ में अलङ्कारों का बड़ा ही गम्भीर विश्लेषण उपस्थित किया गया है। इन्होंने काव्यप्रकाश के ऊपर टीका लिखी थी जो इस महनीय ग्रन्थ का सर्वप्राचीन आद्य व्याख्या समझी जाती है। अन्तिम पद्य में इन्हें मङ्खक का गुरु होना स्पष्टतः सङ्केतित है। मङ्खक ने इन पद्यों में इनकी प्रतिभा का उज्ज्वल स्वरूप अभिव्यक्त किया है। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध। इनके अन्य ग्रन्थों के लिए देखिए लेखक का ग्रन्थ 'भारतीय साहित्यशास्त्र' प्रथम भाग (पृष्ठ ८२, प्रकाशक नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी)

(११४) लक्ष्मणसेन

बंगाल के सेनवंश के अन्तिम तथा विद्याप्रेमी महाराज। लक्ष्मणसेन स्वयं भक्त वैष्णव थे तथा कविता करते थे जिसमें शृंगार का पुट बड़ा ही चमत्कारी है। 'पवनदूत' काव्य के नायक के रूप में धोयी कवि ने इनका चित्रण किया है। जयदेव, आचार्य गोवर्धन, शरणदेव, धोयीक तथा उमापतिधर—ये छः कवि-

पण्डित इनकी सभा के रत्नों में से थे। इनके पुत्र केशवसेन भी कवि थे। लक्ष्मणसेन के लगभग १०—११ पद्य सदुक्ति० में उद्धृत किये गये हैं जिनमें से एक यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सदा चाटून् जल्पन् सततमुपहारार्पितमना
मुखं पश्यन्नित्यं सततमविभिन्नाञ्जलिपुटः।
अनिच्छन्निच्छन् वा क्षणमपि न पार्श्वं त्यजति यः
स किं कामी स्त्रीणामथमशरणो भृत्यपुरुषः॥

—सदुक्ति० २।८०।१

(११५) लक्ष्मीदेव

१२ शती काश्मीर के एक प्रौढ़ वैदिक। इनके वेदज्ञान तथा आचरण की प्रशस्त स्तुति मङ्खक ने इन पद्यों में की है। ये वेद के मन्त्रों के अर्थ तथा तात्पर्य के विशेष मर्मज्ञ थे। इनका आचरण भी वेदानुकूल ही था। सर्वशास्त्रों में स्वतन्त्र थे तथा सोमयाग करनेवालों में अग्रणी थे। फलत ऐसे सदाचारी कर्मठ वैदिक का लङ्कक की आशीर्वादों से संवर्धना करना सर्वथा उचित ही है।

(११६) लङ्कक (अलंकार)

काश्मीर नरेश सुस्सल के पुत्र जयसिंह (११२७ ई०—११४९ ई०) के प्रधानमन्त्री लङ्कक (जिनका 'अलंकार' भी नाम था) अपने युग के बड़े राजनीतिज्ञ, वीर योद्धा तथा प्रकाण्ड पण्डित थे। इस विषय में मङ्खक तथा कल्हण दोनों एकमत हैं। मङ्खक के ये जेठे भाई थे। ये कवियों तथा पण्डितों के आश्रयदाता थे। इनकी सभा इन लोगों से सदा मण्डित तथा सुसज्जित रहती थी। लोष्टदेव की स्तुति (पद्य ४) से प्रतीत होता है कि इन्होंने महाभाष्य को सुबोध बनाया था। सम्भवत यह इनकी किसी रचना की ओर संकेत है। कल्हण के कथनानुसार (पद्य ५) इन्होंने युद्धों में अपने विरुद्ध लोगों को मार भगाया था और स्वयं उनसे बचे रहे। जयसिंह के समय में राज्य की उन्नति में इनका विशेष हाथ था।

(११७) लोष्टदेव

लङ्कक की सभा के प्रमुख कवि। इन्होंने लङ्कक की प्रशंसा में जिन प्रतिभाशाली कमनीय पद्यों की रचना की है उनके निदर्शन श्रीकण्ठचरित के अन्तिम सर्ग में निविष्ट हैं (श्लोक ३८—४७)। कविता ऊँचे कोटि की है। जीवन की सन्ध्या में सन्यासी बनकर काशी में ही रहते थे जहाँ इन्होंने दीन क्रन्दन स्तोत्र की रचना की (स० काव्यमाला गुच्छक ६, बम्बई) जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

कृत्वा पापमसावपोष्यत निजः कायो, न दीनो जनो
वैचक्ष्याल्लुठितं चिरं चरणयोः स्त्रीणां, गुरूणां न तु।
लोभोऽकारि मया धने, न सुकृते; तेनानुतप्ये महत्
किं शक्यं मम तत्र कर्तुमधुना नाथ त्वमेका गतिः॥

(११८) वंगाल

एक अप्रसिद्ध कवि। समय ११ वीं शती का आरम्भ। पालयुग के कवि अनुमानतः सिद्ध होते हैं। इनका वृत्त नहीं मिलता। केवल इनके दो पद्य सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत मिलते हैं। कतिपय विद्वानों की सम्मति में यह पद्य बंगभाषा की स्तुति में है, परन्तु बंगाल नाम से दो पद्यों के उद्धरण से यह किसी कवि का ही अभिधान प्रतीत होता है, यद्यपि बंगला की उस युग तक (१२०० ई०) उत्पत्ति हो गई थी।

(११९) वटुदास

बंगाल के अन्तिम हिन्दू नरेश राजा लक्ष्मणसेन के ये एक प्रौढ सम्पन्न सामन्त थे जिनके दरबार में अनेक कविजन आश्रित होकर रहते थे। इन्हीं के पुत्र थे श्रीधरदास जिन्होंने सदुक्तिकर्णामृत नामक बृहत् सूक्तिसंग्रह का प्रणयन किया। इनकी प्रशंसा के ये तीनों पद्य इसी ग्रन्थ से यहाँ उद्धृत किये गये हैं। कवियों के आश्रयदाता के रूपमें इनकी उस युगमें पर्याप्त प्रसिद्धि थी।

(१२०) वररुचि

इनके पद्य सुभाषित ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलिने इनके द्वारा विरचित किसी काव्य—वाररुच काव्यम्—का सकेत किया है, परन्तु इसके नाम का सकेत नहीं किया। परन्तु राजशेखर की सूक्ति के अनुसार इसका नाम कण्ठाभरण प्रतीत होता है। भाषा सरस सीधी, वर्णन विशेषतः प्रकृति के उपलब्ध हैं। ये पाणिनिके वार्तिककार कात्यायन से अभिन्न माने जाते हैं। समय वि० पू० तृतीय-चतुर्थ शतक। 'चतुर्भाणी' नामक भाणसंग्रह में प्रकाशित 'उभयाभिसारिका' नामक भाण की रचना का श्रेय वररुचि को ही है। किसी समय यह अत्यन्त प्रख्यात था। इसमें से अभिनवगुप्त ने एक पद्य अपनी टीका में उद्धृत किया है।

(१२१) वल्लण (वल्लण)

किसी युग में इस कवि की लोकप्रियता बहुत ही अधिक थी। इसका परिचायक है सुभाषितरत्नकोश में इनकी उद्धृत कविता का प्राचुर्य। इस सर्वप्राचीन सुभाषित-संग्रह में इस कवि के लगभग ४० पद्य विविध विषयों पर उद्धृत किये गये हैं। ये बंगाल के पालयुग के कवि थे। इन्होंने सु० र० को०

के १४१६ पद्य में किसी अज्ञात कलि-कालकर्णक या० कर्ण नरेश की प्रशंसा की है जो सम्भवतः कोई व्यक्तिवाचक नाम था। ये बौद्धकवि प्रतीत होते हैं मञ्जुश्री के विशेष भक्त तथा उपासक। सु० र० को० के पद्य २५-२६ से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है। शृङ्गार रस के नाना विषयों पर इनकी रोचक कविता मिलती है। प्रतिभा उन्नत तथा भाव प्राञ्जल है। उस युग में सत्कवियों के अभाव पर इन्होंने एक पद्य में खेद प्रकट किया है (सु० र० को० १७१७)। काव्य के लिए निगूढ़रस होना आवश्यक होता है उत्तानरस नहीं, इस तथ्य का सुन्दर वर्णन इस कवि ने इस पद्य में किया है—

> अनुद्घुष्टः शब्दैरथ च घटनातः स्फुटरसः
> पदानामर्थात्मा रमयति न तूत्तानितरसः।
> यथा किञ्चित् किञ्चित् पवनचलचीनांशुकतया
> स्तनाभोगः स्त्रीणां हरति न तथोन्मुद्रिततनुः ॥

(सु० र० को० १७०५)

(१२२) वसुकल्प

(वसुकल्पदत्त, कल्पदत्त, वसुक, कल्पवसु) सु० र० को० के दो पद्यों में (संख्या १०१६ तथा १४४४) इन्होंने किसी काम्बोज नरेश की स्तुति की है—

> तत् कल्पद्रुमपुष्पसंस्तररिरजस्तत्कामधेनोः पय-
> स्तं च प्रभ्यकनेत्रदग्धवपुषः पुष्पायुधस्यानलम्।
> पद्माया श्वसितानिलानि च शरत्कालस्य तच्च स्फुटं
> व्योमादाय विनिर्मितोऽसि विधिना काम्बोज ! तुभ्यं नमः ॥

(सु० र० को० १४४४)

सुभाषितरत्नकोष के सम्पादकों ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह काम्बोजनरेश पालवंशी नरेशों की किसी कनिष्ठ शाखा से सम्बद्ध था। उनके कथन के लिए देखिये इस ग्रन्थ की भूमिका पृष्ठ ४६-४७। दशक शती के मध्य के आसपास ये पाल दरबार में विद्यमान माने जाते हैं। इन्होंने किसी साहसमल्ल नामक राजा की नाविकशक्ति की प्रशंसा की है जिसके कारण गौडनरेश जलक्रीडा से विरत हुए (सदुक्ति ३।२६।१) इनके लगभग २० श्लोक इस सूक्तिसमूह में उद्धृत हैं। कविता सुन्दर है। ये उस युग के लोकप्रिय कवि थे। सुभाषितरत्नकोश (श्लो० सं ९२१) के अनुसार यह प्रशंसित पद्य इन्हीं की रचना है—

> अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
> स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।

उद्यद्-दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत् क्षणात्
स्फायत् कैरवकोपनि.सरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥

(१२३) वस्तुपाल

वैश्यों में एक अत्यन्त प्रसिद्ध प्राग्वाट (पोरवाड़) वंश चला ! इस वंश का आद्यपुरुष चंडप हुआ जिसका पुत्र चण्डप्रसाद था। चण्डप्रसाद के पुत्र का नाम सोम हुआ जो राजा सिद्धराज का प्रियपात्र था। सोम का पुत्र अश्वराज था जिसकी स्त्री का नाम कुमारदेवी था। उसके तीन पुत्र हुये श्रीमल्लदेव, वस्तुपाल और तेजपाल। ये विद्यानुरागी तथा असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न थे। जैनधर्म के प्रति इनकी अतुलित आस्था थी।

गुजरात के चालुक्य (सोलङ्की) वंश में भीम (द्वितीय) नाम के राजा थे। इनके पुरोहित का नाम सोमेश्वर था। भीम बालक ही था कि उसका राज्य मंत्रियों ने हथिया लिया। अर्णोराज से यह सहन न हुआ और उसने अपने पुत्र धवल के साथ राज्य को निष्कण्टक किया। धवल का पुत्र लावण्यप्रसाद हुआ। लावण्यप्रसाद को अमात्य की आवश्यकता थी। उसने वस्तुपाल तथा तेजपाल को अमात्यपद पर नियुक्त किया। लावण्यप्रसाद ने वस्तुपाल को स्तम्भतीर्थ में सुव्यवस्था करने के लिये भेज दिया जहाँ जाकर वस्तुपाल ने बड़ा ही सुन्दर प्रबन्ध किया। स्तम्भतीर्थ में पुनः शान्ति का साम्राज्य विराजने लगा। इसी समय लावण्यप्रसाद पर शत्रुओं ने चारों ओर से आक्रमण किया। लावण्यप्रसाद उनसे युद्ध में व्यस्त था कि सिंधुराज के पुत्र शंखने वस्तुपाल पर भी हमला कर दिया। वस्तुपाल वीरता से लड़ा और अंततोगत्वा शत्रु को उसने खदेड़ दिया। सारे नगर में उत्सव मनाया गया। उसने जैनसाधुओं को दान-मान से सन्तुष्ट किया। श्रीशत्रुञ्जय पर्वत पर उसने नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ के दो मंदिर बनवाये। यह सारा वृत्तान्त सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी' में वर्णित है।

वस्तुपाल का वृत्तान्त 'कीर्तिकौमुदी' के अतिरिक्त अरिसिंह के 'सुकृतसंकीर्तन', जयसिंह के 'हम्मीरमदमर्दन' तथा आचार्य उदयप्रभ के 'धर्माभ्युदय' एवं 'सुकृत-कल्लोलिनी' में वर्णित है। ये सभी ग्रंथ विक्रमाब्द १२८९ के पूर्व के हैं। वस्तु-पालकी मृत्यु के अनन्तर उसके समकालीन बालचन्द्र सूरि ने 'वसंतविलासकाव्य' लिखा। पीछे मेरुतुङ्गाचार्य ने 'प्रबन्धचिन्तामणि' तथा राजशेखर सूरि ने 'प्रबन्धकोश' में वस्तुपाल का संक्षिप्त परिचय दिया। वस्तुपाल के चरित्र का सर्वाधिक व्यापक वर्णन हुआ है जिनहर्ष के 'वस्तुपाल-चरित्र' में।

मेरुतुङ्गाचार्य के ग्रंथ प्रबन्धचिन्तामणि में वस्तुपाल के जन्म का वर्णन किया गया है जिसका उल्लेख अन्यत्र नहीं है। इसके अनुसार एक बार पाटण में व्याख्यान करते हुये भट्टारक हरिभद्र सूरि कुमारदेवी नाम की अत्यन्त

सुन्दरी विधवा को बार-बार देख रहे थे। वहाँ पर उपस्थित आचार्य मंत्री ने इसे देख लिया। व्याख्यान समाप्त होने पर उसने मुनि जी से इसका रहस्य पूछा। उन्होंने बताया कि इसकी कुक्षि में चन्द्रमा और सूर्य के समान होने वाला अवतार है। शुद्ध यह रहस्य जानकर उस मंत्री ने विधवा को अपनी प्रेमिका बना लिया और समयानन्तर उस रमणी ने वस्तुपाल और तेजपाल को जन्म दिया। ये दोनों ही नीतिज्ञ तथा शूर वीर मंत्री हुये।

इन दोनों भाइयों ने विपुल धन अर्जित किया तथा उसे लोकोपकार एवं धर्म कार्य में व्यय किया। शत्रुञ्जय, आबू तथा गिरनार में इन्होंने देव मन्दिर बनवाए। कीर्तिकौमुदी के प्रणेता सोमेश्वर का समय वि० सं० १२२५ से १३१८ के बीच है अतः समकालिक होने से वस्तुपाल का समय भी यही हुआ। सोमेश्वर के ग्रन्थ से इसकी वस्तुपाल के साथ प्रगाढ़ मैत्री का पता चलता है। वस्तुपाल ने वर्षाऋतु में समुद्र को देखकर एक समस्या दी—'प्रावृट्काले पयोराशिः कथं गर्जित-वर्जितः' सोमेश्वरदेव ने तत्काल इसकी पूर्ति करते हुये कहा—'अन्तःसुप्तजगन्नाथनिद्राभङ्गभयादिव'। एक दूसरी समस्या 'काकः किं वा क्रमेलकः' की पूर्ति सोमेश्वरदेव ने इस प्रकार की—

येनागच्छन् मम प्रयातो येनानीतश्च मे पतिः।
प्रथमः सखि ! कः पूज्यः काकः किं वा क्रमेलकः॥

इन विवरणों से यह पता चलता है कि वस्तुपाल एक शूरवीर मन्त्री था। धर्मकार्यों में इसकी महती अभिरुचि थी जिसके प्रतीक इसके द्वारा निर्मित जैनमन्दिर तथा वापी, तडागादि हुए। कवियों और पण्डितों का यह आश्रयदाता था।

(१२५) वाक्पतिराज

प्राकृत के महनीय कवि। कान्यकुब्जनरेश यशोवर्मा की सभा के अन्यतम रत्न तथा समकालीन महाकवि भवभूति की कविता के द्वारा ये विशेष प्रभावित थे। इस घटना का उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है (सुक्ति श्लोक सं० २)। भवभूति के साथ ये यशोवर्मा की सभा में रहते थे। इनकी प्रधान रचना है गउडवहो (गौडवध) जिसमें लगभग एक हजार (१२०९) गाथाएँ हैं और जिसमें यशोवर्मा के द्वारा किया गौडदेश (मगधदेश) के राजा के पराजय तथा वध का वर्णन है। कविता बड़ी उदात्त तथा सुन्दर है। प्राकृत के महाकाव्यों की शैली में निबद्ध होने से नितान्त प्रौढ़ तथा प्रतिभाशाली कल्पना से मण्डित काव्य। टीका के साथ एस० पी० पण्डित का संस्करण बम्बई संस्कृत सीरीज में। आरम्भ में ऐतिहासिक भूमिका विशेष ज्ञानवर्धक तथा अवलोकनीय।

'गउडवहो' प्राकृत भाषा का नितान्त महनीय तथा प्रशंसित महाकाव्य है। वर्णन बड़े ही सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक हैं। सूक्तियों का भी वर्णन चमत्कारी तथा बड़ा ही हृदयावर्जक है। एक दो नीतिपद्य नीचे दिये जाते हैं—

तुंगावलोयणे होइ विम्हओ णीयदंसणे संका।
जह पेच्छंताण गिरिं जहेअ अवडं णियंताण॥

(ऊँचे आदमी के अवलोकन पर विस्मय होता है। नीचे को देखकर शंका होती है। जैसे किसी पर्वत को देखकर विस्मय होता है और कुएँ को देखकर शंका)। वैराग्य की प्रशंसा में यह उक्ति बड़ी मनोहारिणी है—

सो च्चेय किं ण राओ मोत्तूण वहुच्छलाइं गेहाइं।
पुरिसा रमंति बद्धुज्झरेसु जं काणणंतेसु॥

(क्या यह राग नहीं है कि अनेक छलछिद्रों से युक्त गृहों को छोड़ कर पुरुष लोग झरनों से शोभित काननों में रमण करते हैं?)।

(१२५) वाक्पतिराज द्वितीय

धारा के प्रसिद्ध नरेश राजा भोज के पितृव्य तथा पूर्ववर्ती शासक राजा मुञ्ज 'वाक्पतिराज' के नाम से साहित्यगोष्ठी में विशेष प्रख्यात थे। समय दशवीं शती का उत्तरार्ध। राजा मुञ्ज अपने शौर्य के लिए उतने ही प्रख्यात थे, जितना अपनी कविता के लिए। इनकी अपभ्रंश की कवितायें भी प्रसिद्ध हैं जिनमें मुञ्ज तथा मृणालवती (राजा तैलप की भगिनी) के प्रणय की कथा बड़ी मार्मिकता के साथ अंकित की गई है। अनेक कवियों के आश्रयदाता थे जिनमें 'नवसाहसाङ्कचरित' के प्रणेता पद्मगुप्त परिमल तथा 'दशरूपक' के रचयिता धनञ्जय और उसके व्याख्याकार धनिक का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है। फुटकर कवितायें ही सूक्ति-ग्रन्थ में उपलब्ध होती हैं।

(१२६) वामनभट्ट-बाण

इनका नाम वामनभट्ट था, परन्तु अपनी गद्यमयी प्रौढ़ रचना के कारण इन्होंने 'बाण' की उपाधि धारण की थी। ये वेमभूपाल के सभापण्डित तथा विजयनगर के संस्थापक माधवाचार्य के शिष्य थे। आविर्भावकाल १५ वीं शती का प्रथमार्ध। अपने आश्रयदाता की जीवनी 'वेमभूपालचरित' गद्यकाव्य में लिखी है। 'पार्वतीपरिणय' नाटक इन्हीं की रचना है। इनका 'हंसदूत' मेघदूत का पूरा अनुकरण है। द्वितीय कोटि के कवि।

(१२७) वाल्मीकि

संस्कृत के आदि कवि, जिनका रामायण संस्कृतभाषा का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में ही इनके काव्य का विस्तृत परिचय दिया गया है।

(१२८) विकटनितम्बा

इनका जन्म कश्मीर देश में हुआ था, ऐसी प्रसिद्धि संस्कृतसाहित्य में है। राजशेखर के वर्णन करने से इनका समय नवमशती के लगभग प्रतीत होता है। संस्कृत के प्राचीन सुभाषित ग्रन्थ 'सुभाषित रत्नकोश' में इनके दो रचनायें उद्धृत की गई हैं (संख्या ४७२ तथा ६५९) जिनका विषय शृङ्गार रस से सम्बद्ध है। अभिनव भारती के अनुशीलन से एक नवीन तथ्य का परिचय मिलता है। 'विकटनितम्बा' नामक कोई प्राचीन प्रहसन था जिसमें विकटनितम्बा नामक पात्र 'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग', प्रख्यात पद्य का पाठ करता है। इसे अभिनवगुप्त ने 'मनोरथ' नामक लक्षण के उदाहरण में दिया है। 'मनोरथ' से तात्पर्य है वह उक्ति, जिसमें कोई पात्र अन्यपात्र की इच्छा को अपनी इच्छा के रूप में प्रकट करता है। इस 'लक्षण' का पूर्ण निर्वाह इस पद्य में है।

(१२९) विक्रमादित्य

विक्रमी संवत् के स्थापक विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर तथा भारतीय संस्कृति का उद्धार कर भारतवर्ष के राजाओं में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। ये सरस्वती के सेवक कवि पण्डितों के उदारचेता आश्रयदाता थे। प्रसिद्धि इतनी बढ़ी कि ये ठोस इतिहास से उठकर भारतीय दन्तकथा के प्रिय पात्र बन गये। ईस्वी सन् से ५७ वर्ष पूर्व इस उपाधि से मण्डित राजा की कल्पना ठोस इतिहास के प्रमाणों पर आश्रित है। विशेष के लिए डा॰ राजबली पाण्डेय रचित 'विक्रमादित्य' नामक ग्रन्थ। प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन काशी।

(१३०) विजयसिंह

कीर्तिकौमुदी में उल्लिखित १३ वीं शती के कोई गुजराती कवि। इनका नाम दोनों प्रकार से है—विनयसिंह तथा विनयसेन। नाम के पहले 'मुनि' विशेषण से ये स्पष्ट जैन यति प्रतीत होते हैं। परिचय अवेक्षणीय।

(१३१) विजया

(१३२) विज्जिका

संस्कृतभाषा की सर्वश्रेष्ठ महिला कवि। विज्जका, विज्जाका, विजया, विजयाङ्का विद्या के ही नामान्तर प्रतीत होते हैं। राजशेखर (९०० ई॰) के प्रशंसापद्य से इनका कालिदास के अनन्तर वैदर्भीरीति का मान्य कवि होना स्पष्ट सङ्केतित होता है। विज्जका कर्णाट देश की रहने वाली थी और उनका रंग कृष्णवर्ण था और इसीलिए इन्होंने दण्डी कवि पर लाञ्छन लगाया है कि मुझ श्यामवर्णा सरस्वती को बिना जाने पहचाने ही उन्होंने 'काव्यादर्श' के आरम्भ में

सरस्वती को 'सर्वशुक्ला' क्यों कह डाला। इन दोनों निर्देशों से इनके आविर्भाव-काल का पता चलता है कि इनका समय दण्डी (६५० ई०) तथा राजशेखर (८८० ई०) के बीच में कभी होना चाहिए। अष्टम शती के मध्यभाग में। इनकी विपुलख्याति थी। तभी तो ये सुभाषितरत्नकोश में कालिदास के साथ एक विशिष्ट पद्य की रचयित्री मानी गई हैं। सुभाषितग्रन्थों में उपलब्ध इनकी रचना से इनकी ऊँची प्रतिभा, प्रसादमयी वाणी तथा सरस काव्यकला का पर्याप्त परिचय मिलता है।

(१३३) व्यास

एक वेद के अनेक भेद या शाखा उत्पन्न करने वाले महर्षि, जो प्रति-द्वापर युग में वेदों का शाखा-विभाग करते हैं। वेद के विभाग करने का यह कारण है कि मनुष्यों का वीर्य, बल और तेज नित्य प्रति ह्रास होता जाता है। इसीलिए सब प्राणियों के हित के निमित्त व्यासरूपी विष्णु के वेदों का विभाजन प्रति-द्वापर युग में किया करते हैं। 'वेदव्यास' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही है। वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के २८ द्वापर युग बीत गये। प्रत्येक द्वापर युग में वेद के विभाजन का कार्य भिन्न भिन्न देवों तथा ऋषियों ने किया है। इसलिये इस मन्वन्तर के २८ व्यास हुये। इन अठारह व्यासों का नाम विष्णुपुराण के तृतीय अंश के तृतीय अध्याय में दिया गया है। (श्लोक १० से २१)

> द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
> वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हित.॥
> वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च।
> हिताय सर्वभूतानां वेदभेदं करोति सः॥

—विष्णुपुराण ३।३।५–६

यह तो हुई वेद के विभाजन करने वाले व्यास की चर्चा। आज २८ वें द्वापर के वेदव्यास का नाम है कृष्णद्वैपायन। इन्होंने ही महाभारत का तथा १८ पुराणों का प्रणयन किया है। विष्णुपुराण का यह वर्णन बड़े महत्त्व का है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि वेदव्यास नाम यौगिक है, व्यक्तिगत नहीं। इस नये उल्लेख से वेदव्यास भी व्यक्तित्व तथा आविर्भाव काल के विषय में सब शङ्काओं का समाधान हो जाना चाहिये।

(१३४) शङ्कर कवि

राजशेखर ने बालरामायण की प्रस्तावना में अपने समसामयिक शंकरवर्मा के द्वारा की गई अपनी स्तुति के विषय में एक पद्य उद्धृत किया है जो राजशेखर के

प्रसंग में ऊपर दिया गया है। इस श्लोक में राजशेखर ने शंकर की काव्यमाधुरी का वर्णन किया है। संभव है कि बालरामायण में उल्लिखित शंकरवर्मा ही यहाँ अभीष्ट हैं। वर्मान्त नाम होने से कवि का क्षत्रिय होना अनुमानतः सिद्ध होता है।

(१३५) शङ्करमिश्र

परिचय उपलब्ध नहीं।

(१३६ शङ्कराचार्य

भारतवर्ष के प्रौढ अद्वैत वाद के संस्थापक आचार्य। सरस कविता के विशिष्ट लेखक। पूरी जीवनी के लिए देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ का एतद् विषयक विस्तृत प्रबन्ध पृष्ठ ४१५–४९६।

(१३७) शंकुक

इनका नाम अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में नितान्त विख्यात है। रससिद्धान्त के विषय में इनके मत का खण्डन अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र आदि ने बहुशः किया है। नाट्यदर्पण में इनके नाट्यविषयक मत का उल्लेख मिलता है (२।१२८) ये अधमपात्रको नाटक का नायक बनाने के पक्ष में नहीं थे फिर भी इन्होंने हास्यरस–प्रधान रूपक में विट आदि अधम पात्रों को नायक बनाने का प्रतिपादन किया है। और इसलिए इनका उपहास किया गया है। नाट्यदर्पण में ही अमात्य शंकुक के 'चित्रोत्पलावलम्बितक' नामक प्रकरण का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः ये दोनों शंकुक एक ही व्यक्ति थे और इन्होंने ही 'भुवनाभ्युदय' काव्य का तथा पूर्वोल्लिखित प्रकरण का प्रणयन किया था। समय सम्भवतः नवम शती। स्थान काश्मीर।

(१३८) शम्भुकवि

शम्भुकवि काश्मीर के निवासी थे। समय १२ वीं शती। प्रतिभा बड़ी उदात्त थी। एक दो छोटे मोटे काव्यों की रचना उपलब्ध होती है।

(१३९) शाकल्यमल्ल

इनका दूसरा नाम मल्लाचार्य तथा कविमल्ल था। ये माधव के पुत्र थे। ये अद्वैत वेदान्त के एक प्रौढ अनुयायी थे तथा सिंहभूपाल (१३३० ई०) के दरबार में वेदान्तदेशिक के पुत्र नायनाचार्य के द्वारा पराजित हुये थे। स्वयं स्वप्न में रामचन्द्र के द्वारा प्रेरित किये जाने पर इन्होंने उदारराघव नामक काव्य (बम्बई से प्रकाशित) की रचना की। १८ सर्गों तक इस काव्य का विस्तार था ऐसी

प्रसिद्धि है परन्तु आजकल केवल सात सर्ग ही उपलब्ध होते हैं। रघुवंश की शैली में लिखा गया यह काव्य रामायण की कथा का वर्णन करता है। कविता सरल तथा हृदयग्राही है। इसके ऊपर दो टीकायें उपलब्ध होती हैं।

(१४०) शातवाहन

शातवाहन का ही दूसरा प्रसिद्ध नाम हाल या जिनकी प्रमुख रचना गाथा-सप्तशती है। विशेष के लिये देखिये (१६३) हाल कवि का परिचय पृ० ६४१।

(१४१) शिवस्वामी

काश्मीर के निवासी। समय नवम शती का मध्य भाग। अवन्तिवर्मा के समय के मान्य कविजनों में इनकी प्रमुख गणना की जाती है। जैसा राजतरंगिणी के इस पद्य से पता चलता है।

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

इनकी एकमात्र रचना 'कफ्फणाभ्युदय' महाकाव्य है जो प्रकाशित हो चुकी है (लाहौर से)।

(१४२) शीलाभट्टारिका

संस्कृत की एक प्रसिद्ध स्त्री कवि। राजशेखर के वर्णन से स्पष्ट है कि इनका समय दशवीं शती से इतर कर नहीं हो सकता है। सुभाषितरत्नकोश में इनका नाम तो कहीं नहीं दिया गया है परन्तु दो पद्य (८१५ तथा ८५०) दिये गये हैं जिनकी रचना अन्य सुभाषित ग्रन्थों में शीलाभट्टारिका के द्वारा मानी गई है। इनकी कविता के लिये देखिए—डा० चौधरी 'संस्कृत पोयटेसेज' नामक ग्रन्थ का प्रथम भाग कलकत्ता १९३९ पृ० (३४–३७)।

अलंकार ग्रन्थों में बहुशः चर्चित 'यः कौमारहरः स एव हि वरः' श्लोक इन्हीं की निःसन्दिग्ध रचना है। दूती से यह उपहास-वार्ता कितनी सुन्दर है—

श्वासः किं त्वरितागता पुलकिता कस्मात् प्रसादः कृतः
स्रस्ता वेण्यपि पादयोर्निपतनाच्चौवी गमादागमात्॥
स्वेदार्द्रं मुखमातपेन गमितं, क्षामा किमित्युक्तिभि-
र्दूति म्लानसरोरुहाकृतिधरस्यौष्ठस्य किं वक्ष्यसि॥

(१४३) शूद्रक

संस्कृत के मान्य नाटककार शूद्रक के देश-काल की जानकारी हमें निश्चित रूप से प्राप्त नहीं है। अवश्य ही इनकी एकमात्र रचना—मृच्छकटिक लोक-जीवन के व्यापक चित्रण के कारण संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। ये किसी देश के राजा थे तथा गणित वैशिकी कला, हस्तिविद्या आदि के ज्ञाता बतलाये गये हैं।

परन्तु तथ्य का पता नहीं चलता। दश अंकों में निर्मित यह प्रकरण दरिद्र ब्राह्मण चारुदत्त और वेश्या वसन्तसेना की प्रणय कथा के आधार पर निर्मित है जिसके साथ उस युग की एक राजनीतिक घटना भी सम्मिलित कर ली गई है। भास ने 'दरिद्र चारुदत्त' नामक लघुकाय नाटक का निर्माण किया था। मृच्छकटिक निश्चय ही दरिद्र-चारुदत्त का परिबृंहित रूप प्रतीत होता है। इसमें अनेक प्रकार की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग निम्नवर्गी नाना पात्रों के भाषणों में किया गया है। भारतीय समाज का, विशेषतः निम्नवर्गीय स्तर का जो चित्रण यहाँ प्रस्तुत किया गया है वह अपनी यथार्थता के लिए चिर-स्मरणीय रहेगा। 'शकार' शूद्रक की एक अद्भुत कल्पना है। रचना काल के विषय में मतभेद है। वराहमिहिर से पूर्व तृतीय या चतुर्थ शती की रचना होनी चाहिए। शूद्रक की जीवनी पर आधारित अज्ञात **'शूद्रक कथा'** का भी निर्देश मिलता है जो **रामिल** तथा **सोमिल** नामक अप्रसिद्ध कवियों की संयुक्त रचना मानी जाती है द्रष्टव्य संख्या (१६२)।

(१४४) श्री आनन्द

काश्मीर के एक विशिष्ट शास्त्रीय काव्य के निर्माता कवि तथा तार्किक शिरोमणि। मंखक ने तो इन्हें तर्क-महासमुद्र के लिये अगस्त्य कहा है जिससे इनकी तर्कशास्त्र में असामान्य प्रवीणता प्रतीत होती है। समय १२ वीं शती का पूर्वार्ध।

(१४५) श्रीगर्भ

काश्मीर के एक मूर्धन्य मीमांसक। समय १२वीं शती का मध्यभाग। प्रभाकर के सिद्धान्तों पर विशेष आग्रह रखते थे। लंक की सभा के एक मान्य सभासद थे।

(१४६) श्रीहर्ष

बृहत्त्रयी के अन्तिम कवि का नाम 'श्रीहर्ष' था, हर्ष नहीं—इसका पूर्ण संकेत नैषधचरित के प्रत्यध्याय के अन्तिम श्लोक से चलता है। ये कन्नौज तथा काशी की दोनों राजधानियों से शासन करने वाले गहड़वालवंशी राजा विजयचन्द्र तथा राजा जयचन्द्र के मान्य सभा कवि थे जिन्हें राजा अपने हाथ एक जोड़ा पान देकर सम्मानित करता था। चिन्तामणिमन्त्र के साधक श्रीहर्ष साधना जगत् के एक महनीय उपासक थे। अद्वैतवेदान्त की प्रौढ़ रचना 'खण्डनखण्डखाद्य' के प्रणेता होने से इनके उदात्त पाण्डित्य का परिचय किस आलोचक को नहीं मिलता। इनके सरस हृदय, सुभग वाणी तथा अलौकिक कल्पना का निदर्शन हमें 'नैषध चरित' में उपलब्ध होता है। ये अधिकतर काशी में ही रहते थे तथा 'नैषध चरित' की रचना काशी में हुई। हीर तथा मामल्ल देवी के पुत्र श्रीहर्ष कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। तथा अपने पिता को शास्त्रार्थ में

परास्त करने वाले उदयनाचार्य को इन्होंने परास्त किया था—इस किंवदन्ती का उल्लेख नैषध की अनेक टीकाओं में मिलता है। आविर्भाव काल १२ शती का उत्तरार्ध (लगभग ११५०–१२००ई०)

(१४७) षष्ठ

१२ वीं शती काश्मीर के एक प्रौढ़ दार्शनिक। लंकक ने सभा में आने पर इनके चरण छूकर प्रणाम किया तथा अत्यन्त उत्कण्ठा से इन्हें देखा। टीकाकार जोनराज की इस पर टिप्पणी है कि ये आत्मविद्या के उपाध्याय—अध्यापक थे और इसीलिए महामन्त्री लङ्कक ने अपनी विशेष श्रद्धा दिखलाने के लिये अपने पाणिपल्लव से इनका चरण स्पर्श किया। अन्य परिचय नहीं मिलता।

(१४८) समरादित्य कथा

'समराइच्च कहा' प्राकृत भाषा की एक बहु-प्रशंसित कथा है, जिसमें उज्जयिनी के राजा समरादित्य और प्रतिनायक अग्निशर्मा के नौ जन्मों की कथा का विवरण दिया गया है। इसके प्रणेता हैं **हरिभद्रसूरि,** जो जैन साहित्य में पादलिप्त और बप्पभट्टि आचार्यों के समान ही लब्धप्रतिष्ठ हैं। हरिभद्र का जन्म स्थान है चित्तौड़ तथा समय है अष्टम शती। ये संस्कृत तथा प्राकृत के एक उच्चकोटि के विद्वान थे तथा अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया था। अन्य जैन कथा के समान ही यह भी एक धर्मकथा है जिसका उद्देश्य श्रोताओं को जैनधर्म की ओर प्रवृत्त करना है। यह कथा जैन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई है। समग्र ग्रन्थ गद्य में ही निबद्ध है परन्तु बीच बीच में आर्याछन्दों का भी उपयोग किया गया। भाषा सरल तथा सरस है—वर्णन इतने रुचिर तथा लच्छेदार हैं कि बाण की कादम्बरी का प्रभाव स्पष्टरूप से लक्षित होता है। हरिभद्र का 'धूर्ताख्यान' शैली में इससे भिन्न है। ग्रन्थ प्रकाशित है। द्रष्टव्य डा० जगदीश चन्द्र जैन रचित 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' (काशी पृ० ३९४–४१२)

(१४९) साहसाङ्क

सूक्तिमुक्तावली के इस पद्य से पता चलता है कि ये एक विद्या-रसिक विद्वानों के आश्रयदाता राजा थे। परन्तु कहाँ के राजा थे यह पता नहीं। जान पड़ता है कि **गन्धमादन** इनका कोई अप्रख्यात काव्य था जिसकी ओर यह श्लोक संकेत करता है। सूक्तिमुक्तावली की रचना तेरहवीं शताब्दी में हुई। अतः साहसाङ्क का समय इससे पूर्व कभी होना चाहिये।

(१५०) सुदर्शन

सुदर्शन कवीश्वर का नाम शार्ङ्गधर पद्धति से उद्धृत इस पद्य में किया गया है। इस निर्देश से इनके समय का अनुमान लगाया जा सकता है। शार्ङ्गधर

पद्धति की रचना १३६३ ई० में की गई थी। इसका उल्लेख ग्रन्थ के भीतर ही मिलता है। अतः सुदर्शन कवीश्वर का समय १४ वीं शती से पूर्व होना निश्चित है। इस संकेत के अतिरिक्त इनके विषय में विशेष परिचय नहीं मिलता।

(१५१) सुभद्रा

सुभद्रा नामक कवयित्री की प्रसिद्धि उतनी नहीं है क्योंकि इनकी रचनाओं का कुछ भी पता नहीं चलता। वल्लभदेव की सुभाषितावली में इनका केवल एक पद्य उद्धृत किया गया है। सुभद्रा ने अवश्य इनके कविताओं की रचना की होगी, नहीं तो राजशेखर को इनके कविता-चातुर्य के वर्णन का अवसर ही कहाँ मिलता। राजशेखर ने स्पष्ट इनकी कविता को मनोमोहिनी बताया है। समय नव सौ ईस्वी से पूर्ववर्ती।

(१५२) सुबन्धु

संस्कृत गद्य के कवित्रयी में प्रमुख कवि। समय षष्ठशतक। 'वासवदत्ता' नामक प्रख्यात कथा के लेखक। इस ग्रन्थ में श्लेषका वैभव नितान्त दर्शनीय है। अपने काव्य को 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्ध' कह कर सुबन्धु ने इसकी स्वतः मार्मिक आलोचना की है। अभिनवगुप्त ने अपनी 'अभिनवभारती' (खण्ड ३. पृष्ठ १६२) में महाकवि सुबन्धुनिबद्ध "वासवदत्ता नाट्यधारा" नामक किसी विशिष्ट रूपक का उल्लेख किया है। इससे इनके नाटककार होने की घटना का परिचय इस प्रामाणिक उल्लेख से मिलता है।

(१५३) सुभट

इनका उल्लेख केवल कीर्तिकौमुदी में (१।२४) ही मिलता है। इस ग्रन्थ की टिप्पणी के अनुसार ये किसी 'प्रमाणग्रन्थ' के लेखक अनुमित होते हैं (समितौ-मितौ प्रमाणग्रन्थे स स कोऽपि पदन्यासः कृतः। पक्षे समितौ=संग्रामे)। स्पष्टतः ११ वीं शती के कोई मान्य तार्किक। परिचय गवेषणीय।

(१५४) सुरानन्द

बालरामायण की प्रस्तावना से पता चलता है कि ये राजशेखर के पूर्वपुरुष थे, इस श्लोक का संकेत सुरानन्द के देश की ओर प्रतीत होता है। ये चेदिमण्डल के मण्डन बतलाये गये हैं जिससे यही प्रदेश इनका कार्यक्षेत्र प्रतीत होता है। 'चेदिमण्डल' आजकल मध्यप्रदेश का जबलपुर के आसपास का भौगोलिक मण्डल है।

(१५५) सुहल

(१५६) सुहल

इस नाम के दो विद्वान् लंकक की सभा में रहते थे—(१) एक तो थे वैद्य जो आनन्द के अनुज थे तथा (२) दूसरे ने कान्यकुब्जनरेश गोविन्दचन्द्र के

दूत जो राजनीतिज्ञ होने के अतिरिक्त व्याकरण के भी पण्डित थे। १२ वीं शती में तथा उससे पूर्व भी काश्मीर तथा कान्यकुब्ज के शासकों का आपसमें दूतों का आदान प्रदान हुआ करता था। ये गोविन्दचन्द्र प्रसिद्ध जयचन्द्र के ही पूज्य पिता हैं, जिनके दरबार को नैषधकार श्रीहर्ष अपनी उपस्थिति से सुशोभित करते थे। फलत काश्मीर के इन कवियों का (जो महामन्त्री लङ्क के दरबार की शोभा बढ़ाया करते थे) तथा नैषधकार श्रीहर्ष का आविर्भावकाल एक ही है—१२ वीं शती का मध्य भाग।

(१५७) सोड्ढल

इन्होंने अपने चम्पूकाव्य 'उदयसुन्दरी कथा' के प्रथम उच्छ्वास में अपने वंश का विस्तृत परिचय दिया है। ये गुजरात के कायस्थ क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न हुए थे, जिसका इन्हें विशेष अभिमान था। ये कोंकण के तीन राजाओं के द्वारा समादृत तथा आश्रित थे, जिनके नाम हैं चित्तराज, नागार्जुन तथा मुम्मुनि राज। ये तीनों भाई भाई थे और एक के बाद एक सिंहासन पर आरूढ हुए। इन भाइयों का राज्यकाल ११ वीं शती है, क्योंकि इनके शिलालेख १०२६ ई० तथा १०६० ई० में उत्कीर्ण मिलते हैं। लाट देश के शासक चालुक्य नरेश वत्सराज के दरबार में भी इनको प्रचुर सम्मान प्राप्त था। इन्हीं वत्सराज के द्वारा प्रकीर्ण श्लोकों को छोड सम्बद्ध काव्य लिखने की प्रेरणा इन्हें प्राप्त हुई थी—

पकैकशः प्रकीर्णैर्मुक्तामणिभिः किमेभिरेभिस्तु।
यः सृजति हन्त हारं तस्यान्य. कोऽपि परिभोगः॥

वत्सराज (१०२६–१०६०) के राज्यकाल में इन्होंने इसी राजा की प्रेरणा से इस सुभग चम्पू की रचना की थी। 'उदयसुन्दरी कथा' में ८ उच्छ्वास हैं जिसमें उदयसुन्दरी के परिणय का रोचक वर्णन बाण की सुन्दर शैली मे बडी सफलता से किया गया है। गायकवाड ओरियन्टल सीरीज में मूल्यवान् भूमिका के साथ प्रकाशित।

(१५८) सोमकवि

परिचय उपलब्ध नहीं होता।

(१५९) हनुमान कवि

हनुमान कवि की रचना हनुमन्नाटक है जो 'महानाटक' नाम से प्रख्यात है। इसकी समस्या के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इसमें प्राचीन काव्यों के सरस पद्य भी यत्र-तत्र सन्निविष्ट किये गये हैं। इन श्लोकों में कतिपय पद्यों का आधार तुलसीदास ने अपने 'रामचरित मानस' में लिया है जिससे इस

नाटक को १७ शती से पूर्ववर्तिता का पता लगता है। कुछ लोग हनुमान कवि को भोजराज का समकालीन मानते हैं।

(१६०) हरिहर

१३ वीं शती में सोमेश्वर के एक मान्य समकालीन कवि। दोनों में खूब लाग डाँट थी जिसका वर्णन 'प्रबन्धचिन्तामणि' में किया गया है। गुर्जरेश्वर की सभा के सोमेश्वर तो माननीय कवि थे ही, परन्तु हरिहर कवि को मन्त्र के प्रसाद से एक विचित्र सिद्धि प्राप्त थी कि वे एक सौ आठ पद्यों तक को एक बार श्रवणमात्र से तुरन्त सुना सकते थे। इसी सिद्धि के बल पर इन्होंने सोमेश्वर के किसी नवीन शतक को प्राचीन बतलाकर उन्हें हतप्रभ कर दिया था। पीछे दोनों में मित्रता हो गई। इनके नाम से सुभाषित सग्रह की एक छोटी पुस्तक प्रकाशित हुई है 'काव्यमाला' में। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' में हरिहर के अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं। इसका रचना काल १२५८ ई० है। हरिहर का भी यही समय है।

(१६१) हर्ष

सप्तम शती में राज्य करने वाले सम्राट्हर्ष या हर्षवर्धन (६०६ ई०— ६४८ ई०) राजशासन की कला में जितने प्रवीण थे, कवियों को आश्रय देने में जितने दक्ष थे, उतने ही वे भारती की सेवा करने में भी चतुर थे। कुछ लोग इनकी रचनात्रयी रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द के निर्माण का श्रेय बाण भट्ट को देते हैं, परन्तु यह सरासर अन्याय है इनकी प्रतिभा के साथ। सरस हृदय तथा उदात्त प्रतिभा के धनी हर्ष श्री कर्तृत्व की छाप इन रूपकों के ऊपर पर्याप्तरूप से अंकित है। माना ये रूपक प्रथम कोटि में नहीं आते, परन्तु लोक मंगल की कामना तथा राजदरबारी प्रणय कथा के गुम्फन में इनका स्थान कथमपि नगण्य नहीं माना जा सकता। प्रथम दोनों रचनायें उदयन के कथानक से सम्बद्ध हैं तथा अन्तिम रचना बुद्ध भगवान् की मैत्री तथा करुणा की झलक प्रस्तुत करने के हेतु संस्कृत के रूपक-साहित्य में अद्वितीय है। बाण, मयूर तथा मातङ्ग दिवाकर के आश्रयदाता हर्ष को तुलना इनके पूर्ववर्ती सम्राट् विक्रमादित्य से तथा उत्तरवर्ती धारानरेश भोजराज के साथ बिना किसी सङ्कोच के की जा सकती है।

(१६२) हारवर्ष

संख्या ११४ युवराज का परिचय देखिए। ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के द्योतक हैं।

(१६३) हाल कवि

शालिवाहन या सातवाहन नरेश ही 'हाल' के नाम से कविगोष्ठी में प्रख्यात हैं। ये प्राकृत भाषा के कवि ही न थे, प्रत्युत प्राकृत भाषा के कवियों के आश्रयदाता भी थे। ऐसे कवियों में श्रीपालित का नाम मुख्य माना जाता है। इस युग की रसभरी अनूठी प्राकृत सूक्तियों का संग्रह (या कोश) इन्होंने 'गाहासत्तसई (या गाथा सप्तशती) में किया है जिसमें तत्कालीन पचासों प्रमुख कवियों की सूक्तियाँ संगृहीत हैं। गाथा का विषय विशुद्ध शृङ्गार है। इस समय के जनजीवन की झाँकी इन मधुर सूक्तियों में अपना सुभग रूप प्रदर्शित करती है। समय के विषय में मतभेद है। अन्त साक्ष्य के आधार पर द्वितीय शतक इस काव्य के निर्माण का काल माना जाता है। सटीक संस्करण काव्यमाला सीरीज, बम्बई।

श्रीपालित

शालिवाहन नरेश की सभा के प्राकृत के प्रमुख कवि। 'गाथा सप्तशती' में संगृहीत प्राकृत की गाथायें इनकी काव्यकला के अवशिष्ट नमूने हैं जो अपने सौन्दर्य तथा माधुर्य के कारण नितान्त प्रख्यात थीं। इन पद्यों में उल्लेख होने से ही इनका परिचय हमें मिलता है, अन्यथा नहीं।

(१६४) हेमचन्द्र

श्री हेमचन्द्र की विद्या बहुत ही विस्तृत तथा गम्भीर थी। वे वैयाकरण, कवि योगी दार्शनिक तथा कोशकार के रूप में ख्यात हो चुके हैं। सम्भव है इन्होंने और भी विषयों पर ग्रंथ लिखा हो क्योंकि कुछ लेखकों ने इन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ' विशेषण दिया है। इनके द्वारा लिखी पुस्तकों की सूची इस प्रकार है—अनेकार्थकोश, अनेकार्थशेष अभिधान-चिन्तामणि (नाममाला व्याख्या), अलङ्कारचूडामणि (काव्यानुशासन व्याख्या), उणादिसूत्रवृत्ति, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन (छन्दोनुशासन वृत्ति), देशी नाममाला सवृत्ति, द्व्याश्रय, काव्य, धातुपाठ सवृत्ति धातुपारायण सवृत्ति, धातुमाला, नाममाला, नाममालाशेष, निघण्टु शेष, प्रमाणमीमांसा सवृत्ति, बलाबल सूत्र बृहद्वृत्ति, बालभाषा-व्याकरण सूत्रवृत्ति, योगशास्त्र, वेदाङ्कुश, लिङ्गानुशासन सवृत्ति, शब्दानुशासन सवृत्ति तथा शेषसंग्रह सारोद्धार।

ये राजकुमारपाल के आश्रित थे। इनके विषय में अनेकों कथायें मिलती हैं। कुमारपाल के जीवन पर हेमचन्द्र ने बहुत प्रभाव डाला था। कुमारपाल ने हेमचन्द्र के प्रभाव से जीवहिंसा का निषेध करा दिया था जिससे जैनधर्म के प्रति भी उनकी सद्भावना बढ़ गई थी और उन्होंने अपने कुल देवताओं के साथ-साथ जैन तीर्थङ्कर शान्ति नाथ की प्रतिमा भी स्थापित करायी थी। हेमचन्द्र

महान् योगी तथा सिद्ध पुरुष बताये गये हैं। कहा जाता है कुमारपाल के कुष्ठ को इन्होंने दूर कर दिया था। मेरुतुङ्गाचार्य ने बहुत सी घटनाओं का उल्लेख किया है। इनमें अधिकांश तो जैनधर्म और हेमचन्द्र की प्रशंसा में गढ़ी प्रतीत होती हैं। गुजरात के प्रसिद्ध इतिहास लेखक ए. के. फार्बेस ने भी अपनी रासमाला में हेमचन्द्र का वर्णन किया है।

कुमारपाल की मृत्यु ई० सन् ११७४ में हुई थी। हेमचन्द्र उससे छ मास पूर्व ही कीर्ति शेष हो चुके थे।

एक बार काशी का एक पण्डित पाटन गया और हेमचन्द्र की विद्वद्गोष्ठी में सम्मिलित हुआ। उसने प्रविष्ट होते ही कहा—'पातु वो हेमगोपाल कम्बलं दण्डमुद्वहन् ।' इसे सुनकर सभी की त्योरियाँ चढ़ गयीं तभी उसके श्लोकका उत्तरार्ध सुनाया—

षड्दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे ॥

इससे सभी लोग प्रसन्न हुये।

हेमचन्द्र की प्रेरणा से कुमारपाल ने जैनों के अनेक विहार बनवाये। इस प्रकार हेमचन्द्र का कार्यक्षेत्र गुजरात था तथा आविर्भाव काल बारहवीं शती। इनकी प्रतिभा संस्कृत के प्राय समस्त क्षेत्रों में बड़ी व्यापक तथा सार्वभौम थी। इनकी शिष्य परम्परा में भी अनेक प्रौढ़ विद्वान् हुये जिनमें रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

(१६५) हरिचन्द्र

इस पद्य में हरिचन्द्र के कविता को हृदय हारिणी बतलाया गया है। परन्तु ये हरिचन्द्र कौन थे इसका यथार्थ परिचय देना कठिन है। यह श्लोक सुभाषित रत्नकोश से उद्धृत किया गया है जिसका समय ११०० ई० के आसपास माना गया है। अत: इस कवि को ११०० सौ से प्राचीन होना चाहिये। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के प्रथम जवनिकान्तर में जिस हरिचन्द्र का नाम उल्लिखित किया है तथा धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य के रचयिता के रूप में जिस हरिचन्द्र की ख्याति है—ये दोनों कवि इस हरिचन्द्र से भिन्न है या अभिन्न यह कहना अभी तक अनिश्चित हो है। बहुत सम्भव है कि ये हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय के ही रचयिता हों। देखिये संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ २७८।

(१६५)—(६) शूर

इस श्लोक में शूर कवि की कविता को विशुद्धोक्ति शब्द से संकेतित की गई है। ये शूर सम्भवत आर्यशूर ही हैं जिनका सबसे प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ है जातक-माला। इस काव्य में चौंतीस जातकों का सुन्दर वर्णन साहित्यिक भाषा में तथा

रोचक शैली में किया गया है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ९०६ ई० से लेकर ११२७ तक के बीच में किया गया था। **पारमिता समास** का नामक काव्य आर्यशूर का रचा हुआ अभी प्रकाश में आया है जिसमें बौद्धधर्म समस्त छहों पारमिताओं का वर्णन ६ सर्गों में तथा ३६४ श्लोकों में जातकमाला के सरल तथा सुबोध शैली में किया गया है। बौद्ध जगत में आर्यशूर की ख्याति अश्वघोष से किञ्चित घट कर है। समय पचम शती। महनीय द्वितीय बौद्ध कवि।

(१६६)—(७) रामिल

सौमिल के साथ इनका नाम सयुक्त रूप से मिलताहै। दोनों ने मिलकर **शूद्रक कथा** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इनका श्लोक सुभाषितावली में मिलता है। विशेष के लिये देखिये—सौमिलक का परिचय।

(१६५)—(७) सौमिल

इनका नाम मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में उपलब्ध होता है जिससे पता चलता है कि कालिदास के समय में इनका नाम प्रसिद्ध कवियों में उल्लेखनीय था इनके अनेक श्लोक सुभाषित ग्रन्थों में मिलते हैं। इन्होंने **रामिल** नामक कवि के साथ मिलकर **'शूद्रक कथा'** नामक किसी ग्रन्थ का प्रणयन किया था जो आजकल उपलब्ध नहीं है। ये दोनों कवि समसामयिक थे क्योंकि अन्यत्र भी इन दोनों का नाम सयुक्त रूपसे मिलता है। 'सव्याघे॰ कृशता' नामक श्लोक शार्ङ्गधर पद्धति में दोनों के सयुक्त नाम से मिलता है। तथा "परपुरुपादिव सवितु" श्लोक सुभाषितावली में रामिल के नाम से मिलता है।

(१६५)—(११) डिंडिम कवि

डिंडिम वश के कवियों का सम्बन्ध विजयनगर के दरबार के साथ था। इस वश में अनेक कवि हुए जो डिंडिम के नाम से विख्यात हुए। इन सब कवियों का परिचय कृष्णमाचार्य ने अपने इतिहास के पृष्ठ २२० से २२३ तक दिया है। इससे पता चलता है कि डिंडिम उपनाम धारण करने वाले कवि हुए। डिंडिम नामधारी आदिम कविका नाम **अरूणगिरिनाथ** था जो विजयनगर के राजा देवराज द्वितीय (१४२२–४८ ई०) के सभा पण्डित थे। **'सोम्मवल्ली योगानन्द'** नामक प्रहसन की रचना इन्होंने की जो कि इस विषय की सुन्दर रचना है। इनके पुत्र थे **राजनाथ द्वितीय** जो विजयनगर के सेनापति साल्व नरसिंह के कृपापात्र थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता के पराक्रमों का वर्णन **सालुवाभ्युदय** नामक त्रयोदश सर्ग वाले काव्य में किया है। यह ग्रन्थ मद्रास से प्रकाशित है, इस कवि का समय १५ वीं शती का उत्तरार्ध है।

(१६५)—(१२) स्त्रीकवि

शीला—

इनका शीला भट्टारिका नाम भी मिलता है। सम्भवतः ये काश्मीर की रहने वाली थी। इनकी रचना में मधुरता तथा शब्दों में रुचिरता दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा —

> प्रियाविरहितान्याद्य हृदि चिन्ता समागता।
> इति मत्वा गता निद्रा के कृतघ्नमुपासते॥
>
> —सुभाषितावली ११९७

विज्जा—

इनका नाम विज्जका भी मिलता है। ये दोनों नाम 'विद्या' के अपभ्रंश हैं। ये संस्कृत की विशिष्ट माननीय कवियित्री थी। परिचय ग्रन्थ के भीतर दिया गया है।

मारुला—

इनके समय तथा देश का परिचय नहीं मिलता। केवल वल्लभदेव की सुभाषितावली (१२२६) में इनका यह पद्य मिलता है जो सरल तथा सरस है —

> कृशा केनासि त्वं प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे
> मलाधूम्रा कस्माद् गुरुजनगृहे पाचकतया।
> स्मरस्यस्मान् कच्चिन्नहि न हि न हीत्येव सगमत्
> स्मरोत्कम्पं बाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता॥
>
> —सुभाषितावली १२२६

मोरिका—

इनके देशकाल का परिचय नहीं मिलता। केवल सुभाषितावली तथा शार्ङ्गधर पद्धति में इनके नाम से चार पद्य उपलब्ध होते हैं। इन चारों कवयित्रियों के विषय इतना ही कहा जा सकता है कि इनका समय चौदहवीं शती के मध्यकाल से प्राचीन होना चाहिये, क्योंकि इन दोनों सूक्तिसंग्रहों में से प्राचीनतर है शार्ङ्गधर पद्धति जिसका रचनाकाल १३६३ ही है। इससे अधिक परिचय उपलब्ध नहीं होता।

विशाखदत्त—

संस्कृत में ऐतिहासिक नाटकों के जन्मदाता के रूप में विशाखदत्त की कीर्ति अक्षुण्ण बनी रहेगी। रामायण तथा महाभारत के कथानक का आश्रय लेकर निर्मित नाट्य परम्परा में चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ की कूटनीति का प्रदर्शक

मुद्राराक्षस सचमुच संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। इनके पितामह का नाम था—सामन्त वटेश्वरदत्त तथा पिता का पृथु (अथवा अन्य संस्करणों के अनुसार भास्करदत्त)। इसके अतिरिक्त इनके जीवनवृत्त का पता नहीं चलता। परन्तु कूटनीति के चित्रण में इनकी समता किसी भी संस्कृत नाटककर्ता के साथ नहीं की जा सकती। 'मुद्राराक्षस' में अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य की कूटनीति राक्षस की राजनीति पर किस प्रकार विजयी हुई, इसका विवरण बड़ी कला के साथ किया गया है। गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के पराक्रम तथा कूटनीति का प्रकाशक **'देवी चन्द्रगुप्त'** ऐतिहासिक महत्त्व से पूर्ण नाटक अभी तक पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आया, परन्तु उद्धरणों के सहारे हम नाटक की मूल घटनाओं से भली भाँति परिचित हैं। 'मुद्राराक्षस' के भरतवाक्य में कहीं चन्द्रगुप्त का नाम आता है (स श्रीमद् बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः), तो कहीं अवन्ति वर्मा का। चन्द्रगुप्त को जायसवाल गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं और अवन्ति वर्मा को के० टी० तैलंग कान्यकुब्ज नरेश मौखरी शासक। मेरी दृष्टि में विशाखदत्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय (पंचम शती) के कवि हैं। गुप्तसाम्राज्य के इतिहास का जो गम्भीर परिचय इनके दूसरे नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में मिलता है, वह इस तथ्य को निःसन्देह पुष्ट तथा प्रकाशित कर रहा है।



'कवि प्रशस्तयः' के आधार ग्रन्थ

(१) बाण भट्ट—हर्ष चरित (समय सप्तम शती ई० च०)

(२) विद्याकर—सुभाषित रत्नकोश (संक्षिप्त रूप—सु० र० को०) इस सुभाषित संग्रह का प्रकाशन कलकत्ते से 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' के नाम से १९१२ के आसपास हुआ था। परन्तु इसका वास्तव नाम यही है। विद्याधर ने ११०० ई० के आसपास 'जगद्दल विहार' में इसका प्रणयन किया। हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज (ग्रन्थ संख्या ४२) में प्रकाशित, १९५७।

(३) श्रीधर दास—सदुक्ति कर्णामृत (सदु० कर्णा० या सदुक्ति) रचना काल १२०५ ई०। मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित, १९३३।

(४) जल्हण—सूक्तिमुक्तावली (सू० मु०) रचना काल १३ वीं शती का उत्तरार्ध। गायकवाड़ ओ० सी० में प्रकाशित १९३८।

(५) सोमेश्वर देव—कीर्तिकौमुदी (की० कौ०)
अरिसिंह—सुकृत संकीर्तन
सिंघी जैन ग्रन्थ माला में एक ही जिल्द में प्रकाशित, भारतीय विद्या भवन, बम्बई वि० सं० २०१९। गुजराती के राजाओं के मान्य कवि। समय १३ वीं शती का पूर्वार्ध।

(६) मंखक—श्री कण्ठ चरित (काव्य माला सं०) रचना काल १२ शती। इस महाकाव्य के अन्तिम सर्ग (२५ वें सर्ग) में तत्कालीन काश्मीरी कवियों तथा लेखकों का काव्यमय वर्णन किया गया है।

(७) हरिहर—हरिहर सुभाषित (काव्यमाला, संख्या ८६, १९०५ में मुद्रित) इनके समय का स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। सम्भवतः अकबर के समय में वर्तमान हरि कवि से ये अभिन्न प्रतीत होते हैं जिनकी ख्याति 'अकबरीय कालिदास' के नाम से थी।

(८) धनपाल—तिलकमञ्जरी (ति०, या तिलक प्रकाशित काव्यमाला) धारा के प्रसिद्ध राजा भोज तथा उनके पितृव्य, कवियों के आश्रयदाता मुञ्ज के द्वारा सम्मानित, इन दोनों के सभाकवि। समय दशम का अन्त तथा एकादश शतक का आरम्भ। जैन कवि। इस गद्यकाव्य के आरम्भ में प्राचीन कवियों की प्रशस्ति उपलब्ध है।

(९) सुभाषित रत्न भाण्डागार (सु० र० भा०)—निर्णयसागर से प्रकाशित नवीन सूक्तिसंग्रहग्रन्थ।

(१०) शार्ङ्गधर—शार्ङ्गधर पद्धति (शा० प०, बम्बई से प्रकाशित) रचना काल १३६३ ई०। यह एक बृहदाकार सुभाषित संग्रह है जिसमें ४६८९ पद्य १६३ विषयों पर संगृहीत किये गये हैं।

(११) दण्डी—अवन्ति सुन्दरी कथा (अवन्ति) अनन्त शयन ग्रन्थावली में प्रकाशित गद्यकाव्य का ग्रन्थ।

(१२) गोवर्धन—आर्या सप्तशती (आ० स०) लक्ष्मणसेन (१२ शती का अन्त) के समकालीन कवि। काव्यमाला में प्रकाशित।

(१३) सोड्ढल—उदय सुन्दरी कथा (गा० ओ० सी० बड़ोदा से प्रकाशित)। ११ शती। गद्य साहित्य का एक प्रख्यात चम्पू-काव्य। लेखक गुजरात का निवासी शैव मतावलम्बी कायस्थ था। लाट देश (गुजरात) के राजा वत्सराज (मृत्यु स० १०५० ई०) के समय समाप्त हुआ।

(१४) पद्मगुप्त—नवसाहसांक चरित (नव) हिन्दी अनुवाद के साथ चौखम्बा विद्याभवन, काशी से, प्रकाशित, १९६१। मुञ्जराज के सभाकवि। समय १० म शती का अन्त। स्थान धारा। वैदर्भी रीति का एक प्रख्यात महाकाव्य।

(१५) अभिनन्द—रामचरित (गा० ओ० सी० बड़ोदा से प्रकाशित, संख्या ४६, १९३०) समय नवमशतक का मध्यभाग। बंगाल के पालयुग की एक महनीय रचना रामचन्द्र की कथा का विस्तार से वर्णन। शैली वैदर्भी।

(१६) क्षेमेन्द्र—सुवृत्त तिलक (काव्यमाला गुच्छक में प्रकाशित) १०२५ ई०—१०६६ ई० के बीच में विपुल ग्रन्थों का निर्माण। 'सुवृत्त तिलक' में कवियों के विशिष्ट छन्दों का निर्देश किया गया है।

परिशिष्ट ३

कवीनामात्मप्रशस्तयः

अर्थात्

संस्कृत कवि अपनी दृष्टि में

अब तक हमने माननीय कवियों के विषय में इतर कवियों की प्रशस्तियों का सङ्कलन ऊपर किया तथा उनका ऐतिहासिक परिचय भी प्रस्तुत किया। परन्तु संस्कृत कवियों के विषय में एक और भी नया दिशा है जिसका मैंने आत्मप्रशस्ति नाम दिया है। संस्कृत के कवि अपने विषय में क्या कहते हैं? अपनी काव्य कला के विषय में उनकी क्या सम्मति है? प्रतिभा के अनुवर्तन यन्त्र का प्रयोग संस्कृत कवि ने अपने बारे में किस प्रकार किया है—आलोचना-शास्त्र के इतिहास में यह भी एक रोचक प्रसङ्ग है। यहाँ स्थानाभाव के कारण केवल पाँच कवियों के आत्मप्रशस्तिमूलक पद्यों का सङ्ग्रह उनके ग्रन्थों से यहाँ दिया जा रहा है। ये कवि हैं—(१) कालिदास, (२) भवभूति (३) राजशेखर, (४) श्रीहर्ष, (५) पण्डितराज जगन्नाथ।

(१) कालिदास

१

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

२

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥

३

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

—रघुवंश १।२-४

[मैं रघुवंश का वर्णन तो करने बैठा हूँ पर मैं देख रहा हूँ कि कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न हुआ यह तेजस्वी वंश जिसमें रघु और राम-जैसे पराक्रमी उत्पन्न हुए हों और कहाँ मोटी बुद्धि वाला मैं। मैं यह भलीभाँति जानता हूँ कि मैं रघु

वंश का पार नहीं पा सकता फिर भी मेरी मूर्खता को देखिये कि तिनकों की बनी छोटी सी नाव लेकर अपार समुद्र को पार करने का सोच रहा हूँ। देखिये। मैं तो हूँ मूर्ख, पर मेरी साध यह है कि बड़े-बड़े कवियों में मेरी गिनती हो। यह सुनकर लोग मुझ पर अवश्य हँसेंगे क्योंकि मेरी यह करनी वैसी ही है जैसे कोई बौना अपने नन्हे २ हाथ ऊपर उठाकर उन फलों को तोड़ना चाहता हो जो केवल लम्बे हाथ वाले ही पा सकते हों। पर मुझे एक बड़ा भारी भरोसा यह है कि वाल्मीकि आदि मुझसे पूर्व के कवियों ने इस सूर्यवंश पर सुन्दर काव्य लिख कर वाणी का द्वार पहले ही खोल दिया है। इसीलिये उसमें पैठ जाना और इस वंश का फिर से वर्णन करना मेरे लिये वैसा ही सरल हो गया है जैसे हीरे की कनी से बिंधे हुए मणि में डोरा पिरोना ॥]

४

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥

—अभिज्ञान शाकुन्तल-१।२

[जब तक विद्वान् लोग न मान लें कि नाटक बढ़िया है तब तक मैं नाटक को सफल नहीं समझता क्योंकि पात्रों को चाहे जितने भी अच्छे ढंग से सिखाया जाय फिर भी मन को सन्तोष नहीं होता।]

५

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुष-बहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥

—विक्रमोर्वशीयम्—१।२

[सज्जनो, आप लोगों से प्रार्थना है कि हम नट सेवकों पर कृपा करके या इस नाटक के नायक का आदर करके आप लोग कालिदास की इस रचना को सावधान होकर सुनें।]

६

पारिपार्श्वकः—

मा तावत्। प्रथितयशसां भास सौमिल्लक-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।

सूत्रधार—

अयि विवेकविश्रान्तमभिहितम्, पश्य।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

मालविकाग्निमित्र—१।२

[पारिपार्श्वक—आप यह नाटक क्यों खेल रहे हैं ? भास, सौमिल्लक और कविपुत्र जैसे बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवियों के नाटक छोड़कर आप आजकल के इस नौसिखुए कवि कालिदास के नाटक को इतना क्यों मान दे रहे हैं ?

सूत्रधार—अरे यह बात तो तुमने अपनी बुद्धि को विश्राम देकर कही है। देखो—पुराने होने से ही न तो सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होने से सब बुरे होते हैं। समझदार लोग तो दोनों को परखकर उनमें से जो अच्छा होता है उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं, उन्हें तो जैसा दूसरे समझा देते हैं उसे ही वे ठीक मान बैठते हैं।]

(२) भवभूति

१

महावीरचरित से—

महापुरुषसंरम्भो यत्र गम्भीरभीषणः।
प्रसन्नकर्कशा यत्र विपुलार्था च भारती ॥ २ ॥
अप्राकृतेषु पात्रेषु यत्र वीरः स्थितो रसः।
भेदैः सूक्ष्मैरभिव्यक्तैः प्रत्याधारं विभज्यते ॥ ३ ॥
यस्यवाचः कवेर्वाक्यं सा च रामाश्रया कथा।
लब्धश्च वाष्पनिस्यन्दनिष्पेषनिकषो जनः ॥ ४ ॥

श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधेयमस्माकमिति भवन्तो विदांकुर्वन्तु—

श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षीणां यथाङ्गिराः।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः ॥ ५ ॥

—प्रथम अङ्क

उत्तररामचरित से—

२

यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।
उत्तरं रामचरितं तत्-प्रणीतं प्रयोक्ष्यते ॥

—प्रथम अङ्क

पाप्मभ्यश्च पुनातु वर्धयतु च श्रेयांसि सेयं कथा
मङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च ॥
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम् ॥ २१ ॥

—सप्तम अङ्क

३

मालतीमाधव से—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ ६ ॥
गुणैः सतां न मम को गुणः प्रख्यापितो भवेत् ।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः ॥ ७ ॥

अपि च—

यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः कश्चिद् गुणो नाटके ।
यत् प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः ॥ ८ ॥

—प्रथम अङ्क

(३) राजशेखर

१

सुणु पण्णिद्रो ज्जेव तक्कालकहणं मज्झम्मि मिभट्ठुलेहाकढा-
आरेण भयराइएण—

बालकई कइराओ णिब्भरराअस्स तह उवज्झाओ ।
इअ अस्स परंपरए अप्पा माहप्पमारूढो ॥ ९ ॥
सो अस्स कई सिरिराअसेहरो तिहुवणं पि धवलेंति ।
हरिणंकपालिसिद्धिए णिक्कलङ्का गुणा जस्स ॥ १० ॥

कर्पूरमञ्जरी—प्रथमं जवनिकान्तरम्

२

अहो मधुरोद्दता सरस्वती यायावरस्य । यदाह—

ब्रह्मभ्यः शिवमस्तु वस्तु विततं किंचिद् वयं ब्रूमहे
हे सन्तः शृणुतावधत्त विधृतो यस्मासु सेवाञ्जलिः ।
यद्वा किं विनयोक्तिभिर्मम गिरां यद्यस्ति सूक्तामृतं
माद्यन्ति स्वयमेव तत् सुमनसो याच्ञा परं दैन्यभूः ॥

बालरामायण १।१०; प्रचण्डपाण्डव १।५

३

सूत्रधारः (सहर्षम्) सम्प्रति हि—

सद्विज्ञाने कुलतिलकतां याति दारैरुदारैः
फुल्ला कीर्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु यायावरस्य ।
धीरोदात्तं जयति चरितं रामनाम्नश्च विष्णोः
काव्यव्याजात्तदियमपरा काप्यहो कामधेनुः ॥ ६ ॥

पारिपार्श्विकः—वाल्मीकिना मुनिवरेण दृढनिबन्धनस्य रामचन्द्रचरितस्य कः पुनः स विशेषो यमेव कविर्दर्शयिष्यति ॥

सूत्रधारः—मारिष ! क्वचित् कश्चित् प्रगल्भते । नहि सर्वः सर्वं जानाति ।

पारि०—भाव ! ननु भणामि प्रत्यक्षीकृतसकलसर्गशास्त्रार्थात् तत्रभवतो महर्षेरतिक्रम्य किमेष चर्मचक्षुः प्रेक्षिष्यते ।

सूत्र०—मारिष ! मा मैवम् ।

यद्नेन्दुपु धामदशामिन्दीवरपत्रसंघटितम् ।
रसनासु च सुकवीनां निपतति सारस्वतं चक्षुः ॥,

बालरामायण, प्रथम अङ्क

४

सर्वभाषाविचक्षणश्च स एवमाह—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम् ।
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविवृषा ॥ ११ ॥

एतद् प्रबन्धमहत्त्वं प्रति तेनेदमुक्तम्

ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणिति-गुणो विद्यते वा नवेति ।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिर्विद्धि नः षट्प्रबन्धान्
नैवं चेद् दीर्घमास्तां नटबटुवदने जर्जरा काव्यकन्या ॥ १२ ॥

बालरामायण १ अङ्क

५

ननु वर्णितमेव देवज्ञेन—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ॥ १६ ॥

बा० रा०; प्र० पा० १।१२

अपि च किं न श्रुतं सभ्यस्य शङ्करवर्मणो वर्णनम्—

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः ।
भोक्तुं स्वादु फलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ॥

बालरामायण, १ अङ्क १७;
विद्धशालभंजिका १।७

६

(आकाशे) सखे सोमदत्त ! किमात्थ ? तदकालजलदस्य अजन्तुरसस्य गुणगणः किमिति न वर्ण्यते । तत्रैव शृणु—

किमपरमपरैः परोपकार-
व्यसननिधेर्गणितैर्गुणैरमुष्य ।
रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः
सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः ॥

—विद्धशालभञ्जिका

(४) श्रीहर्ष

१

नैषधचरित—

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा ।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥

—१।३

२

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥

—१।१४५

३

यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते ।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥

४

दिशि दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वतीं
तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्ध्वनिडम्बराम् ।
स परमपरः क्षीरोदन्वान् यदीयमुदीर्यते
मथितुममृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥

५

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती याऽस्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत् काव्यरसोर्मिमज्जनसुख-व्यासज्जनं सज्जनः ॥

६

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्
यः साक्षात् कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
यत् काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥

—नैषधकाव्य का अन्त

(५) पण्डितराज जगन्नाथ

१

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः संति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां,
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥३८॥

२

गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम् ।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते-
रधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवा ऽयं पशुपतिः ॥ ३९ ॥

३

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
कदाचित् केषांचिन्न खलु विदधीरन्नपि मुदम् ।
ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो
न येषामानंदं जनयति जगन्नाथभणितिः ॥ ४० ॥

४

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रवन्-
मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं संमुखे मादृशां
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः ॥ ४१ ॥

५

मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्यमग्नमनसां सहसा खलानाम्।
काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताना-
मास्येषु धास्यसितमां कियतो विलासान् ॥ ४२ ॥

६

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमा
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विपाको मम ॥ ४३ ॥

धुर्यैरपि माधुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम्।
वन्द्यैव माधुरीयं पण्डितराजस्य कवितायाः ॥ ४४ ॥

८

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि संभाविता
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।
सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ॥ ४५ ॥

—भामिनीविलास चतुर्थ परि०

इन प्रशस्तियों की आलोचना करने से हम एक बहुमूल्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जिसे हम एक वाक्य में यों रख सकते हैं—जितना ही प्राचीन कवि है उतनी ही नम्रता तथा निरभिमान उसके व्यक्तित्व में तथा वाणी में दृष्टिगोचर होता है। और जितना ही अर्वाचीन कवि है उतना ही गर्व तथा अभिमान उसके व्यक्तित्व तथा वाणी में झलकता रहता है।

कालिदास

संस्कृत के महामान्य कवि कालिदास नम्रता तथा निरभिमान के उज्ज्वल प्रतीक हैं। अपनी नम्रता प्रकट करते हुए उनमें तनिक भी संकोच नहीं होता और वे दृढ़ता से बोलते हैं कि विशाल रघुवंश के यथावत् वर्णन करने का मेरा यह हौसला उसी प्रकार आलोचकों की खिल्ली का विषय होगा जिस प्रकार चन्द्रमा

को अपने हाथों से छूने वाले बौने का प्रयास। तथापि पूर्व सूरियों के द्वारा, उसमें मेरा प्रवेश-द्वार बना दिये जाने पर उसी प्रकार सम्भव हो रहा है जिस प्रकार हीरे की कनी से मणि में छेद किये जाने पर कोमल डोरा प्रवेश कर जाता है। इससे बढ़कर नम्रता का प्रदर्शन किन शब्दों में किया जा सकता है! कवि को आत्मविश्वास है, वह प्रतिभा का धनी है तो भी वह अपनी नम्रता तथा निरभिमान दिखलाने में तनिक भी नहीं चूकता। विश्वविश्रुत नाटक शाकुन्तल में वह और भी खुल कर अपने हृदय के भावों को प्रकट कर रहा है कि जब तक विद्वान लोगों की सम्मति किसी नाटक के सद्गुणों के विषय में प्रशंसामयी नहीं होती तब तक उस नाटक को सफल मानना एक विडम्बनामात्र है। कालिदास सच्चे आलोचक की दृष्टि रखते हैं। और उन्होंने उन पुरातत्त्ववादियों को बड़े आड़े हाथ लिया है जो प्राचीनता को ही सब गुणों की खानि मानते हैं और नवीनता से नाक भौं सिकोड़ते हैं। उनके लिए एक ही कसौटी है अपना विचार, अपनी विवेक शक्ति से किसी काव्य का समीक्षण। इन उक्तियों में कालिदास का सरल व्यक्तित्व, साफ तौर से झलकता हुआ दीख पड़ता है। वे आलोचकों की दृष्टि में अवश्य महनीय हैं, प्रतिभाशाली हैं परन्तु अपनी दृष्टि में वे एक सामान्य कवि हैं जो अपने लिये नये मार्ग का सर्जन करने पर भी वाल्मीकि तथा व्यास के ऋणी हैं तथा उनके प्रति अपना उपकार तथा आदरभाव प्रदर्शित करने में वे तनिक भी नहीं सकुचाते।

भवभूति

भवभूति अपने युग के एक विशिष्ट नाटककार थे परन्तु उस युग के आलोचकों ने उनकी प्रतिभा का मूल्याङ्कन यथार्थरूप से नहीं किया। इससे उनके मन में अन्तःक्षोभ की ज्वाला जलती-सी दीख पड़ती है। सरस्वती चेरी की तरह—उनका अनुगमन करती है। इस उक्ति में अयुक्ति की मात्रा उतनी नहीं है जितनी साधारणतया दीखती है। भवभूति केवल प्रतिभा के धनी कवि ही नहीं थे प्रत्युत उपनिषद्, योग, सांख्य, मीमांसा आदि अनेक दर्शनों में प्रखर पाण्डित्य से सम्पन्न एक मान्य मनीषी भी थे। 'परिणतप्रज्ञ' शब्द इसी तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत कर रहा है। भवभूति को अपने पाण्डित्य और वैदग्ध्य के अपूर्व मिलन पर गर्व था, अभिमान था। दुर्बोध आलोचकों की कटूक्तियों से मर्माहत कवि ने आलोचकों को ललकारा है कि आज के आलोचक हमारी कविता की उपेक्षा भले ही करें परन्तु एक युग ऐसा आवेगा कि *हमारा समानधर्मा* कवि उत्पन्न होगा और वही मेरी कविता के गुण-दोषों का विवेचन करेगा, क्योंकि समय निरवधि है, काल का कोई अन्त नहीं तथा पृथ्वी भी विपुल है। कभी न कभी ऐसा कवि अवश्य उत्पन्न

होगा जो मेरी प्रतिमा के रहस्यों को समझेगा। भवभूति की यह चुनौती एक उपेक्षित महाकवि की विषादमयी वाणी का नमूना है। दु:ख तो इस बात का है कि भवभूति की यह चुनौती आज भी सच्ची नहीं निकली और इस युग में भी, जहाँ सामान्य संस्कृत-कवियों के ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन चल रहा है वहाँ भवभूति की वाणी आज भी उपेक्षा का विषय बनी है। भवभूति की प्रज्ञा की एक नई दिशा यह है कि वे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के भी मार्मिक पण्डित थे तथा उन्होंने इसकी व्याख्या में भी कुछ रचनायें लिखी थीं। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक से इस तथ्य का प्रकटीकरण होता है। सचमुच भवभूति की यह आत्मप्रशंसा निरी आत्मश्लाघा नहीं है, बल्कि यह आलोचना की ठोस भूमि पर विचरण करने वाली सच्ची उक्ति है। भवभूति एक सरल कवि थे, दार्शनिक थे तथा साधक थे— इस तथ्य का परिचय उनके कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है।

राजशेखर

राजशेखर के कथनों से प्रतीत होता है कि उनका उस युग के आलोचकों के समाज में काफी प्रभाव था। आलोचकगण उनकी कविता के विशेष प्रशंसक थे। वे सौभाग्यशाली कवि प्रतीत होते हैं जिनका आदर कान्यकुब्ज के नरेश महेन्द्रपाल के दरबार में विशेषरूप से होता था। साथ ही साथ जिनका सिक्का उस युग के कवि समाज पर भी भरपूर जमा हुआ था। इसका पता उनके कथनों से भली भाँति चलता है। उन्होंने कर्पूरमंजरी में उस युग के विशिष्ट कथाकार अपराजित की प्रशंसा को तथा बालरामायण की प्रस्तावना में शंकर कवि की प्रशस्ति को सम्मिलित कर कवि ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि वह भवभूति के समान उपेक्षा का विषय न था। प्रत्युत आदर सत्कार का—तथा मान-सम्मान का विशेष पात्र था। आलोचकगण उनका लोहा मानते थे। मेरी दृष्टि में राजशेखर का यह कथन बड़ा महत्त्व रखता है कि वे अपने आलोचकों को चुनौती देकर कहते हैं कि मेरे नाटकों में अभिनेयता का अभाव भले हो, परन्तु सरस काव्य का निर्वाह पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इन भणिति गुणों के कारण वे स्वीकार करते हैं कि वे मुख्यतया शब्द कवि हैं और उनके नाटक वर्णनपरक काव्यों के समान पढ़ने की वस्तु हैं, अभिनय की चीज नहीं। राजशेखर अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति की परम्परा के अन्तर्भुक्त एक विशिष्ट कवि मानते थे। यह उक्ति आत्मश्लाघा प्रतीत होती है जब हम भवभूति तथा राजशेखर की प्रतिभा की भिन्नता का साक्षात्कार करते हैं। हृदय के भावों को प्रकट करने की जो क्षमता हमें भवभूति में विशेषतया प्रतीत होती है उसका अभाव राजशेखर की वर्णनपरक कविता में स्पष्टत: दृष्टिगोचर हो रहा है। इतना तो स्पष्ट है कि राजशेखर में अहंभाव मात्रा का अतिक्रमण करने वाला नहीं है। वह सीमित

क्षेत्र में विचरण करने वाला है। कवि-समाज में समादृत होने पर भी तथा राज-दरबार में पूजित होने पर भी उनमें अपनी कविता के प्रति वह अभिमानमयी भावना नहीं दीखती जो हमें श्रीहर्ष तथा पण्डितराज में उपलब्ध होती है।

श्रीहर्ष

महाकवि श्रीहर्ष काशी तथा कान्यकुब्ज की राजधानियों से शासन करने वाले गहड़वालवंशी विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के सभाकवि थे। विद्वत्ता तथा कवित्व, दार्शनिक रचना तथा प्रतिभासम्पन्न काव्य-निर्माण में वे निःसंदेह उस युग के एक महनीय विभूति थे। खण्डनखण्डखाद्य जैसे मूर्धन्य अद्वैतवादी ग्रन्थ का प्रणयन इनकी उदात्त तर्कपटुता तथा विनयावगाहिनी बुद्धि का एक उदात्त उदाहरण है। ये साधक भी कम दर्जे के नहीं थे। चिन्तामणि मंत्र की सफल साधना ने श्रीहर्ष में प्रतिभा तथा प्रज्ञा का एक अनुपम सामरस्य प्रस्तुत कर दिया था जिसकी दुर्लभ सत्ता मणि-काञ्चन योग के समान थी और जो कवि को गर्वोन्नत बनाने से पराङ्मुख नहीं हो सकी। इस प्रकार श्रीहर्ष की गर्वोक्तियाँ व्यर्थ की बकवास नहीं, प्रत्युत वे उनके उदात्त गुणों के कारण कृत्रिम तथा अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती, परन्तु उनकी कुछ उक्तियाँ सचमुच औचित्य की सीमा पार करने वाली दीखती हैं। इन्होंने अपने को प्राज्ञ मानने वाले और हठपूर्वक नैषधकाव्य को पढ़ने वाले खलजनों की बड़ी मरम्मत की है। उनका कहना है कि खलजन मेरे काव्य को क्रीडा का विषय न समझें। इसलिये कहीं-कहीं मैंने प्रयत्न से जानबूझकर ग्रन्थ में गुत्थी डाल दी है जो किसी गुरु के कृपा से टोली जा सकती है। जान पड़ता है कि उस युग में नैषधचरित की विरुद्ध आलोचना करने वाले दुष्टों की कमी नहीं थी परन्तु श्रीहर्ष पर उनका तनिक प्रभाव नहीं है। वे जानते हैं कि उनका काव्य सुधीजनों के हृदय में सुधा के समान आनन्द देने वाला है। यह आत्मविश्वास श्रीहर्ष की गर्वोक्ति का पीठस्थानीय है। उन्हें पूर्ण विश्वास है—अपनी वाणी के चमत्कार में, अपने काव्य के माधुर्य में। इसीलिए उनकी स्पष्ट उक्ति है कि अन्य कवियों की वाणी पर्वतीय नदियों के समान केवल शब्दाडम्बर करने वाली, गाम्भीर्य-हीन, अचिर-स्थायिनी तथा तीरस्थ लोगों को जलपान देनेवाली है। परन्तु मेरी उक्ति क्षीरसमुद्र के समान शब्दाडम्बरहीन, गाम्भीर्ययुक्त तथा तीरस्थ लोगों को भी दूध की धारा से संतुष्ट करने वाली है। यह उक्ति भी कवि के हृदय में अपनी कविता के प्रति उल्लास भावना को प्रकट करने वाली है।

नैषध के अन्तिम श्लोक में श्रीहर्ष ने अपने व्यक्तित्व की तथा अपनी वाणी की समीक्षा स्वयं की है। वे स्पष्ट कहते हैं कि वे कनौज के राजा से, समस्त विद्वानों से श्रेष्ठता–सूचक दो बीड़ा पान तथा आसन ही नहीं पाते थे

बल्कि समाधियों में आनन्दसागर ब्रह्म का भी साक्षात्कार करते थे। उनका महाकाव्य अतिशय सरस होने से अमृत बरसाने वाला है और उनकी तर्क-विषयक उक्तियाँ प्रतिवादियों को पराजित करने वाली हैं। इस आत्मप्रशस्ति में यथार्थता का विशेष निवेश है। सचमुच यह कवि कवित्व तथा पाण्डित्य का अनुपम सम्मिलन प्रस्तुत करता है।

पण्डितराज जगन्नाथ

इनका उदय मुगलों के स्वर्णयुग में हुआ था शाहजहाँ के समय में, जब मुगल-साम्राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था। शाहजहाँ के दरबार में इनका आश्रय पाना उस युग के लिये, विशेषत सत्रहवीं शती के लिये, सचमुच एक चिरस्मरणीय घटना है। इस घटना से पण्डितराज को गर्व अनुभव करना उतना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। परन्तु अपनी कविता की प्रशंसा में तो उन्होंने जो कुछ कहा है, वह उग्र गर्वोक्ति से पूर्ण है। अपनी कविता के विषय में इनका यहाँ तक कहना है कि सरस्वती देवी वीणा के बजाने में अपने हृदय को शिथिल कर इनकी वाणी के अमृतमय रस का पान करती हैं तथा ऐसी सरस, सुभग तथा सुहावने वचनों को सुन कर जो आनन्द में मस्त होकर अपना सिर नहीं हिलाता वह नर-पशु है अथवा पशुपति है। उनकी कविता इन्हीं दोनों के ऊपर प्रभाव नहीं डालती जो या तो मानवरूप में होकर भी हृदयहीन है अथवा जो योग की चरम सीमा को पहुँचने वाला योगीश्वर है।

पण्डितराज को अपनी कविता पर इतना अभिमान है। जिनके हृदय में उनकी सरस वाणी आनन्द उत्पन्न नहीं करती, उन मन्दमतियों को वे जीते हुए भी मृतक मानते हैं। उनकी गर्वोक्ति की सीमा तो उस श्लोक में दीख पड़ती है जिसमें उन्होंने घोषणा की है कि सुमेरु पर्वत के शिखर से लेकर मलयाचल से वेष्टित समुद्र के तटपर्यन्त अर्थात् इस विपुल भारतखण्ड में जितने काव्य-रचना में निपुण कविजन हैं वे इस बात को निश्शंक कहें कि अंगूर के भीतर से झरने वाली माधुरी के समान सरस वाणी के आचार्य होने के गौरव को अनुभव करने वाला मेरे अतिरिक्त कौन है? सचमुच यह पण्डितराज की गर्वोक्ति की चरम सीमा है।

इस प्रकार इस कवि-पंचक की आत्मस्तुति के विषय में रचित पद्यों की समीक्षा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि जहाँ प्राचीन कवियों में निरभिमानता की सत्ता थी, वहाँ पिछले युग के काव्य रचयिताओं में गर्वोक्ति की मात्रा बहुत ही अधिक थी। इस आत्मप्रशस्ति में कुछ बातें तो नितान्त सत्य हैं परन्तु अन्य बातों पर आलोचकों का विश्वास नहीं। वह तो कवि की कोरी बढ़क है।



परिशिष्ट ४

ग्रन्थकारनामानुक्रमणी

ग्रन्थानुक्रमणी
